संत साहित्य

[नागपुर यूनिवर्सिटी द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० शोधप्रबंध]

डॉ० सुदर्शनसिंह मजीठिया

रूप कमल प्रकाशन दिल्ली

१५, यू० बी०, बंगलो रोड, दिल्ली—६

रूपकमल
प्रकाशन

प्रथम संस्करण, १९६२

प्रकाशक :
प्रतापसिंह आनन्द,
रूप कमल प्रकाशन,
१५, यू० बी०, बंगलो रोड,
दिल्ली—६

●

मूल्य
सोलह रुपया मात्र

आवरण सज्जा :
सुनील कुमार दे

●

मुद्रक :
रामस्वरूप शर्मा,
राष्ट्र भारती प्रेस,
कूचा चेलान, दिल्ली—६

प्राक्कथन

फरवरी, १९६१ में नागपुर विश्वविद्यालय ने "मध्यकालीन हिन्दी और पंजाबी संतों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन" पर थीसिस स्वीकृत की। उसी थीसिस को यत्र-तत्र परिवर्तन के साथ यहां पर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है। इस ग्रंथ में मध्यकालीन हिन्दी व पंजाबी भाषी निर्गुण संतों की जीवनी, विचारधारा तथा रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मध्यकालीन विशेषण से किसी युग-विशेष का बोध नहीं होता है। प्राचीन साहित्य में मध्यकाल नामक किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। उपनिषदों तथा ब्राह्मणग्रंथों में सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर तथा कलियुग का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के काल-विभाजन का आधार धार्मिक विश्वास ही रहा है। इस विश्वास के अनुसार कलियुग अन्तिम युग है जहाँ पर कि वृत्ति पाप कर्म की ओर अग्रसर होती है। उन्नीसवीं सदी के पश्चिमीय विद्वानों ने इतिहास का मध्यकाल सन् ४७६ ई० से सन् १५५६ ई० तक माना है। भारतीय इतिहास का प्रारम्भ ईसा से एक या डेढ़ सहस्राब्दि पूर्व माना जाता है। अंग्रेज इतिहासकारों ने हर्षवर्द्धन से पहले प्राचीनकाल माना है। हर्षवर्द्धन की मृत्यु से अंग्रेजों के भारत आगमन तक के समय को इन लोगों ने मध्यकाल की संज्ञा प्रदान की है। इस ग्रंथ में मध्यकाल तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध से सत्रहवीं सदी तक स्वीकार किया गया है। अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध के भी कुछ संतकवियों का उल्लेख इसमें आ जाता है।

हिन्दी संतों से आशय उन संतकवियों से है जिनकी मातृभाषा हिन्दी रही है। उसी प्रकार पंजाबी संतों से आशय उन्हीं संतों से है जिनकी मातृभाषा पंजाबी रही है। यह आवश्यक नहीं कि इन संतों ने अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में पद रचना ही नहीं की। हिन्दी संतों के पद पंजाबी भाषा में भी प्राप्त होते हैं। पंजाबी भाषी संतों की हिन्दी रचनाओं का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनका अधिकतर साहित्य हिन्दी भाषा में ही है। गुरु तेगबहादुर एवं गुरु गोविंदसिंह की तो समस्त रचनाएं हिन्दी में ही हैं उन्होंने बहुत कम पंजाबी में लिखा है। इन संतों ने दोनों भाषाओं के साहित्य में परस्पर भारी योगदान दिया है। यह वर्गीकरण तो केवल अध्ययन की सहूलियत मात्र के लिए किया गया है। ये संत तो स्वतंत्र विचारक और सच्चे अर्थों में मनुष्य थे। इनके लिए भाषा तो अपने मनोद्‌गारों तथा वानियों को प्रगट करने के लिए केवल साधन मात्र थी। भाषा को लेकर उनमें कोई साम्प्रदायिक भाव नहीं थे। नामदेव एवं सेन की केवल हिन्दी रचनाओं का उल्लेख ही इस ग्रंथ में हुआ है।

प्रथम अध्याय में हिन्दी व पंजाबी भाषाओं की प्रमुख प्रवृत्तियों पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ही प्रकाश डाला गया है। विभाजन के पश्चात पंजाबी भाषा को एक नई दिशा प्राप्त हुई है। उस पर उर्दू और फारसी का प्रभाव कम होता जा रहा है। विशेष कर पंजाबी भाषा के लिखित साहित्य में तत्सम शब्दों को ग्रहण करने की वृत्ति बढ़ रही है। इस अध्याय से पाठकों को दोनों भाषाओं को समझने में किसी हद तक सहायता मिलेगी। द्वितीय अध्याय में उस युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय इतिहास का यह युग काफी उथल-पुथल का था। उस समय इस्लाम जितना तलवार के ज़ोर पर फैल रहा था उतना ही हिन्दुओं की धार्मिक विषमता के कारण भी। तृतीय अध्याय में उस युग में प्रचलित धार्मिक संप्रदायों का उल्लेख एवं विवरण प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में गुरु नानक देव की जीवनी, रचनाओं तथा विचारधारा का उल्लेख है। पंजाबी संतों में गुरु नानक का नाम सर्वश्रेष्ठ है। संतों में उन्होंने ही देश-विदेश की सर्वाधिक यात्राएँ की थीं। पांचवें अध्याय में गुरु अंगददेव, गुरु अमरदास तथा गुरु रामदास की जीवनी, वाणियों तथा विचारदर्शन की विवेचना है। गुरु रामदास ने ही अमृतसर के स्वर्णमंदिर का निर्माण करवाया था। शिल्पसौंदर्य में इसका स्थान ताज के बाद आता है। छठवें अध्याय में गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर सिंह तथा गुरु गोविंद सिंह की जीवनी एवं विचार-दर्शन की विवेचना है। गुरु अर्जुनदेव ने ही "आदिग्रंथ" का संपादन और संकलन किया था। गुरु गोविंद सिंह का हिन्दी के वीर साहित्य में पूरा पूरा मूल्यांकन नहीं हुआ है। हिन्दी साहित्य के कई लेखकों ने हिन्दी साहित्य के सत्रहवीं सदी के वीरसाहित्य में गुरु गोविंदसिंह का उल्लेख तक नहीं किया है। उनकी रचनाएँ फारसी तथा गुरुमुखी लिपि में होने के कारण शायद हिन्दी विद्वानों का ध्यान उस ओर कम ही गया। रीतिकालीन युग के वीरसाहित्य में भूषण और लाल का महत्त्व अवश्य है लेकिन गुरु गोविंदसिंह की भी अपनी परम्परा है। वह राजकवि ही नहीं वल्कि स्वयं ही राजा और स्वयं ही कवि थे। उनके साहित्य में वीररस के अन्यतम उदाहरण देखे जा सकते हैं।

सातवें अध्याय में कबीर के दर्शन एवं विचारप्रणाली की विवेचना है। संत कवियों में कबीर का नाम प्रमुख है। वाह्याडम्बरों और मिथ्याविचारों पर सबसे तीव्र चोट कबीर ने ही की है। उनका भक्त अन्यायी से मेल करना जानता ही नहीं था। आठवें अध्याय में दादू, रैदास, पीपा की जीवनी, विचारदर्शन तथा भाषा आदि का उल्लेख है। नवम अध्याय में धर्मदास, चरणदास, मलूकदास, सहजोवाई, दयाबाई तथा अन्य फुटकर कवियों की जीवनी तथा विचार-प्रणाली पर विवेचना की गई है। हिन्दी व पंजाबी संतों की विचार-प्रणाली तथा दर्शन को एक साथ इसी अध्याय में रख विवेचना की गई है। हरएक अध्याय में उनका तुलनात्मक रूप प्रस्तुत न करते हुए यहीं पर एक-साथ दे दिया गया है। इससे बहुत कुछ पुनरुक्तिदोष से बचाव हो गया

है। अन्तिम अध्याय में भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान में संतों के योगदान की चर्चा की गई है। भारतीय संस्कृति पर लिखी गई कितनी ही पुस्तकों में इन संतों का उल्लेख तक नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि कई लेखक तो हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् भारतीय संस्कृति को मृतप्राय ही मानते हैं। ऐसी पुस्तकों को पढ़कर यही प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति में जैसे नूतनता नामक कोई वस्तु ही नहीं है। ये संत सही अर्थों में भारतीय थे। परिशिष्ट में कबीर, दादू, सुन्दरदास, रज्जब, गुरु गोविंदसिंह तथा भाई गुरदास के मुद्रित तथा अमुद्रित पद हैं। इन्हें मैंने हस्तलिखित पोथियों से प्राप्त किया था।

इस अध्ययन के मार्गदर्शन का पूरा-पूरा श्रेय **गुरुवर आचार्य विनयमोहन शर्मा** को है। समय कुसमय कष्ट देने के बावजूद भी उन्होंने सदैव गंभीरता और सौम्यता से मेरा मार्ग-दर्शन किया था। उनका ऋण न तो मैं इस लेखनी से ही चुका सकता हूँ और न ही किसी अन्य तरीके से। प्रो० डी० एस० विरदी के निरीक्षण में मैंने यह शोधकार्य किया। उनका भी मैं कृतज्ञ हूँ।

प्रकाशन के पूर्व डॉ० देवराज उपाध्याय ने भी जो अमूल्य सुझाव दिए उसके लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।

श्री अम्बिकाप्रसाद मिश्र तथा श्री प्रताप वी. मेहता ने मुझे इस अनुसंधान कार्य के लिए समय-समय पर लाइब्रेरी की जो सुविधाएँ प्रदान कीं उसके लिये भी मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। अपने अभिन्न मित्र महीपसिंह तथा मनमोहन सहगल का भी मैं अन्तस्तल से आभार मानता हूँ क्योंकि उन्होंने मुझे समय-समय पर नेक सलाह दी है।

और अपनी पत्नी श्रीमती कृष्णा मजीठिया एम. ए. का भी आभार स्वीकार कर लेना उचित ही समझता हूँ क्योंकि इस थीसिसि के प्रारम्भ से अंत तक उन्होंने मुझे सहायता दी है।

मैं उन लेखकों एवं विद्वानों को धन्यवाद देता हूँ जिनकी रचनाओं से मुझे अपने इस अनुसंधान कार्य में अमूल्य सहायता मिली है।

रूप कमल प्रकाशन के श्री प्रतापसिंह आनन्द को भी मैं धन्यवाद देता हूँ। अनेक कष्टों के बावजूद पुस्तक को सुचारू रूप से प्रकाशित करना उन्हीं का कार्य था।

मध्यकालीन हिन्दी व पंजाबी संत साहित्य को पाठकों के सामने रखने का मेरा यह अत्यंत तुच्छ-सा प्रयास है। हिन्दी साहित्य की बहुत-सी अमूल्य निधि अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भरी पड़ी हैं। यदि उन्हें हिन्दी में लाया जाए तो हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा होगी। आशा है कि मेरा यह छोटा-सा प्रयास संत साहित्य के अध्ययन में कहीं-न-कहीं उपयोगी सिद्ध होगा।

कॉमर्स कालेज
भावनगर (गुजरात)
दिनांक २२-३-६२

—सुदर्शनसिंह मजीठिया

विषय सूची

प्रथम अध्याय

हिन्दी व पंजाबी भाषा

उद्भव, विकास एवं प्रवृतियाँ

भारतीय आर्य भाषा का वैदिक काल से क्रमिक विकास :— योरोपीय विद्वानों का यह विश्वास रहा है कि आर्य मध्य एशिया या दक्षिण-पूर्व योरोप से आए हैं। अपने मूल स्थान से ही वे तीन भागों में विभक्त हो गए। सबसे पहले योरोपीय शाखा अलग हो गई। शेष आर्य कदाचित् काफी समय तक ईरान में रहे। बाद को एक शाखा तो ईरान में ही रह गई। दूसरी शाखा भारत चली आई। इन शाखाओं के प्राचीनतम ग्रन्थ अविस्ता और ऋग्वेद हैं। दोनों ग्रंथों की भाषा में बहुत कुछ साम्य है। कुछ साधारण नियमों के अनुसार परिवर्तन करने से दोनों भाषाओं का रूप एक-सा ही हो जाता है।

भारत में आने वाले आर्य कई टोलियों में आते रहे। इस बात का स्पष्ट प्रमाण वर्तमान आर्य भावनाओं से मिल सकता है। हार्नली और ग्रियर्सन ने इन मतों की पुष्टि की है। आर्य भारत में कम से कम दो बार तो अवश्य आये थे।[1] पहली टोली तो काबुल की घाटी से आई किन्तु दूसरी टोली गिलगित चितराल आदि की राह से आई। ये नवागत आर्य पंजाब में सरस्वती नदी के किनारे बस गए। इनके आस-पास पूर्वागत आर्य पहले ही से बसे थे। संस्कृत साहित्य में मध्यदेश का नाम आता है। इसका व्यवहार कुरू, पांचाल और उसके उत्तर के प्रदेशों के लिए हुआ है।

भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा का रूप केवल ऋग्वेद में ही देखा जा सकता है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न-भिन्न देशकाल में हुई थीं। परन्तु इसका

---

१. ग्रियर्सन ; लिंगस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया ; भा. भूमिका, पृ. ११६। तथा हार्नली ; ईस्टर्न हिन्दी ग्रामर ; भूमिका, पृ. ३२।

संपादन एक ही काल में एक ही साथ हुआ था। ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है। इसका संपादन मध्यदेश में हुआ था। साहित्य एवं बोलचाल की भाषा में अन्तर होता है अतएव ऋग्वेद की भाषा से आर्यों की तत्कालीन बोलचाल की भाषा का पता लगाना कठिन होता है। बोलचाल की भाषा का थोड़ा-बहुत रूप, जो कुछ उसमें आ गया है, केवल उसका ही पता लग सकता है। इतना तो सर्वमान्य है कि ऋग्वेद की रचना ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी पहले हो चुकी थी। कालान्तर में ऋग्वेद की भाषा में ही परिवर्तन होता रहा। इस परिवर्तन के उदाहरण सूत्र एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। सूत्रकाल के साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने बाँधना प्रारम्भ किया। पाणिनी ने कई नियम बनाकर इस परिवर्तन में अवरोध उपस्थित कर दिया। आर्यों की इस भाषा को संस्कृत की संज्ञा मिली। संस्कृत तब से अब तक धर्म और साहित्य की भाषा रही है। इस साहित्यिक भाषा संस्कृत के अतिरिक्त आर्यों की बोलचाल की भाषा में काफी परिवर्तन होता रहा। पतंजलि के समय में केवल व्याकरण जाननेवाले ब्राह्मण विद्वान ही शुद्ध संस्कृत बोलते थे, अन्य ब्राह्मण तो अशुद्ध संस्कृत बोलते थे। बोलचाल की भाषा में प्राकृत का व्यवहार होता था।

उस समय आर्यों की भाषा के दो रूप थे : एक तो पूर्वागत आर्यों की भाषा, दूसरी नवागत आर्यों की भाषा। पश्चिमी देश या मध्यदेश की भाषा नवागत आर्यों की भाषा कहलाती थी। इसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि पश्चिमोत्तर भाग की कोई पृथक बोली थी या नहीं।

अशोक ने धर्मलिपियों में जिस भाषा का व्यवहार किया है वह पालि है। उस काल की यह साहित्यिक भाषा कदाचित शौरसेनी की किसी बोली के आधार पर बनी थी। अशोक की धर्मलिपियों की भाषा ही बाद में प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुई। कालांतर प्राकृत का साहित्य में व्यवहार होने लगा। प्राकृत में काव्य और धर्मग्रन्थ लिखे जाने लगे। संस्कृत नाटकों में भी प्राकृत को स्थान मिला। नाटक के स्त्री पात्र और निम्न वर्ग के पात्रों के संवादों की भाषा प्राकृत ही थी। आजकल प्राकृत ग्रंथों में प्राकृत का केवल साहित्यिक रूप ही उपलब्ध है। उस प्राकृत के दो रूप पूर्व और पश्चिम तो स्पष्ट ही थे। पश्चिमी भाषा का मुख्य रूप शौरसेनी प्राकृत था। और पूर्वी प्राकृत का मुख्य रूप मागधी प्राकृत था। यह मगध या दक्षिण विहार की भाषा थी। इन दोनों के बीच में कुछ भाषा का रूप मिश्रित था। वह अर्धमागधी कहलाती थी। महाराष्ट्री प्राकृत विदर्भ और उसके आसपास के भाग में बोली जाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा भिन्न थी।

अपभ्रंश भाषाएँ :—प्राकृत की व्याकरण तो तैयार हो गई और उसका एक सुनिश्चित और सीमित रूप भी तैयार हो गया किन्तु जिन बोलियों से प्राकृत की

रचना हुई थी उनमें परिवर्तन अगाध रूप से चलता रहा। व्याकरण के नियमों में बँधी हुई प्राकृत के सम्मुख वैयाकरणों ने इसे "बिगड़ी हुई भाषा" या अपभ्रंश की संज्ञा प्रदान की। जब जब किसी भाषा में परिवर्तन होता है तो साहित्यकार या वैयाकरण कहता है कि भाषा बिगड़ रही है किन्तु भाषा तत्वज्ञ कहता है भाषा का विकास हो रहा है। धीरे-धीरे अपभ्रंश को साहित्यिक रूप प्राप्त होने लगा। साहित्यिक प्राकृतों की तरह साहित्यिक अपभ्रंश भी लोगों की भाषा से दूर थी।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप है। जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश, इत्यादि। वैयाकरण केवल तीन अपभ्रंशों के ही साहित्यिक रूप मानते हैं। इनके नाम नागर, द्राचड और उपनागर थे। नागर अपभ्रंश इनमें मुख्य थीं। द्राचड अपभ्रंश का क्षेत्र सिंध था। उपनागर, द्राचड़ और नागर के मेल से बनी थी।

वर्तमान आर्यभाषा काल ई० १००० के पश्चात् (वर्तमानकाल तक)

वर्तमान आर्यभाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंशों से हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, और पहाड़ी भाषायें सम्बन्धित हैं। गुजराती, राजस्थानी और पहाड़ी का संपर्क विशेषतः शौरसेनी के नागर अपभ्रंश रूप से है। असमी, बंगला और उड़िया का सम्बन्ध मागधी अपभ्रंश से है। अर्ध मागधी का सम्बन्ध पूर्वी हिन्दी से है। मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से है। सिंधी का उद्गम द्राचड अपभ्रंश से हुआ है। लहंदा के लिए कैकय अपभ्रंश की कल्पना की जाती है। कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध द्राचड अपभ्रंश से रहा होगा। पंजाबी का सम्बन्ध भी कैकय अपभ्रंश से माना जाता है। बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव पड़ा है। खास अपभ्रंश से पहाड़ी भावनाओं की उत्पत्ति हुई। पंजाबी पर बाद को शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव पड़ा होगा। अपभ्रंश का व्यवहार १४वीं सदी तक साहित्य में होता रहा था। वर्तमान आर्यभाषाओं का प्रयोग साहित्य में १३वं सदी से प्रारम्भ होता है। हिन्दी का जन्म दसवीं सदी के लगभग माना जाता है।

आधुनिक आर्य भाषायें—ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्य भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त कर उनमें छः भाषा समुदाय बताए हैं।

ये नियमानुसार हैं :—

क—बाहरी उपशाखा

पश्चिमोत्तरी समुदाय

१—लहंदा

२—सिंधी

दक्षिण समुदाय

३—मराठी

पूर्वी समुदाय

४—उड़िया

५—बंगाली

६—असमी

७—बिहारी

ख—बीच की उपशाखा

बीच का समुदाय

८—पूर्वी हिन्दी

ग—भीतरी उपशाखा

अन्दर का समुदाय

९—पश्चिमी हिन्दी

१०—पंजाबी

११—गुजराती

१२—भीली

१३—खानदेशी

१४—राजस्थानी

घ—पहाड़ी समुदाय

१५—पूर्वी पहाड़ी या नैपाली

१६—बीच की पहाड़ी

१७—पश्चिमी पहाड़ी[१]

परन्तु सुनीतिकुमार चटर्जी आर्यभाषाओं को दो या तीन उपशाखाओं में विभक्त करने के मत में नहीं हैं। उन्होंने भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया है। इस वर्गीकरण का ग्रियर्सन साहब के वर्गीकरण से बहुत कुछ साम्य है।

उदीच्य

१—सिंधी

२—लहंदा

३—पंजाबी

प्रतीच्य

४—गुजराती

---

१. ग्रियर्सन ; लि. स. ; भूमिका पृ० ११।

मध्यदेशीय

५—राजस्थानी

६—पश्चिमी हिन्दी

७—पूर्वी हिन्दी

८—बिहारी

९—पहाड़ी

प्राच्य

१०—उड़िया

११—बंगाली

१२—असमी

दक्षिणात्य

१३—मराठी[1]

आधुनिक आर्यभाषाएँ

१. **सिंधी**—यह सिंध की भाषा है। इसके बोलने वाले सिंध में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हैं। मुसलमानों के द्वारा अधिक प्रयोग में लाए जाने के कारण इसमें फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी काफ़ी मात्रा में होता है। यह फ़ारसी लिपि के ही एक परिवर्तित रूप में लिखी जाती है। नित्य के व्यवहार में देवनागरी का ही बिगड़ा रूप व्यवहृत होता है। भारत विभाजन के पश्चात जो सिंधी भारत में आ गए हैं उन्होंने इसे देवनागरी लिपि में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया है। कभी-कभी यह गुरुमुखी लिपि में भी लिखी जाती है। इसकी पाँच मुख्य बोलियाँ हैं। बिचोली बोली साहित्य की भाषा है। सिंध ही पहले द्रावड देश था। यहाँ की भाषा प्राकृत और अपभ्रंश द्रावड नाम से प्रसिद्ध थीं। कच्छ में कच्छी बोली जाती है। यह गुजराती और सिंधी का ही मिश्रित रूप है।

२. **लहंदा**—यह पश्चिम पंजाब की भाषा है। यह प्रदेश अब पाकिस्तान में चला गया। लहंदा का अर्थ सूर्यास्त की दिशा या पश्चिम होता है।

पश्चिमी पंजाब की भाषा होने के कारण मांझी प्रदेश के पंजाबी भाषा-भाषी लोगों ने इसे लहंदा की संज्ञा प्रदान की। इस पर दरद और पैशाची का प्रभाव है। यही प्रदेश प्राचीन कैकय देश था जहाँ की भाषा पैशाची, प्राकृत और कैकय अपभ्रंश थी। लहंदा के अन्य नाम जटकी, पश्चिमी पंजाबी, उच्चा, हिन्दकी आदि हैं। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं है। इसका व्याकरण और शब्दसमूह बहुत कुछ पंजाबी है। आजकल यह फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है।

---

१. सुनीति कुमार चटर्जी—बँगाली लैंग्वेज ; पृ. ५ मानचित्र।

३. गुजराती—यह गुजरात, बड़ौदा और काठियावाड़ की भाषा है। इसकी बोलियों के भेद स्पष्ट नहीं हैं। भीली और खानदेशी से इसका संपर्क है। इसका साहित्य उन्नत अवस्था में है। प्राचीन काल से अब तक भाषा के क्रमपूर्वक उदाहरण गुजराती में ही उपलब्ध होते हैं। यह गुजराती लिपि में ही लिखी जाती है। इस लिपि पर शिरोरेखा नहीं होती है।

४. राजस्थानी—यह राजस्थान की भाषा है। यह एक प्रकार से मध्यदेश की प्राचीन भाषा का दक्षिणी-पश्चिमी रूप ही है। इसकी मुख्य बोलियाँ हैं मेवाती, जयपुरी, मारवाड़ी, मालवी। राजस्थानी बोलनेवाले भूभाग की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही है। राजस्थानी का प्राचीन साहित्य डिंगल अथवा पुरानी साहित्यिक मारवाड़ी में है। मारवाड़ी और गुजराती में बहुत कुछ साम्य है। निज के व्यवहार में यह महाजनी लिपि में लिखी जाती है। मारवाड़ी महाजनी लिपि का ही व्यवहार करते हैं।

५. बिहारी—उड़िया, असमी और बंगाली की तरह ही बिहारी की उत्पत्ति मागध अपभ्रंश से हुई है। मागध अपभ्रंश के बोलने वाले भाग में ही यह बोली जाती है। इसकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं : मैथिली, मगही और भोजपुरी। मैथिली और मगही एक दूसरे के निकट हैं—भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। बिहारी तीन लिपियों में लिखी जाती है। छपाई में देवनागरी का व्यवहार होता है। लिखने में कैथी का प्रयोग होता है। मैथिली की मैथिली लिपि ही है। इसका साम्य बंगाली से है।

६. पहाड़ी भाषाएँ—नेपाल से शिमला तक पहाड़ी भाषाएँ बोली जाती हैं। इसके तीन रूप हैं—१. पश्चिम पहाड़ी २. मध्य पहाड़ी और ३. पूर्वी पहाड़ी। मध्य और पश्चिमी पहाड़ी का पुराना नाम सपादलक्ष था। पहाड़ी और राजस्थानी में समानता पाई जाती है इसके राजनैतिक कारण हैं।

७. उड़िया—यह उड़ीसा की भाषा है। प्राचीनकाल में इस प्रदेश को ही उत्कल कहा जाता था। उड़िया का शुद्ध रूप ओड़िया शब्द है। उड़िया के शिलालेख १३वीं सदी के प्राप्त होते हैं। इनसे यह प्रतीत होता है कि उस समय उड़िया भाषा काफी विकसित हो चुकी थी। उड़िया का व्याकरण बंगाली से मिलता-जुलता है। इसलिए कई बंगाली विद्वान इसे बंगाली की ही बोली मानते हैं। बंगाली के साथ ही इसका उद्गम भी मागधी अपभ्रंश से हुआ है। उड़िया साहित्य में विशेषतः कृष्ण सम्बन्धी साहित्य ही अधिक है।

८. बंगाली—यह बंगाल प्रदेश की भाषा है। यह गंगा के मुहाने और उसके उत्तर-पश्चिम के मैदानों में बोली जाती है। इसका साहित्य काफी समृद्ध है। साहित्य की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्द काफी मात्रा में पाए जाते हैं। उत्तरी-पूर्वी और पश्चिमी बंगाली में भेद है। इस भाषा की विशेषता आ को ओ, स को श के रूप

में उच्चरित करना प्रसिद्ध है। इसकी लिपि देवनागरी का ही प्राचीन रूपांतर है।

६. असमी—यह आसाम प्रदेश में बोली जाती है। वहाँ के लोग इसे असमिया कहते हैं। इसका व्याकरण का बंगाली से साम्य है किन्तु बंगाली और असमी की साहित्यिक प्रगति पृथक-पृथक है। इसके प्राचीन साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों की कमी नहीं है। यह बंगाली लिपि में लिखी जाती है। इसमें काफी सुधार कर लिए गए हैं।

१०. मराठी—इसकी उत्पत्ति महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुई है। यह महाराष्ट्र की भाषा है। इस क्षेत्र में बम्बई एवं पूना के चारों ओर का भाग, विदर्भ तथा नागपुर के दक्षिण के चार जिले आते हैं। इसके दक्षिण में द्राविड़ भाषाएँ हैं। इनकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं। पूना के आसपास बोली जाने वाली भाषा का ही प्रयोग साहित्य में होता है। यह देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। मोड़ी लिपि में भी लिखी जाती है। मराठी का साहित्य प्राचीन, विस्तीर्ण और लोकप्रिय है।

उपरोक्त भाषाओं के अतिरिक्त हिंदी और पंजाबी आर्य भाषाएँ हैं जिनकी चर्चा हम विस्तार से नीचे करेंगे।

हिन्दी तथा उसकी उपभाषाएँ एवं बोलियाँ

संस्कृत के 'सिंधु' और 'सिंध' शब्द फ़ारसी में 'हिन्दू' और 'हिन्द' हो जाते हैं। संस्कृत की "स" ध्वनि फ़ारसी में 'ह' के रूप में उपलब्ध होती है। प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी को फ़ारसी का ही शब्द कहा जाएगा। संस्कृत, प्राकृत या वर्तमान आर्यभाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इस का प्रयोग नहीं मिलता। हिन्दी का प्रयोग हिन्द के रहनेवाले या हिन्द की भाषा से होता था। फ़ारसी से ही हिन्दू शब्द आया है। हिन्दी का प्रयोग उस दृष्टि से भारत में बोली जाने वाली किसी भी भाषा से हो सकता है। किन्तु आजकल इसका प्रयोग भाषा के विशेष रूप में ही होता है।

इसकी सीमाएँ पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिण भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायगढ़, दक्षिण-पश्चिम में बुरहानपुर तक पहुँचती है। इतने बड़े भूखंड में इस साहित्यिक हिन्दी के अतिरिक्त ग्रामीण बोलियाँ तथा ब्रज, मारवाड़ी, छत्तीसगढ़ी, मैथिली, डिंगल आदि भी बोली जाती है। इस भाग की जन-संख्या १६ करोड़ से भी अधिक है। संसार की महान भाषाओं में इसको बोलने वालों की संख्या के आधार पर स्थान तीसरा है। इसके पहले अंग्रेजी और चीनी का स्थान आता है।

उपभाषाएँ—हिन्दी के भूमिभाग की ५ उपभाषाएँ हैं। वे हैं राजस्थानी, बिहारी,

पहाड़ी, पूर्वी हिन्दी एवं पश्चिमी हिन्दी। राजस्थानी समुदाय में राजस्थान की समस्त बोलियाँ आ जाती हैं।

मिथिला, पटना, गया, और वाराणसी गोरखपुर की स्थानीय बोलियाँ विहारी समुदाय के अन्तर्गत आती है। पहाड़ी प्रदेश की बोलियाँ पहाड़ी उपभाषा के अन्तर्गत आती है। कुछ विद्वानों ने हिन्दी का प्रयोग भाषा विज्ञान की दृष्टि से केवल पश्चिमी हिन्दी के लिए किया है।

उर्दू—हिन्दी और उर्दू का मूलाधार एक ही है। व्याकरण के रूपों की दृष्टि से भी दोनों में अधिक अन्तर नहीं है। किन्तु साहित्य, शब्दसमूह तथा लिपि में दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। साहित्यिक खड़ी बोली की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भारतीय है। वह संस्कृत की ओर उन्मुख है। उर्दू अपना जीवन स्रोत फ़ारसी से ग्रहण करती है। व्यवहार की दृष्टि से साहित्यिक खड़ी बोली का व्यवहार उर्दू खड़ी बोली के बाद में ही हुआ था। इसका सर्वप्रथम व्यवहार "उर्दू-ए-मुल्ला" अर्थात दिल्ली के महलों के बाहर किले के शाही फ़ौजी बाजारों में होता था। दिल्ली के पास की इस बोली के विदेशी शब्दों के रूप का नाम उर्दू पड़ा। तुर्की में उर्दू का अर्थ बाजार होता है। वास्तव में प्रारम्भ में यह बाजारू भाषा ही थी। शाही दरबार के सम्पर्क में जो हिन्दू आते गये उन्होंने इसे अपनाया। धीरे-धीरे यह उत्तर भारत के शिष्ट मुसलमानों की भाषा हो गई। शासक समुदाय द्वारा अपनाए जाने के कारण शिष्ट समुदाय में इसका प्रचार भी शीघ्रता से हुआ।

इसका मूलाधार दिल्ली के निकट की खड़ी बोली ही थी। उद्गम की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू सगी बहनें ही कही जाएंगी। विकसित होने के साथ ही साथ इनमें अन्तर आता गया। ग्राहम बेली का अनुमान है कि उर्दू का उद्गम खड़ी बोली से न होकर पंजाबी से हुआ है। उनके मतानुसार उर्दू पंजाबी के आधार पर लाहौर के आसपास पहले ही बन चुकी थी। दिल्ली में आनेवाले शासक उसे अपने साथ लाए। उसके लिए तर्क उपस्थित करते हुए ग्राहम बेली लिखते हैं कि ई० १०००—१२०० में दिल्ली के शासन केन्द्र बनने पर भी लगभग दो सौ वर्षों तक मुसलमान शासक लाहौर में ही रहे। जनता के सम्पर्क में आने के लिए उन्होंने कोई न कोई भाषा सीखी ही होगी। यह पंजाबी ही थी। बेली साहब ने अपने मत की पुष्टि के लिए पुष्ट प्रमाण उपस्थित नहीं किए। सर्वसम्मत मत यही है कि हिन्दी और उर्दू का मूलाधार दिल्ली मेरठ के आसपास की खड़ी बोली ही है।

उर्दू का उपयोग मुसलमान दरबार एवं सूफ़ी कवियों से प्रारम्भ हुआ। दिल्ली और आगरा के दरबार की भाषा फ़ारसी थी। जनता की भाषा होने के कारण उर्दू हेय समझी जाती थी। औरंगाबादी वली उर्दू के प्रथम प्रख्यात कवि थे। मुग़लकाल से उत्तरार्ध में दिल्ली और बाद को लखनऊ उर्दू साहित्य के विकसित केन्द्र हो गए। बाजारू बोली का प्रयोग साहित्य में होने लगा। फ़ारसी के मिश्रण के कारण

कविता में प्रयुक्त उर्दू को रेख़्ता कहते हैं, स्त्रियों की भाषा रेख़्ती कहलाती है। दक्षिणी मुसलमानों की भाषा दक्खिनी उर्दू या हिन्दवी कहलाती है। इसमें फ़ारसी शब्द कम इस्तेमाल किए जाते हैं। यह उत्तरभारत की उर्दू की अपेक्षा कम परिमार्जित है। हिन्दी भाषा के समान ही इसका गद्य अंग्रेज़ी शासनकाल में ही विकसित हुआ है। अंग्रेजी शासनकाल में यह दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के कुछ राज्यों में कचहरी, तहसील आदि में सरकारी काग़ज़ उर्दू में ही लिखे जाते थे। इसलिए नौकरीपेशा लोगों के लिए इसकी जानकारी आवश्यक थी। आगरा और दिल्ली के आसपास के हिन्दुओं में इसका प्रचार भी हुआ। भारत विभाजन के पश्चात भारत में इसका प्रभाव कम होता जा रहा है।

हिन्दुस्तानी—यह नाम यूरोपीय लोगों का दिया हुआ है। कुछ समय पहले यह शब्द उर्दू का पर्यायवाची था। परन्तु अब इसका बोलचाल वाला रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है। इसका झुकाव फ़ारसी की ओर अवश्य है किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से यह साहित्यिक खड़ी बोली के ही निकट है। यह फ़ारसी और संस्कृत के अस्वाभाविक प्रभाव से दूर है। इसका प्रयोग साधारण श्रेणी के लोगों में होता है।

हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ

भाषाशास्त्र के दृष्टिकोण से प्राचीन मध्यदेशीय क्षेत्र की मुख्य बोलियों के समूह को ही हिन्दी की ही संज्ञा प्रदान की जाती है। इसमें खड़ी बोली, ब्रज, बांगरु, कन्नोजी और बुंदेली शामिल हैं। ग्रियर्सन ने इसे पश्चिमीहिन्दी के नाम से पुकारा है। अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी को पूर्वी हिन्दी की संज्ञा दी गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी का सम्बन्ध शौरसेनी प्राकृत से है। राजस्थानी के अन्तर्गत मारवाड़ी, मेवाती, जयपुरी तथा मालवी है। भोजपुरी, मगही और मैथिली बिहारी उपभाषा के अन्तर्गत आती हैं। पहाड़ी के अन्तर्गत पश्चिमी, मध्य गढ़वाली, कमायूंनी तथा पर्वतिया या नेपाली बोलियाँ आती हैं।

पश्चिमी उपभाषा :—

१. खड़ी बोली—खड़ी बोली पर हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा मुसलमानी प्रभाव अधिक है। इसमें अरबी, फ़ारसी के शब्द भी काफ़ी हैं। ये प्रायः तद्भव और अर्धतत्सम रूपों में प्रयुक्त होते हैं। खड़ी बोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ़्फ़रनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला आदि भागों में बोली जाती है। ग्रियर्सन ने इसी बोली को वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी के नाम से पुकारा है।

२. बांगरु—यह हरियानी और जाटू के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह दिल्ली, कर्नाल, रोहतक और हिसार जिलों में बोली जाती है। यह राजस्थानी और पंजाबी का ही मिश्रित स्वरूप है। प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र कुरुक्षेत्र और पानीपत इसी बोली क

सीमा के अन्तर्गत आते हैं। यह खड़ी बोली का ही एक स्वरूप है इसे एक स्वतन्त्र बोली नहीं माना जा सकता।

३. **ब्रजभाषा**—ब्रज की गिनती साहित्यिक भाषाओं में होने लगी है। इसलिए इसे ब्रजभाषा कह कर पुकारा जाता है। विशुद्ध रूप से यह बोली मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। गुड़गांव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चितोत्तर भाग में इसमें राजस्थानी और बुंदेली का मिश्रण है। जब से गोकुल, वल्लभ सम्प्रदाय का केन्द्र हुआ तब से ब्रजभाषा मे कृष्ण साहित्य लिखा जाने लगा। १७वीं सदी में साहित्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने ले लिया।

४. **कन्नौजी**—इस भाषा का क्षेत्र अवधी और ब्रजभाषा के बीच में है। यह पुराने कन्नौज राज्य की ही भाषा है। इस भाषा का केन्द्र फ़र्रुखाबाद है। उत्तर में यह हरदोई, शाहजहांपुर तथा पीलीभीत तक, और दक्षिण में इटावा और कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। इस भूमिभाग में कई प्रसिद्ध कविगण पैदा हुए किन्तु सबने ब्रज में ही रचनाएँ लिखी हैं। साहित्य क्षेत्र में भी ब्रज की निकटता के कारण यह कभी आगे नहीं बढ़ सकी। यह ब्रज का ही एक उपरूप है।

५. **बुंदेली**—यह बुंदेलखड की बोली है। यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त यह मिश्रित रूप में दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट और छिंदवाड़ा में बोली जाती है। मध्यकाल में बुंदेलखंड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। बुंदेली और ब्रज में काफी साम्य है।

पूर्वी उपभाषा

१. **अवधी**—हरदोई जिले के अतिरिक्त यह समस्त अवध की बोली है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फ़ैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़ और बाराबंकी में बोली जाती है। इन जिलों के अतिरिक्त गंगापार, इलाहाबाद, फ़तहपुर, कानपुर और जौनपुर के कई भागों में बोली जाती है। वैसे तो मिश्रित अवधी का विस्तार मुजफ्फ़रनगर तक है। पद्मावत, रामचरित मानस और कृष्णायन अवधी साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

२. **बघेली**—इसका क्षेत्र अवधी के दक्षिण में है। इसका केन्द्र रीवा राज्य है। यह दमोह, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट तक फैली हुई है। इसे अवधी का ही दक्षिणी रूप माना जाता है।

३. **छत्तीसगढ़ी**—इसका दूसरा नाम लरिया या खल्ताही भी है। यह मध्यप्रांत में रायपुर, एवं बिलासपुर जिलों के अतिरिक्त कांकेर, नंदगांव, खैरगढ़,

रायगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जयपुर में भिन्न रूपों में बोली जाती है। इसमें पुराना साहित्य नहीं है।

बिहारी उपभाषा

१. **भोजपुरी**—यह पुरानी काशी जनपद की बोली है। बिहार के शाहाबाद जिले में भोजपुर एक छोटा सा परगना है। इसी से इस बोली का नाम पड़ा है। यह बोली वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर, ग़ाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक बोली जाती है। इस भाषा का साहित्य नहीं है।

२. **मैथिली**—यह बोली बिहार में विशेषकर गंगा के उत्तरी भाग में चम्पारन जिलों को छोड़कर शेष प्रदेशों में बोली जाती थी। इसका केन्द्र दरभंगा राज्य है। विद्यापति इस भाषा के प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। मिथिला तथा नेपाली में मैथिली पद मिश्रित संस्कृत नाटक भी लिखे गए हैं। इसकी अपनी प्रादेशिक लिपि है जो बंगाली से मिलती-जुलती है।

३. **मगही**—बिहार में गंगा के दक्षिण में शाहाबाद जिले को छोड़कर शेष प्रदेश के उत्तरी भाग में बोली जाती है। पटना और गया इसके केन्द्र माने जाते हैं। प्रादेशिक रूप से लिखने के लिए कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मगही शब्द मागधी शब्द का अपभ्रंश रूप है।

राजस्थानी उपभाषा

१. **मारवाड़ी**—मारवाड़ी और मेवाड़ी को पश्चिमी राजस्थानी कहा जा सकता है। यह अरावली के पश्चिम और दक्षिण भागों में मुख्यतः जोधपुर, जैसलमेर, तथा उदयपुर में बोली जाती है। प्राचीन मारवाड़ी तथा डिंगल में पुरातन साहित्य प्रचुर मात्रा में है।

२. **जयपुरी**—पूर्वी राजस्थानी के दो उपरूप हैं एक तो जयपुरी दूसरी हाड़ौती। इन भाषाओं में विशेष साहित्य की रचना नहीं हुई हैं। पूर्वी राजस्थान के दरबारों ने ब्रजभाषा को ही स्थान दिया था।

२. **मेवाती**—यह उत्तर राजस्थान तथा पंजाब प्रदेश के दक्षिण भाग के गुड़गाँव के निकटवर्ती प्रदेश में बोली जाती है। इस पर ब्रज का प्रभाव है। इसका साहित्य कभी नहीं रहा है।

३. **मालवी**—इसे दक्षिणी राजस्थानी भी कहा जाता है। इसका केन्द्र इन्दौर है। इसका साहित्यिक महत्त्व नहीं है। निमाड़ी भी मालवी का ही एक प्रतिरूप है। यह मध्यप्रदेश के निमाड़ जिले में मुख्यतः बोली जाती है। इसके परिवर्तित रूप में बुंदेली का भी मिश्रण है।

पहाड़ी उपभाषा

इन पहाड़ी बोलियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. पश्चिमी पहाड़ी २. मध्य पहाड़ी और ३. पूर्वी पहाड़ी। शिमला के निकटवर्ती प्रदेश में पश्चिमी पहाड़ी बोलियों का ही समूह है। इनमें न तो कोई साहित्य ही पाया जाता है और न ही इनका कोई सर्वमान्य रूप ही है। इस प्रदेश में साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दी का ही व्यवहार होता है। मध्य पहाड़ी के दो रूप हैं—१. कुमायूंनी और २. गढ़वाली।

कुमायूंनी अल्मोड़ा और नैनीताल में बोली जाती है। गढ़वाली का प्रदेश और उसके आसपास के प्रदेश ही हैं। मसूरी का निकटवर्ती प्रदेश भी इसीमें आता है। लोगों ने साहित्यिक व्यवहार के लिए हिन्दी को ही अपनाया है। नैपाल की बोली पूर्वी पहाड़ी ही है। इसे खुसकुरा, नैपाली, गुरखाली या पर्वतिया भी कहा जाता है। इसका विशुद्ध रूप काठमांडू की घाटी में ही बोला जाता है। इसे नैपाल राज्य से प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। इसमें कुछ साहित्यिक रचना भी हुई है। नैपाली का अध्ययन जर्मन तथा रूसी विद्वानों ने किया है। यह देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है।

पंजाबी भाषा

नामकरण—डा० मोहनसिंह के मतानुसार पंजाबी शब्द का सर्वप्रथम व्यवहार सुन्दरदास नामक कवि ने किया है। उन्होंने एक दूसरा हवाला भी दिया है[1] जिसे देखने का सौभाग्य तो हमें प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने इस सुन्दरदास को अकबर के समकालीन माना है और कहा है कि वह राजस्थान में कहीं हुआ था। पता नहीं कि इनका आशय दादू के शिष्य प्रसिद्ध कवि सुन्दरदास से था क्या? सुन्दरदास तो दो हो गए हैं। प्रसिद्ध छोटे सुन्दरदास ने तो पंजाबी में भी कविता की है। पटियाला सार्वजनिक लाइब्रेरी में इनके पद देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आइने अकबरी में इस भाषा को अब्दुलफ़ज़ल ने मुलतानी कहा है। हाफ़िज़ बरखुरदार ने इस भाषा को पंजाबी की संज्ञा प्रदान की है हाफ़िज़ औरंगजेब का समकालीन था। इससे पहले के कवियों ने इसे हिंदी या हिंदवी की ही संज्ञा दी है। अपनी रचना हीर में हामिद ने इस भाषा को जटकी की संज्ञा प्रदान की है।

पंजाबी का नाम लेते ही कई लोगों की यह धारणा हो जाती है कि यह समस्त पंजाब की भाषा है या समस्त पंजाब की एकमात्र भाषा यही है। बात वास्तव

१. ऐडलिंग : मिथिरिडेटस; बर्लिन (१८०६—१४) भाग १ पृ. १७ डा० मोहनसिंह द्वारा उद्धृत।

में ऐसी नहीं है। भारत विभाजन से पूर्व समस्त पंजाब में पंजाबी भाषा-भाषियों का अनुपात वर्तमान पूर्वी पंजाब की अपेक्षा कम था। विभाजन के पश्चात पूर्वी पंजाब में इस भाषा के बोलने वालों की काफी वृद्धि हो गई है। इसलिए वर्तमान पूर्वी पंजाब की यही प्रान्तीय भाषा है।

पंजाबी के पाकिस्तानी एवं भारतीय रूप :—पंजाबी के इस समय दो रूप हैं। एक तो भारतीय पंजाबी और दूसरा पाकिस्तानी पंजाबी। हमारा विषय इस समय भारतीय पंजाबी से ही सम्बन्धित है। ग्रियर्सन ने जिसे पूर्वी पंजाबी कहा है यही हमारे विषय के अन्तर्गत आती है। ग्रियर्सन ने पंजाबी को अतिरिक्त समुदाय और लहिंदा को बाहरी समुदाय में रखा है। पंजाबी से लहिंदा को उन्होंने पृथक माना है। कई पंजाबी विद्वान लहिंदा को पंजाबी में ही सम्मिलित करते हैं। लहिंदा का क्षेत्र इस समय पाकिस्तान में है। आगे जब हम पंजाबी शब्द का व्यवहार करेंगे उस समय केवल उसी पंजाबी से होगा जोकि भारत में बोली जाती है।

भौगोलिक सीमा—इस भाषा के बोलनेवालों के क्षेत्र के उत्तर कश्मीर, पूर्व में हिमालय प्रदेश, दक्षिण में राजस्थान और पश्चिम में पश्चिमी पंजाब है।

सीमांतक भाषाएं :—उत्तर में कश्मीरी एवं उसकी बोलियाँ, उत्तर-पूर्व में शिमला की पहाड़ी बोलियाँ पूर्व में पश्चिमी हिन्दी, दक्षिण में राजस्थानी और पश्चिम में पश्चिमी पंजाबी या लहिंदा का क्षेत्र है। एक भाषा और दूसरी भाषा के बीच में ठीक-ठीक सीमांतिक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। दो भाषाओं की सीमा पर प्रायः ऐसा प्रदेश रहता है, जहाँ पर दो भाषाओं या उससे अधिक भाषाओं की सामान्य प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। नक्शे पर भाषाओं की जो सीमाएँ खिंची रहती हैं वे भाषाओं को निश्चित करने का एक अनिश्चित-सा ही मापदंड रहता है। यह तो केवल सहूलियत के लिए खींच ली जाती है। यहाँ तक कि बोलियों की भी निश्चित सीमा नहीं खींची जा सकती।

पंजाबी भाषा की उत्पत्ति

पंजाबी की उत्पत्ति पर विभिन्न भाषा वैज्ञानिकों के मत-मतांतरों की विवेचना कर लेना समीचीन होगा। ग्रियर्सन के अनुसार माझा प्रान्त में पहले पैशाची ही बोली जाती थी। धीरे-धीरे उस पर शौरसेनी का प्रभाव पड़ा। पंजाबी की नींव पैशाची द्वारा पड़ी उस पर शौरसेनी की इमारत खड़ी हुई। पी० डी० गुने के मतानुसार पंजाबी और हिन्दी शौरसेनी से विकसित हुई है। लहिंदा कश्मीरी आदि शायद पैशाची अपभ्रंश से निकली हैं।[1] दुनीचंद के मतानुसार आधुनिक

१. पी. डी. गुने ; इंट्रोडक्शन टु फाइलोलोजी ; पृ. २२३

पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है।[1] तारपोरवाला का कथन है कि जिस भाषा से लहिंदा और पंजाबी निकली हैं उस बोली का संस्कृत या प्राकृत साहित्य में कोई वर्णन नहीं है परन्तु फिर भी उन पर शौरसेनी का प्रभाव है।[2]

बनारसीदास जैन ने ग्रियर्सन के मत ही को स्वीकार किया है। डा० मोहन सिंह का मत है कि उज्जैन से पेशावर तक और सिंध से लेकर कन्नौज तक महाराष्ट्री प्राकृत का क्षेत्र था। उसी से अन्य आर्य भाषाएँ मराठी, गुजराती, राजस्थानी-डिंगल, पिंगल, सिंधी पंजाबी, पूर्वी आदि का उद्‌गम हुआ। पंजाबी अपभ्रंश का नाम उस समय आठवीं सदी में पिशाची, अवहट्ट अपभ्रष्ट या भूतभाषा था। आभीर, पिशाच, भूतभाषा, अवहट, जटकी ये सब प्राचीन पंजाबी ही के नाम थे।[3] उपरोक्त समस्त मतों से निराला कथन प्रि० तेजासिंह का है। ये कहते हैं कि ग्रियर्सन के मतानुसार हमारी पंजाबी पिशाची और प्राकृत के मेल से बनी है। नहीं, हमारी बोली का विकास आर्यों की बोली से हुआ है। वेद पंजाबी में हैं। वर्तमान पंजाबी की अपेक्षा वे प्राचीन पंजाबी में हैं। परन्तु है पंजाबी में, संस्कृत में नहीं। संस्कृत की रचना तो बाद को हुई।[4] नलिनी मोहन सन्याल ने पंजाबी की उत्पत्ति को वाल्हिक से माना है।[5] पंजाबी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपरोक्त मतमतांतरों से हम निम्न-लिखित निर्णय पर पहुँचते हैं:—

१. पंजाबी और लहिंदा अलग-अलग बोलियाँ हैं। पंजाबी का विकास शौरसेनी और लहिंदा का पैशाची से हुआ है।
२. मूलाधार पैशाची है उस पर प्रभाव शौरसेनी का है।
३. पंजाबी और लहिंदा दोनों ही पैशाची से निकली हैं।
४. वैदिक संस्कृत से सीधे ही पंजाबी की उत्पत्ति हुई है।

ग्रियर्सन ने पंजाबी को आंतरिक समुदाय की भाषा माना है। लहिंदा की गणना बाह्य समुदाय में की है। यह माना जाता है कि पंजाबी का सम्बन्ध केवल अपभ्रंश से था। उस पर बाद को शौरसेनी का प्रभाव पड़ा। मथुरा, वृंदावन, आगरा एवं दिल्ली का पश्चिमोत्तरी भाग शूरसेन कहलाता था। प्रि० तेजासिंह का मत कि वेद पंजाबी में है या यह मत कि पंजाबी सीधी वैदिक संस्कृत से ही निकली है, भ्रामक ही कहा जाएगा। भाषा में तो परिवर्तन होता रहता है। यह कैसे सम्भव

---

१. दुनीचंद; हिन्दी और पंजाबी का भाषा विज्ञान; पृ. १५-१६
२. तारपोरवाला; दी एलीमेंटस आफ़ साइंस आफ़ लेंगवेज; पृ. ५२
३. डा० मोहनसिंह; जिंतिवर साहित सरोवर; पृ. ७३-८१
४. प्रो० तेजासिंह; साहित दर्शन; पृ. २०-११७
५. नलिनी मोहन सन्याल; बिहारी भाषाओं का विकास (निबंध)

है कि वैदिक संस्कृत से पंजाबी निकल कर आज तक वैसे ही रही हो। उसमें क्या कोई परिवर्तन नहीं हुआ? भाषा वैज्ञानिकों ने जो संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि को माना है, क्या उसे अस्वीकार कर दिया जाए? वैदिक संस्कृत से तो समस्त आर्य भाषाएं निकली हैं इस कारण हरएक भाषा-भाषी यह कहने लग पड़ेगा कि वेद उसकी भाषा में ही है। पंजाबी की उत्पत्ति वाल्हिक से भी नहीं हुई है। नलिनी मोहन सन्याल का मत भी नया और पुष्टिहीन है। वाल्हिक आज के बल्ख बुखारे का ही प्राचीन नाम है। यह पंजाब से काफी दूर पश्चिमोत्तर भाग में है। इस कारण उससे पंजाबी की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इस मत की किसी विद्वान ने पुष्टि नहीं की है कि पंजाबी की उत्पत्ति वाल्हिक से हुई है। पंजाबी की उत्पत्ति पैशाची से भी नहीं हुई है। पंजाबी और शौरसेनी का निकट सम्बन्ध है। शौरसेनी प्राकृत से पंजाबी की काफ़ी साम्यता है। परन्तु पंजाबी की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से नहीं हुई है। प्रतीत होता है कि पंजाबी को जन्म देने वाली शौरसेनी से प्रभावित कोई अपभ्रंश रही होगी। उसे शौरसेनी से प्रभावित या उसका भेद कहा जा सकता है। उस भाषा को शौरसेनी से पृथक नहीं किया जा सकता।

प्राचीन पंजाब की बोली के किसी निश्चित नाम का पता नहीं चलता। पंजाब में प्रचलित बोलियों के नाम पांचाली, टक्की, कैकयी आदि थे। परन्तु कठिनाई यह है कि उन भाषाओं की निश्चित रूपरेखा का पता नहीं चलता है।

पश्चिम पंजाब को ही प्राचीन प्रदेश कहा जाता था। पांचाल का व्यवहार भी सारे पंजाब के लिए किया जाता था। दुनीचंद लिखते हैं कि पंजाबी का कैकयी या कैकयी पैशाचिका से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1] भाषा वैज्ञानिकों की अधिकतर खोजों के परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि पंजाबी की उत्पत्ति कैकयी से हुई है। कैकयी से आशय कैकयी प्राकृत से है। पाणिनी के अष्टाध्यायी के एक सूत्र में कैकयी का नाम आता है। पाणिनी का समय ई० पू० चौथी या पाँचवीं सदी माना जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि शौरसेनी के समान यह प्राकृत भी अति प्राचीन रही है। हो सकता है कि शौरसेनी की तरह प्रसिद्ध नहीं रही होगी। इसे शौरसेनी की बहिन कहा जा सकता है। इस कैकय का सम्बन्ध सीधा पालि से था। पालि का विकास स्थान मध्यदेश ही था। इससे यह भी पता लगता है कि कैकयी दूसरी प्राकृतों के समान सीधी पालि से आई है। इसकी उत्पत्ति शौरसेनी या किसी समकालीन बोली से नहीं हुई है; अपभ्रंश काल में इसका नाम कैकय अपभ्रंश पड़ गया होगा। कैकय भाषा का क्षेत्र समस्त आधुनिक पंजाब रहा होगा। इस कैकय पर

१. दुनीचंद ; पंजाबी और हिन्दी भाषा विज्ञान ; पृ २५

शौरसेनी का प्रभाव पड़ता रहा होगा । इसके अपभ्रंश रूप को कैकय अपभ्रंश, उपनागर अपभ्रंश या टक्की अपभ्रंश कहा जाता रहा होगा।

पंजाबी भाषा का जन्म स्थान वही है जो आज लंहिदा का प्रदेश माना जाता है। भारत में तुर्क और अफ़गान आक्रमणकारियों से प्रथम मुसलमान सूफी कवियों का भारत में आगमन प्रारम्भ हो गया था। उन्होंने अपने काव्य का माध्यम जनता की बोली को बनाया। यह वह भाषा थी जो कि ब्रज से पृथक जनता में बोली जाती थी। शेख फरीद, शाह हुसैन आदि पंजाबी सूफी कवियों ने इसी भाषा का व्यवहार किया था।

सार यह कि पंजाबी की उत्पत्ति पैशाची से सिद्ध नहीं होती। यही पंजाबी की उत्पत्ति केवल शौरसैनी से हुई है। पंजाबी, आभीर, गुर्जर आदि की बोली नहीं है। परन्तु पंजाबी पर आभीर, गुर्जर, पिशाच और ईरानी भाषाओं का प्रभाव अवश्य है। न ही इसकी उत्पत्ति वाल्हिकि से हुई है। पंजाबी एकदम वैदिक संस्कृत से भी नहीं निकली है। इसकी उत्पत्ति कैकय अपभ्रंश से ही संभव है। उस पर शौरसैनी का प्रभाव पड़ा है। आधुनिक पंजाबी का उदय पश्चिमी पंजाब से हुआ है।

पंजाबी भाषा की बोलियाँ

ग्रियर्सन ने पंजाबी की निम्नलिखित बोलियों का उल्लेख किया है: १. मलवई, २. माझी, ३. नोआ, ४. डोगरी, ५. यौवधी, ६ राठी, ७. भटियाणी। कई पंजाबी विद्वान इसमें कांगड़ी और लंहिदा का भी समावेश करते हैं। लंहिदा का प्रदेश इस समय पाकिस्तान में चला गया है इसलिए यह तो हमारे विषय के बाहर है।

माझी

पंजाबी की बोलियों में माझी को ही सबसे शुद्ध माना जाता है। यह माझा प्रदेश की बोली है। माझा का अर्थ है माझे की बोली या मध्यदेश की बोली। इस शब्द की व्युत्पत्ति का ठीक-ठीक तो पता नहीं लगता है। माना जाता है कि उसकी उत्पत्ति संस्कृत के मध्य का शब्द से हुई होगी। मध्य से मज्झा और उससे माझा। यह रावी, व्यास और सतलज के मध्य का क्षेत्र है। माझी का क्षेत्र अमृतसर तरन तारन और गुरदासपुर तक है। लाहौर भी इसके ही क्षेत्र में आता था। पंजाबी का यह शुद्ध रूप तो माना जाता है किन्तु व्याकरण के शुद्ध सम्मत रूपों का इसमें अभाव ही पाया जाता है।

माझी की अपनी कई विशेषताएँ है। इसमें ळ ध्वनि का अभाव है माझी और मलवई में कई अन्तर पाए जाते हैं। अन्तस्थ ळ ध्वनि का उच्चारण अमृतसर में नहीं होता। दंत्य का ही प्रयोग होता है। जैसे माझी में 'नाल' शब्द मलवई में 'नाळ' उच्चरित होता है। कोल (पास) शब्द को माझी का मलवई में कोळ हो

जाता है। ड का प्रयोग माझी में निम्नलिखित रूपों होता है। यथा तुहाड्डा, साड्डा, वड्डा आदि, मलवई में ये तुहाडा, साडा, वड्डा होंगे। माझी में ड ध्वनि का उच्चारण यदि दो बार हो तो पहला ड वर्ण हलंत होगा।

मलवई में जिन इकारों का संयुक्त उच्चारण होता है माझी में उनका स्वरूप साधारण ही रहता है जैसे

माझी	मलवई
विच	विच्च
लगिग्रा	लग्गिआ
लव पेग्रा	लव्व पेग्रा

माझी और मलवई दोनों ही में ण ध्वनि पर अनुस्वार का प्रयोग बहुत मिलता है जैसे अप्पणां आदि। जहाँ व ध्वनि हो और उसके पहले इ आए तो उसका उच्चारण ह के ही रूप में होता है। साहित्यिक पंजाबी में ऐसा नहीं है।

शब्द	माझी में प्रयोग
ओस विच (उसमें)	ओसिच
घर विच (घर में)	घरिच्च

व्यवहार में असीं, तुसीं शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण नहीं होता। इसका उच्चारण असी तुसी के रूप में ही होगा। उन्हां का उच्चारण ओना के रूप में होगा।

भूतकाल के निम्नलिखित रूप होते हैं

सां	सां
से	सो
सी	सी

पंजाब में जैसे-जैसे पश्चिम की ओर बढ़ा जाए वैसे-वैसे पंजाबी में लहिंदा का पुट मिलता जाता है। क्रिया में स के प्रयोग मिलते हैं (माझी में नहीं)। जैसे मैं जासीं—माझी में होगा मैं जांदां। हाँ क्रिया के वर्तमानकाल में दां के स्थान पर ना का प्रयोग होता है।

साहित्यिक पंजाबी	माझी
जांदां हां	जान्ना हां
खांदां हां	खान्ना हां
मारदा हां	मारना हां

गुरदासपुर जिले का एक भाग रावी के पश्चिम में पड़ता है। ग्रियर्सन ने इसे माझा का ही एक भाग माना है। लाहौर और अमृतसर का भाग सिख शासन और सभ्यता का केन्द्र रहा है। अतएव माझी शुद्ध रही है। यह मत भ्रामक और गलत

है कि पंजाबी क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा शुद्ध हुई है।[1] निम्नलिखित माझी का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

"ऊइ भाइऊ वंतिआ। झट आ। तूं तां यारा हरवेले इस तरहां वांडे टींडे ही रहिंदा एं। कंम तों बऊड़ा डरदा एं। तूं कंठ जिआ पिआ एं। जणा खणा तेरी बराबरी नहीं कर सकदा आ। सुवखते उठिआ कल्ले नूं कम्म जो बऊते होए। तेरी चंगी ऊमर आ कम्म करन दी। इकबार कम्म नूं ढहि सई। कम्म नूं गाड़ी लालेवेंगा। तूं आपणी जंझ वास्ते लूण तेल ता इकट्ठा कर ले। खलोजा, सुण, दसवीं ते नंद सुंह हुरां दे खंडपाठ रखिए। उहदी कुड़ी दा अनंद कारज ई। छेती करीं, झट आवीं। असीं निउंदरा (नेंदरा) पावेंगे। मैं किआ (किहा) ऐवें जाके वैठा न रहीं। ऊनां धुआयों की तेणा ई। रूमान नाल करीं। वीह पंजी दिनां आपुं खड़नगे।"[2]

मलवई बोली

पंजाब के दक्षिणी भाग को मालवा कहा जाता है। ठीक-ठीक तो नहीं कहा जा सकता कि इस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई। किन्तु इसकी उत्पत्ति मलवत् शब्द से मानी जाती है। मलवत् का आशय है कि मल्लों या पहलवानों के समान। हो सकता है कि पंजाब के इस मालव का मध्य भारत के मालवा से कोई ऐतिहासिक संबंध रहा हो। इस प्रदेश की पंजाबी को मलवई कहा जाता है। इसमें फ़िरोजपुर, लुधियाना, फ़रीदकोट, बठिंडा, पश्चिमी पटियाला, नाभा और मलेर कोटला आते हैं। मलवई के एक ओर तो माझी का प्रदेश है और दूसरी ओर बांगरू और राजस्थानी का प्रदेश है। इस कारण ब्रज और बांगरू के कई शब्द इसमें आते हैं। ब्रज में सम्बन्ध कारक विभक्ति का पश्चिमी हिन्दी में के हो जाती है। मलवई में भी के का व्यवहार होता है। यदि शब्दों का प्रारम्भ अ या ए से होता है तो मलवई मे अ और ए ध्वनियों का उच्चारण नहीं होता। जैसे :—

पंजाबी	मलवई
अवस्था	वसता
एकादसी	कादसी
अखंडपाठ	खंडपाठ
अनन्द	नंद

केन्द्रीय या साहित्यिक पंजाबी का ल मलवई में न हो जाता है।

साहित्यिक पंजाबी	मलवई
लंबरदार	नंबरदार

---

१. ग्रियर्सन ; पृ. ६०९ भाग ९।

२. प्रो० प्रेम प्रकाश सिंह; पंजाबी बोली दा निकास ते विकाV; पृ. ३१७।

अलमारी	नमारी
लंघरण	नंघरण

माझी की अपेक्षा मलवई में संस्कृत की म् ध्वनि अधिक सुरक्षित है। यह म ध्वनि माझी में व हो जाती है।

संस्कृत	माझी	मलवई
दशम्	दसवां	दसमां
	जिवें	जिमे
	किवें	किमे
	ऊवें	ऊमें

साहित्यिक पंजाबी की त्र ध्वनि मलवई में त के रूप में उच्चरित होती है :—

सा० पंजाबी	मलवई
पुत्तर,	पुत
सूत्तर, सूत्र	सूत
नींदर, निद्रा	नींद
मूत्तर, मूत्र	मूत

माझी के व के लिए मलवई में ब प्रचलित है :—

माझी	मलवई
वट्टा	बट्टा
वेच	वेच

माझी और मलवई के सर्वनाम भी निम्नानुसार हैं :

माझी	मलवई
तुहाड्डा, थुआड्डा	थोडा
तुहाड्यों, थुआड्यों	थोतों
तुहानूं	थोनूं

क्रिया के वर्तमान काल में प्रश्नवाचक में द के स्थान पर न उच्चरित होता है।

सा० पं०	म०
की करदे, करदा एं	की करने
खांदे	खान्ने
पींदे	पीन्ने
जांदे	जान्ने

मलवई में कर्मवाच्य में क्रिया स्वतंत्र होती है :—

संस्कृत	सा०पं०	म०
क्रियते	कीता जांदा	करीदा
म्रियते	मरिया जांदा	मरीदा

मलवई बोली का उदाहरण देखिए :—

"ऊई भरा वंतिम्रा साल्ह म्रा दई देशाम्रा'। तूं यार वत्तोपहर इमतरां लैणें ई रैहने (रहिंदा एं) कंमतो बालाह डरने। तूं ऊठ जिड़ा जिम्रों कल्ला दुकल्ला (जणा खणा) तेरी बरौबरी नई कर सकदे। सिदंहां ऊठिम्रा कर। कल्ले कहिरे नूं कम्म जो बालहे होए। तेरी चंगी वसता ए कम्म करन दी। केरां चंगी तरां कम्म नूं लग ता सई, कम्म नूं मूरे लालेंगा। तूं म्रावदी (म्रापणी) जन वासने नूण-तेल तां कट्ठा कर लै। खोजा। सुण दसमीं ते निर्दसिंह के खंडपाठ खुलिए। उसदी कुड़ी दा नंद मैं। छई करीं। भब्दे म्राईं। म्रापां निऊंदां पामांगे। मक्खिम्रा (मक्ख) एमे जाके उथे बैठा न रईदं। उनां ने थोतों की लेणें। राम नाल कोई (कहो) वीह पच्ची दिनां तांई म्रापे लै जाणगे।"[1]

दुम्राबी

दोम्राब का प्रदेश पंजाब में पूर्व की म्रोर है। दोम्राब में होशियारपुर, जालंधर, कपूरथला, म्रादि हैं। इस क्षेत्र की बोली को दोम्राबी कहा जाता है। यह पंजाबी की कई बोलियों का संगमस्थल है। इसके एक म्रोर तो माझी का प्रदेश है म्रोर दूसरी म्रोर मलवई का प्रदेश है। इस कारण स्वभाविक तौर से ही इसमें मलवई म्रोर माझी की प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। पंजाबी की व ध्वनि दुम्राबी में ब के रूप में बोली जाती है।

सा० पं०	दु०
वसी	बसी
विच	बिच
वट्टा	बट्टा

इसके क्रिया रूप मलवई के समान ही हैं।

पं०	म०
म्रावेंगे	म्रामांगे
जावेंगे	जमांगे

दुम्राबी का उदाहरण :—"ऊए बीरा बंतिम्रा। झटपट एधर म्रा। तूं यार सदा एकण बांडे टींडे ई रहिने। कम्म तों वड़ा डरदां। तूं उठ म्ररगा एं (म्ररगं) लल्लू पंछू तेरी बरोबरी नहीं कर सकदा। सबखते उठिम्रा कर। पुत्ता कल्ले नूं कम्म वऊत मै। तेरी कम्म करन दी उमर म्रा। इक बार कम्म नूं लग तां सई, कम्म नूं म्रग्गे ला लामेंगा। तूं म्रापणही जनेत लई सूण तेल तां जम्हां कर लै। खड़ो जा। सुंण दसमी ते नंद सुंह के पाठ बुलाइम्रो। ऊसदी केड़ी दे फेरे म्रा म्रापां

1. प्रेम प्रकाश सिंह ; पंजाबी बोली दा निकास ते विकास ; पृ. २१५।

नंदा पामांगे ।"[1]

डोगरी

इस शब्द का उद्‌गम डूगर या डोगर शब्द से हुआ है। डोगर या डूगर की उत्पत्ति संस्कृत के द्विग्रत से हुई है। जम्मू का पहाड़ी प्रदेश ही डूगर कहलाता है। जम्मू के उत्तर में पहाडी इलाका है जो इसे कशमीर से पृथक् करता है। कशमीर और डोगरी के बीच अन्य बोलियों का प्रदेश है। यह कशमीरी को डोगरी से पृथक् करता है। इन बोलियों की गणना ग्रियर्सन[2] ने पहाड़ी बोलियों में की है।

जम्मू के उत्तर में भादरवाह है। उसकी भाषा भादरवाही है। इसके पूर्व में चम्बा रियासत थी जहाँ की बोली को चमेली कहा जाता है। चमेली पहाड़ी की ही एक शाखा है। जम्मू के पश्चिम में मटेली नामक बोली का क्षेत्र है। जम्मू के दक्षिण में पंजाबी का प्रदेश है। पंजाबी की उत्तरी सीमा से ही डोगरी का प्रदेश प्रारम्भ हो जाता है। जम्मू के दक्षिण-पूर्व में कांगड़ा है। चिनाब जम्मू के पास से प्रवाहित होती है। चिनाब के दूसरी ओर के कुछ भाग में डोगरी बोली जाती है।

संस्कृत के द्विग्रत का ही अपभ्रंश डोगर है। डा० स्टीन के मतानुसार इस प्रांत का नाम दुग्गारा था। ग्रियर्सन के मतानुसार डोगर शब्द का निर्माण प्राकृत के डोग्गर शब्द से हुआ है।[3] विशुद्ध पंजाबी के निकट होते हुए भी डोगरी का शब्द भण्डार पंजाबी से काफी भिन्न है। कशमीरी और लहिंदा के अतिरिक्त इस पर पठुहारी का काफी प्रभाव है।

केन्द्रीय या साहित्यिक पंजाबी

केन्द्रीय पंजाबी का अर्थ होता है कि केन्द्र स्थित पंजाबी। परन्तु केन्द्रीय पंजाबी किसी विशेष क्षेत्र की पंजाबी का नाम नहीं है। बल्कि यह साहित्यिक पंजाबी का ही नाम है। इसका आधार माझी ही है। इसमें पंजाबी की अन्य बोलियों के अंश भी मिले हुए हैं। इसमें तत्सम् शब्दों का व्यवहार किया जाता है। जबकि पंजाबी की बोलियों में तत्सम् की अपेक्षा तद्भव शब्दों की ही प्रधानता है। साहित्यिक पंजाबी का उदाहरण देखिए "ऊई भाई वंतिआ। जल्दी आवो। तूं हर समों इस तरहाँ बाहर ही रहिंदा हैं। हर इक तेरी समानता नहीं क सकदा। सुवेले उठिआ कर। इक्कले नूं कम्म बहुते हन। तेरी सुहाणी अवसथा है। कम करन दी। इक वार भली प्रकार कम्म नूं अरम्भ करो। कम्म आपणे आप पूरा हो जावेगा। तूं आपर आपणीं जंभ

१. प्रेम प्रकाश सिंह ; पंजाबी बोली दा निकास ते विकास पृ. ३१८। ;
२. ग्रियर्सन ; सर्वे ; भाग ६ पृ. ६३७।
३. डा० स्टीन ; राज तरंगिणी ; भाग २, पृ. ४३२।

लई सामगरी तां इकत्र कर। ठहर जा सुगा, दसवीं वाले दिन स० नंद सिंघ हुरां दे अखंडपाठ रखिआ है। उसदी लड़की दा अनंद कारज है। जलदी वापस आऊणा। असीं निऊंदरा पावेंगे।"[1]

पठुहारी और लहिंदा का क्षेत्र पाकिस्तान में पड़ता है। पंजाबी की उपरोक्त बोलियाँ ही उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी एवं पंजाबी भाषाओं का विकास

हिन्दी भाषा का विकास :—हिन्दी भाषा के विकास का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है। (१) प्राचीनकाल १५०० ई० तक। इस समय तक प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव हिन्दी भाषा पर वर्तमान था। हिन्दी की बोलियों के रूप निश्चित रूप से विकसित नहीं हो पाए थे।

(२) मध्यकाल (१५०० ई० से १८०० तक)। इस समय हिन्दी से अपभ्रंशों का प्रभाव हट गया था। खड़ीबोली, ब्रज और अवधी का विकास हो चुका था।

(३) वर्तमानकाल (१८०० ई० के बाद)। इस समय खड़ीबोली का पूर्ण रूप से विकास हो चुका था। इसका साहित्य में उपयोग भी होने लगा था।

प्राचीन काल

हिन्दी का प्रारम्भ उस समय से होता है जबकि हिन्दी प्रदेश तीन भागों में विभक्त था। पश्चिम मे दिल्ली तोमर वंश की राजधानी थी। दिल्ली राज्य की सीमाएँ पश्चिम में मुसलमानी राज्य से मिली हुई थीं। इसकी पूर्वी सीमा पर तो सदैव युद्ध ही होते रहते थे। चौहान राज्य के पूर्व में कन्नौज, राठौर या गहरवार वंश की राजधानी थी। इस राज्य की सीमा काशी और अयोध्या तक थी। इस वंश का अन्तिम शासक जयचन्द था। उसका दरबार साहित्यिक चर्चा का मुख्य केन्द्र रहता था। परन्तु दरबार में संस्कृत और प्राकृत का ही आदर होता था। 'भाषा' की गणना का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। दक्षिण में महोबे का प्रसिद्ध राज्य था। महोबे के राजकवि जगनिक या जगनायक का नाम आज तक प्रसिद्ध है।

धीरे-धीरे तीनों राज्य मुसलमानों के हाथों में चले गए। समस्त हिन्दी प्रदेश पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। हिन्दी के इस प्रदेश में इस समय तुर्की सुल्तानों का ही अधिकार रहा था। उनकी मातृभाषा तुर्की थी। लेकिन दरबारी भाषा फ़ारसी थी। इन विदेशी शासकों की रुचि जनता की भाषा की ओर बिल्कुल नहीं थी। अतएव इन तीनसौ वर्षों में शासन की ओर से हिन्दी को कोई सहायता नहीं प्राप्त हुई। अमीर खुसरो ने इस समय हिन्दी के प्रति कुछ प्रेम दिखाया था। भक्ति

१. प्रेम प्रकाश सिंह ; पंजाबी बोली दा निकास ते विकास; पृ. ३२८-२९।

आंदोलन से हिन्दी को कुछ सहायता प्राप्त हुई। इस प्रकार के आंदोलनों में रामानंद, गोरख और कबीर विशेष उल्लेखनीय हैं। इस समय की सामग्री शिलालेख, ताम्र-पत्र, प्राचीन-पत्र, अपभ्रंश काव्य, चारण काव्य, रासो और हिदवी या पुरानी खड़ी बोली के लिखित रूप में ही उपलब्ध होती है। हिन्दी के प्राचीन नमूने पृथ्वीराज और समरसिंह के दरबारों में पाए जाने वाले पत्रों के रूप में ही उपलब्ध हुए हैं। इनका प्रकाशन किया गया था किन्तु ये अप्रमाणिक ही सिद्ध हुए। पीताम्बर दत्त बर्थवाल और राहुल सांकृत्यायन ने नाथपंथ, वज्रयानी, सिद्ध-साहित्य पर खोज की है। इन कवियों का समय ६०० ई० से १३०० ई० तक माना गया है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने पुरानी हिन्दी शीर्षक लेख में जो नमूने लिए हे उनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव बहुत है। रामचंद्र शुक्ल ने इन्हें अपभ्रंश के नमूनों में ही रखा है। फिर भी हिन्दी की पुरानी स्थिति पर भाषा के इन नमूनों से काफ़ी प्रकाश पड़ता है। इस काल की भाषा का तीसरा समूह धार्मिक, चारण तथा लोकप्रिय काव्य ग्रंथों में मिलता है।

दक्षिण भारत में विकसित हिदवी या दक्खिनी उर्दू का साहित्य मुहम्मद तुग़लक के दक्षिण आक्रमण के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। हिदवी के प्रारम्भिक कवि सूफ़ी कवि ही थे। इसकी भाषा पुरानी खड़ी बोली ही है किन्तु यह साहित्य देवनागरी लिपि में नहीं लिखा गया है। इन लेखकों में प्रसिद्ध ज्वाला बंदावाज (१३२१—१४५२ ई०) थे। हिदवी की प्रारम्भिक साहित्यिक रचनाएँ बीजापुर तथा गोलकुण्डा के सुल्तानों की संरक्षिता में १७वीं सदी में लिखी गई थीं।

मध्यकाल

१५०० ई० में देश की बागडोर तुर्की शासकों के हाथ से निकलकर मुग़ल-शासकों के हाथों में चली गई थी। मुग़ल अपने से पहले के शासकों की अपेक्षा जनता के अधिक निकट थे। देश में शान्ति होने के कारण तथा राज्य की और हस्तक्षेप न होने के कारण इस युग में साहित्य चर्चा हुई। कई विद्वानों ने इसे हिन्दी का स्वर्णयुग तक कहा है। अवधी और ब्रज का विकास सोलहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ। ब्रज तो समस्त हिन्दी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा ही बन गई। जनता में रामायण का प्रचार होने पर भी यह जनता की भाषा नहीं हो सकी। अवधी में इस समय दो ग्रंथ पद्मावत और रामचरित मानस लिखे गए।

वल्लभाचार्य के प्रोत्साहन के परिणाम स्वरूप सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में ब्रज में भी साहित्यरचना प्रारम्भ हुई। इस भाषा का केन्द्र पश्चिम मध्यदेश था। सूरदास के ग्रंथ कदाचित ई० १५५० तक रचे जा चुके थे। तुलसीदास ने भी गीतावली का और विनयपत्रिका में ब्रज का प्रयोग किया है। नंददास के ग्रंथ भी साहित्यिक ब्रजभाषा में हैं। १७वीं और १८वीं सदी में समस्त हिन्दी साहित्य ब्रज में ही लिखा गया।

ब्रजभाषा दिन पर दिन परिमार्जित होती चली गई। विहारी ने भी ब्रज में रचना की परन्तु उनकी भाषा सूर से भिन्न है। राजस्थान और देशी राज्यों के सम्पर्क में आने के कारण ब्रज में राजस्थानी का भी प्रभाव आ गया था।

प्राचीन और मध्यकाल में खड़ी बोली के यत्र-तत्र उदाहरण मिलते हैं। रासो, कबीर, भूषण आदि की वाणियों में खड़ीबोली के रूप मिलते हैं। खड़ीबोली का प्रयोग तो पहले से ही होता था किन्तु हिन्दू लेखक इसका प्रयोग विशेष नहीं करते थे।

आधुनिक काल : (सन् १८०० ई० के बाद)

अठारहवीं सदी के अन्त से ही परिवर्तन आरम्भ हो गया था। मुग़लकाल के पतन पर हिन्दी प्रदेश पर अफ़ग़ान, अंग्रेज़ और मराठा शक्तियों ने अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया। परन्तु पानीपत की तीसरी लड़ाई के बाद मराठे अपनी शक्ति का पुनः संचय नहीं कर सके। किन्तु अफ़ग़ानों को इस विजय का लाभ प्राप्त नहीं हुआ। बक्सर के युद्ध के पश्चात् गंगा का पूर्वी भाग अंग्रेजों के लिए खुल गया। सन् १८५६ तक भारत में अंग्रेजों का राज्य पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था।

इन राजनैतिक परिवर्तनों के कारण उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में ही हिन्दी पर बाहरी प्रभाव पड़ने प्रारम्भ हो गए। ब्रजभाषा की शक्ति क्षीण होने लगी थी। मुसलमानों में उर्दू का प्रचार हो रहा था। १९वीं सदी के प्रारम्भ में अंग्रेजों ने हिन्दुओं के लिए खड़ीबोली गद्य के कुछ प्रयोग करवाए। इसी के परिणाम स्वरूप फ़ोर्टविलियम कालिज में लल्लूलाल ने प्रेमसागर और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना की। इन पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहना स्वाभाविक था। प्रेमसागर में तो ब्रज के प्रयोग बहुतायत से पाए जाते हैं। हिन्दी गद्य का पूर्ण विकास १९वीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ। इसका श्रेय भारतेन्दु को था। स्वामी दयानन्द ने भी इस विकास में योगदान दिया। मुद्रणकला के साथ-साथ खड़ी बोली का प्रचार तेजी से होता चला। पद्य में फिर भी ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। परन्तु २०वीं सदी के प्रारम्भ होते-होते खड़ीबोली गद्य और पद्य की भाषा बन गई। सम्पूर्ण मध्यदेश की यह एकमात्र साहित्यिक भाषा हो गई। फिर भी ब्रजभाषा में इक्के-दुक्के कविता लिखते ही चले आ रहे हैं। इस साहित्यिक ब्रजभाषा का आधार मध्यकाल की ब्रजभाषा है आजकल की वास्तविक बोली नहीं। खड़ीबोली में प्रारम्भ के लेखकों में ब्रजभाषा की झलक मिलती है। श्रीधर पाठक की खड़ीबोली की कविता ब्रज भाषा के ही शब्द लिए रहती थी। आज की भाषा साहित्यिक हिन्दी से ब्रज का प्रभाव बिल्कुल हट गया है। पिछले डेढ़ या दो सौ वर्षों में खड़ीबोली अपने मूल स्थान से पृथक होकर स्वतन्त्र विकास कर रही है। आधुनिक हिन्दी-उर्दू मेरठ बिजनौर की बोली से आज पृथक है। परन्तु उसमें भेद की अपेक्षा साम्य ही है।

हिन्दी इस समय स्वतन्त्र भारत की राज्यभाषा मान ली गई है। हिन्दी का व्यापक प्रभाव होते हुए भी हिन्दी की अन्य प्रादेशिक बोलियां अपने-अपने प्रदेशों में जीवित हैं और उन्नति कर रही हैं। हिन्दी को किसी धर्म विशेष या संस्कृति से जोड़ना महान भूल करना है। इस तरह का दुरुपयोग केवल उर्दू का ही किया गया है।

पंजाबी भाषा का विकास :—पंजाबी की उत्पत्ति कैकयी से हुई तो है किन्तु भाषा वैज्ञानिक अभी तक कैकयी का भाषा विज्ञान के आधार पर ठीक-ठीक रूपरेखा नहीं प्रस्तुत कर सके हैं। कैकयी प्राकृत उतनी ही प्राचीन है जितनी कि शौरसेनी प्राकृत। इसका विकास अन्य प्राकृत के समय से ही होता है। प्राकृत भाषाओं का समय ई० पू० २०० से ४०० ई० बाद तक माना जाता है। यही समय कैकयी का भी माना जा सकता है। कैकयी प्राकृत से किसी अपभ्रंश का जन्म हुआ होगा। उसीसे पंजाबी का जन्म हुआ। इसे कैकयी अपभ्रंश की ही संज्ञा मिली होगी। इस अपभ्रंश का प्राचीन नाम टक्की या उपनागर अपभ्रंश था। इसका लिखित रूप नहीं प्राप्त होता है।

स्वयंभू ने अपनी पुस्तक में टक्की अपभ्रंश का एक उदाहरण दिया है। परन्तु भाषा विज्ञान के आधार पर उसे देखने पर टक्की अपभ्रंश का उदाहरण नहीं प्रतीत होता। उसकी एक पंक्ति है "सेसिय सूय बयणमिय रस्सस तितिण संभवाद हु केसवस।"[1] इसकी य ध्वनि पंजाबी की विशेषता नहीं है। पंजाबी न त का ज कार हो जाता है।[2] हेमचंद्र ने शब्दानुशासन में कुछ दोहे और पद्य उद्धृत किए हैं और उन्हें अपभ्रंश की संज्ञा दी है। इन अपभ्रंशो के नमूनों में पुरानी पंजाबी के अंश भी हैं। हेमचंद्र प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य थे। शब्दानुशासन की रचना सिद्धराज के समय में हुई थी।[1] राहुल सांकृत्यान के मतानुसार कैकयी अपभ्रंश का समय ई० १०१० था। वैसे कैकयी अपभ्रंश का समय ई० ६०० से १००० तक माना जा सकता है। पंजाबी का विकास ९०० ई० के आसपास से प्रारम्भ हो गया था। पंजाबी के विकास को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—१. प्राचीन काल २. मध्य-काल ३. आधुनिक काल।

प्राचीन काल (ई० ९०० से १४५०)

९वीं सदी से पंजाबी का विकास होने लगा था। इस समय पंजाब में राजनैतिक उपद्रव हो रहे थे। विदेशी आक्रमणकारियों के अमानुषिक अत्याचारों

१. प्रो० प्रेम प्रकाशसिंह; पंजाबी बोली दा निकास ते विकास ; पृ. २५८।
२. प्रो० प्रेम प्रकाशसिंह ; पंजाबी बोली दा निकास ते विकास ; पृ. २५९।
३. सुनीति कुमार चटर्जी ; इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी अंग्रेजी ; पृ. १६४।

द्वारा पंजाब इस समय कुचला जा रहा था। तुर्की सिपाही फ़ारसी का उपयोग साधारण बोलचाल के लिए नहीं करते थे। बोलचाल की भाषा तुर्की ही थी। सर्व-प्रथम आर्यभाषाओं में पंजाबी का ही फ़ारसी भाषा से समागम हुआ। फ़ारसी भारत में विजेताओं की भाषा के रूप में आई। इस कारण पंजाबी पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। जिस समय पंजाब को दिल्ली से जोड़कर एक हिस्सा बना दिया गया उस समय पंजाबी पर फ़ारसी का और भी प्रभाव पड़ा। तुर्कों के आगमन के पूर्व पंजाब की भाषा अपभ्रंश ही थी। वही साहित्यिक बोली थी। जन-सम्पर्क स्थापित करने के लिए इस समय महमूद ग़ज़नवी ने लोकभाषा को अपनाना प्रारम्भ किया। महमूद ने जो सिक्के प्रचलित करवाए उस पर लोकभाषा का ही व्यवहार किया।[1] इस्लाम के प्रचार के लिए भी लोकभाषा को ही अपनाया गया। कालांतर सूफ़ी कवियों ने भी जनता ही की भाषा को काव्य का माध्यम बनाया।

मुलतान निवासी मुहम्मद रहमान नामक कवि ने तत्कालीन पंजाबी में रचना की। सुनीतिकुमार चटर्जी मसऊद इब्न सैयद का भी नाम लिया है। सैयद का देहांत सन् ११२५—११३० के लगभग हुआ था। इनके दीवान की भाषा अरबी फ़ारसी और हिन्दवी कही जाती है। डा० मोहनसिंह ने अपने एक लेख में सैयद की रचना की भाषा को पंजाबी माना है। यह वह समय था जबकि एक ओर तो हेमचंद्र ने इस भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा प्रदान की थी और दूसरी ओर इसे हिन्दवी कहा जाता था। पंजाबी के लिए उस समय हिंदवी शब्द का प्रयोग होता था। हिन्दवी नाम विदेशियों का ही दिया हुआ था। विदेशियों को भारत में आए अधिक समय नहीं हुआ था अतएव वे भारत की समस्त आर्यभाषाओं से परिचित नहीं थे। विदेशियों का पहला केन्द्र मुलतान ही था। वहाँ की भाषा पंजाबी ही थी। हिंदवी नाम भी इनके लिए नवीन नहीं था। डोरियस (ई० पू० ५२२-४८८) के शिलालेख की एक पंक्ति में संस्कृत नाम के अतिरिक्त हिंदुश शब्द भी आया है। यह हिंदुश अरबी या फ़ारसी लोगों के भारत आने से पहले प्रचलित हो गया था। इस बात का पता नहीं लगता कि सैयद साहब की हिंदवी का क्या रूप था। इस समय की पंजाबी ने अपभ्रंश से अलग होकर अपना स्वतन्त्र मार्ग अपना लिया था। परन्तु उसमें अभी पूर्ण निखार नहीं आया था। इसके पश्चात् गोरखनाथ, चरपटनाथ आदि की बानियों में पंजाबी के नमूने उपलब्ध होते हैं। राहुल और डा० मोहनसिंह ने गोरख का समय १०वीं सदी माना है। रामचन्द्र शुक्ल ने गोरख का समय उपरोक्त विद्वानों से भिन्न माना है। किन्तु पंजाब को नाथपंथियों का केन्द्र होना तो स्वीकार किया है।[2] पंजाब का जालंधर शहर प्रसिद्ध नाथपंथी जालंधर का ही स्मारक है।

---

१. रामचंद्र शुक्ल ; हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ. २२।
२. रामचंद्र शुक्ल ; हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ. १४।

सियालकोट, जालंधर और बालनाथ दा टिब्बा नाथपंथियों के प्रसिद्ध केन्द्र थे। राजस्थान और पंजाब की ही ओर प्रचार होने के कारण इन नाथपंथियों ने वहीं की लोकभाषा को अपनाया। वे अपनी बानियाँ जनता तक ले जाना चाहते थे इस लिए लोकभाषा का व्यवहार उनके लिए आवश्यक था। पुरानी पंजाबी में वैसे तो अपभ्रंश का काफ़ी प्रभाव है। चंदवरदाई की रचना रासो में भी पंजाबी के कई शब्द और शब्द-विन्यास मिलते हैं। रासो की भाषा भी तत्कालीन पंजाबी से किसी न किसी रूप से प्रभावित हुई थी। रासो की मूल प्रति आज उपलब्ध तो नहीं है किन्तु रासो के वर्त्तमान प्रचलित रूप में पुरानी पंजाबी के कई शब्द पाए जाते हैं। उनसे बारहवीं या तेरहवीं सदी की पंजाबी के नमूने का पता लगता है।

इस समय पंजाबी को भारी योगदान बाबा फ़रीद से मिला। फ़रीद का समय ई० ११७२ से १२६६ माना जाता है। फ़रीद की भाषा में काफ़ी परिवर्तन हैं। फ़रीद की भाषा को देखकर तो फ़रीद के उक्त समय के बारे में कई विद्वानों को सन्देह होता है या वे उस भाषा को फ़रीद की भाषा मानने को तैयार नहीं हैं। परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मुसलमान ही पंजाबी के पहले कवि थे। एक अर्से से वे उसमें लिखते आ रहे थे। पंजाबी को अपने काव्य का माध्यम बनाकर उन्होंने जनता के निकट होने का प्रयास किया। फ़रीद के पदों में अपभ्रंश का थोड़ा-थोड़ा पुट है। प्रो० दीवानसिंह ने फ़रीद दर्शन में इस बात की सविस्तार चर्चा की है।

पंजाबी भाषा में लिखने वालों में १३वीं सदी में अमीर खुसरो का नाम भी उल्लेखनीय है। अमीर खुसरो ने कई बादशाहों का जमाना देखा था और वे कई भाषाओं के ज्ञाता और विद्वान थे। डा० मोहन सिंह ने अमीर खुसरो द्वारा रचित अमीर खुसरो दीवार का उल्लेख किया है। परन्तु वह अभी अप्राप्य ही है। उसकी भाषा के विषय में इसलिये निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन ही है। अमीर खुसरो ने अपनी समकालीन पंजाबी को लाहोरी या मुलतानी कहा है।

१५वीं सदी की पंजाबी पूर्ण रूप से अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाई थी। उस समय की पंजाबी में अपभ्रंश के शब्दों का बाहुल्य है। खुसरो की भाषा बोलचाल की ही भाषा थी। इस समय की पंजाबी की विशेषताएँ हैं—स्वर बाहुल्य, अपभ्रंश शब्दों की प्रचुरता आदि संस्कृत का तत्सम रूप में प्राप्त नहीं होता। बहुत से शब्दों का अन्त उकार से होता है। य के स्थान पर ज के प्रयोग पाये जाते हैं। यथा योग=जोग। न के स्थान पर ण का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा यन=जण। अनुनासिकता की भी काफी मात्रा प्राप्त होती है। अपभ्रंश के ही समान इस समय की भाषा से क्रिया में संश्लिष्टात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। क्रिया रूपों में अपभ्रंश का प्रभाव इस समय तक गया नहीं था। शब्दावली में भी तत्सम् शब्दों का प्रायः अभाव ही पाया जाता है। इस समय पंजाबी में एक नवीन

प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लग जाती है, वह है अरबी, फ़ारसी, और तुर्की शब्दों का प्रवेश। इस समय पंजाब में साहित्य के लिए लोक भाषा के रूप या तो पंजाबी को अपनाया जाता था या परम्परागत रूप को ही अपना लिया जाता था। परम्परा-वादियों में हिन्दू कवि या योगी आते हैं। इनकी भाषा में हिन्दी विशेषकर ब्रज का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। फरीद, खुसरो आदि ने लोकप्रणाली को अपनाया। मुसलमान कवि इन नाथयोगियों या हिन्दू कवियों की अपेक्षा जनता के अधिक निकट थे। इस समय की पंजाबी को अपभ्रंश प्रधान कहा जा सकता है।

मध्यकाल (सन् १८५० से १६०० तक)

पंद्रहवीं सदी के उत्तरार्ध एवं सोलहवीं सदी का समय भारत में शान्ति का समय था। उस समय भारत में मुग़लराज्य पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था। इस समय समस्त आर्य भाषाओं ने स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर लिया था। इस समय देश में भक्ति आंदोलन फैल रहा था। इसी समय रामचरित मानस, सूरसागर और गुरु ग्रंथ साहिब जैसी रचनायें सामने आईं। प्रान्तीय भाषाओं में इस समय निखार आ गया था। इतना ही नहीं परन्तु प्रांतीय भाषाओं में अन्तर-प्रान्तीय सम्मिलन भी हुआ। पंजाबी इसकी अपवाद नहीं रह सकी। निकटवर्ती अन्य प्रांतीय भाषाओं का उसपर प्रभाव पड़ा। पंजाबी इस समय स्वतन्त्र रूप से विकसित हो चुकी थी और उसमें प्रौढ़ काव्यरचना होने लगी थी। भक्त कवियों ने जनता तक अपनी वाणी को पहुँचाने के लिए लोकभाषा का व्यवहार तो किया किन्तु साथ ही साथ अनेक भाषाओं के विभिन्न शब्दों को भी ग्रहण किया। इसके परिणामस्वरूप पंजाबी भाषा के कई शब्द बाहर गए और उसमें बाहर से आए भी।

भक्ति आंदोलन के कारण पूर्व के शब्द पश्चिम और पश्चिम के शब्द पूर्व की ओर गए। पंजाब अन्तर-प्रांतीय भाषाओं का संगम हो गया। उस समय पंजाबी में राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, मराठी, बंगाली और सिंधी के शब्दों ने प्रवेश किया। परन्तु इन सबको पंजाबी ने अपना बनाने के बाद ही आत्मसात किया। पंजाबी में मिल कर उन शब्दों पर पंजाबीपन आ गया। दूसरी ओर सूफ़ी कवियों ने इस भाषा को अरबी, फ़ारसी और तुर्की के शब्द दिये। पंजाबी भाषा का सूफी साहित्य भारत की अन्य भाषाओं से अधिक है। हिन्दी की अपेक्षा पंजाबी में सूफी साहित्य अधिक उपलब्ध होगा। इस समय की पंजाबी में पूर्ण रूप से पंजाबीपन आ गया था। पंजाबी अपने क्षेत्र से हटकर दूर-दूर प्रभाव डाल रही थी। उर्दू के जन्म में पंजाबी का भारी हाथ है। कबीर आदि के कई पद तो शुद्ध पंजाबी के ही हैं। पंजाबी के इस समय चार रूप दिखाई पड़ते हैं। ये हैं (१) संत भाषा प्रभावित पंजाबी (२) ब्रजभाषा प्रभावित पंजाबी (३) फ़ारसी प्रभावित पंजाबी (४) देसी भाषा प्रभावित पंजाबी। सिक्ख गुरुओं ने जिस भाषा का व्यवहार

किया उसे संत भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। जिस भाषा में सिख सिद्धांत लिखे गए वह ब्रजभाषा प्रधान पंजाबी है। सूफ़ी कवियों ने जिस भाषा का व्यवहार किया है वह फ़ारसी प्रधान पंजाबी ही है। भाई गुरदास की रचनाओं में पाई जाने वाली भाषा को देशी पंजाबी कहा जा सकता है। उसमें साहित्यिक पुट अधिक है।

मध्यकाल में अन्य भाषाओं के शब्दों ने हिन्दी में तद्भव के रूप में ही प्रवेश किया। संस्कृत, फ़ारसी, अरबी एवं अन्य भाषाओं के शब्द इस समय पंजाबी में तद्भव रूपों में ही पाए जाते हैं। स् या स ध्वनि का उच्चारण स के रूप में होता है और उससे पहले अ, इ, उ, आते हैं। यथा

स्थान = असथान
स्थिति = इसथिति
स्तुति = उसतति

व ध्वनि का रूपांतर ओ ध्वनि के रूप में हो जाता है यथा कंवल=कौल। य का रूपांतर ज के रूप में हो जाता है यथा योग=जोग, युक्ति=जुगति, फारसी ज, द का रूप धारण कर लेता है, कागज=कागद, काजियाँ=कापियाँ ट, ठ, ड, ड़, ण के स्वरों में भी वृद्धि हो जाती है। का प्रयोग बढ़ जाता है। यथा मंका=गंवड़ा।

फ़ारसी के क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ध्वनियों का भी पंजाबी रूप हो जाता है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि "सघोष महाप्राण घ, झ, ध, ठ, भ् के प्राण या 'ह्'—उपादान की स्थान पूर्ति, कण्ठनालीय स्पर्श के साथ मिली हुई ध्वनि से हो जाती है। फलस्वरूप नई ध्वनियाँ ग्', ज्' ड' द,' ब,' या ('ग, 'ज, 'ड, 'द, 'ब,) प्राप्त होती हैं। उन्हें 'आश्वसित ध्वनियाँ (Implosives Recursives) कहा गया है।" आधुनिक पंजाबी के ये ध्वनियाँ उसकी अपनी विशेषताएँ हैं।

क्ष, ष का परिवर्तन, ख, और छ के रूप में हो जाता है। स की बहुलता हो जाती है। रूप विचार का दृष्टि से भी पंजाबी में काफी शुद्धता आगई थी। इस समय पंजाबी संयोगात्मक अवस्था से वियोगात्मक अवस्था में जा रही थी। कारक और विभक्तियों के स्थान पर पंजाबी के अपने उपसर्ग बन गए थे। पंजाबी में उस समय शक्ति इतनी आ गई थी कि वह सहायक क्रिया से ही लिंग, वचन, काल को व्यक्त करने में सफल हो गई थी। पंजाबी के कारकों की निम्नलिखित विभक्तियाँ आ गई थीं।

कारक	विभक्ति	हिन्दीरूप	पुरानी पंजाबी
कर्ता	ने	ने	इ
कर्म	नूँ, कू, सूँ	का	कउ
संप्रदान	लई, नों,	का, के, लिए	
अपादान	तो	से	
संबंध	दा, दी, दे	का, के, की	का, के, की

अधिकरण	विच, उत्ते	में, पर,	मटि, अंदर

अधिकरण और संबोधन कारकों के ठीक-ठीक स्वरूपों का पता नहीं लगता है। इस समय अपभ्रंश के क्रिया रूपों का लोप हो जाता है और ये पंजाबी के अपने हो जाते हैं।

वर्तमान काल के अपभ्रंश का खावहि, जावहि पंजाबी में खांदा, जांदा हो जाता है। भविष्य काल में सहायक क्रिया के साथ "गा" का प्रयोग होता है। भूतकाल में कृदंत के साथ ही क्रिया का योग हो जाता है। जैसे गया था=गया सी=गए सन्। इसी समय पंजाबी के शब्द-भण्डार में भी काफ़ी विकास हुआ। बाहरी भाषाओं के शब्द पंजाबी में तद्भव बनकर ही वे आत्मसात हो सके, तत्सम् रूपों में नहीं। इस समय की पंजाबी को इसलिए "तद्भव प्रधान" कहा जा सकता है।

वर्तमानकाल (पूर्वार्ध सन् १७०० से १८६०)

वर्तमान काल के पूर्वार्ध में फ़ारसी का प्रभाव ही अधिक है। भारत के पूर्वी भाग की बोलियों से इसका अन्तर बढ़ता ही जाता है। तुर्कों के आगमन से पंजाबी में तुर्की और फ़ारसी के शब्द आने लगे। इन तुर्कों के बोलचाल की भाषा तो तुर्की थी किन्तु साहित्यिक भाषा के लिए फ़ारसी का ही व्यवहार होता था। इस समय तक सूफ़ी कवि पंजाबी को काव्य की भाषा बना चुके थे। मुसलमान होने के नाते फ़ारसी का प्रयोग इन सूफ़ी कवियों द्वारा नितांत स्वभाविक था। इन मुसलमान कवियों ने फ़ारसी के किस्से कहानियों का पंजाबी भाषा में अनुवाद किया। उस समय फ़ारसी मुसलमानों की साहित्यिक भाषा थी। साथ ही फ़ारसी को राज्यभाषा का भी स्थान प्राप्त था। हिन्दी में साहित्य का भाषा के रूप में ब्रजभाषा की ही प्रचलन थी। सिख और हिन्दू कवि पंजाबी की अपेक्षा ब्रज में ही कविता करना पसंद करते थे।

पंजाबी को सन् १८०० के बाद भी रणजीतसिंह के समय में राज्यभाषा का स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका। महाराणा रणजीतसिंह ने राज्यभाषा के रूप में फ़ारसी को ही स्वीकार किया। मध्यकाल से पंजाबी पर फ़ारसी का प्रभाव प्रारम्भ हो गया था किन्तु इस समय आकर तो पंजाबी को उसने अच्छी तरह प्रभावित किया। पंजाबी भाषी क्षेत्र में ही राजनैतिक और साहित्यिक महत्त्व फ़ारसी को ही प्राप्त था। पंजाबी लोकभाषा अवश्य थी। किन्तु साहित्य और राजनीति में उसका महत्त्व गौण था। वारिसशाह और बुल्लेशाह की रचनाएँ पंजाबी पर पड़े हुए फ़ारसी प्रभाव को स्पष्ट बताती हैं। महमद यार और हाफ़िज की रचनाओं को देखने से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है। इस समय फ़ारसी का उत्तरोत्तर प्रभाव पंजाबी पर बढ़ता ही जाता है। ग़, ज़, फ़, ख़, क़ फ़ारसी ध्वनियों का अविर्भाव पंजाबी में इस समय हो गया था। फ़ारसी के बहुत से मुहावरे तत्सम् रूप में पंजाबी

में आ गए थे। शब्दावली में फ़ारसी के तत्सम् शब्दों का तो काफ़ी विकास हुआ। डेढ़ सौ वर्षों की पंजाबी को फ़ारसी प्रधान कहा जा सकता है। ब्रज का भी थोड़ा बहुत प्रभाव पंजाबी में इस समय चल रहा था।

उत्तरार्ध (सन् १८६० के पश्चात)—भारतीय इतिहास में पंजाब में हर समय काफ़ी उथल-पुथल होती रही है। इसलिए पंजाब की संस्कृति सदैव प्रगतिशील और गतिमय रही है। यदि पंजाब की संस्कृति ने अपने आपको समय के अनुसार न बदला होता तो पंजाब आज विदेशियों के हाथ में ही होता। इन क्रांतिकारी अवस्थाओं का प्रभाव पंजाबी भाषा पर पड़ना आवश्यक और स्वभाविक ही था। सन् १८४९ तक पंजाब पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया था। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही साथ फ़ारसी का स्थान अंग्रेज़ी ने लिया तथा भारत की राज्यभाषा अंग्रेज़ी हो गई। १९वीं सदी के उत्तरार्ध में उत्तरी भारत में सामाजिक सुधारों की एक लहर दौड़ पड़ी थी। पंजाब भी इससे अछूता न रहा। लोगों का ध्यान अपनी मातृभाषा की ओर गया। पंजाबी की ओर भी पंजाबियों का ध्यान जाना स्वभाविक था। सन् १८६० में एज्यूकेशनल बोर्ड की स्थापना के साथ ही साथ उर्दू के साथ पंजाबी को भी पाठशालाओं की भाषा के रूप में स्वीकार किया गया। इस समय पंजाबी भाषा में राजनीतिक जागरुकता के दर्शन होते हैं। देश में होने वाले विभिन्न स्वाधीनता आंदोलनों का प्रभाव पंजाबी भाषा पर भी पड़ता है। अपने पैरों पर खड़े होने के लिए न जाने कितने ही नए शब्दों का पंजाबी भाषा में निर्माण हुआ। आधुनिक काल में भारत विभाजन का पंजाबी पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है।

विभाजन के पश्चात पंजाबी भाषा को एक नई दिशा प्राप्त हुई है। फ़ारसी और उर्दू का प्रभाव विभाजन के पश्चात पंजाबी पर से बिल्कुल चला गया। अभी तक पंजाबी भाषा के इतिहास में उर्दू और फ़ारसी का एक प्रधान भाग था। विभाजन के पश्चात तो वह बिल्कुल ही जाता रहा। पंजाबी भाषा के उस समय दो विभाग हो जाते हैं एक तो पश्चिमी या पाकिस्तानी पंजाबी और दूसरी भारतीय पंजाबी भाषा। दोनों प्रकार की पंजाबियों का विकास अपनी देश की परिस्थितियों के अनुसार हो रहा है इस कारण उनमें अंतर आना स्वभाविक है। विभाजन के पश्चात् पंजाबी की सबसे बड़ी विशेषता है उसमें तत्सम् शब्दों का प्रवेश। इस समय पंजाबी भाषा की प्रवृत्ति हर क्षेत्र में तत्सम् शब्दों को ग्रहण करने की ओर है।

विशेषकर साहित्यिक पंजाबी का झुकाव तो तत्सम् शब्द ग्रहण करने की ओर ही है। विभाजन के पश्चात पंजाबी अन्य भारतीय भाषाओं के निकट आ रही है। जो अन्य भाषाओं के तत्सम् शब्द पंजाबी ने तद्भव बनाकर आत्मसात कर लिए थे उन्हें पुनः तत्सम् रूप में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। पंजाबी अन्य भाषाओं के शब्द भी तत्सम् रूप में ही ग्रहण करने का ही प्रयत्न कर रही है। प्राकृत युग में शौरसेनी प्राकृत की यह विशेषता थी कि संस्कृत के शब्दों को उसने तद्भव रूप

में ग्रहण किया। ये शब्द पंजाबी में चले आ रहे थे परन्तु अब वे ही शब्द तत्सम् रूप में लिखे जाने लगे हैं। स ध्वनि दंतव्य स के रूप में पंजाबी में परिवर्तित हो गई थी। पुनः अब स के स्थान पर स की स्थापना हो रही है। जैसे स्थान, स्थिति जैसे शब्दों का उच्चारण असथान और इसथिति के रूप में होता था। अब पुनः उन्हें स्थान और स्थिति के रूप में ही उच्चरित किया जाता है। य ध्वनि ज के रूप में उच्चरित होती थी। अब पुनः यह प्रवृत्ति य की ओर ही है। जैसे योग का पंजाबी रूप जोग था अब पुनः उसे योग ही कहा जाने लगा है। क्ष का परिवर्तित रूप पुरानी पंजाबी में ख था अब पुनः प्रवृत्ति क्ष ही लिखने की ओर है। पहले सूक्ष्म शब्द पंजाबी में सूखम था अब सूक्ष्म बोलने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। स्वरों में तत्समता का प्रभाव और तदानुसार परिवर्तन दृष्टिगत होता है। दीर्घ ई या ऊ का प्रचलन पुरानी पंजाबी में बहुत कम था। वर्तमान पंजाबी में ई और ऊ के प्रयोग सामान्य रूप से देखे जा सकते हैं। यथा—अनुसार, परिभाषा, प्रतिकर्म का उच्चारण अनूसार परीभाषा, और प्रतीकर्म के रूप में होता है। पंजाबी भाषा के रूप विचार में भी यह परिवर्तन देखा जा सकता है। पहले विशेषण बनाने के लिए स्वरों की ही सहायता ले ली जाती थी। यथा अदब, राजस आदि के विशेषण अदबी, राजसी आदि हो जाते थे। किन्तु अब विशेषण बनाने के लिए प्रत्ययों का उपयोग किया जाता है। रूपविचार, प्रत्यय, भूत, कृदंत, क्रियाविशेषण आदि से कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जहाँ से यह प्रतिपादित हो जाएगा कि वर्तमान पंजाबी की प्रवृत्ति अधिकाधिक तत्सम् शब्दों को ग्रहण करने की ओर है।

तत्सम् शब्दों के साथ ही साथ सामासिक शब्दों की ओर भी रुचि दृष्टिगत होती है। पंजाबी में संस्कृत के समान समास प्रचलित नहीं थे। प्रत्येक शब्द पृथक-पृथक लिखा जाता था किन्तु अब संयुक्ताक्षर और समासिक शब्द पंजाबी में पाए जाते हैं। शब्दावली में तो तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम् शब्दों के प्रयोग की ही प्रवृत्ति पाई जाती है। कई शब्दों का अर्थ संकोच और अर्थविस्तार हो रहा है। पंजाबी भाषा की रग-रग में तत्सम् शब्दों का समावेश हो रहा है। परन्तु पंजाबी इन तत्सम् शब्दों को अपनी प्रवृत्ति के ही अनुसार ही बनाकर आत्मसात कर रही है। यथा सूक्ष्म, स्थिति, स्थान, को सूकछम, सथान, सिथित ही लिखा या पढ़ा जाता है। पंजाबी भाषा भारत की अन्य भारतीय भाषाओं के संपर्क में आ रही है।

आधुनिक समय में पंजाबी पर से फ़ारसी का प्रभाव चला गया है। पाकिस्तानी पंजाबी का विकास फ़ारसी के ही प्रभाव में हो रहा है। आशय कि उस पर फ़ारसी का प्रभाव किसी न किसी रूप में ही जा रहा है। परिणामस्वरूप फ़ारसी के शब्द तद्भव अवस्था को प्राप्त होकर पाकिस्तानी पंजाबी में व्यवहृत हो रहे हैं। पंजाबी की बोलियों का प्रयोग भी इस समय साहित्यिक पंजाबी में हो रहा है। सुरिन्द्र सिंघ उप्पल, करतार सिंघ दुग्गल आदि साहित्यिक पंजाबी में पठुआरी का

प्रयोग करते हैं। संतसिंघ की भाषा में माझी के प्रयोग पाए जाते हैं। माझी पर विकसित होकर ही केन्द्रीय पंजाबी साहित्य की भाषा बनी हुई है। विभाजन के पश्चात शरणार्थियों के आने से भी भाषाओं में काफी आदान-प्रदान हुआ। विशेष कर पश्चिमी पंजाब की बोलियों का सम्पर्क पूर्वी पंजाब की बोलियों से हुआ दोनों ओर की बोलियों के कई शब्द साहित्यिक पंजाबी में आए। आधुनिक पंजाबी को तत्सम् प्रधान पंजाबी कहा जा सकता है। पाकिस्तानी पंजाबी में परम्परावादी दृष्टिकोण और ठेठपन का ही अधिक जोर है।

देवनागरी एवं गुरुमुखी लिपि व अंक

गौरी शंकर हीराचंद ओझा के मतानुसार नागरी लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में दसवीं सदी के प्रारम्भ में मिलता है।[1] गुप्तलिपि के विकसित रूप का ही नाम (कल्पित) कुटिल लिपि रखा गया। उत्तर भारत में उसका प्रचार छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक रहा। अक्षरों और स्वरों की कुटिलता के कारण इसे कुटिल लिपि बनाया गया। इस समय के शिलालेख दानपत्र-आदि इसी लिपि में ही लिखे गये। कुटिल लिपि से ही नागरी तथा कशमीर की प्राचीन लिपि शारदा निकली। शारदा से वर्तमान टाकरी और कशमीरी लिपियों की उत्पत्ति हुई। इन्हीं के मेल से कालांतर गुरुमुखी का विकास हुआ। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से लगभग १०वीं सदी में बंगला निकली। उसका ही आधुनिक परिवर्तित रूप आधुनिक बंगला, मैथिली, उड़िया और नेपाली लिपियाँ हैं। देवनागरी से ही गुजराती, कैथी, महाजनी, तथा उत्तर भारत की अन्य लिपियाँ सम्बद्ध हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार ओझा के मतानुसार दक्षिण में नागरी लिपि में कुछ शिलालेख आठवीं सदी के पाए जाते हैं। दक्षिण की नागरी को नंदि नागरी की भी संज्ञा दी गई है। दक्षिण में संस्कृत पुस्तकें लिखने में उसका प्रचार है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यभारत, और विंध्य प्रदेश में पाए गए शिलालेख की भाषा नागरी ही है।

वर्तमान नागरी लिपि ब्राह्मी का ही परिवर्तित रूप है। उसके प्राचीन और अर्वाचीन अंकों में अंतर है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरी के मूल अंक विदेशी अंकों से प्रभावित हैं। ओझा ने इस मत का खंडन किया है उनके मतानुसार "प्राचीन शैली के भारतीय अंक भारतीय आर्यों के स्वतंत्र किए हुए है।"[2] नवीन शैली के अंक का क्रम पाँचवीं या छठवीं सदी में ही प्रचलित हो गए होंगे। इन नवीन अंक क्रमों का प्रचार पहले पहल किस विद्वान ने किया उसका पता नहीं चलता। केवल यही पता चलता है कि नवीन अंकों की सृष्टि भारतवर्ष में ही हुई। फिर यहाँ से वह क्रम

---

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला ; (ओझा) (१९१८) ; पृ. ६०।
२. वही ; पृ. ११४।

अरबों ने सीखा।[1] पंजाबी भाषा लिखने के लिए गुरुमुखी लिपि का व्यवहार होता है। मुसलमान पंजाबी लिखने के लिए फ़ारसी लिपि का व्यवहार करते हैं। पंजाबी भाषा के समस्त उच्चारण देवनागरी लिपि में ठीक-ठीक नहीं आ सकते। गुरुमुखी से पहले लंडा लिपि का प्रयोग होता था। लंडा दुकानदारों या महाजनों द्वारा व्यवहृत होती थी। लंडा लिपि से स्वरों का उच्चारण पूरी तरह से नहीं हो सकता क्योंकि लंडा की स्वर ध्वनियाँ सीमांत हैं। स्वरों के उच्चारण के लिए पर्याप्त वर्ण नहीं हैं। एक ही वर्ण से दो या तीन तरह की ध्वनि निकाली जा सकती हैं। इसका ज्ञान भाषा की प्रकृति सीखने से ही हो सकता है नियम विशेष से नहीं। उच्चारण में स्वर तो अधिक हैं। किन्तु लिखने में कम हैं। गुरु अंगद के समय लंडा का प्रयोग होता था।

प्रचलित सर्वसाधारण के मतानुसार और ग्रियर्सन के मतानुसार गुरुमुखी लिपि की रचना गुरु अंगद ने की थी। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। गुरुमुखी के ३५ अक्षर इतने ही प्राचीन हैं जितने भारतीय भाषाओं के अन्य अक्षर। यह लिपि तो कशमीर, चंबा, कुल्लू प्रदेशों में प्रचलित उस समय की शारदा लिपि ही है। उसका वर्ण-क्रम ब्राह्मी से ही प्रारम्भ होता है। पंजाब में सिख गुरुओं से सदियों पहले ही लौकिक जीवन गतिहीन हो गया था। पंजाब में साक्षरता नाम मात्र को ही थी। संस्कृत को देववाणी की संज्ञा देकर उसे शूद्रों और स्त्रियों से दूर ही रखा गया था। उस समय के अधिकतर ब्राह्मण उससे अपनी रोटी ही कमा रहे थे। महाजन और व्यापारी वर्ग शीघ्रलिपि लंडा का ही प्रयोग कर रहा था। पंजाब के बौद्धिक जीवन को पुनः जागृत करने के लिए गुरु अंगद ने पहाड़ी प्रदेश की लिपि को अपनाया और सिक्खों (शिष्यों) ने यह तरीका गुरु के मुख से सुना सीखा इसलिए उसे गुरुमुखी की संज्ञा प्रदान की। कारण यह था कि गोइंदवाल के हठधर्मी ब्राह्मण यह नहीं चाहते थे कि गुरु नानक की वाणी (जो कि शूद्रों और ब्राह्मणों में समानता का प्रतिपादन करती थी।) को देवनागरी लिपि में लिखें। भाई वीरसिंह ने भी यह माना है कि गुरुमुखी की रचना गुरु अंगद ने नहीं की थी। इस लिपि की रचना तो गुरु नानक से पहले हो चुकी थी। लंडा और गुरुमुखी में काफ़ी समानता है। लगभग १५ अक्षर दोनों लिपियों के एक से ही हैं। लंडा पर शिरोरेखा नहीं होती। गुरुमुखी के सात या आठ अक्षर शारदा लिपि से मिलते-जुलते हैं। दो अक्षरों की साम्यता नागरी अक्षरों के साथ भी है। यूनानी का भी प्रभाव गुरुमुखी पर देखा जा सकता है। यह सिखों की लिपि नहीं है। किसी देश की लिपि को किसी वर्ण विशेष के या धर्म विशेष के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। गुरुमुखी के मूल वर्ण ३५ होते हैं। इसलिए उसे पैंती[2] भी कहा जाता है।

---

१. भा० प्रा० लि० ; (ओझा); पृ. ११७।
२. पैंती पंजाबी शब्द हैं जिसका अर्थ है पैंतीस।

गुरुमुखी वर्णमाला

ੳ	ਅ	ੲ	ਸ	ਹ	ਕ	ਖ	ਗ
ऊड़ा	अैड़ा	ईड़ी	सस्सा	हाहा	कक्का	खख्खा	गग्गा
ऊ	अ	इ	स	ह	क	ख	ग
ਘ	ਙ	ਚ	ਛ	ਜ	ਝ	ਞ	ਟ
घग्घा	ङ्डा	चच्चा	छछ्छा	जज्जा	झझ्झा	ञा	टैंका
घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
ਠ	ਡ	ਢ	ਣ	ਤ	ਥ	ਦ	ਧ
ठठ्ठा	ड़ाड़ा	ढ़ढ्ढ़ा	णाणा	तत्ता	थथ्था	ददृदा	धघ्धा
ठ	ड़	ढ़	ण	त	थ	द	ध
ਨ	ਪ	ਫ	ਬ	ਭ	ਮ	ਯ	ਰ
नन्ना	पप्पा	फफ्फा	बब्बा	भब्बा	मम्मा	यय्या	रारा
न	प	फ	ब	भ	म	य	र
ਲ	ਵ	ੜ					
लाला	वावा	ड़ाड़ा					

अंक ੦, ੧, ੨, ੩, ੪, ੫, ੬, ੭, ੮, ੯

ऊपर पंजावी भाषा के मूल वर्ण दिए गए हैं। नीचे गुरुमुखी लिपि के स्वर विस्तार में दिए जा रहे हैं :—

ਅ	ਆ	ਇ	ਈ	ਉ	ਊ	ਏ	ਐ	ਓ	ਔ
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ

अं अः की पृथक योजना नहीं है। क्योंकि पंजावी में विसर्ग तो होता ही नहीं। अनुनासिक स्वर अवश्य होते हैं।

श, फ़, ज़, क़, ख़, आदि वर्णों का गुरुमुखी के मूलाक्षरों में अभाव है। इसके लिए फ़ारसी का नुकता उपयोग में लाया जाता। ़। है। वे निम्न प्रकार से लिखे जाते हैं :—

ਸ਼ (श) ਫ਼ (फ़) ਜ਼ (ज़) ਕ਼ (क़) ਖ਼ (ख़) इस नुकते का प्रयोग पंजावी भाषा में हिन्दी के समान ही होता है। संयुक्ताक्षर निम्न प्रकार से लिखे जाते है।

ਤ੍ਰ	ਪ੍ਰ	ਸ੍ਨ	ਸ੍ਚ	ਗਯ	ਸ੍ਵ	ਸ੍ਯ	ਡ
त्र	प्र	सन्	सच	गय्	सव	स्य	डट्

अनुनासिक चिह्न क्रमशः ਂ और ੰ हैं। यथा जांदा (ਜਾਂਦਾ) मुंडा (ਮੁੰਡਾ) ह्रस्व स्वरों के लिए ੰ का और दीर्घ स्वरों पर ਂ का प्रयोग होता है। ੱ अर्धचन्द्र होने पर उस ध्वनि का दो बार उच्चारण होता है। उसमें पहला वर्ण हलंत रहता है जैसे :—

कुत्ता (ਕੁੱਤਾ) सद्दना (ਸੱਦਣਾ) (बुलाना) ह्रस्व स्वरों पर अनुनासिक चिह्न

तथा दीर्घ स्वरों पर अनुस्वार का प्रयोग होता है ।

ੳ का उच्चारण ओंकार से होता है । गुरुमुखी का स, (म) देवनागरी का ही म है । श और ष के लिए गुरुमुखी में केवल श और स का ही प्रयोग होता है ।

स्वरों के लिए गुरुमुखी में मूल केवल तीन ही वर्ण हैं । उनमें मात्रा लगा कर अन्य स्वरों की रचना की जाती है ।

आ की मात्रा (ா), इ (ि) ई (ी) की मात्रा, ए (ˆ) और ऐ (ˆ) की मात्राएं, ओ (ˉ) और औ ˆ की मात्राएं होती हैं ।

इ और ई की मात्राएं तो देवनागरी के समान ही होती हैं ।

मलवई पंजाबी में ळ ध्वनि भी पाई जाती है । किन्तु उसकी ध्वनि उस रूप में नहीं है जैसे कि मराठी का मेळ शब्द है या दक्षिण की द्राविड़ बोलियों में यह ध्वनि पाई जाती है । माझी में इस ध्वनि का सर्वथा अभाव ही है । माझी का नाल मलवई में नाळ के रूप में उच्चरित होता है ।

पंजाबी में घ, भ, ध, झ, और ढ अपनी मूल ध्वनियाँ खो चुके हैं । इन स्वरों का उच्चारण पंजाबी की अपनी मौलिक विशेषता है । यह अन्य भारतीय भाषाओं में नही पाई जाती । इसकी विवेचना हम अध्याय के अंत में करेंगे ।

देवनागरी को सुधारने के लिए कई योजनाएं बनाई गईं । विशेषकर मुद्रलेखन यंत्र की सुविधा का ख्याल कर कई तरह के सुझाव परिवर्तन के लिए प्रस्तुत किए गए । किन्तु उसका कोई भी स्वरूप जनता में प्रचलित न हो सका । देवनागरी अपने पुराने या अच्छे या बुरे रूप में जैसे भी प्रचलित थी वैसे ही चली आ रही है । हिन्दी के मुद्रलेखन यंत्रों के तख्तों (Key Board) में अभी समानता नही है । हर कंपनी मुद्रलेखन यंत्र का अपना-अपना की-बोर्ड है । भारत सरकार ने इसका एक रूप निर्धारित भी किया है किन्तु उसका प्रचलन नहीं हो सका ।

देवनागरी लिपि का अंतिम संशोधित रूप

भारत सरकार द्वारा भी देवनागरी का अंतिम संशोधित रूप प्रकाशित कर दिया गया है । छपाई और मुद्रलेखन (type writing की सुविधा की दृष्टि से ही लिपि में संशोधन की आवश्यकता थी । इस ओर प्रतिष्ठित व्यक्तियों एवं विद्वानों का ध्यान तो गया था । संस्थाओं और सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया । इसी उद्देश्य से सन् १९५३ में लखनऊ में उत्तर प्रदेश प्रशासन ने एक सम्मेलन किया था । इस सम्मेलन में देवनागरी में संशोधन करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किए गए थे । जनवरी १९५५ में भारत सरकार ने इस सम्मेलन के निश्चयों को स्वीकार किया । किन्तु लखनऊ सम्मेलनों में कई त्रुटियाँ थी । देवनागरी को लखनऊ सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित रूप में व्यवहृत नहीं किया जा सका था । राज्य सरकारों ने उस पर अपना असंतोष भी प्रकट किया था। सामान्य रूप से भी इन सुझावों का स्वागत

नहीं हुआ था। १९५३ से १९५६ तक उत्तर प्रदेशीय प्रशासन ने भी इस सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित लिपि के प्रयोग के कितने ही असफल प्रयास किए। उत्तर प्रदेश में १९५६ (अक्तूबर) को पुनः एक सम्मेलन इस विषय पर विचार करने के लिए बुलाया। इस सम्मेलन ने लखनऊ सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित सुझावों में कुछ परिवर्तन करने के सुझाव दिए। भारत सरकार ने शिक्षा मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन से पहले भारत सरकार ने विशेषज्ञों का भी एक सम्मेलन कर विस्तार में उनकी राय ज्ञात की। सन १९५९ में शिक्षा मंत्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें पिछले सुझावों व प्रस्तावों पर विचार कर देवनागरी लिपि का अंतिम व संशोधित रूप प्रस्तुत किया गया है।

संशोधित वर्णमाला

[illegible]	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ
[illegible]		ा	ि	ी	ु	ू
[illegible]	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
[illegible]	े	ै	ो	ौ	ं	ः
[illegible]	क	ख	ग	घ	ङ	
	च	छ	ज	झ		
	ट	ठ	ड	ढ	ण	
	([illegible])		ड़	ढ़		
	त	थ	द	ध	न	
	प	फ	ब	भ	म	
	य	र	ल	व	श	ष
	स	ह	क्ष	ज्ञ	ळ	

संशोशित हिन्दी वर्णमाला प्रायः पुरानी जैसी ही है, सिवाय इसके कि 'ख' में 'रकार' की पूंछ को खड़ी पाई से मिला दिया गया है। 'छ' की घुण्डी के बाद नीचे जाने वाली पूंछ काट दी गई है। 'ध' और 'भ' के प्रारम्भ में घुण्डी लगा दी गई है, जैसा मराठी लिपि में होता है। मराठी का 'ल' वर्णमाला में सम्मिलित कर लिया गया है। 'त्र' को समाप्त करके उसके स्थान पर 'त्' और 'र' का संयुक्त अक्षर त्र बनाया गया है।

हिन्दी में यह ॠ (दीर्घ ॠ) का प्रयोग बहुत ही कम होता है, अतः इसे स्वरों में सम्मिलित नहीं किया गया है।

संयुक्ताक्षर

संयुक्ताक्षर बनाने की विधि के बारे में यह निश्चित किया गया है कि खड़ी

पाई वाले व्यंजनों का संयुक्त रूप खड़ी पाई को हटाकर ही बनाया जाना चाहिए। यथा: ख्याति, लग्न, विघ्न, कच्चा, छज्जा, व्यंजन, नगण्य, कुत्ता, पथ्य, ध्वनि, न्यास, प्यास, डिब्बा, सभ्य, रम्य, शय्या, उल्लेख, प्यासा, श्लोक, राष्ट्रीय, स्वीकृत और यक्ष्मा आदि।

'क' और 'फ' के संयुक्ताक्षर बनाने का वर्तमान ढंग ही कायम रहेगा। यथा: संयुक्त, पक्का, दफ्तर।

ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ और द के संयुक्ताक्षर हल चिह्न लगाकर ही बनाए जायें। यथा वाङ्मय लट्टू, बुड्ढा, विद्या आदि।

'र' के तीन रूप

संयुक्त 'र' के पुराने तीनों रूप यथावत् रहेंगे। यथा: प्रकार, धर्म, राष्ट्र।

'श्र' का पुराना रूप जैसा 'श्री' में है वैसा ही कायम रहेगा।

'त्र' के स्थान पर अब 'त्' और 'र' का संयुक्त अक्षर त्र रहेगा।

'ह' का संयुक्त रूप वर्तमान प्रणाली के साथ ही हल् चिह्न लगाकर भी किया जा सकेगा। यथा: चिह्न और चिह्‌न (चिह्न नहीं)

संस्कृत में संयुक्ताक्षर पुरानी शैली से भी लिखे जा सकेंगे।

अन्य निश्चय जो १९५३ में हुए थे वे ही कायम रहेंगे। यथा: शिरोरेखा का प्रयोग प्रचलित रहेगा।

चिह्नों का स्वरूप

(१) (क) फुलस्टाप को छोड़कर शेष विराम आदि का चिह्न वही ग्रहण कर लिये जायें जो अंग्रेजी में प्रचलित हैं। यथा: (. —, ; । ? ! :) (विसर्ग) के चिह्न को ही कोलन का चिह्न मान लिया जाय)

(ख) पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई (।) का प्रयोग किया जाय।

(ग) जहाँ तक सम्भव हो टाइपराइटर के मुद्रीपटल में निम्नलिखित चिह्नों को सम्मिलित कर लिया जाय: (.˙. % " " () + × ÷ * = ‿)

(२) अनुस्वार और अनुनासिक दोनों (ं ँ) प्रचलित रहेंगे।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी का पुराना विवाद समाप्त हो चुका है। इस समय हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा के नाम पर प्रचलित देवनागरी के वर्णों का प्रयोग न कर अपने ही द्वारा स्वतंत्र वर्णों की सृष्टि करना हठधर्मी ही होगी। हिन्दी में पंजाबी की अपेक्षा ध्वनि समूह निसंदेह अधिक है।

हिन्दी और पंजाबी भाषाओं का शब्द समूह

किसी भी भाषा के शब्द समूह का विश्लेषण करने से उस भाषा-भाषी

प्रदेश के राजनैतिक और सामाजिक इतिहास पर काफ़ी प्रकाश पड़ सकता है। क्योंकि राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव किसी भी भाषा पर पड़ना स्वभाविक ही है। इसलिए शब्दों का विश्लेषण और उनकी व्युत्पत्ति भाषा विज्ञान के विशेष अंग हुआ करते हैं। पंजाब में राजनैतिक अस्थिरता के कारण जाने कितने ही शब्द पंजाबी भाषा में आते-जाते रहे। पंजाबी में विदेशी शब्द काफी-तादाद में हैं। दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली खड़ी बोली से इसका प्रारंम्भ तो हुआ, परन्तु कालान्तर में इसमें कई विदेशी शब्द आकर मिल गए। हिन्दी में विदेशी शब्दों को आत्मसात करने की शक्ति होने के कारण या लचीलापन होने के कारण ही वह इतनी प्रचलित हो सकी। हिन्दी ने शुद्धता का दावा कर व्याकरण के नियमों में अपने आप को बाँध कर अपना क्षेत्र कभी भी संकुचित नहीं किया। हिन्दी और पंजाबी के शब्द समूह को निम्नलिखित रूपों में बाँटा जा सकता है। १. तत्सम् २. अर्ध तत्सम् ३. तद्भव ४. विदेशी शब्द ५. तथा नवीन शब्दावली

तत्सम् शब्द :—पंजाबी भाषा में हिन्दी की अपेक्षा तत्सम् शब्द कम हैं। हिन्दी में तो आरम्भ ही से संस्कृत के तत्सम् शब्द ग्रहण करने की प्रवृति रही है। पंजाबी आरंभ ही से तद्भव प्रधान रही है। हिन्दी संस्कृत के निकट है तो पंजाबी प्राकृत के। तत्समता की ओर पंजाबी भाषा का ध्यान वर्तमान समय में विभाजन के पश्चात ही जा रहा है। आधुनिक साहित्यिक हिंदी में तो यह प्रवृत्ति-तत्सम् शब्द ग्रहण करने की, बढ़ती ही जा रही है। विभाजन के पश्चात पंजाबी का झुकाव भी तत्सम् शब्द ग्रहण करने की ओर ही है। इतना ही नहीं बल्कि पंजाबी में पुराने प्रयुक्त तद्भव शब्द भी अपने तत्सम् रूप में लिखे जा रहे हैं। दूसरी भाषाओं के शब्दों को भी तत्सम् रूप में ही ग्रहण करने की प्रवृत्ति पंजाबी में आधुनिक समय में ही पाई जा रही है। हिन्दी में पर्याप्त ध्वनियाँ होने के कारण पंजाबी की अपेक्षा हिन्दी में संस्कृत के तत्सम् शब्द ठीक-ठीक आ सके हैं। पंजाबी में कई तत्सम् शब्द ले तो लिए हैं किन्तु पर्याप्त ध्वनियों के अभाव में उन्हें पूर्ण रूप से उसी रूप में लिखा नहीं जा सकता है। उनमें पंजाबीपन अवश्य दिखता है। इसलिए एक ही तरह के शब्दों के पंजाबी और हिन्दी के उच्चारणों में विभिन्नता है। हिन्दी और पंजाबी के तत्सम् शब्दों की एक खासी लम्बी तालिका दी जा सकती है। नीचे कुछ शब्द दिए जा रहे हैं जो तत्सम् होते हुए भी उच्चारण की दृष्टि से पंजाबी और हिन्दी में अलग-अलग हैं। यथा :—

हिन्दी	पंजाबी
कांग्रेस	कांगरेस
दृष्टि	द्रिशटी
आत्मा	आतमा
परमात्मा	परमातमा

हिन्दी	पंजाबी	हिन्दी	पंजाबी
स्थान	असथान	स्थिति	इसथिती
स्पेशल	इसपेशल	कालेज	काल्ज
कृष्ण	क्रिशन		

अर्धतत्सम् शब्द

पंजाबी भाषा में जो शब्द प्राकृत से आए उनमें आगे ध्वनि परिवर्तन नहीं हुआ। ये उसी तरह अर्धतत्सम रहे। प्राकृत के विकास के उत्तरार्ध काल में संस्कृत के बहुत से शब्द प्राकृत में अर्धतत्सम के रूप में आत्मसात हो गए थे। यथा :—

तत्सम रूप	पंजाबी रूप (अर्ध तत्सम)
कृष्ण	कान्ह
रजनी	रैण
कर्म	कम्म
स्नेह	नेहु

तद्भव शब्द

पंजाबी भाषा हिन्दी की अपेक्षा प्राकृत से अधिक निकट है। इस कारण हिंदी की अपेक्षा इसमें तद्भव शब्द अधिक है। संस्कृत के बहुत से तत्सम शब्द प्राकृत में तद्भव रूप धारण कर बैठे थे। प्राकृत भाषा में तद्भव शब्द ही पाए जाते हैं। खड़ी बोली साहित्यिक हिन्दी में उनकी संख्या अधिक नहीं है। यथा :—

तत्सम रूप	तद्० रूप हि०	तद्० रूप पं०
यात्रा	—	यातरा
श्वः	परसों	परसों
स्तुति	—	उसतति
गृह	घर	घर
चतुर	—	चतर
सुवेला	सवेरा	सवेरा
हस्त	हाथ	हत्थ
वृद्ध	बूढ़ा	बुड्ढा
जिह्वा	जीभ	जीभ
मुख	मुँह	मुँह

ऐसे शब्दों की भी एक लंबी तालिका दी जा सकती है कि जो शब्द हिन्दी में तत्सम रूप में हैं। किन्तु पंजाबी में तद्भव रूप में पाए जाते हैं।

इन शब्दों के अतिरिक्त पंजाबी और हिन्दी में ऐसे भी शब्द पाए जाते हैं। जिसके कि मूल का कोई पता नहीं लगता है और ये इन्हीं भाषाओं के अपने ही

शब्द हैं जो हिन्दी और पंजाबी में समान रूप से व्यवहृत होते हैं। यथा :—

पंजाबी	हिन्दी	पंजाबी	हिन्दी
हाणी	हानि	भुलेखा	(भूल)
झगड़ा	झगड़ा	साग	सगाई
निक्का	—	—	—
भिहज्जा	भीगा		
चंगा	चंगा		

हिन्दी के तत्सम् और तद्भव समूह में कई शब्द ऐसे भी हैं जो प्राचीनकाल में आर्यभाषाओं में तत्कालीन आर्यभाषाओं में ले लिए गए थे। हिन्दी और पंजाबी में द्राविड़, तमिळ, तेलगू, मुंडा आदि भाषाओं से आधुनिक काल में आए हुए शब्द बहुत कम हैं। हिन्दी में द्राविड़ भाषाओं से आए हुए कई शब्दों का प्रयोग बुरे रूप में ही होता है। द्राविड़ में पिल्ले शब्द का अर्थ पुत्र होता है किन्तु हिन्दी में यह कुत्ते के बच्चे के लिए प्रयुक्त होता है। मूर्द्धन्य वर्णों पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव तो बहुत पड़ा है। ये स्वर द्राविड़ भाषाओं की विशेषता हैं। पंजाबी भाषा पर तो यह प्रभाव नहीं के बराबर मिलता है।

विदेशी भाषाओं के शब्द

सैकड़ों वर्षों से विदेशी शासन में रहने के कारण हिन्दी और पंजाबी भाषाओं पर अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा विदेशी भाषाओं का प्रभाव अधिक पड़ा है। यह प्रभाव दो प्रकार का है। १. मुसलमानी प्रभाव २. युरोपीय प्रभाव। दोनों प्रकार के शब्द विदेशियों के शासक होने के नाते ही हिन्दी और पंजाबी में आए अतएव दोनों प्रकार के शब्दों में बहुत कुछ समानता है।

फ़ारसी, अरबी, तुर्की और पश्तो शब्द :—ई० सन् १००० के लगभग तुर्की बोलने वालों ने पंजाब पर कब्जा कर लिया था। उनकी साहित्यिक भाषा तुर्की ही थी। तत्कालीन हिन्दी और पंजाबी उनसे प्रभावित होने लगी थीं। हिन्दी की अपेक्षा पंजाबी में इस प्रकार के विदेशी शब्द पहले आए। पृथ्वीराज रासो में फ़ारसी शब्द काफी संख्या में पाए जाते हैं। सन् १२०० के पश्चात लगभग ६०० वर्षों तक हिन्दी एवं पंजाबी भाषी जनता पर तुर्क, अफ़गान और मुग़लों का शासन रहा। इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द ग्रामीण बोलियों तक में चले आए। हिन्दी में प्रचलित विदेशी शब्दों में सर्वाधिक संख्या फ़ारसी शब्दों की ही है। हिन्दी की अपेक्षा पंजाबी में विदेशी शब्द अधिक हैं क्योंकि मुसलमानी शासक कोई भी रहे तो उनकी दरबारी भाषा तो फ़ारसी ही थी। फ़ारसी, तुर्की के ये शब्द, ध्वनि परिवर्तन के साथ दोनों भाषाओं में आए। यथा :—

विदेशी शब्द	हिन्दी	पंजाबी
इनाम्	इनाम	अनाम
तेज़	तेज	तेज
क़दम	कदम	—
हवा	हवा	वाह
किताब्	किताब	कताब
गर्म	गरम	गरम

योरोपीय भाषाओं के शब्द :—सोलहवीं सदी से योरोपीय लोगों का भारत आगमन प्रारम्भ हो गया था। किन्तु सदियों तक ये हिन्दी के सम्पर्क में नहीं आए। पंजाबी तो और भी दूर पड़ती थी। पश्चिमोत्तर भाग में होने के कारण वैसे ही योरोपीय प्रभाव से यह दूर रही, दूसरे १९वीं सदी के पूर्वार्ध तक तो पंजाब स्वतन्त्र था। पंजाब पर जब अंग्रेजों का राज्य हुआ उस समय पंजाबी पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ने लगा। योरोपीय लोग समुद्री मार्ग से भारत आए। इसलिए प्रारम्भ से ही उनके कार्यक्षेत्र समुद्रवर्ती प्रदेश ही रहे। इस कारण प्राचीन हिन्दी और पंजाबी में अंग्रेजी शब्द नहीं के बराबर हैं। गत सौ सवा सौ वर्षों से दोनों ही भाषाओं के शब्दसमूह पर अंग्रेजी का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी के अतिरिक्त दोनों भाषाओं में पुर्तगाली, फ्रेंच और डच शब्द भी आए हैं।

पुर्तगाली शब्द :—

हिन्दी	पंजाबी
कनिस्तर	कनस्तर
अलमारी	अलमारी
फीता	फीता
पिस्तौल	पसतौल
तौलिया	तौलिया
पीपा	पीपा
बालटी	बालटी
बिस्कुट	बिसकुट

फ्रांसीसी शब्द :—

कारतूस, कूपन, अंग्रेज, आदि।

बम शब्द डच है।

दोनों भाषाओं में अंग्रेजी के बहुत से शब्द ध्वनि परिवर्तन के साथ आ गए हैं। यथा :—

अंग्रेजी शब्द	हिन्दी	पंजाबी
सेक्रेटरी	—	सकत्तर

आगस्ट	अगस्त	अगस्त
रिपोर्ट	रपोट	रपोट
लैन्टर्न	लालटेन	लालटन
डिसेम्बर	दिसम्बर	दिसम्बर
लाँगक्लाथ	लंकलाट	

अंग्रेजी के कई शब्द तो दोनों भाषाओं में ऐसे आ गए हैं कि उनके लिए हिन्दी या पंजाबी के पृथक शब्द बनाने की कल्पना ही व्यर्थ प्रतीत होगी। यथा :—

जज, ग्लास, स्टेशन, साइकल, रेडियो, मोटर आदि।

बाद को दोनों भाषाओं के में अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार तो शिक्षित वर्ग वैसे ही करने लगा। विदेशी प्रभाव से जो शब्द दोनों भाषाओं में आए उन्हें निम्न रूपों में रखा जा सकता है।

१. विदेशी संस्थाओं (जैसे कचहरी, फौज, स्कूल) आदि से सम्बन्ध रखने वाले।
२. विदेशी प्रभाव के कारण नई वस्तुओं के नाम, जैसे, पहनावे, खाने, यन्त्र आदि।

पंजाबी की अपेक्षा हिन्दी में अंग्रेजी शब्द अधिक मिलेंगे। परन्तु अंग्रेजी का प्रभाव शहर में बोली जाने वाली भाषा पर ही अधिक है।

नवीन शब्दावली

हिन्दी के राज्यभाषा होने के कारण और पंजाबी के प्रांतीय भाषा होने के कारण इन दोनों भाषाओं के समक्ष कई नए प्रश्न खड़े हुए हैं। दोनों भाषाओं का ही व्यवहार राज्य और प्रांत की सरकारी भाषाओं के रूप में उपयोग होने लगा है। राज्य भाषा पद पर आसीन होते ही हिन्दी के तीन रूप साफ-साफ दिखाई पड़ने लगे हैं। १. जनभाषा २. साहित्य भाषा और ३. राज भाषा। आने वाले युग की भाषा जन भाषा ही होगी। हरएक भाषा के विकास में या परिवर्तन में ये तीनों स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। जन भाषा परिवर्तनशील होती है। वह साहित्य और व्याकरण के नियमों से बँधी नहीं होती अतएव आनेवाले युग की वही भाषा हो जाती है। आगे फिर उसके इसी तरह पुनः तीन रूप हो जाते हैं। पंजाबी की प्रांतीय भाषा हो जाने के पश्चात पंजाबी के सम्मुख यह प्रश्न है कि वह अपनी शब्दावली का इतना विकास करे कि राजकीय कार्यों के लिए उसका पूरा-पूरा उपयोग हो सके। राज्य भाषा के अतिरक्त विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिंदी हो जाने के कारण हिन्दी की शब्दावली में आवश्यकतानुसार काफी विकास हुआ है। हिन्दी में इस समय नई शब्दावली की जो संख्या है वह किसी भारतीय भाषा में नहीं प्राप्त होती। यह एक विवादास्पद विषय है कि विज्ञान और चिकित्सा के लिए मौलिकता

के नाम पर क्लिष्ट और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाए या प्रचलित अंग्रेजी के शब्द जैसे के तैसे ले लिए जाएँ। यदि विज्ञान और चिकित्सा में अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली का उपयोग किया जाय तो कोई हानि नहीं। अपने शब्द बनाकर क्लिष्टता को जन्म देने के स्थान पर ऐसा करना अधिक व्यवहारिक होगा। उससे हिन्दी को माध्यम बनाकर भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले आविष्कारों से पूर्ण तादात्मय स्थापित किया जा सकेगा। नवीन शब्दावली को अत्र रूढ़ बनाने का प्रश्न है, कि उपयोग में किसी एक विशिष्ट शब्द का एक विशिष्ट अर्थ ही हो। साथ ही साथ उनमें सरलता और स्वभाविकता की भी रक्षा करना होगी अन्यथा क्लिष्ट हो कर ये अव्यवहारिक तथा हास्यप्रद हो जाएँगे।

संज्ञा :—कारकों की संख्या जितनी संस्कृत में है उतनी ही हिन्दी और पंजाबी में भी है। किन्तु प्रत्येक कारक में भिन्न-भिन्न संयोगात्मक रूप नहीं होते। संस्कृत में आठ विभक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक विभक्ति में तीन वचनों के रूपों को मिलाकर प्रत्येक संज्ञा में २४ रूपांतर हो जाते हैं। हिन्दी और पंजाबी में द्विवचन तो होता ही नहीं। भिन्न कारकों के एकवचन और बहुवचन के चार से अधिक रूप नहीं पाये जाते हैं। वचन तथा लिंगभेद के अनुसार प्रथमा बहुवचन तथा समस्त कारकों के एकवचन और बहुवचन के रूपों के अन्त में कुछ भेद पाए जाते हैं।

	हि० एक व०	बहु०	पंजाबी एक व०	बहु०
कर्त्ता	लड़का	लड़के	मुंडा	मुंडे
कर्म	लड़के को	लड़कों को	मुंडे नूं	मुंडियाँ नूं
करण	लड़के से	लड़कों से	मुंडे तों	मुंडियाँ तों
संप्रदान	लड़के को	लड़कों को	मुंडे नूं	मुंडियाँ नूं
अपादान	लड़के से	लड़कों से	मुंडे तों	मुंडियाँ तों
सम्बन्ध	लड़के का, के, की	लड़कों का, के, की	मुंडे दा, दे, दी	मुंडियाँ दा, दे, दी
अधिकरण	लड़के में	लड़कों में	मुंडे विच	मुंडियाँ विच
सम्बोधन	(ए) लड़का	(ए) लड़को	(ओए) मुंडे	(ओए) मुंडेओ

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी और पंजाबी के कारकों में समानता है।

कारक चिह्न : — संज्ञा के विकृत रूप में कारक चिह्न लगाकर हिन्दी विभाजनों के रूप बनाए गए हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्य भाषाओं के संयोगात्मक रूपों के धीरे-धीरे घिस जाने पर मध्यकाल के अंत में संज्ञा का प्रायः मूलरूप विधान भिन्न-भिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त होने लगा था। ऐसी स्थिति में अर्थ समझने में कठिनाई होने लगी। इसलिए भिन्न-भिन्न कारकों के अर्थों को स्पष्ट करने

के लिए ऊपर से पृथक शब्द इन मूलरूपों के साथ जोड़े जाने लगे। हिन्दी और पंजाबी के ये कारक चिह्न मध्यकाल में लगाए जाने वाले इन्हीं सहकारी शब्दों के अवशेष मात्र हैं। घिसते-घिसते ये शब्द इतने छोटे हो गए कि इनके रूपों को पहचानना कठिन हो गया है। साधारण शब्दसमूह में (पृथक अस्तित्व न रहने के कारण) इन्हें संज्ञा के मूल रूपों के साथ ही लिखा जाता है। हिन्दी और पंजाबी के कारक चिह्न निम्नानुसार हैं।

कारक	हिन्दी	पंजाबी
कर्त्ता	ने	ने
कर्म	को	नूं, कू, नो
करण	से	तों, ने
संप्रदान	को, के, लिए	नूं, दे लई
अपादान	से	तो कोलों
संबंध	का, के, की	दा, दे, दी
अधिकरण	में, पर	विच उत्ते
संबोधन	हे, अजी, अरे, अहो, ओह	हों

ग्रियर्सन के मतानुसार हिन्दी में ने का प्रयोग पंजाबी से आया है। पंजाबी में एक ही अर्थ में ने और नूं का प्रयोग होता है।

लिंग :—प्रकृति में लिंग की दृष्टि से चेतन पदार्थों के तीन भेद हो सकते हैं १. पुल्लिग, २. स्त्री लिंग ३. नपुंसक लिंग। अचेतन पदार्थों को प्रायः नपुंसक लिंग में ही शामिल कर लिया जाता है। इस क्रम से मिलता-जुलता लिंगभेद संस्कृत अंग्रेजी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में है। लिंगों के सम्बन्ध में भारतीय आर्यभाषाओं में कई भेद मिलते हैं। संस्कृत और प्राकृत तथा मराठी, गुजराती और सिंहली में तीन लिंग होते हैं। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी और सिंधी में दो ही लिंग होते हैं। बंगाली, उड़िया तथा बिहारी में व्याकरण संबंधी लिंगभेद बहुत ही कम किया जाता है। भारत की पूर्वी भाषाओं में लिंग भेद की शिथिलता का कारण प्रायः निकटवर्ती तिब्बत और बर्मा प्रदेशों की भाषा का प्रभाव माना जाता है।

हिन्दी और पंजाबी में लिंग भेद सबसे अधिक दुरूह हैं। दोनों ही भाषाओं में नपुंसक लिंग होता ही नहीं। इसलिए प्रत्येक जड़ पदार्थ को भी पुल्लिग या स्त्री लिंग में ही रखना पड़ता है। इस सम्बन्ध में दोनों भाषाओं के ही लिए कोई निश्चित नियम बनाना कठिन है। विदेशियों को हिन्दी में शुद्ध लिंग का प्रयोग करने में इसी लिए कठिनाई होती है।

दोनों ही भाषाओं में लिंग सम्बन्धी दूसरी विशेषता यह है कि क्रियाओं में भी लिंग के कारण विकार होता है। लिंगभेद के कारण क्रिया के भी दो रूप पुल्लिग और स्त्री लिंग होते हैं। भारत की पूर्वी भाषाओं में लिंगभेद न होने के कारण हिन्दी बोलते समय वे लिंग भेद की गलती करते हैं। लिंग भेद के ये प्रयोग भाषा की

प्रकृति सीखने के बाद ही ज्ञात किए जा सकते हैं। हिन्दी और पंजाबी में सर्वनामों तथा प्रायः क्रियाविशेषणों में लिंगभेद के कारण परिवर्तन नहीं होते। साधारणतया ईकारांत शब्द स्त्री लिंग होते हैं आकारांत पुल्लिग होते हैं। परन्तु इसके अपवाद भी हैं। नीचे कुछ आकारांत स्त्री लिंग शब्द दिए जाते हैं।

हिन्दी	पंजाबी	हिन्दी	पंजाबी
जगह	जगा	दुआ	दुआ
दुनिया	दुनिया	कृपा	किरपा
आज्ञा	आगृया	भाषा	भाषा
क्षमा	खिमा	लज्जा	लजिआ
अवज्ञा	अवगिआ	हवा	वा
ईर्ष्या	ईर्खा	धर्मशाला	धरमशाला
विद्या	विदिआ		

ईकारान्त पुल्लिग शब्द :—

हिन्दी	पंजाबी
मोती	मोती
शहरी	शैरी
पानी	पानी

हिन्दी और पंजाबी, दोनों ही भाषाओं में लिंग सम्बन्धी नियम समान ही हैं। विदेशी को जो लिंग सम्बन्धी कठिनाइयाँ हिन्दी सीखने में होती हैं वही पंजाबी सीखने में होती हैं।

वचन :—प्राचीन आर्यभाषाओं में तीन वचन होते थे। एक वचन, द्विवचन, बहुवचन। धीरे-धीरे द्विवचन घिस गया। केवल दो ही वचन रह गये। हिन्दी और पंजाबी दोनों ही भाषाओं में बहुवचन बड़े ही सरल ढंग से बनते हैं। पुल्लिग व्यंजनांत तथा स्वरांत कुछ संज्ञाओं में एक वचन और बहुवचन के रूप समान होते हैं।

एक० हि०	पं०	बहु० हि०	पं०
घर	घर	घर	घर
मनुष्य	मनुख	मनुष्य	मनुख

पुल्लिग आकारांत संज्ञाओं में बहुवचन बनाने के लिए शब्द के अन्त में ए लगाया जाता है।

एक० हि०	पं०	बहु० हि०	पं०
गधा	खोता	गधे	खोते
लड़का	मुंडा	लड़के	मुंडे
घोड़ा	घोड़ा	घोड़े	घोड़े

दोनों भाषाओं के वचन सम्बन्धी नियमों में भी समानता ही पाई जाती है।

सर्वनाम :—दोनों भाषाओं में सर्वनामों का रूप एक-सा ही है। इनमें संज्ञाओं के समान ही विभक्तियों का उपयोग किया जाता है। हिन्दी की तरह ही पंजाबी में भी सर्वनाम समान होते हैं। विशेषणों में भी उसी तरह की समानता है। प्रतीत होता है कि समस्त आर्यभाषाओं के रूप संस्कृत से होकर नहीं आये। वे पाली अथवा मध्यकालीन आर्यभाषाओं के समान किसी सर्व प्रचलित भाषा से सम्बंध रखते हैं। केवल कहीं-कहीं ही प्रादेशिक प्राकृत या अपभ्रंश की छाप है। संख्या-वाचक विशेषण हिन्दी और पंजाबी में समान हैं।

क्रिया :—पाली में धातु के उतने रूप नहीं मिलते जितने कि संस्कृत में। संस्कृत, पाली और प्राकृत में क्रिया का रूप संयोगात्मक ही था। रूपों की संख्या में अवश्य कमी होती गई। हिन्दी की क्रियाओं के रूपांतर का ढंग सरल है। पाँच धातुओं को छोड़कर शेष हिन्दी धातुओं में संस्कृत के समान गणों का किसी प्रकार का विभाग नहीं है। हिन्दी और पंजाबी में कालों की संख्या लगभग १५ है। हिन्दी क्रिया के रूपों की बनावट बहुत बड़ी संख्या में वियोगात्मक हो गई है। शुद्ध संयोगात्मक रूप बहुत कम मिलते हैं।

वैयाकरणों के अनुसार संस्कृत में धातुओं की संख्या लगभग २००० मानी जाती है। इनमें से केवल ८०० का प्रयोग ही प्राचीन साहित्य में मिलता है। इन ८०० में से २०० का प्रयोग तो केवल ब्राह्मण ग्रंथों में ही हुआ है। ५०० वैदिक और संस्कृत साहित्य में ही मिलती हैं। हार्नली के अनुसार हिन्दी धातुओं की संख्या लगभग ५०० है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है। मूल और यौगिक मूल धातु तो वे हैं जो संस्कृत से हिन्दी में आई हैं। हार्नली के मतानुसार इनकी संख्या ३९३ है। पंजाबी में धातुओं का ठीक-ठीक पता नहीं है।

हिन्दी और पंजाबी में काल रचना के लिए कृदंत रूपों और सहायक क्रियाओं की विशेष सहायता ली जाती है। हिन्दी काल रचना में वर्तमान कालिक कृदंत तथा भूतकालिक कृदंत के रूपों का व्यवहार स्वतन्त्रता पूर्वक होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी और पंजाबी के कालों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। १. संस्कृत कालों के अवशेष काल २. संस्कृत और प्राकृत कृदंतों से बने काल ३. आधुनिक संयुक्त काल।

अव्यय :—व्याकरण के अनुसार अव्यय चार समूह में बांटे गए हैं। १. क्रियाविशेषण २. सम्मुच्चय बोधक ३. विस्मयादि बोधक ४. संबंध सूचक। हिन्दी और पंजाबी के विस्मयादि बोधकों का कोई विशेष इतिहास नहीं है। क्रियाविशेषणों की उत्पत्ति प्रायः संस्कृत संज्ञाओं अथवा सर्वनाम से हुई है। अर्थ की दृष्टि से इन्हें कालवाचक, स्थानवाचक, दिशावाचक, तथा रीतिवाचक इन चार मुख्य वर्गों में

विभाजित किया जा सकता है। हिन्दी की अपेक्षा पंजाबी में अरबी फ़ारसी के बहुत से शब्द तत्सम या तद्भव रूपों में क्रिया विशेषण के समान प्रयुक्त होने लगे हैं। इतिहास की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है।

पंजाबी में ह-कार की बहुरूपता

ह ध्वनि विसर्ग या नघोष ह के उच्चारण में जीभ और तालु अथवा होठों की सहायता बिल्कुल नहीं ली जाती। हवा की ओर से अंदर से फेंककर मुखद्वार के खुले रहते हुए स्वर यंत्र के मुख पर रगड़ उत्पन्न करके इस ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। विसर्ग या ह और अ के उच्चारण में मुख के समस्त अवयव समान रहते हैं। विसर्ग-ह् अघोष है। इसे स्वरयंत्री, अघोषसंबंधी ध्वनि कहा जा सकता है। ह ध्वनि और विसर्ग का उच्चारण स्थान एक ही है। ह सघोष ध्वनि है। इसे स्वरयंत्र मुखी, सघोष संबंधी ध्वनि कहा जा सकता है।

पंजाबी की विशेषता उसकी ह-कार ध्वनि है। यह ध्वनि दो रूपों में पाई जाती है। एक तो स्वतंत्र रूप में दूसरी संयुक्त रूप में। हृदय हुक्म आदि में यह ध्वनि स्वतंत्र है। घीह, मेंहण आदि में यह ध्वनि संयुक्त है, घ झ ढ, ध, भ पंजाबी की अपनी मौलिक ध्वनियाँ हैं। अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में ये ध्वनियाँ प्राप्त नहीं होतीं। इनका उच्चारण हिन्दी की घ, झ, ढ, ध, भ ध्वनियों के समान नहीं होता। पंजाबी में विसर्ग का उपयोग पृथक रूप से होता ही नहीं। पंजाबी में यह ध्वनि शब्दों के साथ ही विलुप्त हो गई है।

इससे पहले कि हम पंजाबी में ह-कार के विभिन्न रूपों पर विचार करें, उसके विकास पर एक दृष्टि डाल लेना ठीक होगा। ईरानी बोलयों में हिन्द योरोपियन भाषा का स, ह रूप में परिवर्तित हो जाता है। संस्कृत की स ध्वनि आवेस्ता में ह रूप में परिवर्तित हो जाता है। जैसे असुर, सोम, सिन्धु आदि आवेस्ता में क्रमशः अहुर, होम, और हिन्दु हो जाते हैं। पहलवी में भी स का स्थान ह ने ले लिया है। तीसरी सदी में अशोक ने अपने राज्य में विभिन्न स्थानों में शिलालेख खुदवाए। इन शिलालेखों की पाली में समानता नहीं है। या तो वे स्थानीय पाली में हैं या उस पाली के विभिन्न रूपों पर स्थानीय ध्वनियों और बोलियों का प्रभाव पड़ा है। भारत के पश्चिमोत्तरी भाग में शाहबाद गढ़ी और मनसेरा में अशोक के शिलालेख मिले हैं। उसकी भाषा का विशेषण ह-कार के विकास के अध्ययन में अच्छा योगदान देता है। उस शिलालेख में प्रयुक्त हकार की तुलना वर्तमान लंहिदा में प्रयुक्त हकार से की जाए तो दोनों में साम्यता स्पष्ट ही दिखाई पड़ेगी। विसर्ग का लोप उसी समय हो गया था। और हकार का योग अक्षरों के साथ ही हो गया था।

निम्नलिखित उदाहरण से शिलालेख में प्रयुक्त हकार का पता लग सकता है।

शि० की पाली	संस्कृत	लहिंदा
हिद	अर्थ	हिथ्थे
हेवं	एवं	हिडिं
हहति	अस्मि	है।

इससे यह प्रतिपादित होता है कि उस समय इस विभाग में लोग इन सघोष और अघोष ध्वनियों का उच्चारण करने लग पड़े थे। विसर्ग का लोप हो गया था और उसका स्थान ह ने ले लिया था। ख, घ, थ, ध, फ, ध्वनियों के स्थान पर प्राकृत में ह ध्वनि का प्रयोग होने लगा था। संस्कृत के शब्द मुख, मेघ आदि क्रमश: मुंह और मींह हो गए। विसर्ग का प्राकृत में लोप हो गया। प्राकृत में विकासों मुख हकार संबंधी समस्त प्रवृत्तियां अपभ्रंश मे पूर्णता प्राप्त कर लेती है। अपभ्रंश के बाद आधुनिक आर्यभाषाओं में हकार का विकास हुआ। गुजराती में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। लिखित गुजराती का स काठियावाड़ में जनसाधारण द्वारा ह के रूप में उच्चरित होता है। यथा, सांझ, साचूं सारुधार क्रमशः हांफे, हाभू और हारुधार हो जाते हैं। हिन्दी में सघोष और अघोष दोनों ही रूपों में ह-कार का प्रचलन है।

हिन्दी में जहां ह स्थान से पहले अनुनासिक ध्वनि होती है इसका उच्चारण पंजाबी में में घ के रूप में होता है। यथा सिंह, संहार आदि क्रमशः वे पंजाबी में सिंघ, संघार आदि हो जाते हैं।

कई वर्णों में सघोष और अघोष महाप्राण स्वरों में हकार का अंतर रह जाता है। अल्प प्राण अंश का लोप हो जाता है।

ख ध्वनि का परिवंतन पंजाबी में स रूप में पाया जाता है। मेखला, मुख, नख पंजाबी में मेहल, मुंह, और नहुँ हो जाते हैं।

घ ध्वनिका लोप ह के रूप में हो जाता है। मेघ, मेह हो जाता है।

इसके अतिरिक्त घ, थ, ठ, और ड ध्वनियां भी पंजाबी में ह के रूप में परिवर्तित होती देखी जाती हैं। यथा :

कथन=कहना	पथ=पहा	कथानक=कहानी
दधि =दही	वधु=वहू	सुधा =मोह
सौगंध=सौंह	अंधकार=हनेरा	बधिर=बहिरा
कुठार=कुहाड़ा	लाभ=लाह	सौभाग्य=सुहाग

प्राचीन अपभ्रंश के आधार पर, ष और स ध्वनियां पंजाबी में ह में रूपांतरित हो जाती हैं।

शब्द	पंजाबी	शब्द	पंजाबी
उष्णकाल	नुहाल	निष्फल	निहफल
सयास	साह	आषाढ़	हाड़
वर्ष	वरहा	वेसना	वेहना

दिवस	दिहु	दस	दह

पंजाबी में ह और महाप्राण स्पर्श ध्वनियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के उच्चारण पाए जाते हैं। इसका कारण यह है कि पंजाब में विभिन्न प्रकार के लोगों का संगम होता रहा है। पूर्वी पंजाबी में सघोष महाप्राणों के रूपांतर के साथ स्वर विन्यास में भी परिवर्तन आ जाता है। पंजाबी में अघोष महाप्राण नहीं बदलते। सुनीति कुमार चटर्जी ने इस स्वर के लिए (u)[1] इस चिह्न का उल्लेख किया है। इसे संकेत बिन्दु माना है। पंजाबी की घ, झ, थ, फ, ध, भ, ध्वनियाँ कu, चu, पu, तu, टu के रूप में उच्चरित होंगी। जब वे शब्दों के भीतर आते हैं तब वे अल्पप्राण हो जाते हैं परन्तु स्वरविन्यास भी साथ ही बदल जाता है और जब उसके बाद का स्वर बलयुक्त होता है तब उसका स्वर विन्यास निम्नोक्त हो जाता है[2]। कुछ उदाहरण देखिए :—

हिन्दी	पंजाबी	हिन्दी	पंजाबी
भूख	पुuख	भारी	पuआरी
घोड़ा	कuओड़ा	ध्यान	तिuआन
झाड़ू	चuआड़ू	घी	किuओ

"परन्तु जब बलयुक्त स्वर उसके पहले आता है तब स्वर विन्यास उच्च अवनत हो जाता है।"[3] इसका संकेत चिह्न (')....का उल्लेख किया है।

"पंजाबी में महाप्राण तथा सघोष महाप्राणित स्पर्शों का स्थान कुछ अंशों में स्वरविन्यास परिवर्तन से लिया है।"[4] भारतीत भाषाओं में ह्-कार के विभिन्न और बहुरूप एक पृथक ही अध्ययन का विषय है।

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी ; सुनीतिकुमार चटर्जी ; पृ. १२८।
२. वही पृ. १२८।
३. वही पृ. १२८।
४. वही पृ. १२८।

द्वितीय अध्याय

राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि

राजनैतिक परिस्थितियाँ

कुरान में यद्यपि लिखा है कि विश्वास लाने के लिए किसी को मजबूर नहीं किया जा सकता[1] फिर भी अपने धर्म के प्रसार के लिए मुसलमानों ने तलवार का काफ़ी सहारा लिया। दसवीं और ग्यारहवीं सदी में अराजकता का घोर युग था। भारत पर विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे। मुहम्मद बिन कासिम इस तरह के आक्रमणकारियों में पहला आक्रमणकारी था। इसके बाद गज़नी और गोरी के आक्रमण प्रारम्भ होते हैं। विसेंट स्मिथ ने ग़ज़नवी के आक्रमणों की संख्या १६ मानी है। उसके मतानुसार सोमनाथ का आक्रमण महमूद की सोलहवीं चढ़ाई के दौरान हुआ था।[2] उसके बाद मुहम्मद ग़ोरी ने भारत पर आक्रमण किए। उसके तीन-चार आक्रमण तो प्रसिद्ध हैं। मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण केवल सिंध पर ही हुआ था। वास्तविक विदेशी आक्रमण ग़ज़नवी और ग़ोरी के थे। इन्ही आक्रमणों ने भारत की सभ्यता और कला को उजाड़ना प्रारम्भ कर दिया था।

इन आक्रमणों से भारत की शस्य-श्यामला धरती की दशा धूलधूसरित-सी हो गई। भारत की प्राचीनता की उज्ज्वलता ने अपना दम तोड़ दिया। मुसलमानी आक्रमणकारियों की बर्बरता का कटु अनुभव भारतीयों को हुआ। ग़ज़नवी के साथ प्रसिद्ध इतिहासकार अलबेरूनी भी था। उसने अपने समय के भारत का विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है कि महमूद ग़ज़नवी ने भारत के वैभव को सम्पूर्ण रूप से मिटा-सा दिया। साथ ही उसने (महमूद ने) आश्चर्य के वे कारनामे किए कि हिन्दू धूल के कणमात्र रह गए। अथवा लोगों के मुँह पर के पुराने जमाने की एक कहानी

---

१. अल कुरान ; (सेल) ; पृ. ५६६। डा० बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत।

२. ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया ; (विसेंट स्मिथ) ; पृ. १९१।

मात्र रह गए।[1] आगे वह लिखता है कि इसी कारण भारतीय विद्या कश्मीर और वाराणसी जैसे दूरस्थ स्थानों में चली गई। महमूद की चढ़ाइयों के हिन्दू इतिहासकार तो मौन ही रह गए हैं। उसकी चढ़ाइयों का वर्णन मुसलमान इतिहासकारों से ही मिलता है। परन्तु मुसलमान इतिहासकारों के वृतांत में काफ़ी अतिशयोक्ति और विरोधाभास है। उनके मतों में भी विभिन्नता है।

मजहब के प्रसार के लिए आक्रमणकारियों ने चारों ओर खुदा के नाम पर अत्याचार किए। संसार में यह देखा जाता है कि किसी मत के अनुयायी अपने धर्म गुरु या पैग़म्बर को जितना आदर देना चाहते हैं, उतना ही आदर की भावना के जोश में आकर उसे अनादर देते चले जाते हैं। उनमें कट्टरता बढ़ती ही जाती है। बुद्ध ने आत्मा और परमात्मा के प्रश्न को अव्यकृत कह कर उस पर मौन रहना ही उचित समझा। परमात्मा का एक मूर्ति के रूप में कल्पना करना तो खैर एक बहुत दूर की बात थी किन्तु उनके ही अनुयायियों ने उनकी मृत्यु के पश्चात उनका मूर्ति रूप में पूजन भी प्रारम्भ कर दिया। बौद्ध के चेहरे पाया जाने वाला वैराग्य का आनंद बौद्ध भिक्षुओं केचेहरे पर निराशा के रूप में ही प्रस्फुटित होता है।

इसी प्रकार अपने धर्म-गुरु की शिक्षा के विरुद्ध ही खलीफ़ाओं ने तलवार का प्रयोग किया। इसके बाद यह भावना उग्र रूप ही धारण करती गई। इस्लाम का खुदा सिर्फ एक दंड देने वाला खुदा ही रह गया। खलीफ़ा मुसलमानों के धर्मगुरु थे। समस्त मुसलमान बादशाह उन्हें नज़राना और खिलात भेजते थे। गज़नवी ने कई आक्रमणों के पश्चात खलीफ़ा को नज़राना और भेंट स्वरूप सामग्री भेजी थी।

मुसलमानी आक्रमणों की आंधी के समक्ष सारा भारत झुकता गया। परन्तु हिन्दुओं ने अपनी पराजय को इतनी शीघ्रता से स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पग-पग पर इन मुसलमानी आक्रमणों का विरोध किया। परन्तु आपसी फूट, शत्रु के प्रति क्षमाशीलता की भावना, और कई अंध-विश्वासों ने मिलकर उनकी अवनति की। समय की निष्ठुरता के समक्ष उन्हें सिर झुकाना ही पड़ा।

पहले मुसलमानी विजेता सिर्फ आक्रमणकारियों के रूप में ही भारत में आए। परन्तु बाद में उन्होंने यहाँ पर बसना भी प्रारम्भ कर दिया। बंगाल तक विजय प्राप्त करने के पश्चात गोरी ने कुतुबुद्दीन ऐबक को वाइसराय के रूप में दिल्ली में नियुक्त किया। आक्रमणकारियों ने अपने आक्रमणों के दौरान में प्रसिद्ध मंदिरों एवं सांस्कृतिक स्थलों पर आक्रमण कर उन्हें भ्रष्ट किया। स्मिथ लिखता है कि प्राचीन सभ्यता के कई अन्यतम नमूने मुसलमानों के प्राथमिक आक्रमणों के युग में ही समाप्त हो गए।[2] भारतीय कला के ये श्रेष्ठतम नमूने धूल में मिला दिए गए। सरस्वती

---

१. एलबरूनीज़ इंडिया; (एडवर्ड सचाऊ); पृ. १९११।

२. ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री आफ़ इंडिया; (विसेंट स्मिथ); पृ. २२९।

के केन्द्र भी इन बर्बर आक्रमणों से अलिप्त न रह सके। शिल्पकलाएँ एवं अन्य विद्याएँ अन्तर्वेद से हटकर भारत के उन दूर स्थानों में चली गई जहां पर मुसलमानी आक्रमणों का भय नहीं था। भारत में बसने के बाद भी इन शासकों ने अपनी बर्बर और हिंसक नीति को छोड़ा नहीं। भारत का उत्तरखंड तो एक प्रकार से रौंद डाला गया। मंदिरों पर बहुत ही भीषण आक्रमण हुए। इन मंदिरों में कला के कई श्रेष्ठतम नमूने मौजूद थे। मथुरा के कलात्मक मंदिरों पर जब गजनवी की तलवार पड़ी उस समय एक से एक कलात्मक मंदिर विनाश के गर्त में समा गए। स्मिथ लिखता है कि इस तरह कला के नमूने समाप्त हो गए। ये प्राचीन भारत के कला के श्रेष्ठतम नमूने थे।[1] इन मंदिरों की शिल्पकला ने महमूद को भी प्रभावित किया था। स्वयं महमूद ने कहा था कि ऐसे मंदिरों के निर्माण के लिए कम से कम दो सौ वर्षों का समय चाहिए।

बिहार के बौद्धविहार अपनी पतनावस्था में खड़े जीर्णता को लेकर अपना सिर पीट रहे थे। महात्मा बुद्ध की ओजस्वनी वाणी क्षीण पड़ गई थी। बुद्ध धर्म भारत में पतन के कगारे पर खड़ा अन्तिम प्रहार की राह देख रहा था। इसके पहले ही "प्रच्छन्नन बौद्ध" शंकर ने भारत से बौद्ध धर्म का उन्मूलन कर दिया था। रही-सही जड़ों का सफ़ाया इन विदेशी आक्रमणकारियों ने कर दिया। अन्तिम दिनों में इन बौद्ध विहारों को पाल वंशीय राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विदेशी आक्रमण-कारियों ने पहले-पहल इन बौद्ध भिक्षुओं को "सिर मुंडे ब्राह्मण" की संज्ञा दी। ये ब्राह्मण और बौद्धों में अन्तर जानते ही न थे। तुर्कों की मोटी बुद्धि से यह परे की बात थी। विहारों पर मुहम्मद बिन बख्त्यार का नृशंस आक्रमण हुआ था। बौद्ध विहारों ही की यह स्थिति नहीं थी परन्तु उन सब स्थानों की यही दशा हुई जहाँ पर विदेशी आक्रमण हुए। कला और संस्कृति के निशान मिटते चले गए। इन विदेशियों के आक्रमणों से पहले भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंटा था। ऐसा कोई शक्तिशाली राजा नहीं था जो उन्हें रोकता। सामूहिक रूप से लड़ने पर भी अपनी व्यक्तिगत फूट और अहंमन्यता के कारण राजपूत सफल नहीं हो पाते थे। बाबर सिर्फ १२ हजार आदमी लेकर आता है और विजय प्राप्त कर लेता है इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में उस समय विदेशियों को रोकने के लिए कितने शक्तिशाली राजा थे। राणा सांगा की पराजय एक ऐतिहासिक घटना मात्र नहीं है बल्कि उससे बहुत सी बातों पर प्रकाश पड़ता है। हाँ एक बात है कि भारत यद्यपि छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था किन्तु फिर भी कला-कौशल को कोई हानि नहीं पहुँची थी। आपसी फूट के बावजूद भी हर राज्य में कला, साहित्य आदि को प्रोत्साहन तो किसी न किसी रूप में मिलता ही रहता था। स्मिथ लिखता है कि हर राज्य में

---

१. आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री आफ़ इंडिया ; (विंसेंट स्मिथ) ; पृ. १९२।

कला के उत्मोत्तम नमूने मौजूद थे। इन राज्यों में विद्वानों का आदर होता था। विद्वानों की भाषा संस्कृत ही थी। ये राजा कलम और तलवार दोनों के ही धनी थे।[1]

इन विदेशियों ने भारतवासियों को हर प्रकार से तंग करना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दुओं से हर प्रकार का कर लिया जाता था। कई ऐसे कर थे जो केवल इसलिए वसूल किए जाते थे कि देने वाला गैर मुसलमान था। जजिया एक इसी तरह का कर था। वह हिन्दुओं से इसलिए वसूल किया जाता था क्योंकि वे मुसलमान नहीं थे। हजार तरह के अपराध करने पर भी इस्लाम धर्म स्वीकार करने से एक व्यक्ति माफ़ कर दिया जाता था। देश में मजहब के नाम पर हर तरह का अन्याय खुल कर खेलता था। पठानी सल्तनत में ही नहीं बल्कि मुग़ल सल्तनत में भी यह देखा जा सकता है कि उस समय देश में धार्मिक सहिष्णुता बिल्कुल नहीं थी। अकबर में ही केवल धार्मिक सहिष्णुता के दर्शन होते हैं। जहाँगीर से औरंगजेब तक इस सहिष्णुता का विनाश ही होता गया। औरंगजेब के समय में तो यह धार्मिक कट्टरपन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव[2] के अनुसार यह दो शक्तियों के सम्बन्ध का युग था। यह युग धार्मिक सहिष्णुता और मुस्लिम धर्मांधता का युग था जिसमें अन्त में मुस्लिम धर्मांधता की ही विजय हुई। बाबर यद्यपि अन्य सुलतानों की अपेक्षा उदार था किन्तु कुरान के नाम पर उसने इस्लाम को ही सहारा दिया था। राणा साँगा को तो उसने काफ़िरों का सरदार कहा था। उसने हिन्दुओं के विरुद्ध किए गए समस्त युद्धों को जिहाद कहा है।

इस तरह स्पष्ट देखा जा सकता है कि विदेशियों के अत्याचार इस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए थे। मुसलमानी शासन केवल धर्मांधता का व्यापार मात्र था। धर्म का काफी संकीर्ण अर्थ लिया जाता था। विदेशी शासकों का विचार भारत को एक मुसलमानी राष्ट्र बना देने का था। इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने पर जागीरें मिलती थीं। कई अपराध माफ कर दिए जाते थे। कालिंजर की विजय के पश्चात कुतुबुद्दीन का इतिहासकार लिखता है मंदिरों को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवा दी गई हैं। जनता भी धीरे-धीरे अत्याचार सहने में अभ्यस्त होती गई। हिन्दुओं के पतन में एक और अध्याय जुड़ गया। भारतीय इतिहास के पन्ने कलात्मक मंदिरों के विध्वंस की कहानियों से भरे पड़े हैं। अलाउद्दीन के समकालीन उसकी राज्य व्यवस्था के बारे में एक लेखक लिखता है कि कोई भी हिन्दू अपना सिर भी नहीं उठा सकता था। सोने, चाँदी या अन्य किसी कीमती वस्तु का हिन्दुओं के

---

१. आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री आफ़ इंडिया ; (वीसेंट स्मिथ) ; पृ. १८६।
२. मुग़लकालीन भारत ; (आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव) ; पृ. २३६।

घास पता भी नहीं रहने दिया जाता था।[1]

ऐसी बात नहीं कि भारत पर पहले आक्रमण न हुए हों। मुसलमानों के पहले भी भारत पर शक, हूणों और युनानियों के आक्रमण हुए थे। लेकिन ये आक्रमणकारी भारत में ही बस गए थे। उनके अत्याचार धर्मांधता की नीति से प्रेरित नहीं थे। वे भारत में रहकर भारतीय हो गए। उन्होंने कुछ भारत से लिया और कुछ भारत को दिया। इस तरह कला, धर्म, दर्शन, साहित्य और रहन-सहन के अतिरिक्त उन्होंने भारतीय संस्कृति को अपना लिया। राजपूतों का आविर्भाव ऐसे ही हुआ है। राजपूत विशुद्ध आर्य क्षत्रिय नहीं हैं। परन्तु इन तुर्क और अफ़गान आक्रमणकारियों ने अपनी धार्मिक संकीर्णता और कट्टरता को नहीं छोड़ा वे इस्लाम के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इस्लाम जिहाद आदि के नाम पर साधारण इस्लामिक जनता को फुसलाकर उन्होंने अपना स्वार्थ अच्छी तरह से पूरा किया। भारत में सदियों रहने पर भी एक भारतीय मुसलमान की जितनी हमदर्दी फारस और अरब से थी उतनी भारत या उसके निवासियों से नहीं। इधर भारतवासियों का भी पतन प्रारम्भ हो गया था। ये आक्रमणकारी भला पराजित जाति से क्या सीखते?

अलबेरूनी का भारत का संपादक सवाल लिखता है कि महमूद के लिए हिंदू काफिर हैं। यदि ये अपने आप को लूटने नहीं देते तो सीधे ही नरक भेज देने के योग्य समझे जाते थे[2]। मुसलमानी शासन में प्रजा की दशा बहुत बुरी थी। फर्कुहर लिखता है कि मुसलमानी शासकों की आधीनता में हर समय युद्ध ही होते रहते थे। जिसका परिणाम सिवाय बर्बरता के कुछ नही था।[3] गजनवी और गोरी के पहले जो मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण हुआ था वह भारत के लिए इतना हानिप्रद नहीं था। वह तो भारतीय इतिहास में एक प्रकार की रोचक घटना है। सिंध पर विदेशियों का अधिकार तो अवश्य हो गया था किन्तु राज्य के उच्च स्थानों पर ब्राह्मणों को नियुक्त किया गया था। उस समय के अरब आक्रमणकारी भारतीय ज्योतिष, विद्याधर्म, साहित्य, वैद्यक, गणित आदि से काफ़ी प्रभावित हुए थे। वे अपने साथ भारतीय विद्वानों को खलीफाओं के दरबार में बगदाद ले गये थे। परन्तु कालांतर हम देखते हैं कि मुसलमान आक्रमणकारियों में भारत से ग्रहण करने की प्रवृत्ति का अभाव हो गया। उनमें से विशाल भावना का लोप होता चला गया। हिन्दू और मुसलमानों में विरोध की यह धारा समानांतर रूप से बढ़ती ही चली गई। यह विरोध आगे आने वाले

१. आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री आफ़ इंडिया; (वी. ए. स्मिथ); पृ. २३४। स्मिथ द्वारा उद्धृत।
२. अलबेरूनीज इंडिया; (संपादक सचाऊ); पृ. १७।
३. माडर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इंडिया (फर्कुहर); पृ. २।

सदियों में शांत होने की अपेक्षा विकसित ही होता गया। पहले के खलीफा उदार थे परन्तु बाद की संकीर्णता और धार्मिक असहिष्णुता की वृद्धि हो गई। मुसलमान शासकों ने भेदभाव की इस खाई को मिटाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। हिन्दुओं में भी इस समय काफी संकीर्णता आ चुकी थी। अपने पूर्वजों की व्यापकता उनमें नहीं रह गई थी। हमारी सभ्यता स्थिर हो गई थी। वर्णभेद की विषमता ने उग्र रूप धारण कर लिया था। अलबेरूनी लिखता है कि यदि हिन्दू भ्रमण करें, अन्य लोगों से मिलते रहें तो शीघ्र ही वे अपने विचार बदल देंगे। इनके पूर्वज इस तरह की संकीर्ण मनोवृत्ति के नहीं थे जैसी कि वर्तमान पीढ़ी है।[1]

सामाजिक परिस्थितियाँ

इस तरह हिन्दुओं का राजनैतिक ही नहीं बल्कि सामाजिक पतन भी प्रारम्भ हो गया था। राजनैतिक दशा के समान उनकी सामाजिक दशा भी शोचनीय थी। ये भिन्न जातियों और उपजातियों में विभक्त थे। वे मिलकर काम नहीं कर सकते थे।[2] समाज में जाति का निर्धारण कर्म से नहीं बल्कि जन्म से होता था। इधर विदेशियों के अत्याचार अपनी चरम सीमा पर थे। हिन्दुओं की सामाजिक दैन्यता की सीमा नहीं थी। भिन्न-भिन्न जातियों को विदेशी अत्याचारों का सामना तो करना पड़ ही रहा था किन्तु उन पर हिन्दुओं के भी सामाजिक अत्याचार हो रहे थे।

आर्यों की कार्य-कुशलता और धर्म-व्यवस्था में निहित व्यापकता नष्ट हो चुकी थी। यह माना जा सकता है कि एक व्यक्ति के भविष्य निर्माण में उसकी घरेलू परिस्थितियों का काफी हाथ रहता है। परन्तु उसका यह आशय नहीं कि जो काम बाप कर रहा है वह उसका पुत्र ही कर सकता है और कोई नहीं या पुत्र वही काम कर सकता है जो उसका बाप करता था कर रहा हो। समाज में जातीयता के बन्धन इतने कड़े थे कि उनसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन था। जातियों के विशेष उद्योग धन्धे बन गए थे। वे धंधे इन्हीं जातियों तक सीमित थे। जाति प्रथा के बारे में अलबेरूनी लिखता है कि ये (हिन्दू) किसी को अपनी जाति बदलने नहीं देते थे। जो जो अपनी जाति का उलंघन करता उसे सदैव रोक दिया जाता था।[3] स्पष्ट देखा जा सकता है कि उस समय की सामाजिक प्रगति में सबसे बड़ी बाधा इस जाति प्रथा ने ही उपस्थित की थी। हिन्दुओं में धार्मिक और राष्ट्रीय एकता नहीं थी। राजनैतिक पतन का कारण भी काफी मात्रा में जाति-प्रथा ही थी।

निम्नजातियों की तो और भी बुरी दशा थी। शूद्रों और निम्नजातियों को

---

१. अलबेरूनीज इंडिया ; (सवाऊ ; संपादित) ; पृ. १२२।
२. भारतवर्ष का इतिहास ; (ईश्वरी प्रसाद) ; पृ. १४३।
३. अलबेरूनीज इंडिया ; (सवाऊ संपादित) ; पृ. १००।

समाज में अत्यन्त घृणित काम सौंप दिए गए थे। उन्हें समाज में निम्नकोटि के कार्य करने पड़ते थे। उनकी प्रतिष्ठा समाज में नहीं के बराबर थी। उच्च वर्णीय जातियाँ उनसे खानपान आदि किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती थीं। उनके साथ खाना-पीना, उठना-बैठना और उन्हें स्पर्श तक करना निषिद्ध माना जाता था। देव दर्शन उनके लिए वर्जित था।

लगातार कई वर्षों से ऐसी स्थिति होने के कारण निचले वर्ग की ये जातियाँ इन सामाजिक अत्याचारों से अभ्यस्त हो चुकी थीं। ये अत्याचार उनके दैनिक जीवन में समाकर उनके लिए सामान्य बन चुके थे। उच्चवर्णीय लोगों ने यह नहीं सोचा कि आखिर मनुष्य को मनुष्य के अधिकारों से क्यों वंचित रखा जाए। घोड़े से गधा अलग हो सकता है क्योंकि दोनों की नस्ल एक-सी नहीं है। घोड़ों की जाति में न तो गधे ही पैदा हो सकते हैं और न ही गधों में घोड़े पैदा हो सकते हैं। परन्तु मनुष्यों में तो मनुष्य का जन्म हो सकता है फिर उनमें भेद करना कहाँ तक उचित है ? फिर भला जन्म के आधार पर मनुष्य की ऊँच-नीच को भला कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ? उच्चवर्गीय लोगों को इन बातों से कोई सरोकार नहीं था। वे तो यही समझते थे कि परमात्मा ने निम्नवर्ण की जातियों को उनके ही सुख के लिए पैदा किया है। ऊँच-नीच के इस भेदभाव में काफी रूढ़िवादिता और संकीर्णता आ गई थी। अलबेरूनी लिखता है कि "हिन्दू समझते हैं कि उनकी जाति के समान कोई जाति ही नहीं है। उनके देश के समान कोई देश ही नहीं है। उनके राष्ट्र के समान कोई अन्य राष्ट्र ही नहीं है।"[1] सन्यास भी उस समय इतना सस्ता हो गया था कि दुनिया में जब किसी का कुछ नहीं रह जाता था तो वह सन्यासी हो जाता था। इन साधु और सन्यासियों में विरला ही कोई पहुँचा हुआ होता था। स्वयं तुलसीदास ने कहा है :—

नारि मुइ घरि संपत्ति नासी।
मूंड़ मुड़ाए भये सन्यासी ॥

तुलसीदास के समय में यह परिस्थिति थी तो अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके पहले क्या हालत रही होगी।

हिन्दुओं का यह पतन काल था। उनमें कई तरह के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विकारों ने घर कर लिया था। यह सच है कि हिन्दू और मुसलमान अपनी संकीर्णता के कारण एक नहीं हो सके थे किन्तु देखा जाए तो असहयोग की इस दीवार को विदेशी शासकों ने और भी चौड़ा किया। अकबर के सिवाय कोई भी ऐसा विदेशी शासक नहीं था जिसने प्रजा को हिन्दू या मुसलमान नहीं बल्कि

---

१. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय ; (पीतांबर दत्त) ; (परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित ; पृ. २।

भारतीय दृष्टिकोण से देखा हो। कहा जाता है कि मुग़ल शासन राष्ट्रीय था। यह बात बिल्कुल ही भ्रमात्मक है। बाबर और हुमायूं तो विदेशी ही थे। जहाँगीर के समय से हिन्दुओं पर अत्याचार बढ़ने लगे थे। औरंगज़ेब के समय में वे तो अपनी चरम सीमा पर ही पहुँच गए थे।

मुसलमानों के अत्याचारों से कला के अन्यतम नमूनों को भी भारी क्षति पहुँची। फ़तहपुर सीकरी की दीवारों पर अकबर ने जो चित्र बनवाए थे औरंगज़ेब ने उन चित्रों से सिर धड़ से अलग करवा दिए थे। उसका कथन था कि बुत बनाने का हक केवल खुदा को ही है। इंगलैंड के इतिहास में भी इसी तरह का प्रसंग आता है। क्रामवेल ने जब राजवंश का विनाश कर लंदन की कलात्मक मूर्तियों को तहस-नहस कर दिया। उसने भी इंजील के कथन का ही अनुसरण किया कि मनुष्य के रूप में परमात्मा ने अपने आपको ही बनाया। मनुष्यों की मूर्ति बनाने का हक केवल परमात्मा को ही है।

इस तरह स्पष्ट देखा जा सकता है कि हिन्दुओं को केवल जीने भर का अधिकार था क्योंकि उनके मर जाने से राज्यकोष में कर की कमी हो जाने का भय था।[१]

मुसलमानों के संसर्ग से इस निचले वर्ग की जातियों में हलचल होना स्वभाविक बात थी। मुसलमानों में उन्हें एक ऐसा धर्म दिखा जहाँ अपने जन्म के कारण कोई ऊँचा या नीचा नहीं था। यह उनके लिए एक असाधारण बात थी। उन्होंने देखा कि हर अहले इस्लाम बराबर है। ऊँच-नीच के वहाँ कृत्रिम बंधन नहीं हैं। बराबर होने के कारण हर किसी के लिए उन्नति का मार्ग एक-सा खुला था। इस्लाम की इस एकता ने अरब की लड़ाकू और खूंखार जातियों को एक किया था। ऐसी जाति के संसर्ग में आकर उससे प्रभावित होना निचले वर्ग के लिए एक स्वभाविक-सी बात था।

धार्मिक परिस्थितियाँ

इसी समय देश में विभिन्न भक्ति संस्थाओं और संप्रदायों का जोर बढ़ रहा था। भारतीय इतिहास के इस मुस्लिम युग में भक्ति-आंदोलनों का प्राबल्य था। देश में विदेशियों का राज्य अच्छी तरह से स्थापित हो चुका था। रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, उत्साह और अभिमान के लिए वह अवकाश नहीं रह गया। उनके सामने ही उनके देव मन्दिर गिराए जाते थे। वे कुछ नहीं कर सकते थे.........अपने

१. हिन्दी में निर्गुण संप्रदाय ; (पीताम्बर दत्त) ; परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित ; पृ. २।

पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही क्या था।[1] रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दुओं का भक्ति की ओर मुड़ना विवशता के परिणामस्वरूप माना है। यह मत भ्रामक है। भारत में शंकराचार्य और उनके पश्चात वैष्णव संप्रदाय दक्षिण ही से प्रारम्भ होकर शनैः शनैः उत्तर की ओर चला। दक्षिण भी उस समय मुसलमानों के आक्रमणों से एक प्रकार अछूता ही था। समस्त मुसलमानी आक्रमणों का प्रभाव तो केवल उत्तरी भारत पर ही पड़ा था। तो भक्ति आंदोलन का उद्‌गम विवशता का परिणाम नहीं माना जा सकता। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी कहा है "कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आंदोलन को हारी हुई जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में माना है। यह बात ठीक नहीं है।[2]

इस समय के भक्ति आंदोलनों को हम निम्नलिखित रूप में बांट सकते हैं। १. वैष्णव संप्रदाय २. शैव मत ३. सूफ़ी मत ४. निर्गुण विचारधारा। पौराणिक युग की तंत्रोपचार पद्धति विशिष्ट भक्तियुग के समाप्त होते-होते क्रमशः दक्षिण की ओर अग्रसर हुई। इनके अपनाने वाले तामिल के ही लोग थे। ये लोग आडवार कहलाते थे। इनका जीवन सादा और सरल होता था। मुख्य आडवारों की संख्या १२ मानी जाती है। इन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर पद रचना की है। इनका एक संग्रह "प्रबंधम्" के नाम से प्रसिद्ध है। यह तामिळ भाषा में है। ये बारह आडवार एक दूसरे के समकालीन नहीं थे। आडवारों में सर्वप्रसिद्ध नम्मलवार एक शूद्र परिवार में जन्मे थे। नम्मलवार की एक शिष्या गोदो के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसकी कविता माधुर्य भाव से पूर्ण है। यह प्रबंधम् विक्रम की १२वीं सदी में आचार्यों द्वारा सम्पादित हुआ। "उनकी रचनाओं द्वारा प्रदर्शित भक्ति के अन्तर्गत जीवात्मा व परमात्मा के मध्यवर्ती एक अलौकिक प्रेम का अंश वर्तमान है जिसे अलंकारिक भाषा में "सहवास का प्रेम कहा जा सकता है।" अलवारों के वैष्णव धर्म का प्रचार करने वाले भक्त "आचार्यों" के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन आचार्यों में सर्वप्रथम नाम नाथ मुनि का लिया जाता है। उन्होंने आडवारों के ४ सहस्त्र पदों को चार भागों में संपादित किया। उनके पश्चात चौथे प्रसिद्ध आचार्य

आडवार भक्त

यामुनाचार्य थे। इनका समय सं० ९७३–१०९७ माना जाता है। उन्होंने सिद्धित्रय लिखकर शंकर के मायावाद का खंडन किया। रामानुज ने यामुनाचार्य की ही विचारधारा को

रामानुजाचार्य

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; (रामचंद्र शुक्ल); पृ. ६० नवम संस्करण।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास; (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

विशिष्ठाद्वैत द्वारा प्रौढ़त्व प्रदान किया। रामानुज का कथन था कि जीवात्मा और जगत परमात्मा के गुण विशेष हैं। इस अद्वितीय ब्रह्म विशेष की प्राप्ति ज्ञान मात्र के आधार पर न होकर वेद निहित कर्मानुष्ठान एवं विविध भक्ति साधनाओं से ही संभव हो सकती है। बौद्ध के निरीश्वरवादी सिद्धान्तों का उन्मूलन शंकर के अद्वैत ने अवश्य ही किया था। परन्तु एकात्मिक भक्ति का अपूर्ण स्वरूप देने में वह एक प्रकार से असमर्थ रहा। "लोगों की रुचि फिर से प्राचीन एकांतिक धर्म की ओर मुड़ रही थी। उसका प्रवर्त्तन संभवतः बदरिकाश्रम में हुआ था। उपास्य देव को एकांतिक प्रेम का अवलंबन बनाने वाले इस नारायणी धर्म में जनता ने अपने धर्म का आकर्षण पाया।"[1] शंकर का अद्वैतवाद जनता तक नहीं पहुँच सका। वैष्णव संप्रदाय भारत का एक प्राचीन संप्रदाय है। वैष्णव अपनी साधना का परम लक्ष्य परमपद ही रखता है। वैष्णव धर्म की प्राचीनता के विषय में तो कोई संदेह नहीं किया जाता। मेगास्थनीज ने ईसा से चार सदी पूर्व ही लिखा है कि भारत में कुदरत की पूजा होती है।

दक्षिण में वैष्णव संप्रदाय को सबसे अधिक बल रामानुज से ही मिला। रामानुज से पहले दक्षिण में अलवार संतों की परम्परा पाई जाती है जिसका हमने पहले उल्लेख किया है। अलवार मुक्ति के लिए भक्ति को आवश्यक मानते थे। अलवारों ने जनता की सीधी-सादी भाषा को ही अपना माध्यम बनाया था। कृष्णा स्वामी आयंगर के कथनानुसार "उनका (अलवारों) पता आनेवाली उन पीढ़ियों से लगता है जोकि दैवीबुद्धि की स्पष्टता को बताकर संसार को ऐसी भययुक्त स्थिति से बचाना चाहते हैं जिसमें कि संसार ने अपने आपको फंसा रखा है।"[3]

शंकर का अद्वैत अपनी दार्शनिकता की गहनता के कारण जनता में ग्रहण नहीं हो सका। उस समय जनता को ईश्वर के उस स्वरूप की आवश्यकता थी जो बिना किसी मर्यादा के उनसे पेश आ सके। वैष्णव संत तो कई हुए किन्तु वैष्णव संप्रदाय को सबसे अधिक बल रामानुज ही से प्राप्त हुआ। रामानुज का यह संप्रदाय वैष्णव श्री संप्रदाय कहलाया। रामानुज नाथमुनि के ही प्रपौत्र थे। शंकराद्वैत के प्रसिद्ध आचार्य यादव प्रकाश के यहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण इन्होंने शीघ्र उन्नति की तथा अपनी दीक्षा समाप्त कर लेने पर विचारों की स्वतन्त्रता एवं प्रौढ़ता के कारण यादव प्रकाश से इनकी निभी नहीं। ग्रियर्सन का यह मत गलत है कि वैष्ण संप्रदाय का प्रारम्भ रामानुज से होता है। यादवप्रकाश ने रामानुज की हत्या भी करवाने का प्रयत्न किया था परन्तु उसे

१. उत्तरी भा० स० प० ; (परशुराम चतुर्वेदी) ; पृ. ८३।
२. हिन्दी में निर्गुण संप्रदाय ; (पीतांबरदत्त बड़थ्वाल) ; पृ. २।
३. रामानुजाचार्य ; (कृष्णास्वामी आयंगर) ; पृ. ४।

सफलता न मिल सकी। यामुन ने रामानुज को बुलाया किन्तु अपने संप्रदाय में उन्हें दीक्षित करने करने के लिये वे जीवित नहीं रह सके। रामानुज को केवल उनके शव के ही दर्शन हुए।

रामानुज ने पुरातन भागवत संप्रदाय की विचारधारा की वेदांत के एकेश्वरवाद से मिलाकर शंकर के अद्वैत का सहारा लेते हुए उसे विशिष्टाद्वैत बना दिया। रंगाचार्य के कथनानुसार रामानुज का उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से भक्ति और सत्य के भाव के धार्मिक महत्व को समझाना था।[1] आत्म-शुद्धि को हरेक धार्मिक नेता ने साधना की पहली सीढ़ी माना है। परन्तु इस आत्मशुद्धि के बारे में इन धार्मिक नेताओं में मतभेद है। रामानुज ने आत्मशुद्धि और स्वार्थ परित्याग के लिए जीवन में भक्ति को परम आवश्यक माना है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए उन्होंने भक्ति पर ही जोर दिया है। भक्ति में श्रद्धा और प्रेम की पूर्णता अपेक्षित है। भक्ति में प्रेम की भावना निहित होने से स्वार्थ दूर होता जाता है। अपने आप का साथ ही विस्मरण होता चला जाता है। ईश्वर का सामीप्यलाभ रामानुज ने भक्ति द्वारा ही माना है। रामानुज का प्रसिद्ध ग्रंथ श्रीभाष्य है। शंकर ने परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर संसार को माया माना है। रामानुज ने ईश्वर को सत्य मानते हुए जगत को भी सत्य माना है। शंकर के मायावाद का उन्होंने खंडन किया है।

ईश्वर एक है और जो कुछ भी दृश्यमान जगत है, वह उसी शक्तिशाली का ही है। शक्ति के दो स्वरूप हैं चित और अचित। चित मानवात्मा और अचित संसार की वस्तु है। शंकराद्वैत भी मानता है कि ईश्वर एक है और शेष उसकी शक्ति। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत में समानता केवल यहीं तक है। पहले ही कहा जा चुका है कि शंकर ने मायावाद की प्रस्थापना की और रामानुज ने उसका खंडन किया और जगत की सत्यता को स्वीकार किया। उनके अनुसार माया का अस्तित्व ही ईश्वर के बिना असम्भव है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश संसार के समस्त प्राणी हैं। इसके ही आधार पर शंकर के मत का श्रीभाष्य में उन्होंने खंडन किया है। श्रीभाष्य की रचना केवल सूत्रों के आधार पर हुई है। रामानुज ने पुराणों और उपनिषदों की भी विशिष्टाद्वैतवाद के ही दृष्टिकोण से व्याख्या की है।

माध्वाचार्य

वेदों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का तो उल्लेख मिलता है परन्तु विष्णु के अवतारों की चर्चा उनमें नहीं है। उपनिषदों में उसकी चर्चा काफी आती है। वेदों में ब्रह्मा और महेश की अपेक्षा अधिक चर्चा विष्णु की है। दक्षिण में माध्वाचार्य ने अपना द्वैतवादी संप्रदाय चलाया। रामचंद्र शुक्ल ने इनका समय १२५४-१३१३

---

१. श्रीरामानुजाचार्य; (रंगाचार्य); पृ. ९२।

माना है ।[1] फर्कुहर लिखता है कि माधव संप्रदाय के लोग वैष्णव हैं जो माध्वाचार्य के अनुगामी हैं ।[2] इनके आराध्यदेव कृष्ण ही हैं ।

वल्लभाचार्य का जन्म स० १५३६ माना जाता है । इनकी विचारधारा शुद्धाद्वैतवाद कहलाती है । शुद्धाद्वैत के अनुसार इन्होंने पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन किया । उन्होंने वेदांत सूत्रों पर अपना भाष्य लिखकर शुद्धाद्वैत की स्थापना की । इन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद के दो पक्षों की विशिष्टता को हटा दिया । दार्शनिक पक्ष में वल्लभाचार्य का मत जिस तरह शुद्धाद्वैत कहलाता है उसी प्रकार भक्तिपक्ष में पुष्टि-मार्ग कहलाता है ।[3] वल्लभाचार्य ने सारे देश का भ्रमण कर विद्वानों से शास्त्रार्थ कर अपने मत का प्रचार किया । इन्होंने अपनी गद्दी श्रीकृष्ण की जन्मभूमि में ही स्थापित की । इनके अनुयायियों की परम्परा में ही सूरदास हुए थे । वल्लभाचार्य का कथन था कि भगवान के ही अनुग्रह से जीव की प्रवृत्ति होती है । उसी अनुग्रह को पुष्टि या पोषण कहा गया है । इसीसे यह पुष्टिमार्ग कहलाता है । वेदांत सूत्रों पर लिखा हुआ इनका प्रसिद्ध अणुभाष्य है । दूसरा प्रमुख ग्रंथ भागवत की सुबोधनी टीका है । रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है "स्थूलरूप से इनका (रामचंद्र) समय विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६वीं सदी के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है ।"[4]

रामानंद का जन्म तेरहवीं सदी के अंत में हुआ था । चौदहवीं सदी में वे अपने धार्मिक प्रचार का कार्य करते रहे । वैष्णव विचारधारा को अपनाते हुए भी उन्होंने जातिपाति के बंधन हटा लिये थे । इनका कथन था कि "जाति पांति पूछे नहीं कोई । हरि को भजे सो हरि का होई ।" इनका प्रसिद्ध ग्रंथ आनंद भाष्य है । कई विद्वानों के मतानुसार यह रामानंद की रचना नहीं है । परन्तु स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मत को स्वीकार नहीं किया जाता । रामानंद मनस्वी संत थे । अपनी स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति का उपयोग कर भाष्य लिखना उनके लिए कोई नई बात नहीं थी । रामानंद और रामानुज के सिद्धान्तों में थोड़ी-सी भिन्नता अवश्य है । रामानुज का चलाया हुआ वैष्णव संप्रदाय श्री वैष्णव संप्रदाय कहलाता है । रामानंद का संप्रदाय श्री संप्रदाय कहलाता है । रामानुज का मंत्र ॐ नमो नारायणायः है । रामानंद का मंत्र ॐ रामायनमः है । रामानुज की प्रसिद्ध रचना श्री भाष्य है । रामानंद का प्रमुख ग्रंथ आनंद भाष्य है । परम्परा के अनुसार रामानंद का सम्बन्ध रामानुज से माना जाता है । गुरु ग्रंथ साहिब में रामानंद के दो दोहे हैं ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) ; पृ. ६४ ।
२. मार्डेर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इंडिया (फर्कुहर) ; पृ. २९१ ।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास ; (रामचंद्र शुक्ल) ; पृ. १५५ ।
४. वही ; पृ. ११८ ।

रामानंद की भक्ति का ऐसा स्वरूप था जिसके कारण योग प्रधान भक्ति मार्ग, सगुणोपासक, निर्गुणोपासक, भक्तों ने भी उन्हें अपना गुरु माना है। आनंद भाष्य के अनुसार मोक्ष का एकमात्र उपाय अनन्य भक्ति ही है। प्रपत्ति को वह मोक्ष का हेतु मानता है। इसके अनुसार कर्म भक्ति का अंग है। जीवों की भिन्नता और उनका भेद उसके अनुसार सिद्ध है। जगत का अभिन्न निमित्तोपादन कारण ब्रह्म है। जीव और ब्रह्म में भेद है। इस मत में वर्णाश्रम की व्यवस्था को स्वीकार कर विवंतवाद पर बार-बार प्रत्याख्यान किया गया है। उसने सत्यख्यातिवाद को स्वीकार किया है।

चैतन्यदेव

(स० १४३८-१५९०) चैतन्य ने अपनी रामानुज भक्ति का प्रचार बंगाल में किया। रामानुज के समान इन्होंने भी अपना संप्रदाय चलाया। चैतन्य के अनुयायी भक्ति को रागानुगा कहकर कारुण्य भाव से भगवान के धाम में प्रवेश पा लेना अपना परम उद्देश्य समझते थे।

निंविकाचार्य

निंविकाचार्य (स० ११७१-१२१९) ने अपने सिद्धान्तों के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रतिपादन किया था। ये द्वैताद्वैतवादी थे। इन वैष्णव संप्रदायों की साधना प्रणाली में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। वैष्णव श्री संप्रदाय के अनुयायी वेद निहित कर्मानुष्ठान चित्त शुद्धि के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार भगवान के शरणापन्न हुए बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता। वे ब्रह्म की जिज्ञासा को संभव मानते हैं। निंविकाचार्य के अनुयायियों को शरणागति का उपर्युक्त मार्ग मान्य था। दोनों के उपास्यदेव भी भिन्न थे। श्री संप्रदायवाले लक्ष्मी और नारायण को इष्टदेव मानते हैं। निंविकाचार्य के अनुयायी राधाकृष्ण को सर्वस्व मानते हैं। माध्वाचार्य के अनुयायी हरि की प्राप्ति को अपने प्रत्यक्ष अनुभव की बात समझते उसके लिए अष्टादश साधनाओं को उपयोग में लाते हैं। पुष्टिमार्गी अपने श्रीनाथ का पूजन करते थे। भजन गा-गाकर उन्हें रिझाने का प्रयास करते थे। चैतन्य का आधार हरिनाम का कीर्तन और स्मरण था।

इन उपरोक्त विभिन्न वैष्णव संप्रदायों के परिणामस्वरूप वैष्णव भक्ति की धारा सारे देश में व्यवहृत हो गई। श्री संप्रदाय के अनुयायी भक्त को भगवान के समान होकर उसके समक्ष अतितुच्छ होकर रहना ही मुक्ति का परम लक्ष्य मानते हैं। माधव संप्रदाय वाले भगवान में प्रवेश कर उसके साथ आनंद का समस्त उपयोग करना मोक्ष का अंतिम या चरम उद्देश्य मानते हैं। निंबार्क संप्रदाय वाले भगद्भावापन्न होकर सभी दुखों से रहित हो जाना मुक्ति का परम लक्ष्य मानते हैं। वल्लभ संप्रदाय वाले मुक्ति का स्वरूप विशेषतः भगवान के अनुग्रह द्वारा उनके आप अभेद-बोधन कहलाते थे। चैतन्य के अनुयायियों ने भक्ति को रागानुग कहा है।

कर्नाटक और गुजरात में आनंदतीर्थ स० ११५७-१३३२ के बीच अपने द्वैत वाद के द्वारा उपास्य और उपासक के लिए पूर्ण स्थूल आधार निकाल कर वैष्णव भक्ति का प्रचार किया।

शैव मत वाले भी अपने मत का प्रारम्भ वेदों से ही मानते हैं। अथर्ववेद में शिव को पशुपति कहा गया है। यजुर्वेद के युग में शिव की पूजा अधिकतर क्षत्रीय ही करते थे। स्वेताश्वन उपनिषद की रचना के पश्चात पंतजलि के युग में पशुपति संप्रदाय का उल्लेख मिलता है। पशुपति संप्रदाय का विलीनीकरण सातवीं सदी के अंत में या आठवीं सदी के प्रारम्भ में हो गया था। इसी समय महेश्वर संप्रदाय का उदय हुआ। ये भी शिव के ही उपासक थे। इसके वाद शैव मत का उदय हुआ। शैव और महेश्वर बहुत अंशों में भिन्न होते हुए भी समान थे। इसी समय कपालिक और कालमूकों की परम्परा का प्रारम्भ हुआ। ये भी शिव के ही उपासक थे। पुराणों में शिव को अधिकतर महादेव के ही नाम से सम्बोधित किया है। स्वेतसूत्र उपनिषद की रचना के पश्चात शैव संप्रदाय का प्रसार दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में ही बढ़ा।

शैव मत

दक्षिण में शैव मत की परम्परा अति प्राचीन है। द्राविड़ों में शिव भक्ति का प्रचलन था। ये अपने अन्य देवताओं के साथ शिव का भी पूजन किया करते थे। गुप्त काल में दक्षिण में शैव संप्रदाय ने अन्य संस्कृत विचारों के सम्पर्क में आकर सुसंस्कृत रूप धारण किया। शैव संप्रदाय की विचारधारा को दक्षिण में एक सुनिश्चित रूप देने का श्रेय कुमारिल भट्ट को है। कुमारिल भट्ट के विचारों के परिणाम स्वरूप ही शैव-मत ने स्वतन्त्र रूप धारणकर अपना विकास किया। जन साधारण में उसका प्रचार भी कुमारिल भट्ट के ही कारण हो सका। डा० बारनेट) के मतानुसार दक्षिण में प्रचलित शैव संप्रदाय पर कशमीरी शैव-मत का प्रभाव पड़ा है। परन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मत को स्वीकार नहीं किया गया है।

वैष्णव मत के लिए दक्षिण में जो कुछ अलवारों ने किया वही शैव-मत के लिए दक्षिण में अड़वारों ने किया। इन भक्तों की परम्परा छठवीं से ग्यारहवीं सदी तक रही। अड़वार भक्तों ने बहुत ही उन्नतिशाली भक्ति साहित्य प्रस्तुत किया। इन भक्तों में सबसे उल्लेखनीय मान्निकवसागर है। वह पहले पांड्य राजाओं का प्रधान मन्त्री था। कहा जाता है कि उसे स्वप्न में शिवजी ने दर्शन दिए थे। शैव-मत के प्रसार में मान्निकवसागर की काफी देन है।

अड़वार

शैव संप्रदाय :—अलवारों के समय में ही कशमीर में शैव-मत का अविर्भाव होने लगा था। पंजाब के पालवंशीय राजा पहले शैव ही थे बाद को वे वैष्णव

हो गये ।[1] काश्मीरी शैव संप्रदाय के मूल प्रवर्तक वसुगुप्त माने जाते हैं। इनका समय परशुराम चतुर्वेदी ने विक्रम की ६वीं सदी माना है।[2] वसुगुप्त ने प्रसिद्ध "शिव सूत्र" की रचना की। वसुगुप्त के शिष्य कल्लट ने स्पन्दन-शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की। इनका मत "ईश्वराद्वयवाद" कहलाया। उनका कहना है कि ईश्वर ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय नहीं है। किन्तु वह स्वतंत्र है, कर्ता स्वरूप है। माया उसकी स्वेच्छा परिगृहीत रूप मात्र है। मोक्ष केवल ज्ञान से ही संभव है, कोरी भक्ति से नहीं। दोनों का समन्वय आवश्यक है। शुद्ध भक्ति में द्वैत भाव अपेक्षित है। ज्ञान के समन्वय से भक्ति से मोह और अज्ञान निकल जाते हैं। वसुगुप्त के दूसरे शिष्य ने "प्रत्यभिज्ञा" मत को फैलाया। "प्रत्यभिज्ञा" शब्द से आशय है कि साधक अपनी ज्ञात वस्तु को भी जानकर प्रसन्न होता है। ईश्वर का ज्ञान इसे भी स्पष्ट रूप से मिलता है। इस प्रकार अद्वैत भाव से द्वैत भाव की कल्पना और निर्गुण भाव में भी सगुण भाव का काल्पनिक आरोप इस मत की विशेषता थी। जिसे आगे चलकर संतों ने भी किसी-न-किसी रूप में ग्रहण किया।[3]

लिंगायत संप्रदाय—बारहवीं सदी में दक्षिण में चालुक्य वंश का पतन काल था। उस समय विज्जल कालचुर्य ने विद्रोह कर चालुक्य सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। विज्जल के राजत्वकाल में ही लिंगायत संप्रदाय का उदय हुआ। इसका प्रचलन कनारी प्रदेश में ही है। इसके अनुयायी शिव की पूजा लिंग के रूप में करते हैं। वेदों के सिद्धांत इन्हें अमान्य हैं। बालविवाह, पुनर्जन्म आदि के सिद्धांतों को ये नहीं मानते। इस संप्रदाय का प्रारंभ किसी जैन या ब्राह्मण ने किया था। परन्तु इस संप्रदाय का विकास जैनियों और ब्राह्मणों के विरोध में ही हुआ।

योग-संप्रदाय—योगियों की परम्परा भी पुरातन काल से चली आ रही है। किसी-न-किसी रूप में इसका विकास वेदों से माना जाता है। नाथ, योगी संप्रदाय के ही माने जाते हैं। इसके उद्भव की एक रोचक कथा ज्ञानेश्वरी में मिलती है। "क्षीर समुद्र के तीर पर पार्वती के कान में जिस ज्ञान का उपदेश शंकर जी ने पार्वती को दिया। वह उस समय क्षीर समुद्र में रहने वाले एक मत्स्य के पेट में गुप्त रूप से वास करने वाले मत्स्येन्द्रनाथ को प्राप्त हुआ। इन्हीं के संचार से सप्तश्रृंग पर्वत पर हाथ पैर टूटे हुए चौरंगीनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के दर्शनों से ठीक हो गये। विषयभोग की जहाँ गंध भी नहीं पहुँच सकती, ऐसी अविचल समाधि लगाने की विद्या मत्स्येन्द्रनाथ ने गुरु गोरखनाथ को दी। इस प्रकार गुरु गोरखनाथ योग कमलिनी सर तथा विषय विध्वंसक एक वीर बनकर योगीश्वर पद पर अभिषिक्त हुए।"[4]

---

१. सचाऊ: अलबेरूनीज़ इंडिया; भूमिका।
२. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृ० ८६।
३. वही; पृ० ८७।
४. श्री ज्ञानेश्वरी अध्याय २; ओ.बी. १७५०-५४।

परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि नाथयोगी सप्रदाय और योगमार्गी साधुओं का एक ही संप्रदाय है, जिस पर बौद्ध धर्म एवं शैव संप्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।[१] नाथयोगी संप्रदाय के आरंभिक इतिहास का पता नहीं लगता। डॉ० मोहनसिंह ने इसका मूल प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ को ही माना है। कादम्बरी और मैत्रेय उपनिषद् में इसका उल्लेख नहीं मिलता।[२] इसका आशय यही है कि इस संप्रदाय का विकास ६वीं या १०वीं सदी के बाद ही हुआ है। गोरखनाथ योगी-संप्रदाय के सर्व प्रधान नेता थे। सारे भारत की यात्रा कर इस संप्रदाय का संगठन इन्होंने किया। शंकर के बाद गोरख ही ऐसे प्रभावशाली नेता दिखाई पड़ते हैं जिनके योग संप्रदाय ने किसी-न-किसी रूप में हर प्रकार के भक्ति-आंदोलन को प्रभावित किया। परशुराम चतुर्वेदी ने इसकी १२ शाखाओं का उल्लेख किया है। इस संप्रदाय के अनुयायी काफी विद्वान् और चरित्रवान् हुए हैं।

सूफ़ी—तुर्क और अफगान आक्रमणकारियों से बहुत ही पहले भारत में मुसलमानों का आगमन प्रारंभ हो गया था। सूफ़ी इसी तरह के मुस्लिम फकीर थे। सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति से समस्त विद्वान् सहमत नहीं दिखाई देते। अलबेरुनी के मतानुसार ग्रीक "सूफ" शब्द का अर्थ है "विद्वत्ता"। यह सफी शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है "ऊन"। अलबेरुनी कहता है कि "सूफ़ी मैं एक ऐसे तरुण को मानता हूँ जो सफी (शुद्ध) है। "सफी" शब्द से ही "सूफ़ी" बन गया। इस तरह यह शब्द एक प्रकार के विचारकों के लिये प्रयुक्त होने लगा।[३] कई सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति "सफा" शब्द से मानते हैं जिसका अर्थ है शुद्धता या पवित्रता। इस विषय पर कई विद्वानों के मत उद्धृत किए जा सकते हैं। लेकिन अधिकतर यह माना जाता है कि इस शब्द की उत्पत्ति 'सूफ' शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है 'ऊन'।[४] अलबेरुनी ने 'सफी' शब्द पर जोर दिया है।

कुशैरी और शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी के अनुसार सूफ़ी शब्द का प्रयोग मुहम्मद के पश्चात् लगभग दो सदी के बाद ही प्रयोग में मिलता है।[५] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूफ़ी एक प्रकार के फकीर थे जो दीनता, नम्रता और दरिद्रता से अपने दिन बिताते थे। ये ऊन का कंबल लपेटे रहते थे। भूख और प्यास की परवाह न करते हुए ईश्वर के ध्यान में व्यस्त रहते थे। कई सूफ़ी इस धर्म का मूल आदम से मानते हैं। परन्तु अधिकतर विद्वान् इसका प्रारंभ मुहम्मद से ही मानते हैं।

क़ुरान शरीफ में सूफियों के मौलिक सिद्धांतों का अभाव सा-ही है। इसलिये

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृ० ५७।
२. डॉ० मोहनसिंह : गोरखनाथ एण्ड मिस्टीसिज़म; पृ० १५।
३. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृ० ५८-५९
४. सवाऊ : (संपादित), अलबेरुनीज इंडिया; पृ० ३४।
५. सुभान : सूफीज़म, इटस् सेंटस् एण्ड श्राइन्स्; पृ० ६।

कई मुसलमानों ने इसे विधर्मियों का धर्म कहा है। शेरीनर कहता है कि जिन लोगों ने सूफ़ी धर्म को अपनाया उनके आचरण पर सूफ़ी सर्वात्मवाद से दुर्बलता की छाप लग गई। संतों की पूजा इस्लाम में सदैव मुहम्मद के सिद्धांतों के खिलाफ रही है। परंतु सुभान कहता है कि "पैगंबर मुहम्मद और उनके उत्तराधिकारी सूफ़ियों के अनुगामी रहे हैं।"[1] सूफ़ियों का पूर्ण विकास मुहम्मद के ढाई तीन-सौ वर्षों के बाद ही पाया जाता है। खलीफ़ाओं के जमाने में ही एकेश्वरवाद अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। अरब या फारस में मुसलमान या ईसाइयों के आविर्भाव के पहले ही से वेदांत दर्शन का प्रचार हो चुका था। इन्हीं क्षेत्रों में कालांतर को बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। अशोक ने अपने बौद्ध भिक्षु इन स्थानों तक भेजे थे। इस्लाम का प्रचार अरब और फारस में और ज़ोर-शोर के साथ हुआ। परंतु "ईरान और तूरान में आर्य संस्कार अधिक दिनों तक दबा न रह सका। शामी कट्टरपन के बीच में ही उसने अपना सिर उठाया।"[2] मंसूर शूली पर चढ़ाया गया किन्तु उसका अनलहक़ (मैं ब्रह्म हूँ) का स्वर बंद नहीं हुआ। योरोपीय विद्वानों की धारणा है कि प्रेमतत्त्व या भक्तितत्त्व का आविर्भाव पहले-पहल ईसाई धर्म में हुआ। खुदाबख्श का कथन है कि "ईसाई धर्म ही पहला धर्म था जिसके संपर्क में इस्लाम आया।"[3] इसके बाद ही खुदाबख्श के मतानुसार "यह एक आश्चर्यजनक घटना है कि इस्लाम के प्रारंभिक दिनों में उस पर बुद्ध धर्म का जैसा प्रभाव पड़ा उसी तरह उसके आधुनिक स्वरूप पर भी है। बौद्ध विचारधारा ने मुसलमानी रहस्यवाद (जिसका उद्गम वेदांत दर्शन से था) में बाहरी परिवर्तन उपस्थित कर दिया।"[4] कहना न होगा कि खुदाबख्श ने स्वयं ही अपने इस मत का खंडन किया है कि ईसाई धर्म ही पहला धर्म था जिसके संपर्क में इस्लाम आया।

एडवर्ड जी० ब्राउन के मतानुसार "यह धारणा बिल्कुल गलत है कि आर्य संस्कारों पर मुसलमानी प्रभाव के कारण सूफ़ी संप्रदाय का उदय हुआ।" उनके मतानुसार इस संप्रदाय का उद्गम और विकास स्वतंत्र रीति से हुआ।[5] परंतु अपने मत की पुष्टि के लिए एडवर्ड जी० ब्राउन ने पर्याप्त और पुष्ट प्रमाण नहीं दिए हैं। स्पष्ट है कि वेदांतकालीन विचारधारा और बौद्धदर्शन का स्पष्ट प्रभाव इस्लाम पर पड़ा। किन्तु इस्लाम की कट्टरता उसको स्वीकार नहीं कर सकी। इसलिए प्रतिक्रिया स्वरूप सूफ़ी संप्रदाय का विकास इस्लाम से पृथक् एवं स्वतंत्र रीति से

---

१. खुदाबख्श; इस्लामिक सिविलिज़ेशन; पृ० ११।
२. रामचंद्र शुक्ल; मलिक मुहम्मद जायसी; पृ० १७६।
३. खुदाबख्श; इस्लामिक सिविलिज़ेशन; पृ० ५८।
४. वही पृ० ११६।
५. एडवर्ड जी० ब्राऊन; रिलीजस् सिस्टमस् आफ दी वर्ल्ड; पृ० ३१५–१६।

हुआ। अरब और फारस में इस्लाम के पहले ही वेदांतिक दर्शन ने संसार की सर्वदेववादी व्याख्या प्रस्तुत की थी। इस विचारधारा ने पूर्व में (भारत, फ़ारस, एशिया-माइनर) में काफी प्रसिद्धता प्राप्त की और इसको मानने वाले दरवेश कहलाए।[१] इन विभागो में सूफ़ियों के पहले भी फकीरों की परंपरा चल पड़ी थी। तुर्किस्तान में इन्हें दरवेश कहा जाता था। ये प्रेम तत्त्व को महत्त्व देते थे। कालांतर में इन फकीरों पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा और सूफ़ीमत का उदय हुआ। सूफ़ी मुसलमान होते हुए भी कट्टरता से बचे थे। उनकी साधना मार्फ़त कहलाती थी। इन्ही कई कवियों से हिन्दी को उच्चकोटि का साहित्य प्राप्त हुआ। इस्लाम का प्रादुर्भाव भारत में मुसलमानी आक्रमणकारियों के ही पहले हो गया था। वे अरब व्यापारियों के साथ भारत आया करते थे। सूफ़ी कवि पहले-पहल दक्षिणी सिंध में अपनी विचारधारा का प्रचार करते रहे थे। भारत में सूफ़ियों का चिरस्थायी प्रभाव चिश्तिया, सुहरावर्दिया, कादिरंया तथा नक्शबंदियों के संस्थापकों से ही पड़ा। सूफ़ी मत की उक्त शाखाओं ने अपने प्रचार द्वारा सारे भारत को प्रभावित किया। इन लोगों में इस्लामी कट्टरपन न होने के कारण जनता तक इनकी पहुँच हो सकी थी। भारत में रहकर कई अंशों में ये भारतीय हो गए थे। इनका दृष्टिकोण उग्र नहीं होता था किन्तु इस्लाम मानता आया है कि "अल्लाह एक है और उससे प्रेम करने की अपेक्षा डर कर ही रहा जा सकता है।"[२] इस्लाम यदि अपने आपको केवल सूफ़ी विचारों के रूप में ही भारत में प्रस्तुत करता तो भारत में इस्लाम का इतिहास कुछ और ही रहा होता।

बसरा निवासिनी सुप्रसिद्ध भक्त रबिया पैगम्बर मुहम्मद तक को उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी। वह स्वर्ग पाने के लिए या नरक के भय से बचने के लिए प्रार्थना नहीं करती थी। उसका कथन था कि "मैं तेरी पूजा सिर्फ तेरे लिए ही करती हूँ।"[३] सुभान ने लिखा है कि इस्लाम में बताई गई व्यवस्थाएँ (नमाज़, रोज़ा आदि) रबिया के लिए व्यर्थ ही थीं।

मुसलमानों के आक्रमणों से प्रथम ही सूफ़ियों ने भारतीय संस्कृति को समझ लिया था। सूफ़ियों पर समय का प्रभाव बराबर पड़ता ही गया। फारस के सूफ़ी धीरे-धीरे भारत में फैलने लगे। फारस में १५वीं सदी तक सूफ़ी संप्रदाय अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। उसको रूमी और सादी जैसे कवियों की कलम मिल चुकी थी। भारत में आकर कालातंर हिन्दी को जायसी और कुतुबन जैसे कवि मिले। इस्लाम की कट्टरता सूफ़ियों में नहीं थी और न ही क़ुरान के कई सिद्धांतों

१. एडवर्ड जी० ब्राऊन; रिलीजस् सिस्टमस् आफ़ दी वर्ल्ड; पृ० १२३।
२. सुभान; सूफीज्म इटस् सेंटस् एन्ड श्राइन्स् पृ० ६।
३. निकलसन; तजकीरतु-इ-अवलिया।

का उन्होंने प्रतिपादन ही किया किन्तु फिर भी इस्लाम सूफ़ियों को नहीं छोड़ सका। क़ुरान शरीफ के कई सिद्धांतों से वे अलग भी हो गए। इस्लामी सभ्यता और संस्कृति में सूफ़ियों ने रहस्यवाद का जो मार्ग पुरस्सर किया उसमें कट्टर मुसलमान भी अवरोध उपस्थित न कर सके। यदि आज उर्दू और फारसी के साहित्य से इन सूफ़ी कवियों को हटा दिया जाए तो उपरोक्त भाषाओं के साहित्य में आखिर क्या रह जाएगा? खुदाबख्श के मतानुसार इन सूफ़ियों ने इस्लाम के जीवन और नागरिक संस्थाओं पर स्थायी प्रभाव डाला है।[1]

वारकरी संप्रदाय—इससे पहले कि हम निर्गुण संतों की चर्चा करें उससे पहले वारकरी संप्रदाय पर भी एक दृष्टिपात कर लेना अनुचित न होगा। तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में पंढरपुर के निकटवर्ती स्थानों में वारकरी संप्रदाय का प्रचलन हुआ, इसके मूल प्रवर्तक ज्ञानदेव थे। ये आलिन्दी ग्राम के निवासी थे। ज्ञानदेव एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। ज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव जैसी पुस्तकों द्वारा सर्वसाधारण में ज्ञान का प्रचार किया। रानडे ने इस संप्रदाय पर काश्मीरी शैव संप्रदाय के शिवसूत्रों का प्रभाव स्वीकार किया है। इस संप्रदाय के अनुयायी शिव और विष्णु में अंतर नहीं मानते। इसका प्रमाण पंढरपुर कृष्ण या विट्ठल की मूर्ति पर शिव की मूर्ति का होना बताया जाता है। ज्ञानेश्वरी श्रीमद्भागवत का एक सुंदर भाष्य है। यह संप्रदाय निराकार भक्ति का अद्वैतवाद की भावना से प्रतिपादन करता है। नामदेव इसी संप्रदाय के माने जाते हैं। इसी संप्रदाय में एकनाथ ने जन्म लिया। वारकरी का अर्थ होता है परिक्रमा करने वाला।

इस संप्रदाय के भक्तों ने वर्णाश्रम से पृथक् रहकर मुक्त-जीवन व्यतीत किया। इनका जीवन अकृत्रिम होता था। सामाजिक रूढ़ियों की भी इन्होंने सदा उपेक्षा ही की। अकृत्रिम जीवन बिताते हुए इन्होंने प्रवृत्ति-मार्ग का अनुसरण किया। सांप्रदायिक रूढ़ियों का तो सदैव ही इन्होंने खंडन किया है। वारकरी संप्रदाय एक प्रकार से निर्गुण और सगुण भक्ति की परम्परा में एक शृंखला का कार्य करता है। कबीर के सिद्धांतों का प्रतिपादन बहुत-कुछ नामदेव में देखा जा सकता है। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार यहाँ पर ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय लक्षित होता है, जिसे साधना के रूप में स्वीकार कर, किसी भी जाति या श्रेणी का मनुष्य कल्याण का भागी बन सकता है।[2]

निर्गुण संत—इस समय, सूफ़ियों की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के वैमनस्य को दूर करने का प्रयास किया था। इस्लाम के उद्भव के कारण इस्लाम में इनकी पूर्ण आस्था थी। भारत में बस जाने के पश्चात् यहीं के

---

१. खुदाबख्श; इस्लामिक सिविलिजेशन।

२. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृष्ठ ९०।

रीति-रिवाजों को इन्होंने अपना लिया। इसी कारण ये जनता में चल भी सके थे। किन्तु हिन्दू-मुस्लिम विरोध दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही में विकृतियों ने घर कर लिया था। कबीर इस समय की दशा के बारे में कहते हैं—

इन दोहुन राह न पाई
हिन्दू अपनी करैं बड़ाई, गागर छुअन न देईं
वेश्या के पायन तर सोवैं, यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलिया, मुर्गीमुर्गा खाईं
खाला केरी बेटी ब्याहै घर में करैं सगाई।[१]

ऐसे घोर विरोध और अन्धकार के समय में दोनों धर्मों में ऐसे महात्मा पैदा हुए जिन्होंने यह समझ लिया कि न तो मुसलमानों को ही भारत से भगाया जा सकता है और न ही मुसलमानों का हिन्दुओं के प्रति यह रुख ठीक ही है।[२] इन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। कालांतर इन्हें ही निर्गुण संतों की संज्ञा मिली। इन लोगों ने जाति-पाँति के बंधनों का बहिष्कार किया; ऊँच-नीच के भेद-भाव को हटाकर श्रद्धा-भक्ति के लिए सबका रास्ता खोल दिया। यह सामान्य सहज भक्ति-मार्ग ही था।

इन संतों की पृष्ठ-भूमि एक प्रकार से रामानन्द और चैतन्य ने तैयार कर दी थी। रामानन्द ने अपनी शिष्य परम्परा से जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर कर दिया था। बंगाल में इन्हीं निर्गुण कवियों को मर्मी कवि कहा जाता है। इसी विचारधारा के प्रवर्तक पंजाब में सिख गुरु थे। इस निर्गुण विचारधारा के दो महान् प्रवर्तक कबीर और नानक थे। इन संतों ने फुटकर पदों की रचना की है। उन रचनाओं को बानियों की संज्ञा मिली है। दक्षिण में ज्ञानदेव और एकनाथ आदि संतों ने प्राचीन संस्कृत ग्रंथों पर टीका लिखकर उसे जनता तक पहुँचाया। उत्तरी भारत की संत परम्परा में भी अर्ध-शिक्षित या अशिक्षित संत ही थे, जिन्होंने अपनी वाणी को जनता तक पहुँचाया। ये सन्त गृहस्थ-जीवन को अपनाकर ही साधना करते रहे हैं। ये सदैव सामाजिक भेद-भाव को मिटाने में प्रयत्नशील रहे हैं। स्तुति या निंदा या मानापमान की चिन्ता न करते हुए इन्होंने अपना भक्ति-मार्ग पुरस्सर किया। इन संतों ने भारत के समस्त स्थानों का भ्रमण किया। महाराष्ट्र निवासी सन्त नामदेव ने पंजाब की यात्रा की और विभिन्न स्थानों पर उपदेश भी दिए। पंजाब में गुरुदासपुर ज़िले में घुमान नामक स्थान में नामदेव का एक मन्दिर भी है। कबीर की भी महाराष्ट्र की यात्रा के सम्बंध में वृतान्त प्राप्त होते हैं। कबीर ने नामदेव का नाम बड़ी ही श्रद्धा से लिया है। सबसे अधिक यात्राएँ नानक ने कीं। नामदेव समस्त संतों से पहले हुए थे और उनके अग्रगामी थे।

---

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी; कबीर; पृष्ठ ३५८।

३. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल; हिन्दी में निर्गुण संप्रदाय।

वैसे नामदेव में संतमत की समस्त बातें परिलक्षित नहीं होतीं। विश्व-कल्याण के लिए उपयुक्त समझी जाने वाली बातों का ही प्रचार इन संतों ने किया। उनके विशाल साहित्य की भाषा यद्यपि अनाकर्षक है फिर भी उसमें निहित विचारधारा और भाव महत्त्वपूर्ण हैं। इन संतों ने जो कुछ भी कहा वह नितांत नवीन तो नहीं था। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वे बातें किसी-न-किसी रूप में पाई जा सकती हैं किन्तु उनका सामयिक महत्त्व था। उनकी वाणी एक ऐसे अवसर पर निस्सृत हुई जबकि उसकी अत्यंत आवश्यकता थी। वह युग ही ऐसा था, जिसमें कि उनकी वाणी की व्यावहारिक आवश्यकता थी। उनकी वाणी में विश्वकल्याण का संदेश था। ये विचार हर किसी के लिए भी लागू हो सकते थे। जिस समय जबकि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने संकुचित विचारों को लेकर एक दूसरे से लड़ रहे थे उस समय व्यापक दृष्टिकोण का प्रचार इन्होंने किया। उस समय देश में फैली हुई विभिन्न विचारधाराओं का निचोड़ हम इन संतों की वाणी में पाते हैं। मुसलमानों के एकेश्वरवाद का भारतीयकरण होकर वेदान्त दर्शन से समन्वय हो गया था।

इन संतों ने बताया कि केवल प्रत्यक्ष अनुभवों के ही आधार पर सत्य का पता नहीं लगाया जा सकता। सच्चे खोजी के लिए यह आवश्यक है कि वह मूलाधार का अन्वेषण करे, स्वानुभूति ही दृष्टिकोण को व्यापक बना सकती है। इस स्वानुभूतिपरक ज्ञान के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। उस सद्गुरु या गुरु का दर्जा इन्होंने परमात्मा तक बताया है। कबीर कहते हैं कि—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पायँ।
बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोविन्द दिया बताय॥

संतों के कथनानुसार लक्ष्य-सिद्धि हो जाने पर किसी भी आडम्बर को स्थान प्राप्त नहीं होता। इन संतो की वाणियों पर ज्ञानयोग, हठयोग, कर्मयोग, सूफ़ी सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय आदि का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इनके लिए हृदय की सादगी और स्वच्छता के सम्मुख संसार के समस्त बाह्याडंबर तुच्छ और सार-रहित थे। सादगी और सदाचरण को इन्होंने सच्चे मानव की कसौटी माना है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के भीतर के मध्यवर्ती सहजमार्ग को ही इन्होंने अपनाया है।

भारतीय धार्मिक संप्रदायों की विकसित परम्परा का स्वरूप इन्हीं संतों में पाया जाता है। जाति-पाँति के कथनों को उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया। कबीर का कथन था—

संतन जात न पूछो निरगुनिया
साध ब्राह्मन, साध छत्तरी, साध जाती बनियाँ।
साधन में छत्तीस कौर हैं, टेढ़ी तोर पूछनियाँ।
साधे नाऊ, साधे धोबी, साध जात है बरियाँ।
साधन में रैदास संत हैं, सुपच ऋषि सों भनियाँ।
हिन्दू तुरक दुइ दीन बने हैं, कछु नहिं पहिचानियाँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रम की नौवीं सदी से पंद्रहवीं सदी तक एक प्रकार की उथल-पुथल ही मची रही थी। एक ओर मुसलमानों में सूफ़ीमत फैल रहा था। दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदाय की शाखाएँ सारे देश में फैल गई थीं। सुलतानों की स्वेच्छाचारिता के कारण एक ऐसे युग का निर्माण हो रहा था जहाँ पर विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं का तथा संस्कृतियों का समन्वय हो रहा था। ऐसे अंधकार-मय वातावरण में यह अत्यंत आवश्यक था कि ऐसे लोग हों जो आनेवाली हर प्रकार की बुराई का सामना डटकर कर सकें। ये संत अपने तत्कालीन साम्प्रदायिकता से ऊपर उठे।

इन संतों ने वास्तव में समाज का बहुत ही कल्याण किया। उस संकीर्णता के युग में जबकि हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य की दीवार चौड़ी होती जा रही थी उस समय उनके विरोध को कम करने का प्रयास इन सन्तों ने किया। सूफ़ियों का दृष्टिकोण उदार तो था, निस्संदेह मुसलमानों की कट्टरता से वे बचे हुए थे किन्तु अन्ध-विश्वासों और बाह्य-आचारों के प्रति इन संतों के समान उन्होंने स्वर बुलन्द नहीं किए। विशेषत: मुस्लिम अन्ध-विश्वास और बाह्याचारों के विषय में तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। इन सन्तों की तुलना में सूफ़ियों का दृष्टिकोण एकांगी ही कहा जाएगा। जायसी ने पद्मावत में मूर्तिपूजा पर तो आक्षेप किया है किन्तु एक भी मुस्लिम अन्ध-विश्वास के प्रति अपना विरोध प्रगट नहीं किया।

इन संतों ने समान-भाव से हिन्दू और मुसलमानों को इनकी ग़लतियों का ज्ञान कराया। इनका दृष्टिकोण व्यावहारिक और निष्पक्ष था। मुसलमानों ने इन्हें हिन्दू और हिन्दुओं ने इन्हें मुसलमान समझकर इनसे अपना पीछा छुड़ा लिया। इन पर कई तरह के आक्षेप भी लगाए गए। वे अधिकतर समाज की निम्नतम जातियों से ही उठे थे। उनकी वाणियाँ स्वानुभूति के आधार पर ही लिखी गई थीं। जो कुछ भी उन्होंने कहा उसमें सत्यता कूट-कूट कर भरी थी। समाज को विदेशी तो दबा ही रहे थे, क्योंकि उनका शासन था परन्तु हिन्दू भी स्वयं अपनी कमजोरियों से पिसे जा रहे थे। ऐसे समय में उन्हें व्यावहारिक ज्ञान देकर समय के प्रति जागरूक करना अत्यन्त आवश्यक था। इनकी विचार-परम्परा को देखकर स्पष्ट कहा जा सकता है कि ये कवि अपने समय से काफ़ी आगे जा रहे थे। योरोपीय विद्वान उन्हें समाज-सुधारक की संज्ञा देकर ही चुप हो गए। ये मूलतः भक्त थे। समाज-सुधार तो उनकी साधना का एक अंग-मात्र था, उसके आधार पर उन्हें समाज-सुधारक नहीं कहा जा सकता। इनकी भाषा में हृदय के सरल और सहज उद्‌गार थे। हिन्दी के सन्त-कवियों में कबीर का नाम प्रमुख है। उसी तरह पंजाबी में प्रमुख हैं नानक। पंजाबी संतों में मुख्यतः सिख गुरुओं की ही परम्परा है। गुरु नानक के पश्चात् अन्य ९ गुरुओं की परम्परा चली। गुरु ग्रंथ साहब में इन सिख गुरुओं की वाणी संग्रहीत है।

इन सन्तों की वाणी में सरलता, त्याग और निश्चल हृदय के उद्‌गार मिलते

हैं। "जिसने इन सिख गुरुओं में एवं सिख भक्तों में एक दृढ़ विश्वास बैठा दिया था। इतिहास के पन्ने साक्षी है कि सिख भक्तों को कैसे दीवार में चुना गया, तेल की कढाई में रखा गया, उन्हें कत्ल किया गया किन्तु उनके मुख पर न तो निराशा ही के स्वर दिखे और न ही पराजय के। जिस वाणी में इतनी ताक़त थी, निस्सदेह वह कृत्रिम उद्‌गारों का बोझ वहन नही कर सकती।"[1] इन संतों ने जो-कुछ भी कहा उसका व्यावहारिक स्वरूप भी संसार के समक्ष उन्होंने अपने निजी जीवन द्वारा रखा। नानक ने कहा कि परमात्मा ने किसी को न तो हिन्दू बनाया है और न मुसलमान।

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी; हिन्दी साहित्य।

तृतीय अध्याय

संतमत एवं मध्यकालीन विभिन्न संत सम्प्रदाय

संतों के लक्षण—साधारण बोलचाल में संत, साधु महात्मा या भक्त का पर्याय समझा जाता है। गरीबदास ने तो संत और सांई[1] को तथा पलटू साहब ने संत और राम को एक-सा ही माना है।[2] कबीर इत्यादि संतों ने अनेकानेक लक्षण दिए हैं, उनको एकत्रित किया जाय तो एक अलग अध्याय ही बन सकता है। संतों के जो लक्षण भक्तों ने प्रस्तुत किये हैं, वे तो अत्यंत व्यापक हैं। तुलसी ने भी रामायण में संत के लक्षण बताए हैं। विभिन्न भक्तों द्वारा प्रस्तुत किये गए लक्षणों के अनुसार संत विषयों के प्रति निरपेक्ष रहने वाले, सत्कर्म करने वाले, किसी से वैर प्रदर्शित न करने वाले, निसंग निष्काम पुरुष हैं। ये संतों के ऐसे व्यापक लक्षण हैं कि इनमें हर प्रकार के भक्तों की गिनती हो सकती है।

परम्परागत संत शब्द—होते-होते संत शब्द का प्रयोग निर्गुण धारा के भक्तों के लिए ही होने लगा। पहले इस संत शब्द का प्रयोग महाराष्ट्र में वारकरी संत नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ आदि भक्तों के लिए होता था। डा० बड़थ्वाल ने उन्हें निर्गुणपंथी या निर्गुणिया कहा है।[3] उन्होंने इस मत को निर्गुण पंथ या निर्गुण स्कूल (Nirgun school) के नाम से अभिहित किया है। ये संत जाति-पाँति के बन्धनों से ऊपर रहे हैं। निर्गुण शब्द का व्यवहार सगुण भक्तों से इनकी विभिन्नता दिखाने के लिए होता था। परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि "संत शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से होने लगा था जो विट्ठल या वारकरी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे।

---

१. 'सांई सरीखे संत हैं' गरीब दास की बानी; बेलवेडियर प्रेस प्रयाग; पृष्ठ ८७।

२. संत और राम को एक को जानिये
पलटू साहब की बानी; बेलवेडियर प्रेस प्रयाग; पृष्ठ ८।

३. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय; अनु० परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका।

जिनकी साधना निर्गुण भक्ति के आधार पर चली थी।"[1] कालांतर हम पाते हैं कि संत शब्द रूढ़ हो गया और उसका प्रयोग विशिष्ट प्रकार के भक्तों के लिए होने लगा। रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें 'निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी' के अन्तर्गत रखा है। जायसी आदि की गणना इन संतों में कतई नहीं की जा सकती। जायसी, मंझन आदि तो सूफ़ी कवि हैं जो कि संतों से पृथक् हैं। संतों की व्यापकता उनमें नहीं पाई जाती।

संतमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि—इन संतों ने जिस ब्रह्म की उपासना का मार्ग पुरस्सर किया उसी निर्गुण ब्रह्म का अस्तित्व भारतीय दर्शन में इन निर्गुण संतों से भी पहले किसी-न-किसी रूप में चला आ रहा है। इसका आरम्भ वैसे तो ऋग्वेद से माना जाता है। इसके विस्तृत दर्शन उपनिषदों में ही होते हैं। ब्रह्मचिंतन की सूक्ष्मधारा को उपनिषदों से वेदों में अधिक स्थान मिला है। जैन और बौद्ध काल में भी इसका पूरा-पूरा विकास और विस्तार हुआ है। उसका रूप ही कालांतर इन संतों में दीख पड़ता है। ऋग्वेद के नारदीय सूत्र में सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का चित्र बारीकी से खींचा गया है। "पुरुष" को सृष्टि का नियंता माना गया है। इस पुरुष की सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता का परिचय मिलता है। यही पुरुष उत्पादक तत्त्व है।

उसे विश्वकर्ता भी कहा गया है। उसी पुरुष की सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता का परिचय मिलता है। त्रिगुणातीत होने के कारण यह पुरुष संसार से निर्लिप्त रहता है। वैदिक ऋषियों ने इस एक पर काफी चिंतन प्रकट किया है।

अथर्ववेद में वर्णित व्रात्यों की सभ्यता में संतों के ज्ञानमार्ग का आदि रूप देखा जा सकता है। ये अयज्ञिक और तपस्या के पक्षपाती होते थे। व्रतप्रियता के कारण ही इनका नाम व्रात्य पड़ा था। ये तपस्वी शारीरिक कष्टों को सहते हुए भी ब्रह्म-चिंतन में लीन रहा करते थे। ब्राह्मणों से इनका विरोध रहा करता था। इस कारण ब्राह्मणों ने इन्हें हीन माना है। कर्म के विरोध के साथ-ही-साथ इनमें ज्ञानप्रियता का भी विकास होता गया। ज्ञान का आश्रय ग्रहण कर इन्होंने दुःख-निवृत्ति की भावना का प्रचार किया। इस ज्ञानवाद में ध्यान, वैराग्य और अभ्यास के तत्त्व थे। अथर्ववेद में व्रात्य को काफी महत्त्व प्रदान किया गया है। उसे महादेव की भी संज्ञा मिली है। इस महादेव का अविर्भाव प्रजापति से होता है। उसी से ब्रह्म, सूर्य आदि तत्वों की सृष्टि होती है। विद्वानों ने इस व्रात्य को ऋग्वेद के पुरुष से भिन्नमाना है।

उपनिषद् युग में ब्रह्म-चिंतन की शैली में काफी विकास हुआ था। पुरुष को यहाँ पर सत् और असत् से भी परे बताया गया है। सूक्ष्म ब्रह्म के लिए निर्गुण विशेषण का भी प्रयोग किया गया है। निर्गुण विशेषण का प्रयोग भी सम्भवतः यहीं पहली बार मिलता है। ब्रह्म सर्वव्यापक है और समस्त प्राणियों में उस का निवास है। वह निर्गुण है—

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृष्ठ७।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।[1]

उसे अत्यन्त सूक्ष्म और इंद्रियातीत माना गया है। उसे मन, वचन या आँख से नहीं ज्ञात किया जा सकता। केनोपनिषद् में बारम्बार इस बात पर जोर दिया गया है कि ब्रह्म इतना सूक्ष्म है कि वहाँ वाणी, गति या आँखें नहीं पहुँच सकतीं। ब्रह्म का बोध मन से नहीं किया जा सकता। उसका ज्ञान वही प्राप्त करता है जिसने यह जान लिया है कि ब्रह्म इंद्रियातीत है।

बृहदारण्यक ने आत्मा और परमात्मा को वस्तुतः एक ही माना है। छान्दोग्योपनिषद् ने विश्व-पुरुष के रूप में ब्रह्म को आत्मा में ही व्याप्त माना है। उसकी सूक्ष्म स्थिति का प्रयोग करने के लिए वेदों में नेति-नेति का प्रयोग हुआ है। कठोपनिषद् में भी ब्रह्म को अस्पृश्य, अरूप, अरस, नित्य, अनादि, अनन्त, महान्, अशब्द आदि की संज्ञा दी गई है। कुछ उपनिषदों में ब्रह्म के पर्याय के रूप में निरंजन शब्द का भी प्रयोग किया गया है। निरंजन ही नाथ पंथियों का साध्य था। सांख्यदर्शन ने पुरुष और प्रकृति की एकता को स्वीकार किया है। विश्व प्रकृति और पुरुष के संतुलन से ही चलता है। उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म का विकसित रूप श्रीमद् भागवत् और गीता में पाया जाता है। गीता में कृष्ण ने अपने आपको निर्गुण ही कहा है। वे अज, अविनाशी, सर्वव्यापी, निर्विकार और इन्द्रियातीत हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।[2]

गीता में ज्ञान की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है और इसीलिए संतों ने भी ब्रह्म को ज्ञानगम्य ही माना है।

महात्मा बुद्ध ने जाति प्रथा की अनुपयोगिता और वर्णाश्रम की निस्सारता पर पहले ही अपने विचार व्यक्त किए थे। संतों ने भी जाति प्रथा और वर्णाश्रम की अनुपयोगिता पर अपने उद्‌गार व्यक्त किए। बुद्ध ने ज्ञान की गहराई में उतर अपने अनात्मवाद को पुरस्सर कर भारतीय-दर्शन और भारतीय-चिंतन की प्रौढ़ता में एक अध्याय जोड़ दिया। संसार को अनित्य मान निर्वाण को ही उन्होंने नित्य कहा है। निर्वाण पद का अधिकारी जन्म, मरण, उपाधि, उपादान, जल, आकाश से परे शून्य में रहता है। संघ तो जाति-भेद से परे ही थे। संघ में जाकर श्रमण संघमय हो जाते थे। भारतीय इतिहास में पहली बार दलितों और शूद्रों को मानवता के धरातल पर बुद्ध ने अपनाकर एकता का पाठ पढ़ाया।

निर्गुणमार्गियों में योग और तंत्र का भी प्रचार और उल्लेख पूरी-पूरी मात्रा

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्; ६।४।
२. गीता; ७।२४।

में उपलब्ध होता है। योग को उन्होंने अस्वीकार तो किया है किन्तु योग प्रणाली को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार ही किया है। योगमार्ग में गुरु को बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है। गुरु माहात्म्य पर योग मार्ग में काफी साहित्य उपलब्ध होता है। सिद्धों में भी गुरु की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। संतों ने कहीं-कहीं तो गुरु को ईश्वर के समकक्ष तक माना है। सहजोबाई तो गुरु को ईश्वर से भी बढ़कर मानती है।

जिस निर्गुण मार्ग का संतों ने आश्रय लिया वह भारतीय धर्म, साहित्य, चिंतन और दर्शन के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं थी। संतमत तो उसकी शृंखला की कड़ी के रूप में ही वर्तमान है। जिस अवतारवाद, मूर्तिपूजा आदि का संतों ने विरोध किया है, वह भी किसी-न-किसी रूप में भारतीय-दर्शन में चला ही आ रहा था। ईश्वर की एकता और निराकारोपासना भी भारतीय धर्म और दर्शन के लिए नवीन वस्तु नहीं थी। एक ओर मध्ययुग में एकेश्वरवाद की कट्टरता लादी जा रही थी, दूसरी ओर हिन्दुओं का बहुदेववाद प्रचलित था। ऐसे समय में संतों ने मध्यमार्ग को अपनाया और ज्ञान की प्रतिष्ठा से वास्तविक सत्य को स्थापित करने का प्रयास किया। संतों ने किसी नवीन दर्शन की खोज नहीं की। भारतीय इतिहास के मध्ययुग में इस दर्शन का व्यावहारिक महत्त्व है। कितने ही दलितों और उपेक्षितों को उसका सहारा मिला यह कहा नहीं जा सकता।

मध्यकालीन विभिन्न संत सम्प्रदाय (पंथ, मत आदि भी)

संतों के लक्षण एवं उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार कर लेने के बाद हम मध्ययुग में फैले हुए विभिन्न संत मत, सम्प्रदाय और पंथ आदि की जानकारी संक्षिप्त में नीचे देंगे।

कबीर पंथ

कबीर साहब के जीवनकाल में ही उनके अनुयायियों की संख्या काफी हो गई थी। एक संत के रूप में उन्हें अपने जीवनकाल में ही काफी प्रसिद्धता प्राप्त हो चुकी थी। उन्होंने सदैव एक सार्वभौमिक धर्म का उपदेश दिया। उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि एक व्यापक विचारधारा का प्रचार कर वे किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्तक होंगे। कोई पंथ चलाना या सम्प्रदाय के प्रचारार्थ शिष्यों की नियुक्ति करने की आशा कबीर से करना व्यर्थ है। किन्तु उनके शिष्यों में उनके नाम पर पंथ चलाने की प्रवृत्ति आखिर हो ही गई। उनकी वाणियों का संग्रह, उनके सिद्धान्तों का प्रचार तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट भिन्न साधनों की व्याख्या के रूप में विभिन्न प्रयास प्रारम्भ हो गए थे। कबीर-पंथीय साहित्य के अनुसार पंथ के प्रचारार्थ चार प्रमुख दिशाओं में शिष्यों को भेजा गया था। चौथे शिष्य धर्मदास ने मध्य प्रदेश में

धर्मदासी शाखा को चलाया ।

काशी शाखा—कहा जाता है कि काशी शाखा के मूल प्रवर्तक सुरत गोपाल थे । अनुराग सागर के अनुसार उन्हें अंध अचेत कहा गया है । सुरत गोपाल जाति के ब्राह्मण थे । उन्होने 'अमर सुख निधान' नामक ग्रंथ की रचना की थी । कई विद्वानों का मत है कि भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह पुस्तक उनकी प्रतीत नहीं होती ।

कबीर चौरा की भूमि कदाचित काशी नरेशों की कृपा से प्राप्त हुई थी । कबीर चौरे में गुरुओं की समाधियों का निर्माण सुरत गोपाल के बाद १४वें महंत शरण-दास के समय मे होने लगा था । इन्हीं शरणदास के समय में उक्त केन्द्र का कार्य सुचारु रूप से होने लगा था । इन्हीं प्रसिद्ध शरणदास के शिष्य रामरहसदास ने बीजक के कतिपय स्थलों के आधार पर "पंच ग्रंथी" की रचना की थी । कबीर-पंथीय साहित्य में इसका स्थान काफी ऊँचा है । कबीर चौरा की चहारदीवारी की दक्षिण गली के पीछे दो आंगन और हैं, जो घिरे हैं । कहा जाता है कबीर के माता पिता नीमा व नीरु का यह निवास स्थान नीरु टोला में था । कबीर चौरा से लगभग एक कोस की दूरी पर उत्तर की ओर लहरतारा तालाब है । उसे तालाब तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उथली-सी भूमि अवश्य है । जनश्रुति के अनुसार शिशु कबीर का शरीर सबसे पहले बहता हुआ यहीं पर आया था । वह नीमा द्वारा पाया गया था । कबीर के जन्मस्थान की तरह उनके मृत्युस्थान मगहर को भी पवित्र माना गया है । गोरखपुर के पास बस्ती जिले में एक गांव है वहां नदी के किनारे एक मठ बना हुआ है । इसके दो भाग हैं । एक हिन्दुओं के आधीन है दूसरा मुसलमानों के । इस मठ के प्रबन्ध में मगहर के निकट के दो गांव बलवा और खुरसवाल नाम के हैं । यह मठ की ही संपत्ति समझी जाती है । मध्य प्रदेश का बुरहानपुर वाला मठ, पुरी की कबीर समाधि और द्वारका का कबीर मठ कबीर चौरा शाखा के अंतर्गत ही जाते हैं और वहीं की आधीनता स्वीकार करते हैं ।

छत्तीसगढ़ी शाखा—छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक धर्मदास कहे जाते हैं । इसे धर्मदासी शाखा भी कहा जाता है । इसके अनुयायियों की संख्या कबीर चौरा वाली शाखा से अधिक है । इसकी स्थापना पहले-पहल बांधव गढ़ में हुई । इस शाखा की गुरु परम्परा में आज तक १५ गुरु हो चुके हैं । धर्मदास एक योग्य व्यक्ति थे । कबीर पंथ को इनके द्वारा काफी सहायता मिली थी । इनके नाम से बहुत-सी बानियाँ प्रचलित हैं । बेलवेडियर प्रेस प्रयाग ने भी "धनी धरमदास की शब्दावली" संग्रह प्रकाशित किया है । कई पंक्तियों में इन्होंने अपने आपको कबीर का शिष्य होना स्वीकार किया है । सुरत गोपाल की ही तरह धर्मदास की समाधि का पुरी में होना बताया जाता है । धर्मदासी शाखा की गुरु परम्परा में पहले वंश वालों को ही स्थान मिलता है । दूसरों को योग्यता दिखाने का अवसर प्राप्त नहीं होता । धर्मदास के

बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र नारायणदास गद्दी पर बैठे। धर्मदास के दूसरे पुत्र चूड़ामणि ने कुडरमल में अपनी गद्दी स्थापित की। मंडला में प्रबोधनाम और अमोलनाम की दो समाधियाँ बनी हुई हैं। धर्मदासी शाखा की वर्तमान गद्दी धामखेड़ में है। इस शाखा के अन्तर्गत वमनी की भी एक शाखा प्रसिद्ध है। यहाँ की परम्परा चलाने वाले धीरज नाम के वंशज हैं। छत्तीसगढ़ में इस शाखा का प्रभाव कहीं-न-कहीं मिलता ही है।

धनौती शाखा—कबीर चौरा के अन्तर्गत एक मठ धनौती बिहार का भी प्रसिद्ध है। इस मठ के प्रवर्तक भगवान गुसांई थे। यह गद्दी पहले-पहल बिहार के दानापुर नामक कस्बे में प्रतिष्ठित की गई थी। बाद को यह धनौती लाई गई। इस मठ वालों का मुख्य कार्य बीजक का पाठ और साधु सेवा है। कबीर चौरा और छत्तीसगढ़ से ये अपने आपको स्वतन्त्र समझते हैं। इस शाखा में गुसांई से लेकर आज तक १३ गुरु हो चुके हैं। गुसांई के उत्तराधिकारी ने पढ़िया नामक स्थान में अपनी गद्दी स्थापित की थी।

कबीरपंथ की प्रसिद्ध शाखाओं में साहेबदासी पंथ, काठियावाड़ में मूल निरंजन पंथ, बड़ौदा का टकेसारी पंथ, भड़ोंच का जीवा पंथ इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त सत्य कबीर, दान कबीर, हंस कबीर, मंगल कबीर, उदासी कबीर नाम से अन्य पंथ प्रचलित हैं। उनके विवरण प्राप्त नहीं होते। इस तरह कमाल, नित्यानंद, कमलानंद आदि के नाम पर भी पंथ बताए जाते हैं किन्तु उनका पता नहीं लगता। काठियावाड़ में किसी ज्ञानी दास की "मार्गी शाखा," गुजरात में ऊदा शाखा वर्तमान है। बिहार में शाहाबाद और मुजफ्फरपुर मझनी एवं विदुपुर ज्ञानीदास और जगनूदास द्वारा प्रचलित समझे जाते हैं। धर्मदासी शाखा की उपशाखाएं सिंध और सिक्कम में बताई जाती हैं।

कबीर पंथियों की संख्या ८ या १० लाख के करीब है। बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और उत्कल से प्रारम्भ होकर यह पंथ सुदूर दक्षिण और पश्चिम तक फैला है। उड़ीसा में फैला कबीर पंथ वैष्णव धर्म से प्रभावित है। कबीर पंथियों के प्रचारकों ने वैष्णव धर्म से एवं बौद्धकाल के पतनयुग में भी उससे काफी कुछ लिया। धीरे-धीरे कबीर को सिद्ध पुरुष और अवतार के रूप में माना जाने लगा। 'धर्म गीता' 'शून्य पुराण' और 'अनुराग सागर' की उत्पत्ति के विषय में भी कबीर पंथ में निश्चित मत नहीं हैं। सृष्टि रचना और त्रिदेवों के जन्मादि की कथाओं में तो कबीर पथ का धर्म मत से काफी साम्य है। कहना न होगा कि कबीर पंथियों की विभिन्न कथाओं के निर्माण में पुराणों की सहायता ली गई है। इनकी तांत्रिक बातों में तो बाहरी प्रभाव साफ ही दृष्टिगत होता है। कर्मकांडीय विधानों में भी बाहरी प्रभाव को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। छत्तीसगढ़ी शाखा की चौका विधि एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। हो सका तो प्रत्येक रविवार को, नहीं तो प्रत्येक पूर्णिमा को,

नहीं तो कम-से-कम फाल्गुन और भाद्रपद की पूर्णिमा को तो यह किया ही जाता है। चौकाविधि के साथ-ही-साथ जोतप्रसाद की विधि की जाती है। कबीरपंथीय साहित्य में उक्त बातों की रहस्यपूर्ण व्याख्या है। बौद्ध जातकों की भाँति रचे गए कुछ ग्रंथ कबीरपंथीय साहित्य में दिखाई देते हैं। इन कथाओं में हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं का मेल है।

कबीरपंथीय साहित्य का अधिकतर अंश जो पौराणिक कथाओं, कर्मकांडों, गोष्ठियों या संवादों से सम्बन्धित है, उसे पंथ की धर्मदासी शाखा ने रचा है। सुख निधान, गुरु महात्मय, गोरख-गोष्ठी, अनुराग सागर, निरंजन बोध, कबीर मंसूर आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। उसके पश्चात् ऐसी पुस्तकें आती हैं जिनमें मत की दार्शनिक व्याख्या है। पंथ का सर्वमान्य ग्रंथ बीजक है। इस पर कई भाष्य लिखे गए हैं। ऐसा साहित्य धनोती शाखा और कबीर चौरा शाखा में अधिक लिखा हुआ मिलता है। अमर मूल और कबीर मंसूर भी प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। कबीर मंसूर के रचयिता स्वामी परमानंद हैं। इन सब ग्रंथों में अनुयायियों ने अन्य कई बातें भी जोड़ दी हैं।

सिख धर्म

सिख धर्म को गुरु नानकदेव ने चलाया था। तत्कालीन संत मत के अनुसार वे भी निर्गुणवादी थे। गुरु नानक मूर्तिपूजा, अवतारवाद, बाह्याचार आदि को नहीं मानते थे। उन्होंने काफी यात्राएँ की थीं। उनके बराबर यात्राएं किसी संत या निर्गुण कवि ने नहीं की थीं। कामरूप से लेकर मक्का और मदीना, कांगड़ा से लेकर लंका तक उनका भ्रमण क्षेत्र था। उनके पश्चात उनकी परम्परा में गुरु अर्जुनदेव तक ठीक उनकी ही विचारधारा को लेकर सिख गुरु चले। गुरु हरगोविंद के समय से उनमें सामरिकता का प्रादुर्भाव होने लगा। गुरु नानक की सबसे बड़ी शिक्षा यही थी कि ईश्वर सर्वव्यापी है। ईश्वर को उन्होंने वाह गुरु की संज्ञा दी। उसके पश्चात गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविंद, गुरु हरराय, गुरु हरकृष्ण, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविंदसिंह हुए। इस तरह गुरु परम्परा में इन दस गुरुओं के नाम आते हैं। प्रत्येक गुरु अपने अंत समय अपने उत्तराधिकारी को पद सौंपकर उसे पंथ का उत्तराधिकारी घोषित कर देते थे। गुरु गोविंदसिंह ने अपने पश्चात गुरु ग्रंथ साहब को गुरु घोषित किया और सिखों को उसे ही गुरु मानने का आदेश दिया। गुरु गोविंदसिंह के पश्चात गुरु गद्दी समाप्त हो गई।

गुरु अर्जुनदेव ने गुरुओं की वाणी का आदि ग्रंथ में सन् १६०४ में संकलन किया। गुरु ग्रंथ साहब की प्रचलित प्रतियों का संकलन जिस प्रति से हुआ है उसका संपादन और संकलन तो गुरु गोविन्दसिंह ने किया था। गुरु ग्रंथ साहब में गुरु नानक, अंगद, अमरदास, रामदास: अर्जुनदेव और गुरु तेगबहादुर की वाणियाँ संग्रहीत हैं। उसमें एक पद गुरु गोविंदसिंह का भी है। सिख गुरुओं के अतिरिक्त अन्य संतों के पद

भी विभिन्न राग-रागनियों के अन्तर्गत गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं। गुरु ग्रंथ साहब सिखों का धर्म ग्रंथ ही नहीं है बल्कि विश्व साहित्य की भी एक एक अमूल्य निधि है। दशम ग्रंथ में गुरु गोविंदसिंह का साहित्य है। गुरु गोविंदसिंह लोक नायक के साथ-ही-साथ एक सफल कवि भी थे। गुरु गोविंदसिंह को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ वीर रस का कवि कहा जा सकता है।

सिख लड़ाई नहीं चाहते थे। वह तो उन पर लादी गई थी। गुरु गोविंदसिंह ने आत्मरक्षा के लिए युद्ध किए। उन्होंने युद्ध और धर्म का समन्वय कर दिया। सिख धर्म का उदय इस्लाम का हिन्दुत्व के साथ मिलने से नहीं हुआ था। न ही यह दोनों धर्मों के बीच की एक शृंखला थी। कालक्रम से इस धर्म ने मुगलों के धार्मिक अत्याचारों के विरुद्ध हिन्दू धर्म के लिए ढाल का कार्य किया था। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सिख गुरुओं ने अपने बलिदान दिए। सैनिक बनकर उनका लक्ष्य हिन्दू धर्म की रक्षा मात्र था। लड़ाई तो समय की मांग थी। धर्म के नाम सिख यदि विदेशियों के अत्याचारों को सह लेते तो इतिहास में उसे कायरता की ही संज्ञा मिलती।

सिख धर्म में निराकार उपासना पर जोर दिया गया। किन्तु साकारोपासना का विरोध नहीं किया। गुरु गोविंदसिंह ने रामकृष्ण आदि का गुणगान किया है। गुरु रामदास ने अमृतसर में स्वर्ण मंदिर का कार्य प्रारम्भ करवाया। यह सिखों का तीर्थ-स्थान है। सौंदर्य में इसका स्थान ताज के बाद आता है।

सिख धर्म से निकले संप्रदाय

उदासी संप्रदाय—इसे गुरु नानक के पुत्र श्रीचंद ने चलाया था। उदासी राजनीति से अपना सम्बन्ध नहीं रखते। श्रीचंद संन्यासियों के वेश में ही भ्रमण करते रहते थे। उदासियों का रहन-सहन साधुओं की तरह ही होता है। सांसारिक बातों के प्रति वे तटस्थ रहा करते हैं। उदासी संप्रदाय का पुनरुत्थान गुरु हरगोविंद के पुत्र गुरिस्ता ने किया था। वे करतारपुर में रहा करते थे। उनकी मृत्यु कीर्तिपुर में हुई थी। वहीं उनकी समाधि बनी हुई है। इस संप्रदाय की चार शाखाएँ हैं। बहादुरपुर में फूल साहब की शाखा, आनंदपुर के निकट चरन कौल में बाबा हसन की शाखा, पुरी और नैनीताल में अलमस्त साहब की शाखा। सिंध में गोविंद साहब की शाखा है। उदासियों की हर शाखा एक-दूसरे से भिन्न होकर एक-दूसरे महंत के नीचे है। उदासियों की अधिक संख्या मालवा, काशी, जालंधर, रोहतक और फीरोजपुर में पाई जाती है। ये पूजा में घंटा बजाते हैं। वे आदि ग्रंथ की आरती भी करते हैं। अपने शरीर पर कभी-कभी ये भस्म भी धारण करते हैं। ये कुछ भस्म को सदा सुरक्षित भी करते हैं। ये एक छोटी-सी मढ़ी बनवा लेते है। इनका प्रिय मंत्र है "चरण साध का धो-धो पियो, अरप साध को अपना जियो।" ये गैरिक वस्त्र धारण करते हैं। ये विवाह आवश्यक नहीं समझते। ये आदि ग्रंथ को मानते हैं। उदासियों को नानकशाही या नागा भी कहा जाता है।

इनका मुख्य केन्द्र देहरा है। पूर्वी पंजाब में इनकी गद्दियां बताई जाती हैं।

२. निर्मल—गुरु गोविंदसिंह के समय में इस संप्रदाय की स्थापना वीरसिंह ने की थी। वीरसिंह ने सर्वाधिक जोर आचार शुद्धि और व्यक्तिगत पवित्रता पर दिया है। निर्मल बहुत ही पवित्र और सच्चरित्र समझे जाते हैं। ये श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। ये संस्कृत के विद्वान होते हैं। ये अविवाहित भी होते हैं। उदासियों की भांति ये भी नानक के मूल सिद्धांतों का पालन करते हैं। धार्मिकता के साथ-ही-साथ ये संसारिकता भी बनाए रखना चाहते हैं। राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव इन पर नहीं पड़ा।

३. नामधारी संप्रदाय—इस संप्रदाय का प्रारंभ लुधियाना के भाई रामसिंह ने किया था। ये सिख थे और महाराजा रणजीतसिंह की सेना में रह चुके थे। धार्मिक भावनाओं के उदय होने पर इन्होंने सेना का परित्याग कर दिया। इन्होंने केवलपुर के उदासी संप्रदाय के बाबा बालकराय से दीक्षा ली थी। उसके बाद ही इन्होंने अपने मत को प्रवर्तित किया। इनके अनुयायी बालकराय को ११ वां सिख गुरु और इन्हें १२ वां सिख गुरु मानते हैं। ये निरामिष-भोजी होते हैं। ये नामधारियों के अतिरिक्त किसी अन्य का भोजन नहीं ग्रहण करते। इनका दूसरा नाम कूका भी है। कूका का आशय कूक करने वाला होता है। आराधना के अवसर पर ये सिर हिला-हिलाकर चिल्लाते हैं। सत श्री अकाल कहते-कहते ये भावावेश में आ जाते हैं। ये गोवध के विरुद्ध होते हैं। यह संप्रदाय पुरोहितवाद के विरोध में प्रारंभ हुआ था। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद जब पंजाब विद्रोह कर रहा था उस समय इन्होंने मूलराज आदि को अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता दी। कैदी के रूप में इन्हें रंगून निर्वासित किया गया था। वहां पर सं० १९४५ में इनकी मृत्यु हुई थी। कूका सीधी पगड़ी बांधते हैं।

४. सुथराशाही—इस संप्रदाय की स्थापना सुथराशाह ने की थी। सुथराशाह बचपन से ही गंदे ढंग से रहा करते थे। इसी कारण इनके पिता ने इन्हें त्याग दिया था। गुरु हरगोविंद ने इन्हें सुथरा या स्वच्छ कहकर अपनाया। कई लोगों का यह भी कथन है कि बढ़ई-सुतार होने के कारण इन्हें सुथराशाह कहा जाता था। कई सुथराशाह को गुरु अर्जुन देव का शिष्य मानते हैं। कई लोगों का यह भी कथन है कि गुरु हरगोविंद के समय में सूचा नामक ब्राह्मण थे जो बाद को सुथराशाह कहलाए। कई इस पंथ का श्रेय गुरु तेगबहादुर को देते हैं। ये लोग अक्सर लोहे के दो डंडे बजाकर पैसे मांगते हैं। पहले इनका केन्द्र पठानकोट के निकट बुरहानपुर में स्थित था। बाद को यह स्थान हट कर लाहौर के काश्मीर दरवाजे पर आ गया। ये बहादुर पुरुष कहे जाते हैं इन्होंने गुरु हरगोविंद की सहायता भी की थी। इसी कारण इन्हें मुगलों का कोप-भाजन भी होना पड़ा था। सुथराशाही पंजाब व बंगाल में पाए जाते हैं।

५. सेवापंथी—इस पंथ की स्थापना कन्हैया नामक व्यक्ति ने की थी।

कन्हैया सेवा धर्म का कट्टर अनुयायी था। मुगलों द्वारा जिस समय गुरु गोविंदसिंह घेर लिए गए थे उस समय रणक्षेत्र में कन्हैया शत्रु और मित्र को समान रूप से पानी पिला रहा था। गुरु गोविंदसिंह ने उसकी काफी प्रशंसा की और उसे मानव जाति का सच्चा सेवक बताया। अपने विचारों के आधार पर उसने नवीन पंथ चलाने का प्रयास किया। उसके एक शिष्य का नाम सेवाराम था। इसी से पहले-पहल इस पंथ का नाम शायद सेवापंथी पड़ा। अमृतसर में कन्हैया के शिष्य अदलशाही कहलाते हैं। ये अपनी निःस्वार्थ सेवा के लिए प्रसिद्ध होते हैं। ये ईमानदारी के साथ अपनी मज़दूरी कमाते हैं। यदि भिक्षा-वृत्ति करते भी हैं तो जो कुछ मिलता है उसी में संतोष कर लेते हैं।

६. **अकाली**—अकालियों को निहंग भी कहा जाता है। निहंग का आशय होता है निर्भीक। ये खालसा पंथ के अनुयायी होते हैं। सं० १७४७ के लगभग मानसिंह के नायकत्व में इनका आविर्भाव हुआ था। चमकौर के दुर्ग में मुगलों का सामना करते-करते गुरु गोविंदसिंह के पास केवल ४० सिख ही रह गए थे। उस समय गुरु गोविन्दसिंह को भेष बदलकर निकल जाना पड़ा। उस समय गुरु गोविन्दसिंह ने फकीरों जैसा बाना धारण किया। उस समय उन्होंने नीले वस्त्र धारण किये। अपने निर्दिष्ट गांव पहुँचकर ये वस्त्र उन्होंने मानसिंह को दे डाले। इसीलिए अकाली नीले वस्त्र पसंद करते हैं। नीले साफे की नीचे ये पीला कपड़ा बांधते हैं जो माथे पर दिखाई पड़ता है। मानसिंह को पंथ चलाने की अनुमति गुरु गोविंदसिंह ने दे दी थी। अकाली एक दूसरे की पारस्परिक सहायता करते हैं। ये सामाजिक और राजनीतिक बातों में भाग लेते हैं। गांजा, तंबाखू आदि को ये हाथ नहीं लगाते। धर्म और युद्ध की समन्वित भावना को लेकर ये चलते हैं। ईश्वर को ये अकाल पुरुष के नाम से पुकारते हैं। ये अपने ही ढंग के रूढ़िवादी वस्त्र पहिनते हैं। रणजीतसिंह के समय में इनका प्रधान केन्द्र आनंदपुर था। ये शूरवीर होते हैं और काफी कट्टर होते हैं। सिखों में ये अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। बीसवीं सदी में और उससे पहले इन्होंने काफी सुधारों का सूत्रपात किया।

साध संप्रदाय

साध संप्रदाय के प्रामाणिक प्रवर्तकों की जीवनियाँ ऐतिहासिक आधार पर उपलब्ध नहीं हैं। हेनरी फिशर, विलियम कुक, विल्सन फर्कुहर, एलिसन आदि ने इस संप्रदाय के विचारों, सिद्धांतों और उत्पत्ति के संबंध में लिखा तो अवश्य है किन्तु फिर भी इन बातों का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इस संप्रदाय के अनुयायी तो इस संप्रदाय को अनादि काल से प्रारंभ मानते हैं। अपने संप्रदाय को इन्होंने सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग में बांटा है। इस संप्रदाय के इतिहास में तीन व्यक्तियों की चर्चा अधिक आती है; ये हैं वीरभान, वीरलाल और ऊदादास।

ऊदादास इस मत के प्रवर्तक और प्रसारक हैं। वैसे तो एक मत के अनुसार वीरभान को उत्पत्ति और प्रसार का श्रेय दिया जाता है। दूसरे मत के अनुसार यह श्रेय वीरलाल को जाता है। एलिसन ने बताया है कि इस मत के प्रवर्तक दो ही हैं, तीन नहीं। ऊदादास नामक कोई व्यक्ति ही न था। संप्रदाय के मान्य ग्रंथ "निर्वान ग्यान" में ऊदादास का कई जगह उल्लेख आया है। कई स्थानों पर ऊदा को दास भी कहा है। ये साध कबीर साहब को श्रद्धा देते हैं।

साहित्य—सत वीरभान की रचनाएँ "वानी" नामक ग्रंथ में संग्रहीत समझी जाती हैं। इनका एक अन्य मान्य ग्रंथ "आदि उपदेश" भी है। इसमें संप्रदाय के सभी प्रमुख नियम आ जाते हैं। यह ग्रंथ जोगीदास की रचना है। हमने पहले ही कह दिया है कि साध संप्रदाय का प्रधान ग्रंथ "निर्वान ग्यान" है। यह १६ पंक्तियों वाले २५० पृष्ठों की रचना है। इसमें कई दोहे और चौपाइयाँ भी हैं। इसमें ४,२०० पंक्तियाँ हैं। इसका एक दूसरा नाम पोथी भी है। इनके अतिरिक्त एलिसन ने दो ग्रंथों के नाम और भी दिए हैं। एक "साध पंथ" और दूसरा "नसीहत की पुड़िया" बताया जाता है। इस संप्रदाय पर कबीर साहब का प्रभाव प्रतीत होता है। इसी कारण इस पंथ के अनुयायी ऊदा को कबीर का अवतार मानते हैं और दोनों ही को ईश्वर का पर्याय माना गया है।

इस संप्रदाय के अनुसार ईश्वर एक सर्व-शक्तिमान, निराकार और परम दयालु है। इस कारण उसके अतिरिक्त किसी को प्रणाम तक न करना चाहिए। इस संप्रदाय के मतानुसार सर्वप्रथम ऐलोरा का गृह के रूप में निर्माण हुआ। स्वीकृत साधनाओं में नाम-स्मरण, सत्संग, संयत जीवन आदि हैं। हृदय में शब्द के अनुभव करने का अभ्यास होना चाहिए। सत्तनाम में पूरी आस्था का होना आवश्यक है। परमात्मा को आदिगुरु, सदा अविगत भी कहा गया है। मंदिरों पर सन्त अवसत, गोरस, उदय, कबीर आदि शब्द लिखे होते हैं। मूर्तिपूजा इस संप्रदाय में निषिद्ध है।

यह आचरण प्रधान संप्रदाय ही है। अनुयायियों के पथ-प्रदर्शन के लिए १२ कठोर नियम हैं। वैसे तो इन नियमों की संख्या ३२ है। किन्तु इनका सार १२ में ही आ जाता है। इसके अनुयायी विशेषकर जाट हैं। उनका मुख्य काम खेती, वाणिज्य, बुनाई, दर्जी या जमींदारी है। ये अपने विवाह कार्य बहुत ही सादे ढंग से करते हैं और सदा ही सादा जीवन व्यतीत करते हैं। सहभोज या प्रसाद होली के लगभग होता है और संप्रदाय वालों से पृथक् रह वे आपस में दंडवत् करते हैं। इनमें जाति-पांति की प्रथा नहीं है। बहुविवाह पद्धति भी वर्जित है। दहेज का लेन-देन भी अमान्य ही है। बालविवाह हो सकता है।

वीरभान ने इस मत का प्रचार फर्रुखाबाद मिर्जापुर, आदि की ओर अधिक किया था। जोगीदास ने पंजाब, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश में अधिक किया था। वीरभान के समय से संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र फर्रुखाबाद ही है। यह साधवाड़ा के

नाम से प्रसिद्ध है। यह सं० १७७१ से चला आता है। साध मिर्जापुर, (उत्तरप्रदेश) में काफी संख्या में हैं। मथुरा, बरेली, मेरठ, शाहजहांपुर, दिल्ली, रोहतक, जींद, जयपुर, जोधपुर, धौलपुर, भरतपुर, बड़ौदा, आदि में साध काफी संख्या में हैं।

लालपंथ

इस संप्रदाय का प्रारम्भ लालदास ने किया था। लालदास का जन्म सं० १५९७ में हुआ था। इनका जन्म स्थान धोली धूप है। इनका लालन-पालन अत्यन्त साधारण परिस्थितियों में हुआ था। तिजारा के मदन चिश्ती ने उनसे लोगों को उपदेश देने को कहा। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को उपदेश देना प्रारम्भ किया। सत्संग और साधना से इनका आचरण शुद्ध हो गया। सात्विक जीवन का निर्वाह कर इन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ किया।

फकीर के साथ बातचीत होने के बाद ये अपने जन्मस्थान का परित्याग कर अलवर से १६ मील उत्तर की ओर रामगढ़ परगने में बांदोली गांव में जा बसे। पहाड़ की चोटी पर ये कुटिया बनाकर रहा करते थे। ये जन-सेवा में व्यस्त रहा करते थे। किन्तु इनके विरोधियों ने वहां भी इनको तंग करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप वह स्थान छोड़कर भी उन्हें जाना पड़ा। वहां से वे टोडी गांव में जा बसे। परन्तु वहां भी विरोधियों ने उनका पीछा न छोड़ा। वह स्थान छोड़कर ये नरोली गांव चले गए। वहां भी सताये जाने पर ये रसगांव या रामगढ़ गए। इनके पुत्र का नाम पहाड़ और पुत्री का नाम स्वरूपा था। इनके साथ इनके दो भाई शेरखां और गोलखां भी रहा करते थे। इनका देहान्त सं० १७०५ में हुआ। इनका शव नगला नामक गांव में समाधिस्थ किया गया। यह भरतपुर राज्य में अलवर राज्य की सीमा पर है। इनके अनुयायियों का यह तीर्थ स्थान है। इनके विषय में अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं। जबकि स्वयं लालदास चमत्कारों के विरोधी थे।

रचनाएँ—इन्होंने समय-समय पर अनेक वाणियों की रचना की है। परशुराम चतुर्वेदी ने इनकी एक "लालदास की चेतावणी" का उल्लेख किया है जो हस्तलिखित प्रति के रूप में स्व० हरिनारायण के पुस्तकालय में सुरक्षित है।[1] इनके सिद्धांतों पर कबीर साहब का काफी प्रभाव है। अलवर राज्य में लालपंथ के अनुयायी पाए जाते हैं। इस मत के अनुयायी रामनाम को अधिक महत्त्व देते हैं। लालदास की रचनाओं को ये बड़ी ही श्रद्धा से गाते हैं।

दादू पंथ

दादू के जीवन काल में यह संप्रदाय अबाध रूप से चलता रहा। धीरे-धीरे

---

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृ० ४०७।

इसके उप संप्रदाय भी बनने लगे। इस कारण दादू पंथ का प्रधान केन्द्र निर्बल-सा हो गया। इनके पश्चात् इनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास गद्दी पर बैठे। गरीबदास के समय में पंथ की प्रगति में शिथिलता आ गई। गरीबदास स्वयं तो एक उच्च कोटि के संत थे। उनमें संगठन शक्ति का अभाव था। गरीबदास की नम्रता और सज्जनता पर एक बार रज्जब ने व्यंग कसा था। इस कारण उस गद्दी का उन्होंने परित्याग कर दिया। इनके छोटे भाई मिस्कीनदास गद्दी पर बैठे। वे अपने अन्त समय तक यह कारभार सम्हालते रहे। इस प्रकार पंथ की गुरु परम्परा योग्य व्यक्तियों के साथ-साथ आगे चलने लगी। लगभग सौ वर्षों तक उसकी कार्य पद्धति में अन्तर नहीं आया।

इसी बीच रज्जब, प्रागदास, सुन्दरदास आदि का देहांत हो गया। इस सम्प्रदाय के पृथक् केन्द्र थांबे कहलाते थे। दादू के इन प्रधान शिष्यों की मृत्यु के बाद ये स्वतन्त्र रूप से अपना विकास करने लगे। दादू पंथ का प्रधान केन्द्र नरैना में ही है। वहाँ दादू पंथियों को खालसा भी कहते हैं। स्थानीय कारणों से दादू सम्प्रदाय के उपसम्प्रदाय भी हो गए। इन थांबों के भिन्न रहन-सहन में कोई भेद नहीं है। दादू स्वयं तो मुसलमान थे। इनके शिष्य गरीबदास, रज्जब, बषना, वाजिद, मिस्कीनदास आदि तो मुसलमान ही थे। किन्तु उन सब पर बाद को हिन्दू प्रभाव ही दृष्टिगत होता है। नरैना में गद्दी के चुनाव के लिए योग्यतम व्यक्ति का ही चुनाव किया जाता है। दादू पंथ के प्रधान ५ उपसम्प्रदाय हैं—१. खालसा, २. उत्तराड़ी, ३. नागा, ४. विरक्त, ५. खाली।

खालसा—इनका केन्द्र नरैना में है। अपने को ये दादू पंथी मानते हैं। इनके अनुयायियों का ध्यान अध्ययन, अध्यापन, भजन और आराधना की ओर रहा करता है। बहुत से अनुयायी साधारण गृहस्थों की तरह ही रहा करते हैं। दादू पंथियों की एक शिक्षा संस्था जयपुर में है।

उत्तराड़ी—इनके अनुयायी पंजाब के धनीमानी हैं। इसकी एक शाखा की स्थापना हरिद्वार में गोपालदास नामक व्यक्ति ने की थी। इसके मूल प्रवर्तक रज्जब या बनवारीदास माने जाते हैं। उन लोगों ने मूर्तिपूजा को अपनाना शुरु किया था। परन्तु नागा लोगों के आपत्ति करने पर छोड़ दिया। कहा जाता है कि उत्तराड़ी शाखा के ५२ थांबे हैं।

नागा—नागा अपने वस्त्रों की सादगी के लिए प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय को बड़े सुन्दरदास ने चलाया था। इसका संगठन भीमसिंह ने किया था। इन लोगों का एक थांबा नरैना में भी है। जयपुर राज्य की सीमा पर इनकी ६ टुकड़ियाँ बताई जाती हैं। युद्धों में सिपाही का काम करने के लिए सिखलाए जाते हैं। ५७ के विद्रोह में अंग्रेजों को इन्होंने काफी सहायता पहुँचाई थी।

विरक्त—प्रसिद्ध है कि ये भिक्षावृत्ति पर ही अपना निर्वाह करते हैं। ये

बादामी रंग के वस्त्र धारण कर अपना अधिकतर समय पढ़ने-लिखने में लगाते हैं। ये भ्रमण किया करते हैं और अपने मुखिया के साथ रहा करते हैं। ये दादू पंथी होकर संस्कृत का भी प्रचार करते हैं। ये नंगे सिर घूमते-फिरते हैं। ये किसी व्यवसाय में नहीं लगते। इनके हाथ में एक कमंडलु रहता है। गृहस्थों के यहाँ जाकर वे उपदेश देते हैं।

खाली—ये बहुत ही कम कपड़े धारण करते हैं और लम्बी जटा धारण करते हैं। शरीर पर भस्म लपेटकर ये साधना करते हैं और इधर-उधर घूमते रहते हैं।

दादू पंथियों को वास्तविक रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक साधु दूसरे गृहस्थ। ये साधु गृहस्थों के यहाँ जाकर दादू बानियों का उपदेश देते फिरते हैं। साधारण पढ़े-लिखे साधु गृहस्थों के यहाँ से केवल भीख ही स्वीकार करते हैं। कई साधु प्रकांड विद्वान हुआ करते हैं। ये गेरुए वस्त्र धारण करते हैं।

इनके शरीर पर दो एक मालाएँ भी पाई जाती हैं। गृहस्थियों का कार्य गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त दादू बानियों का अध्ययन और अतिथि सेवा होता है। शिक्षित दादू पंथियों में वेदान्त का खूब प्रचार है।

दादू पंथियों का स्थान धार्मिक समाजों में काफी ऊँचा रहता है। इसके अनुयायियों ने अपने संतों और गुरुओं की वाणी के प्रचार के लिए काफ़ी कार्य किया है। इसलिए दादू पंथ में खूब साहित्य उपलब्ध होता है। दादू के जीवन-काल ही में विभिन्न साधुओं की वाणियाँ एकत्रित हो गई थीं। संतदास व जगन्नाथदास ने उसी समय दादू बानी को "हरड़े बानी" के नाम से एकत्रित किया। रज्जब ने इसी समय "अंग वधू" नामक ग्रंथ की रचना की। जगन्नाथदास का "गुण गंज नामा" उसी समय का है। सवंगी और गुण गंज नामा में दादू के अतिरिक्त अन्य सन्तों की वाणियों को भी स्थान मिला है। दादू के अतिरिक्त इसमें कबीर, नामदेव, रैदास, हरिदास आदि की रचनाएँ हैं। अन्य सन्तों में पीपा, नरसी मेहता, सूरदास, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, भरथरी, चर्पटनाथ, हाडिपा, गोपीचन्द, शेख बाहुद्दीन, नानक, फरीद एवं कमाल हैं। इनमें ऐसे लेखकों की बानियाँ हैं जिनके लेखकों का पता नहीं है। कई बानियाँ इसमें अप्रकाशित हैं।

निरंजनी सम्प्रदाय

इस पंथ का मूल स्रोत नाथ पंथ समझा जाता है। उड़ीसा में इसका प्रभाव किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। उड़ीसा से ही कदाचित इस मत का प्रारम्भ हुआ था। डॉ० बड़थ्वाल ने तो इसे नाथ पंथ और संत मत के बीच की एक कड़ी माना है।[1] दादू पंथी राघोदास ने अपने ग्रंथ में कहा है कि निर्गुणोपासना का सम्बन्ध निरं-

---

१. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय; भूमिका।

जन से ही था। सम्प्रदाय का प्रवर्तक कोई जगन नामक व्यक्ति कहा जाता है। राघोदास के विवरण से पता चलता है कि इस सम्प्रदाय के १२ प्रचारक थे। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार दिये गए हैं—लपट्यो जगन्नाथदास, स्यामदास, कान्हड़दास, ध्यानदास, पेमदास, नाथ, जगजीवन, तुलसीदास, ग्रानन्ददास, पूरणदास, मोहनदास, हरिदास। उक्त बारह संत इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध पुरुष हो गये हैं। निरंजनी संप्रदाय के अन्य ग्रंथों में निपट निरंजनी का नाम भी आता है। इन्होंने भर्तृहरि, प्रेम पदार्थ, अमृतधारा, गीता रहस्य आदि ग्रंथों की रचना की। इनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ शांति सरसी और निरंजन संग्रह हैं। निपट निरंजनी तुलसीदास के समकालीन थे। पंथ के अनुयायियों में ग्रंथों की सर्वाधिक रचना तुलसीदास ने की है। सेवादास ने भी काफी ग्रंथ लिखे हैं। बड़थ्वाल ने इस सम्प्रदाय को नाथ पंथ का एक विकसित स्वरूप ही माना है। यहाँ तक कि उन्होंने सन्त मत से विभिन्न भी ठहराया है। किन्तु परशुराम चतुर्वेदी ने इस पंथ को सन्त मत से पृथक् माना है।[1] इन सम्प्रदाय वालों ने कर्मकांड, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि का खंडन किया है। मूर्तिपूजा, कर्मकांड आदि का महत्त्व उन्होंने निम्न कोटि के साधक के लिए आवश्यक माना है। हरिदास ने कहा "मन्दिर से वैर रखने की आवश्यकता नहीं है।" निरंजनियों ने वर्णाश्रम पद्धति के विरुद्ध भी अपना विरोध व्यक्त किया है। दलबंदी की भावना की अपेक्षा यह सम्प्रदाय समन्वय की भावना को लेकर चला है।

बावरी पंथ

इस पंथ का प्रभाव दिल्ली एवं उत्तर प्रदेश के जिलों तक सीमित है। इसमें बहुत उच्च कोटि के महात्मा हो गए हैं। सम्प्रदाय का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं होता। प्रचारकों की इतनी रचनाएं नहीं हैं कि जिनके आधार पर निश्चित अनुमान लगाया जा सके। सम्प्रदाय का प्रारम्भ गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) से हुआ है। पंथ के प्रथम ५ प्रवर्तकों ने इसे संगठित करने का विशेष प्रयास नहीं किया। चतुर्थ प्रवर्तक बावरी साहिबा ने इसका ठीक-ठीक संगठन किया। उन्हीं के नाम पर आज तक यह परम्परा चली आती है। पाँच के बाद छठे प्रवर्तक यारी साहब थे। इन्होंने इसे सर्व प्रथम सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। इसी कारण कई इसका नाम यारी साहब की परम्परा भी रखना चाहते हैं। इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार यारी साहब के शिष्य बूला साहब और गुलाल साहब के कारण हुआ। पश्चिम की अपेक्षा इसका प्रचार पूर्व में हुआ। यहाँ तक कि समय पाकर इस सम्प्रदाय का केन्द्र पूर्व से उठकर पश्चिम में चला आया।

बावरी साहिबा की इस परम्परा के आदि प्रवर्तक रामानन्द माने जाते हैं।

---

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परंपरा; पृष्ठ ४७४।

ये प्रसिद्ध रामानन्द से भिन्न थे। इनका निवास गाजीपुर था। गाजीपुर जिले का कोई पटना गाँव था। इनके शिष्य दयानन्द भी पटना के ही थे। इनके शिष्य मायानंद किसी और गाँव के थे। इन महात्माओं की वाणी का पता नहीं लगता किन्तु उनकी वंशावली ही सुरक्षित है।

पंथ की वंशावली के अनुसार बावरी साहिबा मायानन्द की शिष्या थीं। अनुयायियों का कथन है कि ये उच्च कुल की महिला थीं। काफी साधु संतों के सत्संग से प्रभावित होकर उन्होंने मायानन्द से दीक्षा ग्रहण की। इनका आविर्भाव सम्राट अकबर के समय में लगभग सन् १५९९ में हुआ था।

बावरी का अर्थ बावली था। यह नाम उनकी उपासना से पड़ा जान पड़ता है। उनके मूल नाम का पता नहीं लगता। पीरू साहब उनके शिष्य थे। कहा जाता है कि पीरू साहब उच्च घराने के वंशज थे। बावरी साहिबा का देहांत हो जाने पर ये ही गद्दी पर बैठ थे। इनके जीवन के विषय में अधिक पता नहीं लगता, इनके शिष्य यारी साहब थे। दिल्ली में इनकी गद्दी आज तक चली आ रही है।

कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध किसी शाही घराने से था। ये शाहजादा भी रह चुके थे। ऐश्वर्यमय जीवन से इनकी वृत्ति हट गई और ये विरक्त होकर सत्य की खोज में लग गये। पीरू साहब से भेंट होने पर यारी साहब प्रभावित हुए। इनका मूल नाम यार मुहम्मद था। ये मस्त-मौला फकीर थे। पश्चिमी क्षेत्र वालों में केशव-दास इनके पट्ट शिष्य थे। इनकी एक रचना "अमी घूंट" नाम से प्रकाशित हुई है। यारी साहब को उसमें कई स्थलों पर गुरु स्वीकार किया गया है। इनके पश्चिमी गुरु भाई सूफीशाह थे। कहा जाता है कि इसका प्रधान केन्द्र दिल्ली में अब तक वर्तमान है।

यारी साहब के पाँचवें शिष्य गाजीपुर के निवासी थे। ये जाति के कुर्मी थे और एक जमींदार के यहाँ हल चलाया करते थे। बूला साहब के दो शिष्यों में से प्रथम ने सत्तनामी सम्प्रदाय का प्रचार किया। उनका नाम जगजीवन साहब था। इनके दूसरे शिष्य गुलाल साहब ने भुरकुड़ा केन्द्र से इनके मूल मत का प्रचार किया। गुलाल साहब बूला साहब की गद्दी पर उनके पश्चात् सं० १७९६ में बैठे। गुलाल साहब के प्रधान शिष्य भीखा साहब और हरलाल साहब थे। भीखा के प्रधान केन्द्रस्थ अधिकारी चतुर्भुज साहब थे। ये जाति के ब्राह्मण थे। भीखा के बाद सं० १८४९ में ये गद्दी पर बैठे। सं० १८७५ में इनका देहान्त हुआ था। इनके बाद नरसिंह साहब गद्दी पर बैठे। इनके बाद कुमार साहब गद्दी पर बैठे। भीखा के प्रधान शिष्य गोविंद साहब थे। गोविंद साहब के शिष्य पलटू साहब थे। पलटू साहब काफी विख्यात हुए थे। पलटू के बाद प्रसाद साहब गद्दी पर बैठे।

इस सम्प्रदाय के विकासादि का ठीक-ठीक पता नहीं लगता है। इस पंथ के महात्माओं का ध्यान व्यक्तिगत जीवन को आदर्शमय बनाने का था, उनका उतना ध्यान प्रचार और संगठन की ओर नहीं था। पंथ की कोई रचना मान्य ग्रंथ के रूप

में सुरक्षित नहीं है। पंथ का परिचय तो केवल इधर-उधर की बिखरी बानियों से ही प्राप्त होता है। यारी साहब की रत्नावली, केशवदास का अमीघूंट तथा बावरी साहिबा की कतिपय रचनाएँ उपलब्ध हैं। बूला, भीखा, पलटू, दूलन, जगजीवन आदि की बानियाँ प्रकाश में तो आ गई हैं। किन्तु नेवलदास, खेमदास, चतुर्भुजदास, पहलवानदास, देवकी नन्दन आदि संतों की कृतियाँ हस्तलिखित रूप में ही पड़ी हैं। जगजीवन साहब वाली शाखा सतनामी सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी है। कई लोग तो इसे पृथक् भी मानते हैं। भीखा पंथ, पलटू पंथ आदि की गणना बावरी पंथ में ही हुआ करती है। समयानुसार इसमें कई संशोधन और परिवर्तन भी हुए है। इस प्रकार बावरी के व्यक्तित्व से उसका प्रारम्भ हुआ और कालांतर उसमें भीखा और पलटू जैसे सन्त हुए। पलटूदासियों का नवीन पन्थ भी चला। उसका केन्द्र अयोध्या है। इसके अनुयायी नीले रंग के वस्त्र पहिनते हैं। अयोध्या के अतिरिक्त ये नैपाल में भी पाये जाते हैं। भीखा साहब के नाम पर भी बलिया और नैपाल में भीखा पन्थ चला। ये साधारण बातों में एक दूसरे से भिन्न नहीं कहे जा सकते ।

बावरी पंथ की गुरु परम्परा[1]

- रामानंद
  - केशवदास, दिल्ली
  - हस्त मुहम्मद, दिल्ली
  - सूफी शाह फकीर, दिल्ली
  - राखन शाह, दिल्ली
  - बूला शाह, सं० १६९० सं० १७६६, भुरकुड़ा जि० गाजीपुर
    - जगजीवन साहब, कोरवां, जि० बाराबंकी
    - गुलाल साहब
      - मर्दानसिंह, धानापुर जि० बनारस
        - चतुर्भुज सा० मृ० सं० १८७५
          - नरसिंह सा० मृ० सं० १९०६
            - कुमार सा० मृ० सा० १९३६
              - रामहित सा० मृ० सं० १९४९
                - जैनारायण सा० मृ० सं० १९८१
                  - रामचरनदास वर्तमान
        - गोविन्द सा० महरोली जि० फैजाबाद
          - पलटू सा०
            - अयारध्या सा०
              - परसाद सा०
                - रामसेवक सा०
                  - प्रयागदास सा०
                    - त्रिवेणीदास सा०
                      - जगन्नाथ सा०
      - भीखा साहब
      - हरलाल साहब, चीर बड़ागांव, जि० बलिया
        - हरलाल साहब
          - जीवन सा०
            - गजराज सा०
              - जीवन सा०
                - तेजधारी सा०
                  - देवकीनंदन सा०
                    - बनमाली सा०
                      - ब्रजमोहन सा०
                        - राजाराम सा०

---

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा।

मलूक पंथ

मलूकदास के नाम से एक से अधिक महात्मा हो गए हैं। इसलिए इस विषय में भ्रम का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। श्यामसुन्दर ने एक मलूकदास का उल्लेख किया है जो कबीरदास के समकालीन थे। किसी क्षेमचंद के लिए काशीवाली प्रति इन्होंने सं० १५६१ में लिखी थी। ऐसा बताया जाता है कि पुरी में कबीर की समाधि के पास एक मलूकदास की समाधि भी बनी हुई है। इसी प्रकार प्रसिद्ध है कि मलूकदास ने निम्नलिखित दोहे की रचना की है—

> **अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।**
> **दास मलूका यों कहें, सबके दाता राम॥**

इसी के आधार पर उन्हें भाग्यवादी ठहराया जाता है। उपरोक्त पंक्तियाँ मलूक शतकम् की है। यह छोटी-सी रचना है, इसके लेखक कोई और हैं। जो इस मलूकदास से भिन्न है।

मलूक पंथ के अनुसार मलूक का जन्म वैशाख वदी ५ सं० १६३१ को कड़ा में हुआ था। यह कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता कि मलूकदास ने किसी मठ की स्थापना की हो। किसी पंथ के प्रचार का उल्लेख भी नहीं मिलता। मलूक पंथियों की संख्या काफी है। पुरी, पटना और काबुल तक ये फैले हुए हैं। किंवदंती के अनुसार इनके शिष्य दयालदास ने गद्दी इलाहाबाद में स्थापित की। इनके शिष्य हृदयराम ने इलाहाबाद में गद्दी की स्थापना की थी। गोमतीदास ने लखनऊ में इस सम्प्रदाय की नींव डाली। दक्षिण में सीता कोयल में पूरनदास ने मठ की स्थापना की। काबुल में रामदास ने। अन्य गद्दियाँ जयपुर, गुजरात, वृन्दावन, पटना, नेपाल आदि में हैं। पुरी वाली गद्दी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि मलूकदास का शव वहाँ तक बह कर आया था। उनका कथन है कि मलूकदास का शव कड़ा से चलकर पहले प्रयाग आया। प्रयाग में ठहर कर डुबकी लगाकर काशी में जा निकला। वहाँ कलम दवात से अपनी पहुँच की सूचना लिख पुरी जा निकला। जगन्नाथजी के पनाले के पास इनका स्थान अभी तक सुरक्षित है। उनके नाम का रोट वहाँ पर अभी तक जारी है। यात्रियों को वह जगन्नाथजी के प्रसाद के रूप में मिलता है। ये बातें गढ़ी हुई ही जान पड़ती हैं। किसी अन्य मलूकदास के साथ इनकी अभिन्नता सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है।

वंशावली[1]

- मुरार स्वामी
  - गोमतीदास, लखनऊ
  - सुथरादास
  - मलूकदास, सं० १६३१-१७३६, कड़ा मानिकपुर, जि० इलाहाबाद
    - राम सनेही
      - कृष्ण सनेही
        - कान्ह ग्वाल
          - ठाकुरदास
            - गोपालदास
              - कुंजबिहारी दास
                - राम सेवक
                  - शिव प्रसाद
                    - गंगा प्रसाद
                      - अयोध्या प्रसाद—इसके बाद गद्दी समाप्त समझी जाती है।
  - पूरनदास, सीता कोयल
  - दयालदास
    - मोहनदास, मुल्तान
    - हृदयराम, इलाहाबाद
  - मीर माधव

बाबालाली सम्प्रदाय

बाबालाल नाम से पंजाब में चार संत प्रसिद्ध हो गए हैं। एक पिंडदान खां के निवासी कहे जाते हैं, दूसरे का निवास मेरा या भेरा था, तीसरे का मठ गुरदासपुर में कहा जाता है। दाराशिकोह से भेंट करने वाले बाबालाल इन तीनों से भिन्न माने जाते हैं। इन बाबालाल का जन्म मालवा में सं० १६४७ में किसी खत्री परिवार में हुआ था।

---

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा।

इन्होंने बाबा चेतन से दीक्षा ग्रहण की थी। इनके जीवन की प्रमुख घटना दाराशिकोह से भेंट है। गुरु से उपदेश ग्रहण कर २२ शिष्यों सहित इन्होंने काबुल, गजनी, पेशावर, कंधार, दिल्ली, सूरत आदि का भ्रमण किया था। उनके अनुयायियों का मत है कि बाबालाल ३०० वर्ष जीवित रहे थे।

बाबालाल वेदांत के अतिरिक्त सूफ़ी मत से भी प्रभावित थे। लाहौर जाकर आध्यात्मिक विषयों पर दारा से इन्होंने चर्चा की थी। भेंट का यह समय सन् १६६६ बताया जाता है। परन्तु यह गलत प्रतीत होता है। दारा सन् १६४० में काश्मीर गया था। सन् १६६६ तक तो दारा का औरंगजेब ने वध करवा दिया था। बाबालाल के नाम के कुछ फुटकर दोहे, साखी आदि भी प्रचलित हैं। इनका प्रामाणिक संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है।

बाबालाल एकेश्वरवादी थे। इनका दादू दयाल और कबीर के सिद्धान्तों से काफी साम्य है। इनकी साधना के अन्तर्गत शम, दम, चित्त-शुद्धि, दया, परोपकार, सहजभाव आदि का होना पाया जाता है।

इनके अनुयायी सीमाप्रांत, बड़ोदा में पाए जाते हैं। गुरदासपुर जिले (पंजाब) के दयानपुर गाँव में इनका प्रधान केन्द्र है। सरहिंद के पास मठ व मन्दिर है। प्रतिवर्ष वैशाख की दशमी को बाबालाल की समाधि पर मेला लगता है।

धामी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ प्राणनाथ ने किया था। इनका जन्म जामनगर (काठियावाड़) में सं० १६७५ में हुआ था। इनके पिता का नाम क्षेमजी था। कुछ ही दिनों में अपना जन्म स्थान त्याग ये साधुओं के साथ भ्रमण करने लगे। कुछ समय में इन्होंने अरबी-फारसी, संस्कृत और हिन्दी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। कुरान, बाइबिल आदि का भी इन्होंने अध्ययन किया। इन्होंने काठियावाड़, सिंध, महाराष्ट्र और मालवा के प्रसिद्ध स्थानों का भ्रमण किया। कहा जाता है कि इन्हें किसी देवचन्द्र साधु से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। कहा जाता है कि ये अरब तक गए थे और मस्कत में ठहरे थे। अरब की यात्रा के बाद धौलपुर में इन्होंने नौकरी की और दीवान के पद पर कार्य किया।

ये गुरु की गद्दी पर महाराज ठाकुर के नाम से बैठे। इन्होंने गुजराती भाषा में कलस नामक पुस्तक लिखी। पोरबन्दर, कच्छ, सूरत और दिल्ली जाकर औरंगजेब से भी भेंट की। दिल्ली से लौटते हुए मंदसौर, उज्जैन होते हुए ये आए और मार्ग में कई राजाओं को उपदेश देकर अनुयायी बनाया। इनका देहान्त सं० १७५१ में हुआ था। कहा जाता है कि इन्होंने छत्रसाल से भेंट की थी। प्राणनाथ उच्चकोटि के साधक थे। कबीर और नानक ने तो केवल हिन्दू और मुसलमानों की एकता के ही लिए उपदेश दिए किन्तु प्राणनाथ ने सभी धर्मों की मौलिक एकता पर जोर दिया। उनका

दृष्टिकोण सर्वथा मानवतावादी था। सभी धर्मों के सिद्धान्तों में एकता लाने का उन्होंने प्रयास किया।

इनकी १४ रचनाएँ बतलाई जाती है। सभी पद्यमय हैं। अप्रकाशित होने के कारण उनका अध्ययन नहीं हो सका। उनके अनुयायियों द्वारा स्वीकृत परम्परा के अनुसार "कलजमें शरीफ" सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ समझा जाता है। अपने प्रधान मन्दिरों में धर्मग्रंथों के रूप में इसकी वे प्रति भी रखते हैं। इसकी पूजा भी की जाती है। वेद और कुरान दोनों ही के अंश इसमें उद्धृत है। इसके अन्तर्गत १६ किताबें शामिल हैं। इसकी भाषा हिन्दी, उर्दू और गुजराती मिली हुई खिचड़ी है।

पन्ना और बुन्देलखंड की यात्रा करने से पूर्व इन्होंने अपने पंथ की नींव डाली। पंथ आज तक गुजरात, काठियावाड़ में प्रचलित है। वैष्णवों से इसका काफी साम्य है। बाद को तो सत्संग के कारण इनके सिद्धान्तों में और भी व्यापकता आती गई। संत प्राणनाथ ने कहा कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी प्रचारकों के सिद्धान्तों में भिन्नता नहीं है। प्राणनाथ के पंथ को उनके एक पूर्व नाम महाराज ठाकुर के अनुसार महाराज पंथ भी कहते हैं। अन्य नाम खिजड़ा और चकला भी सुने जाते हैं। किन्तु उनका प्रसिद्ध नाम धामी सम्प्रदाय ही है। उसके अनुयायी भाई, साची भाई कहलाते हैं। वे आजकल वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित होते जान पड़ते हैं। कृष्ण के बालस्वरूप का ध्यान करते हुए भी पाए जाते हैं। वे तुलसी की माला भी धारण करते हैं। ललाट पर कुंकुम का खड़ा तिलक लगाते हैं। वे मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते। इनमें मांस, मदिरा और जाति व्यवस्था का निषेध है। दीक्षा के अवसर पर हिन्दू मुसलमानों का सहभोज होता है। योग विद्या में इस सम्प्रदाय के अनुयायी कुशल होते हैं। नैतिक आचरण और चारित्र शुद्धि पर इनका विशेष जोर रहता है। अनुयायी लोकसेवा तथा परोपकार आदि पर ध्यान देते हैं।

इनका प्रधान केन्द्र पन्ना है। कार्तिक सुदी १५ को प्रति वर्ष वहाँ पर मेला लगता है। वहाँ पर ये बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं। सूरत के कच्छी इसके अनुयायी हैं। इसका प्रचार सागर, दमोह और जामनगर में है। जामनगर भी प्रधान केन्द्र माना जाता है।

नेपाल में १५० वर्ष पहले इसका प्रचार राजा रामबहादुर शाह ने किया था। वहाँ से प्राणनाथी अध्ययन करने और धर्म-ग्रंथ पढ़ने पन्ना आते हैं।

सत्तनामी संप्रदाय

सत्तनामी से अभिप्राय सत्य नाम से परिचित किये जाते सत्य रूप ईश्वर से ही है। सत्त सत्य का रूपांतर ही है। जिसका अर्थ नित्य या शाश्वत है। नामी का आशय भी नाम द्वारा सूचित की गई नामधारी वस्तु से है। संत मत में सत्तनाम शब्द को काफी महत्त्व प्रदान किया गया है। सिखों में तो कार्य प्रारम्भ करने के

पहले सत्तनाम का वैसे ही महत्त्व है जैसे अनेक पंथ वाले ओ३म् या श्री गणेशायनमः का प्रयोग करते हैं। राम के यथार्थ के रूप में भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग किया जाता है।

इस संप्रदाय के मूल प्रवर्तक का पता नहीं लगता, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने दादू पंथी जगजीवन साहब को इस संप्रदाय का प्रवर्तक माना है।[1] कई इसका संस्थापक साध संप्रदाय के वीरभान को मानते हैं। कोई उसके गुरु ऊदादास का नाम लेते हैं। कई लोगों का कथन है कि सर्वप्रथम इसका प्रचार जोगीदास ने किया था। किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। वीरभान जोगीदास और ऊदादास आदि के नामों से यह प्रतीत होता है कि इस संप्रदाय का संबंध साध संप्रदाय से रहा है। सत्तनाम तो एक परिचयात्मक विशेषण प्रतीत होता है। इतिहास के सत्तनामी संप्रदाय का उल्लेख औरंगजेब से विद्रोह के रूप में आता है। सं० १७२६ तक तो साध संप्रदाय भलीभाँति प्रचलित हो चुका था।

नारनौल शाखा—विद्रोह के समय सं० १७३० में यह संप्रदाय काफी जाग्रत हो चुका था और इतना उग्र हो गया कि औरंगजेब को इसके विरुद्ध फौजें तक भेजनी पड़ी थीं। जोगीदास ने दाराशिकोह की ओर से औरंगजेब के विरुद्ध भाग लिया था। चोट खाने के बाद पूर्ण स्वस्थ होकर वे परिभ्रमण कर रहे थे। दारा का समर्थन करने के कारण औरंगजेब की आँखों में वे विद्रोही थे। अनुयायियों की उग्रता भी बढ़ती ही जा रही थी। सत्तनामी विद्रोह में जोगीदास का नाम तो नहीं आता। सत्तनामी विद्रोह में भाग लेने वाले अधिकतर ग्रामीण किसान ही थे। उन्हें दिल्ली के विरुद्ध उभाड़े जाने का कारण एक सत्तनामी के व्यक्तिगत झगड़े का ही प्रारंभ था। सत्तनामी का झगड़ा सरकारी आदमी से शुरु हुआ। फौजदार को भी सत्तनामियों ने मार भगाया। स्वयं फौजदार भी मारा गया। सत्तनामियों की संख्या अब तक लगभग ५००० हो चुकी थी। नगर पर अधिकार कर अपना आदमी नियुक्त कर उन्होंने कर भी वसूल करना प्रारंभ कर दिया। सत्तनामी इसके बाद भी शांत नहीं हुए। इनकी विजय को लोग ईश्वरीय विधान मानने लगे।

सत्तनामियों का यह विद्रोह सं० १७२६ में प्रारंभ हुआ। सं० १७३० में हजारों सत्तनामियों को मारने के बाद भी क्षेत्र की हालत वैसी ही रही। यह एक प्रकार का किसान विद्रोह था। सांप्रदायिक वेशधारी सत्तनामोच्चारण के कारण धर्मानुरागी जनता को उपद्रवी कहा गया। तब से उनको नाम विशेष भी दे दिया गया। सफी खाँ ने उनके चरित्र-बल की प्रशंसा की है। सत्तनामियों की भेद भाव रहित भावना और साहस स्तुत्य है, जो बादशाह तक से मुठभेड़ ले सकते हैं। ये मामूली नहीं हो सकते। राजधानी के पास से बादशाह ने इन्हें समूल उखाड़ने की

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका; भाग-१५, पृ० ७५।

चेष्टा की। यह संप्रदाय पूर्ववत् तो नहीं हो सका किन्तु अन्यत्र बराबर फूलता-फलता रहा।

कोटवाशाखा—उक्त शाखा का पुनः नेतृत्व जगजीवन साहब ने किया। इनके शिष्यों में दो मुसलमान भी थे। प्रधान शिष्य दूलनदास, देवीदास, गुसांईदास, खेमदास और एक उपाध्याय चमार था।

कोटवा शाखा की वंशावली[1]

दूलनदास
समेसी गाँव
जि० लखनऊ
सं० १७१५-१८३५

गुसाँई दास
लक्ष्मण गाँव
जि० बाराबांकी
सं० १७३५-१८७०

देवीदास
कपोली
बाराबांकी

खेमदास
यथनापुर
बाराबांकी
सं० १७२६ १८३३, मृ० लगभग १८३०

नेवतदास
सं० १८५०

सिद्धदास, हरिगाँव जि० सुलतानपुर, मृ० १८४५

पहलवानदास

नारनौल शाखा के किसान जाट अधिक शिक्षित नहीं थे। इनकी प्रसिद्धि सत्तनामी विद्रोह के समय हुई थी। कोटवा शाखा में उच्च वर्णीय हिन्दु भाग लेते आए हैं। इसके मुख्य प्रचारक प्रायः सभी शिक्षित थे। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना भी की है। इन लोगों का प्रचार क्षेत्र अवध था।

छत्तीसगढ़ी शाखा—इस सम्प्रदाय की तीसरी शाखा छत्तीसगढ़ी शाखा है। इसे बिलासपुर जिले के निवासी घासीदास ने चलाया था। कहा जाता है कि घासीदास अपने को स्वतंत्र प्रचारक माना करते थे। ये जाति के चमार थे। रायपुर जिले के गिरोद नामक निकटवर्ती वन में ये विरक्तावस्था में रहा करते थे। इनका सारा समय ध्यान में ही व्यतीत होता था। जिस वृक्ष के नीचे ये बैठा करते थे वहाँ पर काफी सत्तनामी मन्दिर बन चुके हैं। यहाँ तीर्थ-यात्रा के लिए प्रतिवर्ष सत्तनामी आते हैं। उस वृक्ष का अस्तित्व अभी तक है। सत्संग में आने वाले इनका चरणामृत बांस की नालयों में दूर-दूर तक भरकर ले जाते हैं और परिवार सहित उसका पान करते हैं। ८० वर्ष की आयु समाप्त कर इनका देहान्त हुआ। इनकी मृत्यु सं० १९०७ में हुई थी। इनके पुत्र बालकदास

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत-परम्परा।

इनके उत्तराधिकारी बने। बालकदास की स्त्री ने उसके भाई अगरदास से विवाह कर लिया। इस कारण अगरदास के हाथ में प्रबंध का सारा कारभार आ गया। अगरदास के बाद उक्त स्त्री से उत्पन्न तथा उसकी पूर्व पत्नी से उत्पन्न पुत्र अरमानदास के बीच गद्दी का झगड़ा चलने लगा। दोनों ने सारी संपत्ति आपस में बाँट ली।

वंशावली

घासीदास मृ० सं० १६०७

|

बालकदास

|

अगरदास

|

अरमानदास — अजबदास

छत्तीसगढ़ी शाखा के अनुयायी अधिकतर चमार ही हैं। अपने को प्रसिद्ध चमार रैदास के नाम पर ये रैदासी भी कहा करते हैं। घासीदास ने कदाचित इस शाखा की कल्पना सं० १८७७-१८८७ में की थी।

सिद्धान्त—सत्तनामियों के अनुसार ईश्वर एक है और वह भी निराकार है। उसकी न तो कोई मूर्ति ही है और न ही उसकी मूर्ति के रूप में कोई पूजा ही हो सकती है। देवताओं में ये सूर्य की पूजा करते हैं। गिरोद के मंदिर में किसी मूर्ति की स्थापना नहीं है। स्वयं यहाँ के महंत ही अनुयायियों का समाधान करते रहते हैं।

घासीदास ने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया है कि मद्य, मांस, लाल मिर्च, तम्बाकू, टमाटर व बैंगन नहीं खाए जा सकते। तोरई का खाना भी वर्जित है। गाय को हल में नहीं जोता जाता। दोपहर के बाद हल नहीं चलया जाता। वर्ण-व्यवस्था का पालन भी निषिद्ध है। संप्रदाय के कठोर नियमों का पालन करने वाले जाटिया कहलाते हैं। वे चारपाई पर भी नहीं सोते। मोटे कपड़े पहनते हैं। केवल चावल दाल ही खाते हैं। तम्बाखू का व्यवहार भी नहीं करते। तम्बाखू पान करनेवाले इस संप्रदाय में चुंगिया के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनके सामाजिक नियम चमारों से मिलते हैं। धोबी, पसियारे और महतरों को भी वे नहीं अपनाते। विवाह कार्य माघ से वैशाख तक सम्पन्न होते हैं। सगाई श्रावण या पूस में करते हैं। शव को ये गाड़ते हैं। कबीर पंथियों की भांति मद्यपान करने वालों को इन्होंने शाक्त नाम दिया है।

धीरे-धीरे सत्तनामी हिन्दुओं में ही मिलते जा रहे हैं। उनकी अपनी बहुत-सी बातें विस्मृत होती जा रही हैं। शाक्तों और सत्तनामियों में अंतर रहता आया है। कोटवा शाखा के सत्तनामी लालरंग के वस्त्र या टोपी पहिनते हैं। वे मिट्टी का टीका

लगाते हैं। निम्न श्रेणी के श्रद्धालु अनुयायी गायत्री क्रिया भी करते हैं। साथ रहन-सहन में सतनामियों से कट्टर हैं।

धनीश्वरी सम्प्रदाय

इसका प्रारम्भ बाबा धरणीदास ने किया था। इसकी शिष्य परम्परा और प्रचार का कार्य नहीं किया गया। इस कारण इसका अधिक प्रचार नहीं हो सका। धरणीदास के जीवन-मरण की ठीक-ठीक तिथियों का पता लगाना तो मुश्किल है। सब कुछ अनुमान पर ही आधारित है। इनका जन्म सं० १७३३ में बताया जाता है। कहा जाता है कि इनका देहान्त ८१ वर्ष की अवस्था में हुआ था। प्रम प्रगास में इन्होंने अपना व्यक्तिगत विवरण दिया है। इनका विवाह चकिया नामक गाँव में हुआ था। इनके दो पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। दोनों पुत्र निस्सन्तान मरे थे। ये पितृ निधन के पश्चात् उदास रहने लगे। और बाद को विरक्त हो गए। इनके गुरु विनोदानंद थे।

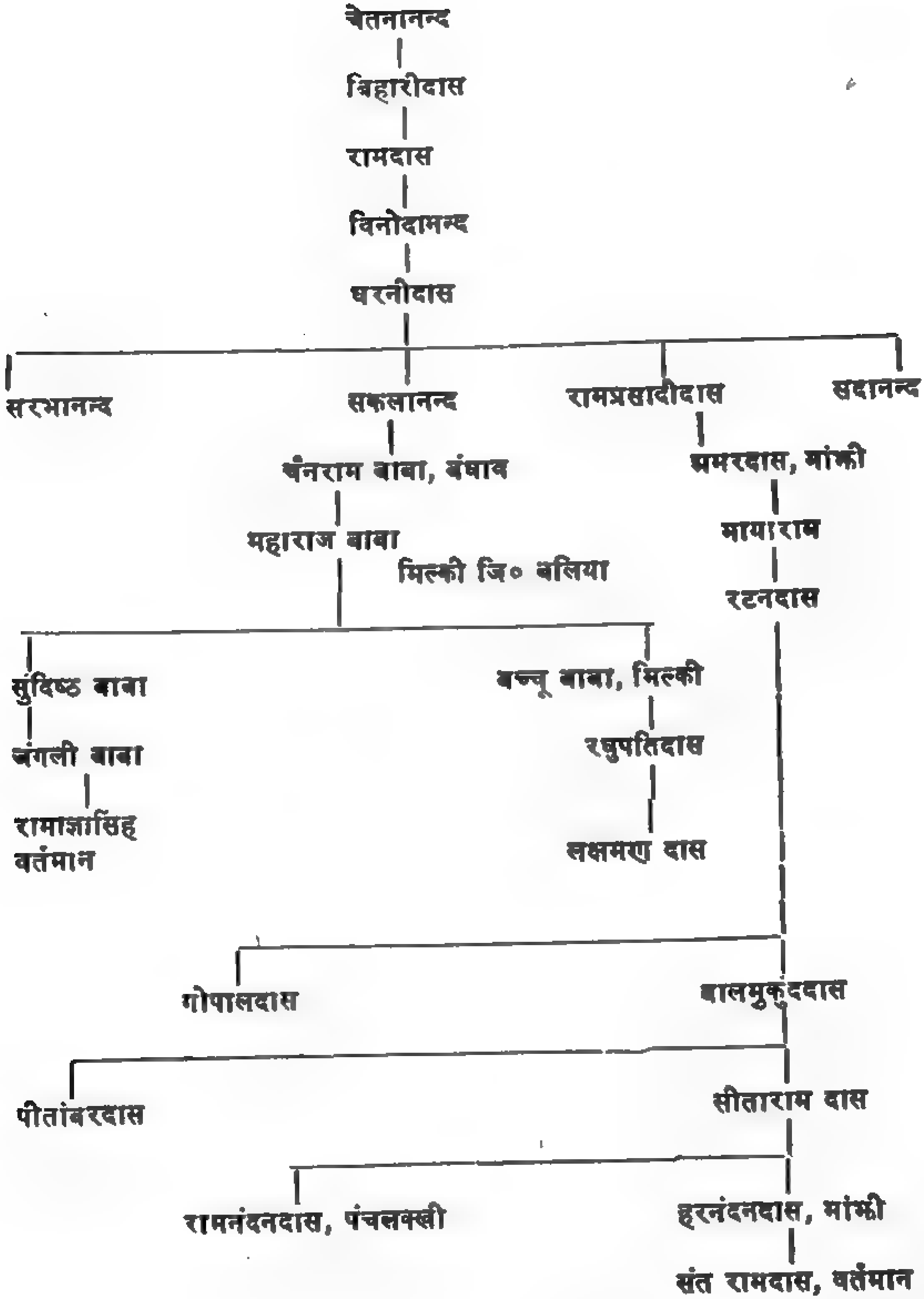
इनकी रचनाओं में प्रेम प्रगास, शब्द प्रगास, रतनावली आदि प्रसिद्ध हैं। वेलवेडियर प्रेस प्रयाग से, धरणीदास की बानी नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इनके निधन के पश्चात् क्रमशः मायाराम, रतनदास, बालमुकंददास, रामदास, सीतारामदास, हरनंदनदास एवं संत रामदास हुए। उनके सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र मांझी की गद्दी समझी जाती है। "धरनीश्वर के द्वारे" में उनके भवन के स्थान पर उनकी खड़ाऊँ रखी मिलती हैं। पंथ की साढ़े बारह गद्दियाँ बताई जाती हैं। बिहार में मांझी के अतिरिक्त परक्स, पंच और ब्रह्मपुर अधिक प्रसिद्ध हैं।

पंथ के अनुयायी बलिया में भी पाए जाते हैं। वहाँ वालों का मूल सम्बन्ध बरसा मठ से बताया जाता है इसके सर्वप्रथम संत चैनराम बाबा कहे जाते हैं। उनका जन्मस्थान बलिया जिले में सहतवार कस्बे का निकटवर्ती बंधाव ग्राम था। बाबा चैनराम का जन्म सं० १७४० में हुआ था।

वंशावली[1]

रामानन्द
|
सुरसुरानन्द
|
शेखानन्द
|
शून्यानन्द
|

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तर भारत की संत परम्परा।

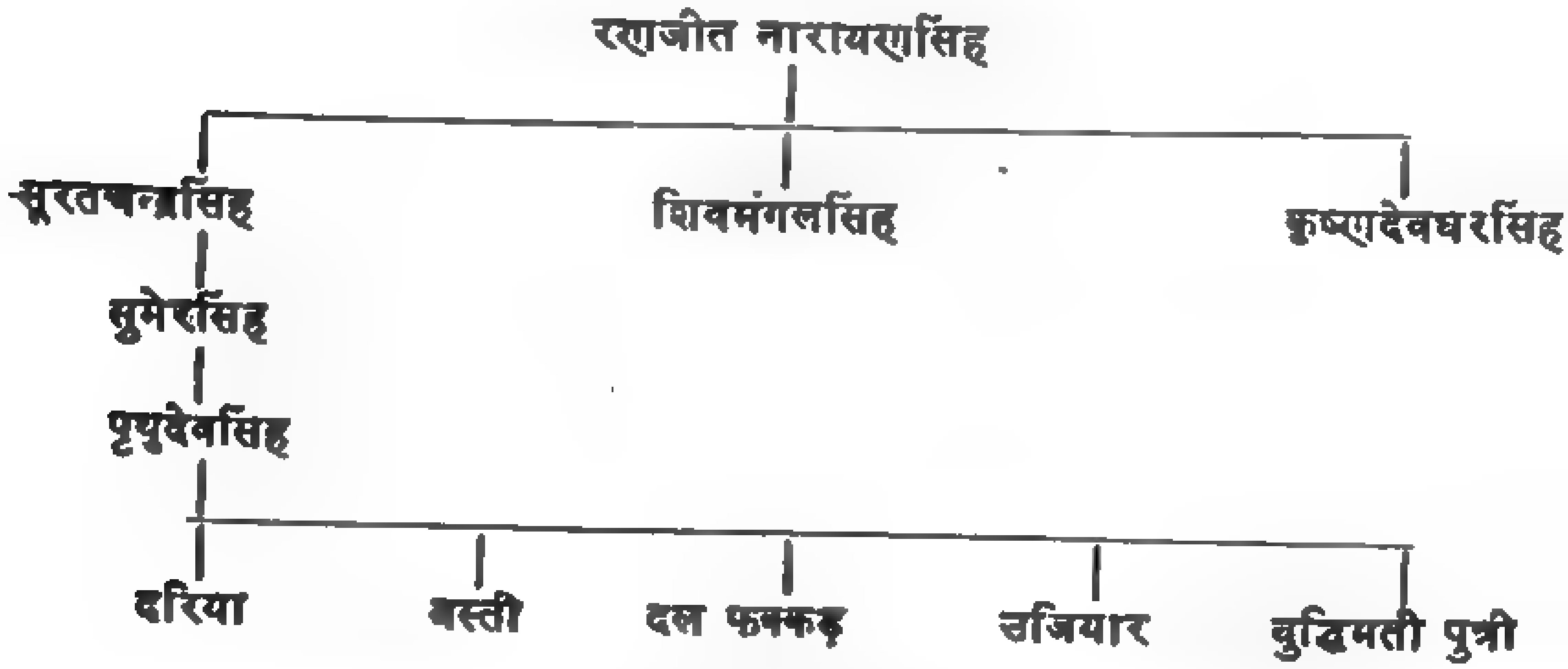

चेतनानन्द
बिहारीदास
रामदास
विनोदानन्द
धरनीदास
सरभानन्द
सकलानन्द
रामप्रसादीदास
सदानन्द
चैनराम बाबा, बंधाव
भ्रमरदास, मांझी
महाराज बाबा
मिल्की जि० बलिया
मायाराम
रटनदास
सुदिष्ठ बाबा
बच्चू बाबा, मिल्की
जंगली बाबा
रघुपतिदास
रामाज्ञासिंह
वर्तमान
लक्ष्मण दास
गोपालदास
बालमुकुंददास
पीतांबरदास
सीताराम दास
रामनंदनदास, पंचलक्खी
हरनंदनदास, मांझी
संत रामदास, वर्तमान

दरियादासी सम्प्रदाय

दरिया नाम के दो संत एक दूसरे के समकालीन हो गए हैं। एक का निवास मारवाड़ और दूसरे का विहार था। दोनों पहले मुसलमान थे। विहार वाले दर्जी और मारवाड़ वाले धुनियां थे। दोनों ही ने बाद को संत मत को स्वीकार किया था। विहार वाले दरिया ने मारवाड़ वाले दरिया से अधिक रचनाएँ कीं। विहार वाले दरिया के मठ भी मारवाड़ वाले दरिया से कहीं अधिक हैं। विहार वाले मारवाड़ वाले से पहले उत्पन्न हुए थे। विहार वाले दरिया साहब का अनुभव भी व्यापक था। उनके मत पर सूफ़ी और सतनामी मत का प्रभाव पड़ा है। मारवाड़ वाले दरिया साहब ने अपनी अनुभूति में मग्न रहकर अन्यत्र ध्यान नहीं दिया।

फ्रांसिसी बुकेनन, सुधाकर द्विवेदी, वालेश्वर प्रसाद, धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी आदि ने इस पर प्रकाश डाला है। महंत चतुरीदास ने पूर्व पुरुषों का वंश-वृक्ष दिया है। इस पंथ का प्रसार अधिकतर उत्तर प्रदेश व बिहार में है। इनका मूलमन्त्र है "वे यह हैं" प्रार्थना का ढंग कोरनिश कहलाता है। इनका सिजदा मुसलमानों की नमाज से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। प्रत्येक साधु को अपने पास मिट्टी का हुक्का, मटका या कुल्हड़ रखना पड़ता है। सतनाम शब्द का प्रयोग श्रद्धा से किया जाता है।

वंशावली



शिवनारायणी सम्प्रदाय

इनकी जीवनी के वृत्तांत कम ही उपलब्ध होते हैं। इनके अनुयायी इन्हें अलौकिक महापुरुष कहकर ईश्वर का रूप दे डालते हैं। सम्प्रदाय के मान्य ग्रंथ "संत सागर" और "संत विलास" हैं। संत सुन्दर ग्रंथ के अनुसार सं० १८११ में शिवनारायण का चंदवार गाँव में नरोनी क्षत्रिय बाघाराय के घर जन्म हुआ था। पंथ का सर्व

प्रसिद्ध ग्रंथ मुहम्मद शाह के जमाने में शिवनारायण बंगाल से लाए थे। इनके गुरु का नाम दुखहरण था। इनकी जन्म तिथि और मरणकाल का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इनके पूर्वजों का निवास कन्नोज की ओर था। किसी कारणवश ये गाजीपुर जिले की ओर चले गए थे। इन्होंने गुरु उल्लास, संत सुन्दर, संत विलास, संत सागर आदि की रचना की है।

पंथ के ग्रंथों की भिन्न सूचियों में पंथ की रचनाओं के संबंध में काफी मतभेद जान पड़ता है। विल्सन ने ११ नाम गिनाये हैं। क्रुकस् ने उसी आधार पर दूसरी सूची तैयार की थी। उसमें बड़ा स्तोत्र, बड़ा परवान आदि के नाम जोड़ दिए हैं। शिवव्रत लाल के अनुसार पंथ की ११ पुस्तकें निम्नानुसार हैं—संत विलास ग्रंथ, भजनग्रंथ, संत सुधरा, गुरु, अभ्यास, संताचारी, संत उपदेश, शब्दावली, संत परवान, संत महिमा और संत सागर। इसी प्रकार सवाल-जवाब, टीका, लाल ग्रंथ जैसे नाम भी एकाध सूचियों में पाए जाते हैं। अनुमानतः रूपसरी, संत विचार आदि भी अन्य ग्रंथ है। पंथ के सभी ग्रंथ अभी तक एक मठ में नहीं पाए गए है।

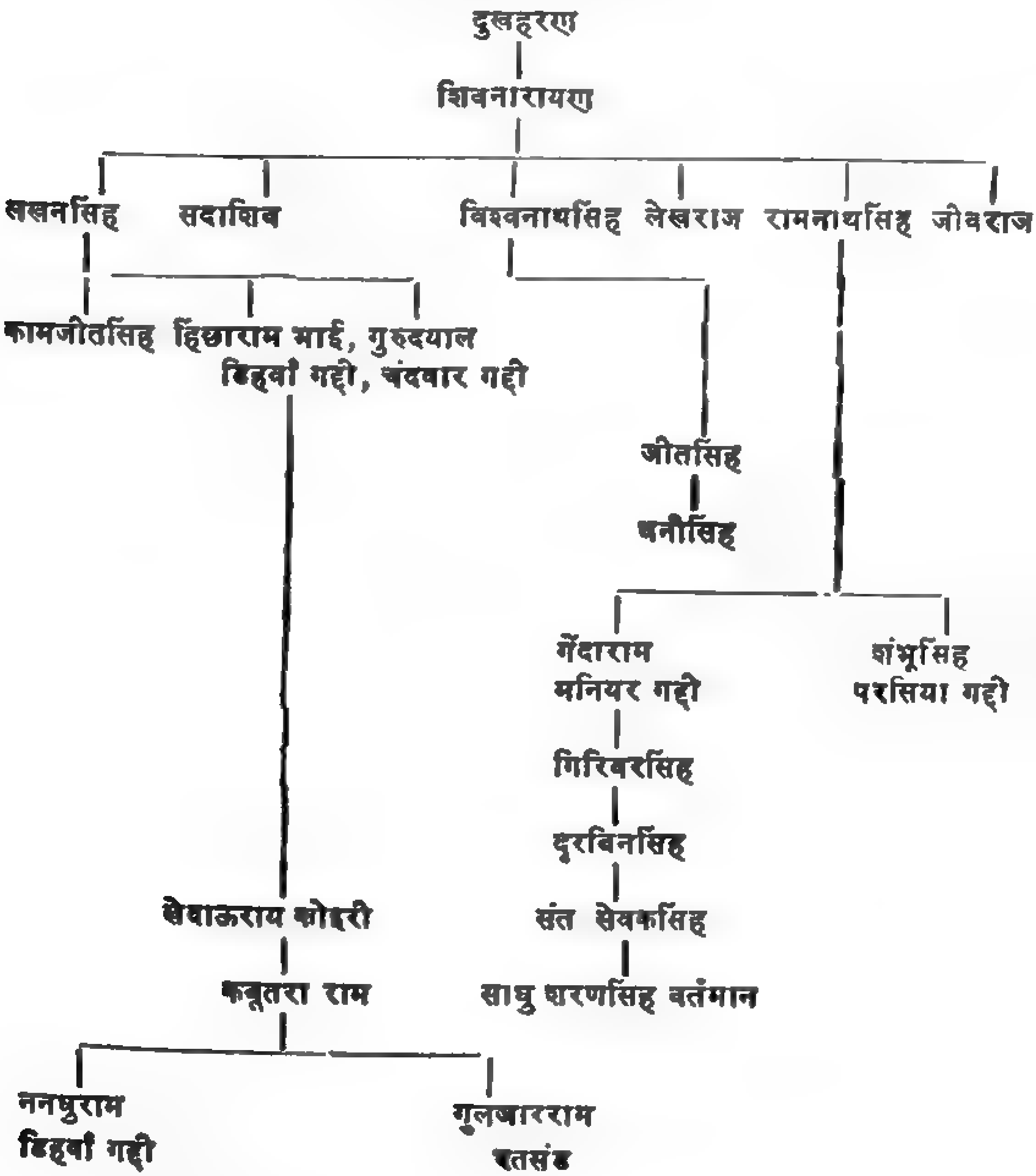
शिवनारायणी पंथ का उद्देश्य अपने अनुयायियों को संत देश, और संत विलास की अवस्था तक पहुंचाना था। संत विलास एक आदर्श प्रदेश है। वह सबसे ऊपर है। संसार को काल देश कहा गया है। सबसे उच्च श्रेणी के मनुष्य पर संत पति हैं। उसके निकट रहना लोग अपना महोभाग्य समझते हैं।

पंथ के अनुसार ईश्वर को निराकार सर्वगुणों से परे माना गया है। उनके प्रति चित्त शुद्धि और निष्ठाभाव आवश्यक है। सभी धर्म और जाति के लोग इस धर्म में सम्मिलित होने के अधिकारी हैं। किसी प्रकार की विधि या परम्परा की कोई आवश्यकता नहीं है। पुरोहित या किसी मध्यस्थता की भी आवश्यकता नहीं है। न कोई विशेष सामग्री की ही आवश्यकता है।

शिवनारायण का मृत्यु संवत् १८२५ बताया जाता है किन्तु वह विवादास्पद है। पंथ के चार मठ हैं जो चार धाम कहलाते हैं। वे हैं ससना बहादुरपुर, मेससरी तथा चन्दनवार। ये गाजीपुर में वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ पर रतसंड, बिहवा आदि स्थानों में मठ हैं। शिवनारायण के प्रधान चार शिष्य रामनाथ, सदाशिव, लखनराम और लेखराज थे। ये सब बलिया जिले के निवासी थे। इनमें बिहारीराय के खारिक नामक शिष्य ने कानपुर में एक मंदिर बनवाया था। वहाँ के अनुयायियों का यह केन्द्र स्थान है। बंबई में कोहाठवाड़ी में किसी अनुयायी ने एक मठ बनवाया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कलकत्ता, रंगून, कराची, लाहौर, पेशावर, काबुल तक फैले हैं। हिन्दू और मुसलमानों के अतिरिक्त इसमें ईसाई भी शामिल हैं। इसके अनुयायी शव को गाने-बजाने के साथ ले जाते हैं। मृतकों को गाड़ा, जलाया या नदी में बहाया जाता है। संप्रदाय में वर्ण और आश्रम के आधार सभी एक प्रकार से संत या भगत ही कहे जाते हैं। इनके इष्टदेव संत शिवनारायण ही माने जाते हैं। ये

संतपति भी कहलाते हैं। पहले शिवनारायणी संप्रदाय में उच्च वर्ण के लोग अधिक पाए जाते थे किन्तु अब चमार, दुसाध और अछूत जाति के ही लोगों की अधिकता है। वे मठाधिकारी तक बन सकते हैं। पर्व का दिन माघ सुदी पंचमी माना जाता है।

संप्रदाय की वंशावली



चरणदासी संप्रदाय

सहजोबाई की बानी में चरणदास के जीवन के बहुत से संस्मरण आए हैं। इनका पूर्वनाम रणजीत था। चरणदास का जन्म डहरे में हुआ था। पिता का नाम मुरली था। इनका जन्म मेवात में सं० १७६० में हुआ था। इनके गुरु शुकदेव थे। उन्होंने ही इनका नाम चरणदास रखा था। देश भ्रमण के बाद विरक्त होकर ये दिल्ली में रहने लगे थे। उस समय इनकी अवस्था ३० वर्ष की थी। उस समय ये अपना आध्यात्मिक मार्ग निश्चित कर चुके थे। उसी समय इन्होंने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया। दिल्ली में एक स्थान बताया जाता है जहाँ पर २४ वर्षों तक इन्होंने योगाभ्यास किया था। जीवन के पचास वर्ष इन्होंने मत के प्रचार में लगाए। सं० १८३९ में दिल्ली में रहते हुए चरणदास का देहान्त हो गया। दिल्ली में मृत्यु के स्थान पर इनकी एक समाधि है। डेहरे में जन्मस्थान पर एक छतरी है। वहाँ पर इनकी माला, वस्त्र, टोपी इत्यादि सुरक्षित हैं। पास ही बने हुए मन्दिर में चरण-चिह्न सुरक्षित हैं। प्रति वर्ष बसंत-पंचमी को वहाँ पर मेला लगता है।

चरणदास के मुख्य शिष्यों की संख्या ५२ थी। उन्हीं के अनुसार ५२ शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। इनकी मृत्यु के बाद दिल्ली की शाखा पर महंत मुक्तानंद विराजमान हुए थे। यह शाखा उस समय सर्व प्रधान समझी जाती थी। रामरूप ने अपने गुरु की जीवन लीला का वर्णन अपने "गुरु भक्ति प्रकाश" में किया है। रामरूप के शिष्य रामसनेह योग्य एवं सफल साधक थे। सहजोबाई और दयाबाई इनकी प्रधान शिष्या थीं। चरणदासियों के अनुसार उनका समकालीन मुहम्मद शाह भी उनका अनुयायी हो गया था।

चरणदास की २१ रचनाएँ बताई जाती हैं। उनके कई संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। १५ ग्रंथों का संग्रह बंबई के वेंकटेश्वर प्रेस ने प्रकाशित किया है। नवल-किशोर प्रेस ने २१ ग्रंथों का संग्रह प्रकाशित किया है। अन्य रचनाओं में जागरण महात्मय, दान लीला, मटकी लीला कालीनाथ लीला, श्रीधर ब्राह्मण लीला, माखन चोरी लीला आदि श्रीमद् भागवद् से संबंध रखने वाली हैं।

चरणदासी संप्रदाय में विरक्त और संसारी दोनों ही प्रकार के लोग हैं। ये बहुधा पीले वस्त्र धारण करते हैं। साथ ही रोली चन्दन का तिलक ललाट पर धारण करते हैं। तुलसी की माला और सुमिरिनी अपने पास रखते हैं। इनकी टोपी छोटी और नुकीली होती है। उस पर ये पीला साफा बाँधते हैं। इनके मठ इधर-उधर फैले रहते हैं। उन्हें कुछ भूमि भी मिली है। पंथ के अनुयायी श्रीमद् भागवद् को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। श्री कृष्ण के प्रति भी उनका अनुराग होता है। इस संप्रदाय के अनुयायी अपने गुरु को देव तुल्य मानकर उसका सम्मान करते हैं। चरणदास के प्रति असीम श्रद्धा तो दिखाई जाती है किन्तु शुकदेव को भी काफी आदर दिया जाता है।

इस पंथ का प्रचार क्षेत्र दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पूर्वी, पंजाब राजस्थान आदि हैं। ५२ मठों का भौगोलिक परिचय प्राप्त नहीं है। अनेक स्थानों पर तो ये वैष्णवों से ही मिल गए हैं।

गरीब पंथ

इस पंथ का प्रारंभ गरीबदास ने किया था। आजकल इस पंथ की गद्दी वंश परम्परा के अनुसार चलती है। सभी संत गृहस्थ आश्रम वाले होते हैं। छुड़ानी गाँव में मेला लगता है। उक्त अवसर पर इनके अनुयायी एकत्रित होकर श्रद्धा प्रकट करते हैं। गरीबदास का जामा, पगड़ी, धोती, जूता, लोटा, कटोरी और पलंग छुड़ानी समाधि के पास सुरक्षित हैं।

पानप पंथ

इस पंथ का प्रारंभ पानपदास ने किया था। पानपदास का जन्म बीरबल के वंश में सं० १७७६ में हुआ था। जाति के ये ब्रह्म भट्ट थे। इनका निवास स्थान दिल्ली के निकट उत्तर प्रदेश में था। इनके माता-पिता की अवस्था आर्थिक दृष्टि से अच्छी नहीं थी। दुर्भिक्ष के कारण इनके माता-पिता ने इन्हें पेड़ के नीचे छोड़ दिया था। वहां से तिरवान जाति के लोगों ने इन्हें उठा लिया। उस व्यक्ति के संतान नहीं थी। इन्हें शिक्षा का अच्छा अवसर मिला था। संस्कृत और फारसी का इन्होंने अभ्यास किया था। शिल्पकला की ओर भी इनकी प्रवृत्ति हुई थी। शिक्षा समाप्त होने पर राजगीर का कार्य कर इन्होंने ख्याति अर्जित की। ये मंगनीराम नामक किसी साधु से प्रभावित एवं दीक्षित हुए। गुरु का सत्संग कर ये दिल्ली चले आए। वहीं से इन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ किया। कई नगरों की इन्होंने यात्रा भी की। इनका प्रधान केन्द्र धामपुर था। इनका देहान्त सं० १८३० में हुआ था। इनकी समाधि धामपुर में बताई जाती है। इनके चार शिष्य मनसादर, काशीदास, चूहड़राम और बुद्धिदास थे।

रचनाओं का संग्रह 'वाणी ग्रंथ' के नाम से धामपुर मठ में सुरक्षित है। भक्त-बोध नाम॥ रचना भी इनकी कही जाती है।

रामस्नेही सम्प्रदाय

संत रामचरण ने रामस्नेही सम्प्रदाय की स्थापना की थी। बचपन में इन्हें देवी-देवताओं की पूजा पसन्द नहीं थी। इनका नाम संतराम भी प्रसिद्ध है। इनका जन्म जयपुर में ढूंढण प्रदेश के सूरसेन या सोडोगाँव में सं० १७७६ को हुआ था। इनका पहला नाम रामकृष्ण था। कहा जाता है कि इनके ऊपर रामावत या रामानंदी संप्रदाय का काफी प्रभाव था। संत रामचरण का नामकरण सं० १८५५ में हुआ। इनकी गद्दी पर रामभजन महन्त बैठे। ये सं० १८६६ तक जीवित रहे। इनके २२५

शिष्य कहे जाते हैं। जिनमें १२ प्रधान थे। गद्दी के तीसरे शिष्य दूल्हराम थे। ये अपने समय में काफी प्रसिद्ध थे। इनके उत्तराधिकारी चतुरदास १२ वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हुए थे। इनके बाद हरिनारायण दास गद्दी पर बैठे। इनकी रचनाओं की कुल संख्या ३,६५० बताई जाती है। इनका वृहत् संग्रह "स्वामी श्री बन रामनारायण जी महाराज की अनभै वाणी" सं० १९८१ में प्रकाशित हुई थी।

रामस्नेही अधिकतर गुजरात, अहमदाबाद, सूरत, बंबई, बलसार, काशी और राजपूताने में पाये जाते हैं। गले में माला और माथे पर श्वेत तिलक धारण करते हैं। साधु भगवा वस्त्र धारण करते हैं। काठ के कमंडल में वे जल पीते हैं। मिट्टी के बर्तनों में भोजन करते हैं। जीव हत्या से वे परहेज करते हैं। आधे आषाढ़ से आधे कार्तिक तक कार्य होने पर भी घर से नहीं निकलते। क्योंकि उस समय कीड़ों के कुचले जाने की आशंका रहती है। साधु या वैरागी होते ही ये शिखा के अतिरिक्त सारे बाल मुड़वा देते है। साधुओं को वाक् संयम भी रखना पड़ता है। वे मौनी या बंदही भी होते हैं। गृहस्थी मौनी या बंदीही नहीं हो सकते। पंथ में किसी भी जाति के लोग दीक्षित हो सकते हैं। पहले महन्त के पास परीक्षा देनी पड़ती है। वैरागी बनने के लिए ४० दिन तक शिक्षा दी जाती है। पंथ के संगठन के लिए आरम्भ से ही १२ व्यक्तियों का सम्प्रदाय चला आता है। किसी के मरते ही योग्य व्यक्ति द्वारा इसकी पूर्ति कर दी जाती है। मुख्य महन्त की मृत्यु पर उत्तराधिकार के लिए शाहबाद में एकत्र गृहस्थों द्वारा योग्यता के दृष्टिकोण से महन्त का चुनाव होता है। मुख्य महन्त शाहबाद ही में रहता है। आवश्यकता पड़ने पर बाहर जाता है।

वंशावली

संतदास मृ० सं० १८०६
|
कृपाराम मृ० सं० १८३२
|
रामचरण सं० १७७६ से १८५५ तक
|
रामजन मृ० सं० १८६६
|
दूल्हेराम मृ० सं० १८८५
|
चतुरदास मृ० सं० १८८८
|
हरिनारायणदास
|
हरिदास
|
हिम्मतराय
|
दिलशुद्धराय
|
धर्मदास
|
दयाराम
|
जगरामदास
|
निर्भयराम

दीने-इलाही

दीने-इलाही कोई संत मत या संत सम्प्रदाय नहीं था और वह असफल भी रहा किन्तु उसमें सम्राट अकबर की विशाल बुद्धि, उदार दृष्टिकोण और व्यापक हृदय का परिचय प्राप्त होता है। यह भारतीय इतिहास के लिए गौरव की वस्तु है। अकबर धर्म के मूल रहस्य को जानने के लिए सदैव उत्सुक रहा करता था। फतहपुर सीकरी में उसने एक इबादतखाना बनवाया था। वहाँ पर विभिन्न धर्मों के आचार्य एकत्रित होकर धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ किया करते थे। इस विचार-विमर्श से अकबर इस्लाम की कट्टरता को नापसंद करने लगा था। इन धार्मिक गोष्ठियों का

सभापति अकबर ही हुआ करता था। सन् १५७९ में साम्राज्य के प्रमुख इमाम की हैसियत से उसने खुतबा पढ़ा और अपने आपको सबसे बड़ा धार्मिक नेता घोषित कर दिया। कट्टर मुसलमान भड़क उठे। मुहम्मद हाकिम अकबर के भाई से मिलकर बंगाल और बिहार में विप्लव कर बैठा। जौनपुर के एक काजी ने भी सिर उठाया किन्तु इन सबको अकबर ने सफलतापूर्वक दबा दिया। इन विद्रोहों को दबा देने के बाद उसे पूरी स्वतन्त्रता मिल गई और उसने एक व्यापक धर्म की नींव डालने का विचार किया।

उसका दृष्टिकोण धार्मिक विभिन्नता को दूर कर एकता को कायम करना था। उसने अपने "ईश्वर धर्म" का नाम तौहीदे-इलाही या दीने-इलाही रखा। अकबर ने आज्ञा निकाली कि कोई जबरदस्ती मुसलमान नहीं बनाया जा सकता। यदि कोई मुसलमान वापिस हिन्दू बनना चाहे तो उसे पूरी स्वतन्त्रता है। विधवा को सती न बनाया जाए। मुल्लाओं को ये सुधार अच्छे नहीं लगे। हिन्दुत्व और इस्लाम का अकबर प्रेमी था किन्तु इन धर्मों की कट्टरता से उसे घृणा थी। हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने का सबसे बड़ा कदम प्रशासन की ओर से अकबर ने ही उठाया था। दीने-इलाही के केवल सात ही अनुयायी थे। अकबर की मृत्यु के बाद ही यह समाप्त हो गया। अकबर हिन्दू, मुसलमान, जैन, ईसाई, यहूदी सबको खुश रखना चाहता था। उसने बाईबिल का अनुवाद फारसी में करवाया था। ईसाइओं को भारत में अपना धर्म फैलाने की उसने आज्ञा दी थी। अपने बेटे की शिक्षा के लिए एक ईसाई पोर्चगीज पादरी उसने नियुक्त किया था। सूफ़ियों की तरह कभी-कभी वह समाधि में आ जाता था। हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रति उसने श्रद्धा जगाने के लिए अल्लोपनिषद् भी लिखा। उसका ठीक-ठीक मूल्य न तो हिन्दू ही पहचान सके और न ही मुसलमान।

चतुर्थ अध्याय

गुरु नानक देव

जीवनवृत्त एवं विचारधारा

जीवन वृत्त—गुरु नानक देव का जन्म सं० १५२६ में शुक्लपक्ष की तृतीया को बैसाख में तलवंडी नामक ग्राम में हुआ था। परन्तु इनका जन्मदिवस कार्तिक पूर्णिमा को मनाया जाता है। इनके पिता तलवंडी ग्राम में पटवारी थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक के पिता का पूरा नाम उपलब्ध नहीं होता। मियां लतीफ ने इनके पिता का नाम सेवाराम और माता का नाम विनासी बताया है। परन्तु प्रचलित मत के अनुसार इनकी माता का नाम तृप्ता ही बताया जाता है। जन्मसाखियों में भी उनके पिता का नाम कालू और माता का नाम तृप्ता ही मिलता है।

इनका जीवन वृत्त "जनमसाखियों" में लिखा गया है। जनमसाखियों के लेखकों ने गुरु नानक के जन्म को काफी विस्तार से लिखा है। पौराणिकता की छाप के कारण कहीं-कहीं तो यह पता लगाना ही असम्भव-सा हो जाता है कि वास्तविक तथ्य क्या है।

कहा जाता है कि इनके जन्म पर ज्योतिषी हरदयाल ने कहा था कि भविष्य में ये एक महापुरुष होंगे। अल्पायु में ही ये आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करने लग गए थे। इनके जन्म-स्थान को ननकाना साहिब कहा जाता है। सात वर्ष की अवस्था हो जाने पर इनके पिता ने ज्योतिषी से इनकी शिक्षा के लिए मुहूर्त निकालने को कहा। इनके घर का पुरोहित एवं ज्योतिषी हरदयाल ही था। रीति-रिवाजों को पूरा करने के पश्चात नानक को पाठशाला भेजा गया। पढ़ने-लिखने में इनका मन नहीं लगता था। एक दिन वे मौन बैठे हुए थे। शिक्षक द्वारा इसका कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि "मुझे सिर्फ आध्यात्मिक विषयों में ही रुचि है।" जनमसाखियों में इनकी बचपन की घटनाओं के साथ-ही-साथ इनके उस समय के बनाए हुए पद भी

दिए गए हैं और लिखा गया है कि इन पदों की रचना नानक ने बचपन में ही कर ली थी। किन्तु इन रचनाओं की प्रौढ़ता को देखकर इस कथन के बारे में संदेह होता है।

बाल्यकाल—६ वर्ष की अवस्था हो जाने पर उनके पिता ने नानक का जनेऊ संस्कार करना चाहा। सारी विधि समाप्त हो जाने के पश्चात हरदयाल जब उन्हें जनेऊ पहनाने लगे तो इन्होंने जनेऊ को हाथ से पकड़ लिया और पहनने से साफ इन्कार कर दिया। पुरोहित ने समझाया कि जनेऊ को न पहने से आदमी शूद्र समझा जाता है। नानक ने कहा कि मनुष्य हजार पाखंड करता है किन्तु मानसिक दृष्टि से तो पिछड़ा ही रहता है। उन्होंने कहा कि नाम स्मरण से ही मनुष्य प्रतिष्ठा का भागीदार बनता है। सच्ची भक्ति को ही सूत के रूप में धारण करना चाहिए। जनेऊ का भौतिक सूत तो नश्वर है। ईश्वर के घर तो सच्ची भक्ति का ही सूत जा सकेगा। ए पुत्र उसका तागा कभी नहीं टूटेगा।[1]

इनकी आदतों को देखकर इनके पिता ने तो इन्हें पागल ही समझना आरंभ कर दिया था। कालू इनके भविष्य के बारे में चिंताग्रस्त हो गए। कालू ने इन्हें भैंसें चराने के लिए जंगल भेजा। पहले दिन तो इन्होंने भैंसे चराईं। किन्तु दूसरे दिन ये सो गए। इसलिए भैंसें पड़ोसी के खेत का बहुत-सा भाग चर गईं। उसने रुष्ट होकर गाँव के मालिक रायबुलार से शिकायत की। रायबुलार के समक्ष नानक को अपने पिता सहित उपस्थित होना पड़ा। रायबुलार ने खेत की परीक्षा के लिए दूत भेजे तो पाया गया कि उपज को कुछ हानि नहीं पहुँची है। इस स्थान को "कैरा साहब" कहा जाता है।

गुरु नानक ने फारसी सैयद हसन से सीखी थी। परन्तु इनकी शिक्षा केवल किसी मौलवी से ही नहीं पूरी हुई। "सेरल मुताखिरिन" के अनुसार नानक की शिक्षा सैयद हुसैन नामक एक मौलवी से हुई थी।[2] गुरु नानक ने पंडित और मौलवी दोनों ही से शिक्षा ग्रहण की थी किन्तु उनकी स्वतन्त्र विचारधारा का पोषण न तो पंडित ही कर सका और न ही मौलवी।

गुरु नानक का विवाह (भाई मनीसिंह की जनम साखी के अनुसार) १४ वर्ष की अवस्था में सुलखनी नामक स्त्री से हुआ था। सुलखनी के पिता का नाम मूल था और वह बटाला निवासी था। विवाह के समय नानक की बहिन नानकी भी उपस्थित थी। गुरु नानक का अपनी बहिन नानकी से काफी स्नेह था। नाना के घर जन्म लेने के कारण उसका नाम नानकी पड़ा था। नानकी से ही गुरु नानक का नामकरण हुआ था।

---

१. नाँय मानिए पत उपजइ सालाहि सच सूत।
दरगे अन्दर पाइये, तग न तूटस पूत॥ गुरु ग्रंथ साहिब; आसा दी वार; महला।

२. लतीफ; हिस्ट्री आफ़ पंजाब; पृ० १२४।

रायबुलार ने गुरु नानक की महत्ता को पहचान लिया था। उसने कालू को इस बात के विषय में कहा भी था। नानक का मन किसी कार्य में नहीं लगता था। नानक की माँ ने उन्हें कई बार इस आलस्य के लिए टोका, बुरा-भला कहा परन्तु नानक पर उसका प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं पड़ा। नानक को रोगी समझकर उनके माता-पिता ने वैद्य को बुलाया। नानक की नब्ज जब वैद्य देखने लगा तो उन्होंने कहा कि "मुझे राम नाम के सिवाय कोई मर्ज नहीं है।" नानक के उपदेश सुनकर वैद्य चुपचाप खड़ा रहा। वह इनसे प्रभावित हो गया। वैद्य ने नानक के माता-पिता से कहा कि "नानक को कोई बीमारी नहीं है। चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" यह कहकर उसने तो विदा ली।

वैवाहिक जीवन—इनके वैवाहिक जीवन के बारे में अधिक पता नहीं लगता है। इनके दो पुत्र थे। श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। पाई ने श्रीचंद को नानक का नाती बताया है।[1] यह मत बिल्कुल ही गलत है। इस बात का प्रमाण कहीं भी उपलब्ध नहीं होता कि श्रीचंद नानक के नाती थे। नानक जब यात्रा करते थे उस समय उनकी स्त्री अपने दोनों पुत्रों सहित मायके में ही रहा करती थी। कुछ भी हो पति-पत्नी के सम्बन्धों को आदर्श नहीं कहा जा सकता। अन्य जनमसाखियों के अनुसार जैराम ने नानक का विवाह सुलतानपुर के पास स्थित पक्खो नामक गाँव की एक स्त्री से करवाया था। परन्तु मैकालिफ ने भी मनीसिंह की जनमसाखी और पुरानी जनमसाखी का ही आधार लिया है। मैकालिफ के मतानुसार "यदि विवाह का भार नानक के माता-पिता ने नानक पर छोड़ दिया होता तो शायद नानक तो विवाह करते ही नहीं।"[2]

इनके उपदेशों और आलस्य से तंग आकर उनके पिता ने इन्हें व्यापार करने के लिए कहा। नानक को उन्होंने चुहारखाना (जिला गुजरानवाला) जाकर नमक खरीदने को कहा। नौकर को साथ लेकर नमक के लिए ये चल पड़े। रास्ते में कुछ साधुओं से इनकी भेंट हुई। इन्होंने सारे पैसे साधुओं को बाँट दिये। इस बात पर इनका नौकर काफी बिगड़ा किन्तु नानक ने उसकी एक न सुनी। नौकर का नाम बाला बताया जाता है। यह वही व्यक्ति था जिसने कालांतर नानक का साथ उनकी यात्राओं में मर्दाना सहित दिया था। साधुओं के चले जाने पर नानक तलवंडी ग्राम के बाहर ही एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। जिस वृक्ष के नीचे ये बैठे थे वह अभी तक सुरक्षित है। उसे "थंबा साहिब" कहा जाता है। उस वृक्ष को चारों ओर से दीवार से घेर दिया गया है। घर आने पर इनके पिता ने इनकी अच्छी पिटाई की।

---

१. पाई; मोनोग्राफस् आफ़ दी रिलीजस सेक्टस् इन इंडिया एमंग दी हिंदूज; पृ० ८१।

२. एम० ए० मैकालिफ, सिख रिलीजन; भाग १, पृ० २१।

इनका आलस्य सारे परिवार के लिए एक सिर-दर्द बन गया। इनके पिता ने समझाया कि गृहस्थी का बोझ लादकर आलस्य से रहने में एक लज्जा की बात है। उन्होंने नानक से मेहनत करने के लिए कहा। नानक ने कहा "अपने शरीर रूपी खेत में मैंने ऐसी फसल बो दी है जो कि कर देने के पश्चात् भी कम न होगी। उससे समस्त परिवार का पोषण होगा। जिस दिन उनकी आत्मा परमात्मा से मिल जाएगी उस दिन उन्हें काफी प्रसन्नता होगी।"

नानक को सांसारिकता की ओर मोड़ने के प्रयत्न—इनके पिता ने इनसे दुकान खुलवा देने के लिए कहा। उनसे यह कहा गया कि दुकानदारी में खेती से अधिक लाभ होता है। नानक ने उन्हें फिर उपदेश देने प्रारम्भ कर दिए। उनके पिता ने घोड़ों की सौदागिरी कर लेने को कहा। किन्तु उस ओर भी नानक ने ध्यान नहीं दिया। इस पर इनके पिता ने कहा कि "तू हमारे लिए नहीं के बराबर है। तू जाकर अपने बहनोई के पास सरकारी नौकरी कर ताकि तेरा मन जाग जाए। तेरे काम न करने से हमारा निर्वाह कठिन हो रहा है। लोग तुझे फकीर समझ कर तेरे आस-पास जमा होंगे तो हमारा खर्चा होगा, जो हमारी सामर्थ्य से बाहर की बात है।" नानक ने कहा कि "ईश्वर ने सब कुछ दिया है, मेरा उद्देश्य तो केवल ईश्वर की सेवा ही है।" इनके किसी उत्तर से कालू को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने नानक से यह सब पागलपन को दूर करने के लिए कहा। इनके पिता को हार कर वहाँ से हट जाना पड़ा। इनकी माँ ने भी इन्हें सलाह दी कि ये कहीं बाहर चले जाएं ताकि लोग इन्हें पागल न समझें। नानक के सारे परिवार ने आखिर यह फतवा दे दिया कि नानक पागल हो गए हैं।

इनके काका लालू ने भी इन्हें काफी समझाया। आखिर वैद्य को बुलाया गया। वैद्य ने जब नब्ज देखनी प्रारम्भ की तो नानक ने उससे कहा "ईश्वर ने मुझे ईश्वर भक्ति की बीमारी दी है।" आखिर वैद्य को भी हार कर लौट जाना पड़ा।

रायदुलार और जैराम तो आखिर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि नानक तो महात्मा हैं और उन्हें इनके पिता के दुर्व्यवहार से बचाना आवश्यक है। रायदुलार राइभोई का वंशज था। गाँव की रक्षा के लिए गाँव की सीमा पर उसने एक दुर्ग बनाकर रखा था। उसमें धार्मिक सहिष्णुता भी थी। उसके शासन में उससे ग्रामीण पूर्णतः सन्तुष्ट थे।

आध्यात्मिक चिंतन—तालवंडी के आस-पास का वातावरण नानक के आध्यात्मिक चिंतन के लिए पूर्णतः उपयुक्त था। ये इस भाग में आकर घंटों विचार निमग्न रहा करते थे। बालक नानक का मन शिक्षकों की अपेक्षा एकांतवास और चिंतन की की ओर अधिक आकृष्ट होता था। परशुराम चतुर्वेदी ने किसी सय्यद हुसैन[1] का नाम लिया है जिसने नानक को सुन्नी सम्प्रदाय की बातों से अवगत कराया था। महात्माओं

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृष्ठ २६१।

के प्रभाव का नानक पर इस समय आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा ।

सरकारी नौकरी—जैराम नानक को सरकारी नौकरी के लिए सुलतानपुर ले गया। सुलतानपुर जाने से पहले नानक की एक फ़कीर से भेंट हुई। वह फ़कीर बदमाश था। तलवंडी में आकर उसने नानक से भेंट की। वह नानक की सोने की अंगूठी, लोटा और कई सामान लेकर रफ़ू-चक्कर हो गया। इस घटना के बाद तो कालू ने नानक का घर पर रहना बिल्कुल ही व्यर्थ समझा।

नानक के चलने पर उनकी पत्नी ने उनके साथ चलने के लिए काफी अनुरोध किया परन्तु समझा-बुझाकर नानक ने उसे तलवंडी में ही रहने दिया। जैराम ने दौलतखान से नानक का परिचय करवा दिया। दौलतखान लोदी उस समय इब्राहिम लोदी के अधीनस्थ पंजाब का राज्यपाल था। नानक की तारीफ जैराम से सुनकर दौलतखान ने उन्हें मोदीखाने का निरीक्षक नियुक्त कर दिया। नानक को जो भी वेतन मिलता उसे ये अधिकतर गरीबों ही को बाँट देते। रात को ये ईश्वर के ध्यान में मस्त रहते। मोदीखाने की नौकरी करते समय जब ये एक बार आटा तौल रहे थे उस समय तेरह का वजन आते ही ये भावावेश में आ गये और "तेरा तेरा" जपने लगे। इस कारण उन्होंने अधिक आटा तौलकर दे डाला। इनकी भूल के कारण इनके स्वामी को काफी हानि उठानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि इन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ा। तत्पश्चात् ये विरक्त होकर देश भ्रमण के लिए निकल पड़े। मर्दाना भी तलवंडी से आकर नानक का घरेलू नौकर हो गया था। वह बहुत ही अच्छी तरह से रबाब बजाता था। कालांतर मर्दाना ने नानक को हर तरह से सहयोग दिया। नानक गाते थे और वह रबाब बजाता था। अन्त समय तक मर्दाना ने अपनी हार्दिक सेवाएँ गुरु नानक को अर्पित कीं। मर्दाना के साथ तलवंडी से और भी आदमी आए थे। जैराम ने दौलतखान से कहकर उन्हें भी नौकरी दिलवा दी।

उपदेश एवं यात्राएँ—कहा जाता है कि इसी समय नानक को ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने अपनी वेष-भूषा में परिवर्तन कर लिया। इनकी उदाराशयता ने लोगों को चकित कर दिया। ये अधिकतर "ना हिन्दू और ना मुसलमान" के भावों से भरे पूर्ण हीउपदेश देने लगे। सांसारिक बातों में तो इनका मन लगता ही न था। उनसे तो ये उदासीन बने ही रहते थे।

भ्रमण करते हुए ये पहले-पहल सैयदपुर (वर्तमान अमीनाबाद) पहुँचे। यहाँ ये लालो नामक बढ़ई के घर ठहरे। वहाँ उन्होंने भोजन भी किया। बढ़ई की गणना शूद्रों में की जाती थी। अतएव नानक को लोगों ने काफी बुरा-भला कहा किन्तु इन्होंने एक की भी न सुनी। वर्णाश्रम को अनुपयोगी समझते हुए परिश्रम से कमाई हुई रोटी को उन्होंने उत्तम माना। अपने सिद्धांतों का प्रचार कर लालो का दो चार दिवस आतिथ्य स्वीकार कर आगे बढ़े।

यात्रा में नानक के साथ बाला और मर्दाना रहा करते थे मैकालिफ़ ने नानक

की जितनी भी यात्राओं का नाम लिया है उनमें कहीं भी बाला का उल्लेख नहीं मिलता। ट्रंप का कथन है कि बाला ने नानक की यात्राओं में उनका साथ नहीं दिया था। लतीफ ने भी कहा है "कि ट्रंप का विश्वास है कि बाला नानक की यात्राओं में उनका साथी नहीं था। क्योंकि पुरानी जन्म-साखी में जो कि गुरु अर्जुनदेव के समय की मानी जाती है। उसमें बाला का नाम नहीं है।"[1] परन्तु प्रचलित परंपराओं के अनुसार तो बाला और मर्दाना दोनों ही नानक के साथ उनकी यात्राओं में रहे हैं। नानक के जो चित्र भी उपलब्ध होते हैं उनमें बाला और मर्दाना के चित्र भी रहते हैं।

यात्रा के समय इनकी जो वेशभूषा होती थी उस पर से इन्हें पहिचानना कठिन होता था। यह पहिचानना तो मुश्किल ही रहा करता था कि ये हिन्दू साधु हैं या मुसलमान फ़क़ीर। ये सिर पर संन्यासियों की टोपी या पगड़ी धारण करते। मस्तक पर केशर का तिलक लगाते। गले में हड्डियों के मनकों की माला डाल लिया करते थे। शरीर पर लाल या नारंगी रंग की जाकेट रहा करती थी। उस पर ये एक सफ़ेद चादर डाले रहते थे।

यात्रा के दौरान में शेख सज्जन नानक एक डाकू से इनकी भेंट हुई। उस डाकू का आतिथ्य इन्होंने ग्रहण किया। यह डाकू लोगों को अपना अतिथि बनाकर उनसे अत्यन्त मीठा व्यवहार किया करता था। जब ये अतिथि सो जाते तो इन्हें मारकर कुएँ में डाल देता था। इस तरह वह उनका सामान छीन लेता था। गुरु नानक के उपदेश सुनकर उसने अपना मार्ग बदल दिया और सारी संपत्ति गरीबों को बांट दी।

कुरुक्षेत्र में—ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में उपदेश देने के लिए गए। वहाँ से हरिद्वार की ओर भी बढ़े। हरिद्वार में उस समय मेला लगा हुआ था। लोग अपने पितरों को पानी चढ़ा रहे थे। लोग प्रातःकाल स्नान करते हुए पितरों को तर्पण कर रहे थे। नानक ने उन लोगों के समक्ष ही पूर्व की बजाय पश्चिम की ओर उलीचना प्रारम्भ कर दिया। लोगों को आश्चर्य हुआ और वे इनके आसपास एकत्रित हो गए। लोगों ने पूछा कि "तुम हिन्दू हो या मुसलमान?" जो मुसलमान हो तो हिन्दुओं के तीर्थ में क्यों आए हो और यदि हिन्दू हो तो पश्चिम की ओर जल क्यों चढ़ा रहे हो? नानक ने कहा कि जिस तरह तुम्हारा उलीचा हुआ जल तुम्हारे पितरों के पास पहुँच सकता है उसी प्रकार मेरा उलीचा हुआ जल मेरे बोये हुए खेतों तक पहुँच सकता है। पहले तो लोगों ने इन्हें पागल ही समझा। किन्तु बाद को वे ही लोग इनकी उक्तियों और उपदेशों से प्रभावित हो गए। वहाँ से पानीपत होते हुए ये दिल्ली की ओर भी गए। यहाँ इब्राहीम लोदी

---

१. हिन्दू आफ़ पंजाब; लतीफ; पृष्ठ ९४३।

से भी इनकी भेंट हुई। दिल्ली से काशी होते हुए ये बंगाल की ओर बढ़े। बनारस होते हुए ये गया पहुँचे। इसके पश्चात् ये कामरूप गए। जनमसाखियों के लेखकों के मतानुसार उस समय यहाँ पर नूरशाह नामक एक रानी का राज्य था। गुरु नानक को प्रभावित करने के लिए यह उनके पास पहुँची। कामरूप उस समय जादू-टोने के लिए प्रसिद्ध था। इस रानी ने काफी प्रयास किए किन्तु उसका एक भी बस नहीं चल सका। नूरशाह के मुक्ति का रहस्य पूछने पर नानक ने उससे कहा कि ये जादू के टोने छोड़कर तुम ईश्वर का ध्यान करो।

वहाँ से उन्होंने जगन्नाथपुरी की यात्रा की। वहाँ उनकी एक ब्राह्मण से भेंट हुई। वह हमेशा आँखे बंद किए रहता था। वह नाक से सांस न लेने का भी दम भरा करता था। उस ब्राह्मण का कथन था कि इस तरह के योगबल से अपने शरीर को साधकर वह संसार की समस्त बातों का पता बता सकता है। नानक ने उसका लोटा छिपा लिया और उस ब्राह्मण से उसका पता बताने को कहा। वह ब्राह्मण असमर्थ रहा। नानक ने कहा कि जब तुम एक लोटे का पता नहीं बता सकते तो संसार की अन्य बातों का पता क्या बताओगे ? उन्होंने कहा कि संसार में सच्चे मन से ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। उसको छोड़कर सारे कार्य व्यर्थ हैं।

इसके बाद जगन्नाथपुरी से नानक लौट आए। पूर्व की यात्रा से लौटने पर शेख फरीद से मिलने के लिए ये पाकट्टपन गए। शेख फरीद प्रसिद्ध संत फरीद की ही वंश परंपरा के थे। इनका नाम शेख इब्राहीम या शेख फरीद द्वितीय भी था। दोनों में काफी समय तक सत्संग होता रहा। वहाँ से लौटकर नानक ने तलवंडी में अपने माता-पिता से भेंट की। इसके बाद उन्होंने पश्चिम की यात्रा प्रारंभ की। इस समय वे पुनः पाकपट्टन पहुँचे। शेख फरीद के साथ इनका दुबारा सत्संग हुआ।

इसके बाद यात्रा करते हुए ये हिमालय की तराई में स्थित बिसियर नामक रियासत की ओर गए। हिमालय की तराई में भारत में रियासतों के विलयन से पहले यह रियासत थी। मेकालिफ ने इसे बुशाहिर रियासत माना है। बुशाहिर को ही उन्होंने बसियिर के रूप में स्वीकार किया है। इसके बाद नानक की यात्रा एक द्वीप में बताई जाती है। परंतु यह घटना कपोल-कल्पित प्रतीत होती है। हिमालय के आसपास किसी द्वीप की कल्पना करना हास्यास्पद है। मानसरोवर झील अवश्य है किन्तु नानक के मानसरोवर तक जाने का उल्लेख नहीं मिलता है। मेकालिफ ने इस यात्रा का उल्लेख किया है।

अत्यधिक भ्रमण करने के कारण मर्दाना थक चुका था। वह एक कदम भी आगे बढ़ना नहीं चाहता था। उसने नानक से घर लौट चलने के लिए कहा। नानक को अब तक यात्रा करते-करते बारह वर्ष बीत चुके थे। नानक वापिस तो लौट पड़े किन्तु वे तलवंडी नहीं गए। ग्राम से तीन मील दूर वे एक झाड़ के नीचे रुक गए। मर्दाना से उन्होंने कहा "जाओ अपने घर का हालचाल पूछ कर आओ। साथ ही मेरे

घर का हालचाल भी पूछ लेना। परन्तु मेरे बारे में कुछ न कहना।" मर्दाना अपने घर होता हुआ नानक के घर भी गया। मर्दाना को देखकर नानक की माँ प्रसन्नता से रो उठी। उसने नानक के बारे में मर्दाना से अनेक प्रश्न किए। तब तक वहाँ पर नानक का हालचाल जानने के लिए गांव के काफी आदमी एकत्रित हो गए थे। मर्दाना ने किसी के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। मर्दाना उठ खड़ा हुआ और लौटने लगा। नानक की माता को इस बात का संदेह हो गया कि नानक आसपास ही कहीं पर हैं। उसने जल्दी-जल्दी नए कपड़े और मिठाइयाँ सम्हालीं और मर्दाना के पीछे-पीछे चल पड़ी। नानक का पता बताने के लिए उसने मर्दाना से बहुत अनुरोध किया किन्तु मर्दाना मौन ही रहा। वह चुपचाप आगे ही बढ़ता गया। नानक की माता उसके पीछे-पीछे चलती गई।

अपनी माता को देखकर नानक ने उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम किया। उनकी माता तो प्रसन्नता के कारण रोने लगी। उन्होंने नानक को फकीरी बाना छोड़ देने के लिए कहा। उन्होंने नानक को संसार का काम-काज संवारने के लिए कहा। नानक पद गाने लगे और मर्दाना से उन्होंने रबाब बजाने को कहा। नानक की माता ने उनके सामने उन मिठाइयों और कपड़ों को रख दिया जिन्हें वह साथ लाई थीं। उन मिठाइयों को स्वीकार करने से नानक ने स्पष्ट ही इन्कार कर दिया।

नानक का आगमन सुनकर कालू भी घोड़े पर सवार होकर इनसे मिलने के लिए आए। नानक ने अपने पिता के पैर छुए और उन्हें प्रणाम किया। नानक से उनके पिता ने घोड़े की सवारी के लिए कहा किन्तु नानक ने उसे अस्वीकार कर दिया। कालू ने नानक से कहा कि वे सिर्फ एक बार ही घर चलें और कम-से-कम अपनी पत्नी से भेंट कर लें। कालू ने नानक से इस बात का भी अनुरोध किया कि नानक उस नए घर को भी देख लें जो कि उन्होंने बनवाया था। नानक मौन रहे। उनके पिता ने फिर कहा "तुम उसके बाद फिर अपनी यात्रा के लिए चल पड़ना। अभी तुम यह बताओ कि तुम्हें किस बात का कष्ट है ?" नानक की माता ने कहा कि बारह वर्ष के बाद तो तुम लौट रहे हो, फिर भी घर चलने का नाम नहीं लेते। नानक ने घर जाने का प्रस्ताव तो अस्वीकार ही कर दिया।

नानक अपनी मंडली सहित पुनः भ्रमण के लिए चल दिए। रावी और चिनाव को पार करते हुए वे पश्चिम की ओर सैयदपुर की ओर बढ़े। वे पुनः लालो बढ़ई के घर ही ठहरे।

सैयदपुर में विजयी बाबर की सेनाओं ने नानक को पकड़कर बाबर के समक्ष हाज़िर किया। सैयदपुर में बाबर की सेनाओं ने कत्लेआम किया था। सैयदपुर में बाबर ने अत्यंत अमानुषिक अत्याचार किए। पठानों के साथ-ही-साथ कितने निर्दोष लोग भी मारे गए। बाबर ने पहले तो नानक को कैद कर दिया किन्तु बाद को इनके उपदेशों से प्रभावित होकर, प्रसन्न होकर इन्हें छोड़ दिया। बाबर ने नानक

से पुरस्कार मांगने के लिए कहा। नानक ने बाबर से समस्त कैदियों को रिहा कर देने के लिए कहा। समस्त कैदी छोड़ दिए गए।

बाबर से भेंट करने के पश्चात ये पसरूर होते हुए सियालकोट गए। वहाँ से मिठांकोट की ओर बढ़े। मिठांकोट में नकी भेंट मियां मीठ से हुई। रावी के किनारे-किनारे चलते ये लाहौर गए।

लाहौर में दुनीचन्द नामक एक करोड़पति रहता था। नानक का आगमन सुनकर वह नानक को अपने घर ले गया। नानक ने दुनीचन्द के घर पर कई झंडियाँ देखीं। उत्सुकता वश नानक ने उन झंडियों का प्रयोजन दुनीचन्द से पूछा। दुनीचन्द ने बताया कि एक-एक झंडी एक-एक लाख रुपए का प्रतिनिधित्व करती है और जितनी झंडियाँ दीख रही हैं उनका यही आशय है कि दुनीचन्द के पास उतने ही लाख रुपए हैं। नानक ने दुनीचन्द को एक सुई दी और कहा कि इसे तब तक सम्हालकर रख जब तक कि यह परलोक में काम न दे। दुनीचन्द ने वह सुई अपनी स्त्री को सम्हालने को दी और समस्त वृतान्त कह सुनाया। दुनीचन्द की स्त्री ने कहा कि यह सुई परलोक कैसे जाएगी ? दुनीचन्द ने यही प्रश्न नानक से किया। नानक ने कहा "जब एक सुई तुम्हारे साथ परलोक नहीं जा सकती तो तुम समझ सकते हो कि इतनी विशाल सम्पत्ति भला कैसे परलोक जाएगी।" नानक ने दुनीचन्द को परमात्मा का ध्यान करने का उपदेश दिया और सम्पत्ति का दान गरीबों और अपाहिजों को करने के लिए कहा। नानक ने कहा कि उससे जो दौलत तुम्हें प्राप्त होगी वह तुम्हारे साथ परलोक तक जाएगी। यह सुनकर दुनीचन्द ने सात लाख रुपयों का दान कर नाम जपना प्रारम्भ कर दिया। उत्तर-पूर्व की ओर जाकर किसी धनवान स्त्री को नानक ने इतना प्रभावित किया कि उसने रावी के किनारे करतारपुर नामक नगर बसाकर और सिख गुरुद्वारा बनाकर वह नानक को अर्पित कर दिया। नानक ने अपने स्थायी निवास के लिए करतारपुर को ही चुना।

करतारपुर में निवास—नानक ने करतारपुर में निवास कर भजन-गान की प्रथा चलाई। प्रातःकाल जपुजी का और रात्रि को सोने से पहले सोहिला का पाठ होता था। नानक जब भजन गाते उस समय प्रतिदिन वहाँ पर एक सात वर्ष का बालक आया करता था। भजन समाप्त होते ही वह चुपचाप चला जाता। एक दिन नानक ने उस लड़के को रोककर पूछा कि यह उम्र तो खाने-खेलने की है, फिर यह भजन सुनने क्यों आता है। लड़के ने उत्तर दिया "एक दिन मेरी माँ ने मुझसे आग जलाने को कहा। मैंने चूल्हे में आग जलाई तो देखा कि छोटी-छोटी टहनियाँ पहले जल रही हैं और बड़ी-बड़ी टहनियों की बारी बाद में आ रही है। यह देखकर मुझे भय हो गया कि छोटी उम्र वाले बालक पहले मर जाएँगे और बड़ी उम्रवाले बालक बाद में मरेंगे। यही विचार कर भजन में आना मैंने उचित समझा।" नानक उस बालक की बात को सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए और इस तरह के गम्भीर कथन के कारण उसका

नाम भाई बुड्ढा रख दिया। भाई बुड्ढा की आयु कालांतर को १०७ वर्ष की हुई और अपने हाथों से उन्होंने ५ गुरुओं को तिलक द्वारा अभिषिक्त किया। करतारपुर में रोज प्रातःकाल जपुजी साहब और आसा दी वार का पाठ हुआ करता था। उसके पश्चात भजन एवं गान होता था। इसके बाद "गगन में थाल" से आरती होती थी। तीसरे पहर पुनः भजन होता था। संध्या को सोदरु के पाठ के बाद समस्त सिख एक साथ भोजन करते थे। सोने से पहले सोहला का पाठ किया जाता था।

दक्षिण की यात्रा—इसी समय नानक ने दक्षिण की यात्रा भी की। उस समय उनके साथ सैदो और घट्टो नामक जाट थे। कहा जाता है कि यहाँ से मद्रास होते हुए नानक सिंहल भी गए। जनमसाखियों के लेखकों के मतानुसार इस समय सिंहल में शिवनाभ नामक राजा राज्य करता था। नानक ने शिवनाभ के उद्यान में डेरा डाला। वहीं पर निवास करते समय इन्होंने प्राणसंगली नामक ग्रंथ की रचना की। सैदो और घट्टो ने उसे लिपिबद्ध किया। सिंहल से लौटने के बाद अचल बटाला में लगने वाले शिवरात्रि के मेले में इन्होंने कई योगियों का सत्संग किया। इसी समय इन्होंने काश्मीर का भी भ्रमण किया।

पश्चिमोत्तर भाग की ओर—पंजाब लौटने के पश्चात् भारत के पश्चिमोत्तर भाग की इन्होंने यात्रा प्रारम्भ की। ये हसन अब्दल पहुँचे। हसन अब्दल उस समय मुसलमानों का धार्मिक केन्द्र था। वहाँ एक पहाड़ी पर एक घमंडी फ़क़ीर रहता था। उसका नाम वली कंधारी था। नानक ने उस पहाड़ी की तराई में अपना डेरा डाल दिया। नानक को पानी की आवश्यकता हुई। उन्होंने मर्दाना को वली कंधारी के पास पानी लेने के लिए भेजा। पहाड़ी पर एक छोटा-सा कुण्ड था। उसका संरक्षक वली कंधारी ही था। मर्दाना उससे पानी माँगने गया। मर्दाना से नानक की बड़ाई सुनकर वली चिढ़ गया। उसने पानी देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। उसने कहा कि नानक यदि ऐसा धार्मिक पुरुष है तो स्वयं ही पानी का बंदोबस्त क्यों नहीं कर लेता। यह सुनकर नानक ने उस कुण्ड के तल में एक छिद्र कर लिया। वहाँ से पानी की धार नीचे आने लगी। कुण्ड छोटा था अतएव पानी समाप्त होने लगा। यह देखकर वली का क्रोध बढ़ गया। उसने चट्टान का एक भाग नानक पर ढकेल दिया। चट्टान को अपनी ओर आते देख नानक ने उसे अपने दाहिने हाथ से थाम लिया। चट्टान रुक गई। उस चट्टान में अभी तक पंजे का गहरा निशान पड़ा है। उसे "पंजा साहिब" कहा जाता है। यह भाग इस समय पाकिस्तान में चला गया है। इसके बाद नानक पेशावर होते हुए मुसलमानों के प्रसिद्ध तीर्थ मक्क की ओर बढ़े।

मक्का की ओर—नानक की मक्का-यात्रा को फ्रेडरिक पिनकाट ने अतिशयोक्तिपूर्ण माना है। पिनकाट का कथन है कि "उसने (नानक) काश्मीर का भ्रमण किया और धर्मपरायण मुसलमान की तरह मक्का की भी यात्रा की। मक्का की यात्रा का विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण ही होना चाहिए। इस बात से केवल इतना ही पता

लगता है कि इसके अनुयायी नानक को कहाँ तक इस्लाम की ओर झुका हुआ बताते हैं।"[1] विलियम मूर ने भी इस यात्रा को कल्पित ही माना है और उनकी यात्रा पर सन्देह प्रगट किया है। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में विलियम मूर और पिनकाट के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। पिनकाट का यह मत भी भ्रामक है कि नानक के मतानुयायी यह बताना चाहते हैं कि नानक किस हद तक मुसलमान हैं या उन पर इस्लामी प्रभाव है। पिनकाट साहब का उपरोक्त मत उनकी अपनी ही कल्पना की खोज है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ओर के लेखकों से इस बात का पता लगता है कि नानक ने मक्का की यात्रा की थी। लतीफ का कथन है कि नानक ने मक्का की यात्रा की थी।[2] मक्का में नानक काबा की ओर पैर करके सो रहे थे। काजी नसिरुद्दीन ने जब यह देखा तो क्रोधित होकर कहा "खुदा के घर का अपमान तू इस ओर पैर दिखाकर कैसे कर सकता है?" नानक ने कहा "तुम मेरे पैर उस ओर कर दो जहाँ परमात्मा नहीं है।" मक्का से नानक मदीना की ओर गए और बगदाद होते हुए मुलतान लौट आए। वहाँ से पुनः वे करतारपुर आ गए। करतारपुर आकर उन्होंने अपनी यात्रा का वेश उतार दिया और एक गृहस्थ की तरह रहने लगे। उस समय वे कमर में दुपट्टा, कंधे पर चादर और सिर पर पगड़ी धारण करते थे। अब तक उनकी काफी प्रसिद्धता फैल चुकी थी।

मर्दाना की सेवाएँ—मर्दाना ने नानक की यात्राओं में अपने जीवन के अंत समय तक साथ दिया। वह मुसलमान था किन्तु सिख बन चुका था। करतारपुर आने पर वह बीमार पड़ा। उसकी बीमारी ठीक न हो सकी। आखिर मर्दाना का स्वर्गवास हो गया। मर्दाना की मृत्यु पर नानक ने उसके पुत्र शाहजादा और उसके शोक-विह्वल सम्बन्धियों को मनाया और कहा कि मर्दाना की आत्मा स्वर्ग जा रही है, इसलिए शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है। शाहजादा से नानक ने कहा कि वह मर्दाना की तरह ही कतारपुर में उनके पास रह सकता है। शाहजादा को मर्दाना के समान ही सम्मान प्राप्त होगा। शाहजादा करतारपुर में ही रहा और मर्दाना की तरह उसने स्वामीभक्ति का पूरा-पूरा परिचय दिया। मर्दाना को संबोधित करते हुए गुरु ग्रंथ साहिब में नानक के तीन श्लोक मिलते हैं। वह रबाब बजाने में अत्यन्त कुशल था। नानक पद गाते थे और मर्दाना रबाब बजाता था। जैसे कबीर को खंजड़ी की खराद पसन्द थी उसी तरह नानक को यह रबाब पसन्द थी। कई जनमसखियों के आधार पर मर्दाना के शरीर को जलाया गया था। परन्तु मेकालिफ के मतानुसार[3] मर्दाना

---

१. रिलीजस सिस्टम्स आफ़ दी वर्ल्ड; फ्रडिरिक पिनकाट; पृ० ३०१।
२. हिस्ट्री आफ़ पंजाब; लतीफ; पृ० २४३।
३. सिख रिलीजन भाग १; मेकालिफ; पृ० १८२।

के शरीर को रावी में बहा दिया गया था। लतीफ के मतानुसार मर्दाना के शरीर को जलाया गया था।[1] लतीफ के मतानुसार मर्दाना की मृत्यु खुर्रम में हुई थी।

लहिना[2]—तरनतारन जिले में स्थित खडूर नामक ग्राम में जोधा नामक एक सिक्ख रहा करता था। खडूर ही में लहिना नामक एक शक्ति के उपासक का भी निवास था। जोधा के मुख से आसा दी वार की पंक्तियाँ सुनकर लहिना इतना प्रभावित हुआ कि नानक के विषय में उसने जोधा से पूछताछ प्रारम्भ कर दी। जब उसे पता लगा कि नानक का निवास रावी के किनारे करतारपुर में है तो वह नानक के दर्शनों के लिए बेचैन हो गया। लहिना एक बार अपने गाँव वालों के साथ कांगड़ा की भगवती ज्वालामुखी के दर्शनों के लिए निकले। मार्ग में वे करतारपुर ठहर गए। नानक से ज्ञान लाभ कर उन्होंने हाथ पैरों के घूँघरू उतारकर फेंक दिए। इन्ही घूँघरुओं को बाँधकर लहिना दुर्गा के समक्ष नाचा करते थे।

नानक के साथ लहिना रहने लगे। उन्होंने नानक के साथ रहकर असीम श्रद्धा और भक्ति का परिचय दिया। बाद को लहिना को ही नानक ने अपना उत्तराधिकारी बनाया। लहिना का नाम नानक ने अंगद रख दिया। क्योंकि लहिना का निर्माण एक प्रकार नानक के अंग से ही हुआ था। आगे चलकर इनका यही नाम प्रसिद्ध हुआ।

नानक ने अपने दोनों पुत्रों की अयोग्यता के कारण उनकी उपेक्षा भी कर दी और उन्हें इस तरह असंतुष्ट भी कर दिया। नानक ने विधि पूर्वक लहिना को आसन पर बैठा कर ५ पैसे का एक नारियल अर्पित कर अपना सिर झुका दिया। अन्य सिखों को उन्होंने अंगद को गुरु स्वीकार करने का आदेश दिया।

अंतिम अवस्था—इसके बाद नानक रावी के दूसरे किनारे जीवन के अंतिम दिन व्यतीत करने चले गए। जिस स्थान पर वे रहा करते थे उसका नाम डेरा नानक पड़ गया था। यह स्थान अब पाकिस्तान में चला गया है। गुरु नानक अपने अंतिम समय एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। भजन गानेवाली एक मंडली के साथ वे आत्मचिन्तन में लीन हो गए। जिस समय जपुजी साहब का पाठ हो रहा था उस समय वाह गुरु कहते हुए वे शान्त हो गए। नानक का स्वर्गवास आश्विन शुक्ल १० सं० १५९५ (सन् १५३८)में करतारपुर में ६९ वर्ष १० माह और १० दिन की अवस्था में हुआ।

इनके निधन पर रावी तट पर हिन्दू और मुसलमानों ने समाधि और कब्र बनाई। परन्तु रावी ने दोनों को ही अपने साथ बहा लिया शायद इसलिए (मेकालिफ के शब्दों में) गुरु के अन्तिम स्थल की पूजा मूर्तिपूजा के रूप में न हो।[3]

---

१. हिस्ट्री आफ़ पंजाब ; लतीफ, पृ० २४५।

२. नानक और लहिना सम्बन्धी विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में दिया गया है।

३. मेकालिफ; सिख रिलीजन—भाग १; पृ० १९१।

डंकन ग्रीनलीज ने भी "दी गासपल आफ गुरु ग्रंथ साहिब" के (पृ०६ भूमिका)

रचनाएं—गुरु नानक ने समय-समय पर जिन पदों की रचना की है वे गुरु ग्रंथ साहिब में संग्रहीत हैं। कई लोगों की यह भ्रामक धारणा है कि गुरु ग्रंथ साहिब की रचना गुरु नानक ने की थी। गुरु ग्रंथ साहिब में नानक के पद विभिन्न राग-रागनियों में एक के अन्तर्गत सुरक्षित हैं। इनकी सबसे प्रमुख रचना जपुजी साहब है। जपुजी साहब में कुल ३८ छंद हैं। अन्त में एक श्लोक है जिसमें उन उपदेशों का सार आ जाता है। प्रत्येक सिख को प्रातःकाल जपुजी पढ़ने का आदेश है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "यह जपुजी सिख धर्म के अनुयायियों के लिए वैसा ही महत्त्वपूर्ण है जैसी हिन्दुओं के लिए श्रीमद्भागवद् गीता समझी जाती है।"[1] जपुजी के बाद पढ़ी जाने वाली रचना "आसा दी वार" है। वह भी प्रातः ईश्वर की स्तुति के रूप में पढ़ी जाती है। इसके बाद "सोहिला" और "रहिरास" इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। रात को सोने से पहले "सोहिला" का पाठ किया जाता है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "मैंने मिथिला में कुछ मौखिक गीतों का संग्रह किया है जो कि नानक के बताए जाते हैं।"[2] जब तक ये गीत प्रकाश में नहीं आते तब तक उन पर कुछ कहना ही व्यर्थ-सा है।

युग परिस्थिति—नानक की मृत्यु के पश्चात उस युग की परिस्थिति पर हम एक विहंगम दृष्टि डालें तो उनकी विचारधारा का महत्त्व स्पष्ट हो जायगा। मेकालिफ ने भाई गुरदास द्वारा लिखित उस समय की युग परिस्थिति पर प्रकाश डाला है। वह उल्लेखनीय है। भाई गुरदास का कथन है कि "उस समय मनुष्यों के उद्देश्य अत्यन्त तुच्छ थे। लोगों का ध्यान अच्छी बातों की ओर नहीं जाता था। लोगों को पकड़कर जीवित ही जला दिया जाता था। कोई भी मनुष्य दूसरे का सम्मान नहीं करता था। ऊँच-नीच दोनों ही अपने कर्तव्यों का विस्मरण कर बैठे थे। राजा अन्यायी थे और और उनके सामन्त कसाई थे। उनकी तलवारें सदैव लोगों के खून की ही प्यासी थीं। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको बुद्धिमान समझता था किन्तु बहुत कम को यह पता था कि इनमें अज्ञान है या ज्ञान। चारों ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ था। हर किसी ने अपना अलग ही धर्म बना लिया था। जितने ही लोग थे उतने ही परमात्मा के रूप भी थे। मनुष्य वास्तविक धर्म से अलग हो चुका था। हिन्दू और मुसलमान विभिन्न वर्गों और जातियों में बटे हुए थे। वेद और पुराणों का मनगढ़त रूप उस समय पंडित जनता के समक्ष पेश कर रहे थे। अपनी क्षुद्र मनोवृत्ति का परिचय देकर वे ढोंग रचाए बैठे थे। उस युग में कोई धार्मिक नेता या पुरुष नहीं था जो जनता को सही रूप में मार्ग

में लिखा है कि "हिन्दू और मुसलमानों द्वारा निर्मित दोनों ही समाधि और कब्र रावी ने धो दीं, शायद इसलिए कि मनुष्य इनका उपयोग मूर्ति के रूप में कर अपने गुरु द्वारा बताए गए मार्ग से विपरीत न जा सकें।"

१. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृ० २९६-९७।

२. ग्रियर्सन; माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान. पृ० १३।

बताता।" इस तरह स्पष्ट देखा जा सकता है कि अज्ञान और भ्रष्टचार के उस युग में पंजाब की क्या हालत थी। भारत के अन्य भाग भी इन बुराइयों से अछूते नहीं थे। सिख धर्म के उदय के समय पंजाब की उपरोक्त अवस्था थी।

इस तरह दो धर्मों के पतनकाल के संगम पर नानक ने अपना कार्य प्रारंभ किया। इसी समय नानक का साधक जपुजी की जागरूक चेतना को ले अपनी सुव्यवस्थित विचारधारा के समन्वय के एक सरल और सीधे से सिद्धान्त को लेकर जनता के सामने आया।

ईश्वर की एकता—उनका विशेष आग्रह ईश्वर की एकता पर ही था। उन्होंने कहा कि वह "निरवैर, निरभव, अकाल मूरति"[1] है। परमात्मा की एकता को शक्तिशाली शब्दों में उन्होंने जनता के समक्ष रखा। नानक के सिद्धान्तों को यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो वह होगा "ईश्वर की एकता और मनुष्य मात्र का आपसी बंधुत्व।" उनका कथन था कि ईश्वर के समक्ष तो राजा और रंक दोनों ही बराबर हैं। ईश्वर ने तो सब को एक-सा ही बनाया है। उनमें भेदभाव तो हमने स्वयं ही पैदा किये हैं। नानक के कथनानुसार यदि हृदय शुद्ध हो तो बाहर के किसी प्रकार के पाखंड या ढोंग की आवश्यकता नहीं। उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों ही की भक्ति आध्यात्मिकता से शून्य थी। उनका धर्म केवल बाह्याडम्बरों में ही रहा था। वेद, पुरान, कुरान आदि ईश्वर की महिमा का बखान अवश्य करते हैं किन्तु उस ईश्वर को ये धार्मिक ग्रंथ भी सीमित नहीं कर सकते। वेदों ने भी आखिर "नेति, नेति" कह ही दिया।

नानक ने उस समय की विचारधाराओं का अध्ययन सत्संग और भ्रमण द्वारा बारीकी से किया। उन्होंने पुजारियों, पंडितों और मुल्लाओं को करीब से देखा और अच्छी तरह पहचाना। उन्हें किसी में भी परमात्मा का संदेश नहीं दिखा। जिन ज्ञानियों की संसार को आवश्यकता थी वे तो वन में रहकर जप-तप किया करते थे। उन्हें यह नहीं पता था कि जनता को आध्यात्मिक नेतृत्व की कितनी आवश्यकता है। साधु और संन्यासी सिर्फ़ भस्म लपेटे ही फिरते थे। वे सिर्फ़ पाखंड का ही प्रदर्शन करते थे।

नानक की विचारधारा—उस विशृंखल युग की पृष्ठभूमि पर नानक ने अपनी सुदृढ़ और सुनिश्चित विचारधारा का प्रतिपादन किया। उनके विचारों को नया तो नहीं कहा जा सकता किन्तु युग की परिस्थितियों पर उन विचारों की अत्यन्त आवश्यकता थी। उनके साधक ने नाम पर जोर दिया। उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया। जाति-पाँति की निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए संसार के समक्ष उन्होंने एक संतुलित और मंजा हुआ दृष्टिकोण रखा। बाह्याचार के विरुद्ध उन्होंने कभी भी व्यक्तिगत आक्षेप नहीं किए। अपने विचारों को भी कभी उन्होंने उग्र रूप में नहीं

---

१. जपुजी

प्रस्तुत किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही से उनके संबंध अच्छे थे। उन्होंने बुरी समझी जाने वाली बातों का विरोध तो किया किन्तु हिंसात्मक भावों का प्रदर्शन नहीं किया। जिसका परिणाम था कि नानक सबको समान रूप से प्रिय थे। इसलिए ही हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उनके अन्तिम संस्कारों के लिए झगड़ उठे।

कबीर का राम नानक का वाहु गुरु था। अंधविश्वासों का विरोध कर नानक ने ईश्वर के निर्गुण रूप की प्रस्थापना वाहगुरु के रूप में की। उस युग की पृष्ठ-भूमि पर जब कि आर्य संस्कारों की उज्वलता और प्रौढ़ता अपना दम तोड़ चुकी थी। उस समय हिन्दू और मुसलमानों के गतिहीन बौद्धिक संस्कारों को गतिशील करने का प्रयास नानक ने किया। हिन्दुओं में या तात्कालीन भारतीयों में ऐसी कोई विचारधारा नहीं थी जो कि उन्हें जाग्रत कर विदेशियों से सफलतापूर्वक टक्कर लेने के लिए बाध्य करे। नानक की विचारधारा का पालन करने वाले व्यक्ति कालांतर "सिख" कहलाए। सिख शब्द की व्युत्पत्ति "शिष्य" से हुई है न कि "सेवक" से जैसा कि पाई ने लिखा है।[1] सिख को सदैव सीखते ही रहना है। सीखने का कहीं भी अंत नहीं है। मनुष्य जीवन लघु है किन्तु ज्ञान तो असीम और अनंत है। इसलिए नानक का साधकसिख ही है।

उनकी विचारधारा एक प्रकार से उस युग की सम्मिलित निचोड़-सी है। फ्रेडरिक पिनकाट के मतानुसार नानक का मत मुसलमान, हिन्दू और बौद्ध विचार-धाराओं का ही सम्मिलन था।[2] भारत में ईश्वर की एकता का सिद्धान्त कोई नया नहीं था। नानक की ईश्वर की एकता की भावना मुसलमानी एकेश्वरवाद की अपेक्षा वेदांत के निकट है। उस पर भारतीयता की छाप है।

सिख धर्म की नींव—शंकर ने अपने अद्वैत से बौद्ध मत का खंडन किया। शंकर ने बौद्ध मत के उन्मूलन के लिए बौद्धधर्म का सुधरा रूप प्रस्तुत किया। शंकर को "प्रच्छन्न बौद्ध" भी कहा गया। उसी तरह नानक ने हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही विचारधाराओं का सुधरा रूप उस समय प्रस्तुत किया। शंकर ने केवल बौद्धकाल की पतन की पृष्ठभूमि पर ही कार्य किया था किन्तु नानक का समय हिंदू और मुसलमान दोनों ही के पतनकाल का (तत्कालीन संस्कृति, धार्मिकता आदि) समय था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के विचारों में स्थिरता आने के कारण जड़ता आ चुकी थी। शंकर की विचारधारा के प्रसार से नानक की विचारधारा के प्रसार में अन्तर केवल इतना ही था कि नानक ने किसी धर्म का उन्मूलन कर अपनी विचारधारा की स्थापना नहीं की।

नानक ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया कालांतर उसे सिख धर्म की संज्ञा से

---

१. पाई; मोनोग्राफस् आफ दी रिलिजस सेक्टस् एमंगस्ट हिन्दूज; पृ० ८६।

२. फ्रेडरिक पिनकाट; रिलिजस सिस्टम आफ़ दी वर्ल्ड; ३०५।

अभिहित किया गया। उन्होंने अपने पश्चात योग्य गुरुओं की परम्परा स्थापित की। उनके पश्चात ६ गुरु और हुए। उन्होंने नानक की विचारधारा का अत्यन्त सफलता पूर्वक भार लिया और उसका पानी उतरने नहीं दिया। इस गुरु परम्परा की स्थापना से सिख धर्म एक सुनिश्चित विचारधारा को लेकर चला। सिखों को नानकशाही नहीं कहा जाता जैसा कि एच० एच० विल्सन ने कहा है।[1]

एच० एच० विल्सन ने नानक द्वारा प्रचलित सात मतों का उल्लेख किया है और कहा है कि सिख इन सात सम्प्रदायों में बंटे हैं। विल्सन द्वारा बताए गए सात सम्प्रदाय इस प्रकार हैं— १. उदासी, २. रामराई, ३. सुनेशाही,[2] ४. गोविंदसिंघी, ५. निर्मल, ६ नागे, ७ नानकशाही। नानकशाही से आशय विल्सन का सिखों से है। किन्तु हमने पहले ही कहा है सिखों को नानकशाही नहीं कहा जाता। छोटे-छोटे मत और सम्प्रदाय नानक को भले ही गुरु मानें किन्तु इनका प्रचलन नानक ने नहीं किया था। न ही उन्होंने इनकी स्थापना की। इन सम्प्रदायों के प्रारम्भकर्ता अधिकतर तो वे थे जिन्हें गुरु गद्दी नहीं मिली थी। ऐसे लोग अपनी अहमन्यता को दबा नहीं सके अतः वे नये सम्प्रदायों के प्रवर्तक बन बैठे। इन लोगों ने तुच्छ मनोवृत्ति के समाधान के ही लिए ये नये सम्प्रदाय चला लिए थे। पाई ने केवल इन सम्प्रदायों के चार नाम ही गिनाए हैं। विल्सन ने कम-से-कम पूरे नाम देने की कृपा की है। पाई के मतानुसार ये चार मत निम्नानुसार हैं —१. उदासी, २. निर्मल, ३. अकाली, ४. सूभेशाही।[3]

जिस तरह हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद इस्लाम में कई सम्प्रदाय खड़े हो गए थे किन्तु कालांतर इस्लाम की मुख्य विचारधारा को प्रवाह मिल गया उसी तरह गुरु गोविंदसिंह की मृत्यु तक अनेक मत-मतांतरों का जन्म हो गया था। ये सब अपने को सिख ही कहा करते थे और नानक को अपने मत का प्रवर्तक मानते थे। नानक ने सिर्फ एक ही विचारधारा को जन्म दिया जिसे गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के बाद पूर्ण स्थिरता प्राप्त हो गई। उनके अनुयायी बाद को सिख कहलाए।

हिन्दू या मुसलमान—नानक के मत का निर्धारण करते समय कई लेखक भ्रम में पड़ जाते है कि उन्हें समझ नहीं आता कि नानक को हिंदू, मुसलमान या किसी तीसरे धर्म का अनुयायी माना जाए। उनको किसी-न-किसी ढांचे में फिट करने की धुन ऐसे लोगों को होती है। इस कारण धर्म के मूल आधार को वे पहचान नहीं पाते। ट्रंप ने नानक को पूर्ण हिन्दू ठहराया।[4] फ्रेडरिक पिनकाट ने उनके

---

१. एच० एच० विल्सन : रलिजस सेक्टस आफ़ दी हिन्दूज, पृ० २६७–७५।

२ यह शब्द सुथरेशाही है न कि सुनेशाही।

३ पाई; मोनोग्राफस् आफ़ दी रिलीजस सेक्टस् एमंग हिन्दूज; पृ ८६।

४ आदि ग्रन्थ : डा० ट्रम्प, पृ० ६७-११८।

रहन-सहन वेशभूषा आदि से उनको इस्लाम मतावलंबी ठहराया।[1] इन लेखकों ने नानक को विशेष घेरे में रखना पसन्द किया। मेकालिफ ने दोनों से पृथक् ठहरा कर उन्हें सिख बताया। इसके लिए परशुराम चतुर्वेदी का मत समीचीन प्रतीत होगा। "उक्त तीनों लेखकों (ट्रंप, पिनकाट और मेकालिफ) ने सिख धर्म का अध्ययन अपने ढंग से अच्छा किया है और उनके रहस्यों को समझने के प्रयत्न भी किए थे। परन्तु प्रचलित प्रथा का अनुसरण करने के लिए विवश होकर गुरु नानक देव तथा उनके अनुयायियों को किसी धर्म विशेष के घेरे में डाल रखना उचित समझा। तदनुसार उनसे भी ऐसी भूल हो गई है जैसी कि हमने कबीर साहब के लिखने वालों कई विद्वानों की रचनाओं में देखी है।"[2]

इसके लिए हमें विषय से हटकर उस युग की पृष्ठभूमि की ओर जाना होगा। पंजाब में पहले ही से आर्यों का निवास रहा है। उस भूमि में सदैव उथल-पुथल होती रही है। इस कारण वहाँ पर किसी भी विचारधारा में स्थिरता नहीं आने पाई। पंजाब में केवल उसी विचारधारा को स्थान मिल सका जो विकसित होने के साथ-ही-साथ समयानुकूल रही हो। पंजाब ने ईरान, मध्य एशिया और भारत के अन्य भागों के बीच में एक शृंखला की कड़ी का कार्य किया है। जो विदेशी पंजाब में राजनैतिक, व्यापारिक या अन्य उद्देश्यों को लेकर आते थे, उनका प्रभाव पंजाब पर बराबर पड़ता था। परिणामस्वरूप यहाँ की किसी भी पुरातन विचारधारा को समय के अनुसार अपने आप को अनुकूल बनाना ही पड़ता था। यही पंजाब आर्यों के समय का पांचाल था। भारत पर पंजाब से जब सिकन्दर का आक्रमण हुआ उस समय पंजाब ही भारतीय और यूनानी विद्याओं का संगम स्थल था। वैदिक धर्म का उदय पंजाब में ही हुआ था। इसके बाद यहाँ पर बौद्ध विचार-धारा का प्रभाव पड़ा। मुसलमानी आक्रमणों के समय पंजाब भारतीय और मुसल-मानी विचारधाराओं का घर्षण केन्द्र था। भारत से बौद्ध धर्म का उन्मूलन शंकर ने तो किया ही था किन्तु उसका पूर्ण रूप से सफाया महमूद की तलवार ने किया। २० या ३० साल तक उसे रौंदने के पश्चात आक्रमणकारियों ने पंजाब को अपना गढ़ बना लिया था। भारत में होते हुए भी पंजाब भारत के अन्य प्रदेशों से पृथक् हो गया था। पंजाब में हिन्दू दबा दिए गए किन्तु उनको पूर्ण रूप से मुसलमान नहीं बनाया जा सका। पंजाब के आक्रमणकारियों को यहाँ के निवासियों के प्रति कुछ भी सहानुभूति नहीं थी। शासक और शासितों में एक भारी दीवार थी। उस दीवार को गिराने की बजाय शासक वर्ग पुष्ट ही करता जा रहा था। दोनों ही पक्ष एक दूसरे को समझने का यत्न नहीं करते थे। शासक वर्ग ने तो पूर्णतः ही शासितों

---

1. दी डिक्शनरी आफ इस्लाम; फ्रेडरिक, पिनकाट।
2. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा; परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४०।

की ओर से अपने कान बन्द कर रखे थे। भारत के अन्य भागों में फिर भी भक्ति का पुनरुत्थान हो रहा था। वहाँ पर रामानुज और शंकर की वाणियाँ प्रसार पा चुकी थीं। परन्तु पंजाब, जो कि किसी समय आर्य सभ्यता का केन्द्र था, इस समय विदेशियों का गढ़ बन चुका था। ऐसे समय में नानक की शक्तिशाली वाणी ने वहाँ के लोगों को वास्तविक ज्ञान का पता बताया।

नानक का भरण-पोषण तो हिन्दू परिवार में ही हुआ था। नानक की क्रांतिकारी विचारधारा का प्रारम्भ तो वहीं पर हो जाता है जहाँ उन्होंने कहा था कि न कोई हिन्दू है और न को सलमान। इसमें तो लोगों ने नानक का पागलपन तो देखा था परन्तु इन्हीं विचारों पर नानक के साधक ने एक सुविकसित परम्परा को प्रस्तुत किया। बाह्याचारों का खंडन नानक ने एक हिन्दू या मुसलमान नहीं बल्कि एक मनुष्य की हैसियत से किया है। नानक के साधक ने इस बात की थाह ले ली थी कि धर्म विशेष में जो पाखंड की भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं वे उस धर्म का अनुसरण मात्र करने से नहीं हैं बल्कि उस धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को न समझने के कारण हैं। वे जान गए थे कि दूसरे को समझने या समझाने के लिए शांतिपूर्ण वातावरण की आवश्यकता है। उन्होंने हर एक बात को तटस्थ होकर स्वतन्त्र दृष्टिकोण से देखा। इसलिए नानक को एक हिन्दू या मुसलमान की अपेक्षा एक स्वतन्त्र विचारक ही कहा जाएगा।

कबीर नानक के गुरु—नानक को एक स्वतन्त्र विचारक की संज्ञा प्रदान करने पश्चात यह प्रश्न उठता है कि नानक का गुरु कौन था? क्या उन पर किसी व्यक्ति विशेष का प्रभाव था? फर्कुहर का मत है कि "कबीर नानक के गुरु थे।"[१] मालकाम का कथन है कि "नानक प्रसिद्ध मुसलमान कबीर से सदैव विचार ग्रहण किया करते थे।" कबीर साहब का देहांत नानक की आधी सदी पहले हो गया था। इसलिए दोनों की भेंट का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें संदेह नहीं कि कबीर और नानक के सिद्धांतों में समानता थी। परन्तु इस बात को लेकर ही दोनों में गुरु और शिष्य का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। सिर्फ पहले ही हो जाने से कोई किसी का गुरु नहीं हो जाता। नामदेव का जन्म कबीर से पहले हुआ था। "कबीर ने नामदेव का नाम काफी श्रद्धा से लिया है किन्तु कहीं भी यह नहीं पता लगता कि नामदेव कबीर के गुरु थे। लोगों की यह अत्यन्त भ्रान्त धारणा है कि कबीर नानक के गुरु थे। विलसन ने कहा है कि "कबीर के मुसलमान होने के कारण मैं यह मानूंगा कि यह एक अनहोनी बात है। इसे मैं असंभव भी कह सकता हूँ।"[२] विलसन ने कबीर को नानक का गुरु नहीं स्वीकार किया।

---

१. रिलीजस सेक्टस् आफ़ हिन्दूज; फर्कुहर।

२. रिलीजस सेक्टस् आफ़ दी हिन्दूज; एच. एच. विल्सन; पृ० ६६, भाग १।

किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल मुसलमान होने के नाते कबीर से नानक ने कुछ ग्रहण नहीं किया। नानक ने भ्रमण कर विभिन्न महापुरुषों और संतों का सत्संग कर अपनी विचारधारा को निर्धारित किया था। उस पर किसी व्यक्ति विशेष का प्रभाव नहीं था। उनके विचार स्वतन्त्र थे और कहने का ढंग भी स्वतन्त्र था। रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है। "काशी में गुरु नानक और कबीर की धर्म चर्चा हुई थी।"[1] किन्तु इस बात का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता इसलिए इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

फिर प्रश्न उठता है कि नानक का गुरु आखिर कौन था? नानक ने अपने पदों में स्थान-स्थान पर उन्होंने गुरु महिमा का बखान किया है। किन्तु स्वयं उनके किसी मानव गुरु का पता नहीं लगता। उनके विषय में कहा जाता है "बन बाबा नानक आये गुरु चेला।" वे स्वयं ही अपने आप के गुरु थे। उन्होंने किसी मानव विशेष से किसी प्रकार की दीक्षा नहीं ग्रहण की। जैसे कबीर के किसी गुरु का पता नहीं लगता था उसी प्रकार नानक के किसी गुरु के होने के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। कबीर ने शेख तकी, रामानंद आदि का नाम जगह-जगह श्रद्धा पूर्वक तो लिया है किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि ये महापुरुष कबीर के गुरु थे उसी प्रकार नानक ने कबीर नाम देव शेख फरीद आदि का नाम श्रद्धा से लिया है किन्तु इसी आधार पर इनमें किसी को भी नानक का गुरु नहीं कहा जा सकता। नानक स्वतन्त्र चिंतक थे। उन्होंने मण और सत्संग से बहुत कुछ सीखा। उनका कोई भी मानव गुरु नहीं था।

गुरु महात्मा—नानक का कोई गुरु नहीं था किन्तु अपने पदों में जगह-जगह उन्होंने गुरु की महिमा का बखान किया है। गुरु के महत्त्व को उन्होंने बराबर स्वीकार किया है। भारत में उदित होने वाली धार्मिक विचारधाराओं में (दो एक को छोड़) शिष्य या भक्त और ईश्वर के मध्यस्थ गुरु का स्थान आवश्यक माना गया है। इसी आधार पर गुरु को काफी महत्त्व प्रदान किया गया है। कबीर ने तो गुरु और ईश्वर में साम्यता बताई है। वे कहते हैं "गुरु और ईश्वर दोनों ही खड़े हैं, समझ नहीं आता कि किसके चरण स्पर्श करूं क्योंकि उनका ठीक-ठीक पता लग नहीं पाता। धन्य है गुरु जिन्होंने ईश्वर की ओर संकेत करके इस दुनिया का निवारण कर दिया।"[2] भजनामृत के अनुसार गुरु की हरदम पूजा करनी चाहिए। गुरु को प्रसन्न रखने से ही हरि प्रसन्न होता है। आगे फिर लिखा है कि यदि हरि क्रोधित हो तो गुरु उसका निवारण कर सकता है। किन्तु गुरु ही रुष्ट हो जाए तो कोई

---

१. कविता कौमुदी; भाग १, रामनरेश त्रिपाठी।
२. गुरु गोविन्द दोऊ खड़, काके लागूं पाऊं।
बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोविंद दियो बताय। —कबीर।

उपाय नहीं।[1] इस तरह कालान्तर को गुरु महिमा पर ईश्वरत्व का रंग चढ़ने लगा। परिणाम यह होता गया कि जनता के हृदय से श्रद्धा की भावना तो हटती गई और अन्धविश्वास ही उनके हृदयों में घर करता गया और गुरुओं का कार्य भी सिर्फ लोगों को मूंडना ही रह गया। गुरु शब्द का अर्थ ठीक उसके गुणों के विपरीत प्रयुक्त होने लगा। पहले यह बात नहीं थी। विल्सन के शब्दों में "प्रारम्भिक वर्षों में गुरु को आदर अवश्य प्रदान किया गया था किन्तु उस पर ईश्वरत्व की छाप नहीं लगाई गई थी।"[2]

सिख धर्म के अनुसार ईश्वर से मिलने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता है। परंतु उसके लिए किसी पंडे या पुरोहित की आवश्यकता नहीं है। जगह-जगह पर नानक के पदों में गुरु-माहात्म्य का बखान है। मानव गुरु को गुरु और ईश्वर को उन्होंने सतगुरु की संज्ञा प्रदान की है। उनका कथन है "गुरु प्राप्ति से हमें सांसारिक जीवन का अंत और आध्यात्मिक जीवन के प्रारंभ का पता लगता है। गर्व दूर हो जाता है और मुक्तावस्था आ जाती है। मनुष्य ईश्वर की शरण में चला जाता है।"[3] आगे वे कहते हैं कि "मेरे मित्र मुझको रामनाम का प्रकाश प्राप्त हो चुका है। मेरे गुरु ने जो रास्ता बताया है वही मेरे प्राणों का सखा है। हरि का कीर्तन ही मेरा सच्चा रास्ता है।"[4]

प्रार्थना का उद्देश्य—गुरु नानक देव ने प्रार्थना के महत्त्व पर जोर दिया है। उस प्रार्थना का उद्देश्य ईश्वर से किसी प्रकार की याचना करना नहीं है। उस प्रार्थना का उद्देश्य है ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर अपनी आध्यात्मिक और मानसिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करना। इसलिए अपनी प्रार्थना में बाहरी आडंबरों और पाखंडों का उन्होंने बहिष्कार किया है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों में ही उन्होंने आरती के विभिन्न उपादानों की कल्पना की है। रवीन्द्र ने भी कहा है "हम केवल प्रार्थना ही कर सकते हैं। यदि विपत्ति आती है तो आने दो, हानि होती है तो होने दो, परन्तु मनुष्य को अपनी एवं स्थान की सीमा को पार कर सिर्फ सोऽहं की ही घोषणा करनी चाहिए।"[5] मनुष्य का अधिकार और कर्तव्य भी वहीं तक है।

---

१. हरौ रुष्टो गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कश्चन:
गुरौ तुष्टे हरिस्तुष्ट:—भजनामृत

२. एच० एच० विल्सन; रिलीजस सेक्टस् आफ़ दी हिन्दूज; पृ० १६६।

३. गुरु ग्रंथ साहिब; म० १, राग गऊड़ी।

४. मेरे मीत मोकऊ, राम नाम परगासि ॥१॥
गुरमति नामु मेरा प्रान सखाई, हरि कीरिति हमरी रहिरासि; गु० ग्र० सा०; रागु आसा; महला १; पृ० १०।

५. रवीन्द्रनाथ टैगोर; मैन; पृ० ६१।

प्रार्थना में हृदय की शुद्धता अपेक्षित है।

नाम—नाम का तात्पर्य किसी वस्तु-विशेष के नाम से नहीं है। ईश्वर के नाम को नानक का साधक नाम की संज्ञा प्रदान करता है। नानक ने हर सिख को नाम जाप का आदेश दिया है। गुरु ग्रंथ साहिब में ईश्वर की स्तुति के पद भरे पड़े हैं। जपुजी के बाद ही प्रातः आसा दी वार का पाठ किया जाता है। इस वाणियों का पाठ व्यक्तियों को उनके कर्तव्यों के प्रति सजग रखता है। इससे उनके विवेक को ठीक-ठीक कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है। नाम की विस्तृत चर्चा हम गुरु गोविंदसिंह की जीवनी में करेंगे।

हुकमु—हुकमु, हुक्म शब्द का पर्याय ही है यहां पर उसका व्यवहार व्यापक अर्थ में हुआ है। नानक ने ईश्वर और उसकी एकता में विश्वास किया है। इसीलिए उन्होंने उसके हुक्म को सर्वश्रेष्ठ माना है। ईश्वर की आज्ञा का बोध करना सहज नहीं है। उसके हुक्म से ही जीव की उत्पत्ति होती है और उस जीव को संसार में यश प्राप्त होता है। उसी के हुक्म से संसार में उत्तम और नीच हैं। समस्त सुख-दुःख उसके ही हुक्म से आते हैं। सब प्राणी हुक्म के अंदर ही हैं। हुक्म से ही किसी को अपने कार्य का पुरस्कार मिलता है और कोई व्यर्थ ही योनियों में भ्रमण करता फिरता है। यदि कोई अपनी व्यक्तिगत इच्छा से चलना चाहे तो यह असंभव है। उसके हुक्म को जो पहिचान लेता है उसका अहं मिट जाता है।[1] यह हुक्म साधारण हुक्म नहीं है। यह तो ईश्वर की आज्ञा है। यह किसी शक्तिशाली पुरुष की आज्ञा मात्र नहीं है। नानक का साधक आगे कहता है "ईश्वर एक है, निर्भय है, किसी से उसका वैर नहीं है, उसे मृत्यु नहीं ग्रस सकती, ८४ लाख योनियों के कष्टों से वह मुक्त है।"[2] गुरु नानक देव का मूल दार्शनिक सिद्धांत सर्वात्मवाद के उस रूप की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार उसे नित्य, निर्विरोध, एक मात्र सत्य एवं व्यावहारिक ससीम सत्ता में कोई अंतर नहीं।"[3]

---

१. हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई।
हुकमी होवनि जीअ हुकमी मिलै वडिआई।
हुकमी ऊतमु नीचु हुकमी लिखि दुख सुख पाईअहि।
इक ना हुकमी बखसीस इकि हुकमी सदा भवाईअहि।
हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकमु न कोई।
नानक हुकमै जो बूझै त हउमै कहै न कोई।
—जपुजी साहब; म० १, पृ० १; गुरु ग्रंथ साहिब।

२. ओं, सतिनामु, करता पुरखु, निरभउ, निरवैरु, अकाल मूरति अजूनी सैभं, गुरु ग्र० सा०, जपुजी; प० १, पृ० १।

३. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परंपरा; पृ० ३४४।

नानक की विचारधारा—नानक की विचारधारा को जब सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो सैद्धांतिक या व्यावहारिक प्रश्न उठता है कि उसका रूप केवल सैद्धांतिक ही था या उसमें कुछ व्यावहारिकता भी थी। नानक ने जो कुछ भी ज्ञानार्जन किया उसे मांजकर उन्होंने लोगों के समक्ष रखा। भ्रमण के पश्चात उन्होंने अपने फकीरी चोले को उतार फेंका था। उस समय वे कमर पर दुपट्टा, कंधे पर चादर, सिर पर पगड़ी धारण करते थे। वे एक गृहस्थ की तरह रावी के किनारे जीवन व्यतीत करने लगे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि ईश्वर प्राप्ति के लिए न तो संन्यासी होने की आवश्यकता है और न ही जंगलों में जाने की आवश्यकता है। उन्होंने गृहस्थाश्रम का आदर्श सामने रखा।

इसके लिए उन्होंने राजा जनक का उदाहरण प्रस्तुत किया। उनका ध्यान शरीर की अपेक्षा हृदय की शुद्धता पर अधिक था। नानक के जिज्ञासु ने चारों ओर से ज्ञान अर्जन कर उसका निष्कर्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर तो मनुष्य के साथ ही है। उसे खोजने के लिए इधर-उधर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। करतारपुर में उन्होंने एक विशाल कुटुम्ब-सा बना लिया था। वहीं उनका परिवार तथा शिष्य आदि रहा करते थे। प्रतिदिन का कार्य जपुजी से प्रारम्भ होकर सोहिला से समाप्त होता था।

नानक की विचारधारा व्यावहारिक थी। प्रार्थना में गरीब-अमीर, ऊंच-नीच सब समान रूप से भाग लिया करते थे। किसी के लिए किसी प्रकार का बंधन या पक्षपात नहीं था। प्रार्थना एवं अन्य कार्यों में स्त्रियों को भी समान अधिकार प्राप्त थे। उन्होंने गृहस्थ जीवन का आदर्श सामने रखा। उनका व्यक्तित्व तो गृहस्थ में रहते हुए भी सांसारिकता से कहीं ऊपर उठ चुका था। संसार की चालबाजियां, दगा-फरेब, अहंमन्यता आदि उनके व्यक्तित्व में नहीं थे। इसलिए अपने पश्चात अंगद को उन्होंने गुरु मनोनीत किया। अपने लड़कों की भी चिंता उन्होंने नहीं की। उनके विचार और सिद्धांत सीधे, सरल, सहज और स्पष्ट थे। ये साधारण मेहनतकश जनता के लिये थे।

पंडितों और योगियों की आसमानी बातें ये लोग समझ नहीं पाते थे। वैसे भी उस समय के योगियों और पण्डितों की बातों में सार तो बहुत ही कम होता था। पसीने से रोटी कमाने वाले इस वर्ग को नानक की विचारधारा से काफी त्राण मिला। उनके विचार सैद्धान्तिकता से ही पूर्ण नहीं थे बल्कि उनमें शत-प्रतिशत दार्शनिकता भी थी।

लंगर की प्रथा—कहा जाता है कि "भूखे पेट न भजन गोपाला।" नानक ने अपनी यात्राएं समाप्त कर करतारपुर में स्थायी रूप से निवास करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय उन्होंने लंगर की प्रथा चलाई। दोपहर को यहां पर समान रूप से सब भोजन करते थे। खानेवालों में, परसनेवालों में, बनानेवालों में, जाति-पांति का कोई भेदभाव नहीं

था। पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी समान रूप से हाथ बटाती थी। लंगर में शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व अपनी परस्पर सीमाएँ नहीं खोज पाते थे। जो नानक की प्रार्थना सुनने आता था, वह उनके भजन आदि से लेकर लंगर में भोजन प्राप्त करता था। वहाँ पर भी किसी प्रकार का बन्धन नहीं था। जो कुछ भी बाहर से दान-दक्षिणा में आता था उसका एक बड़ा भाग तो लंगर की सेवा में ही जाता था। कालान्तर हम देखते हैं कि एक जगह बैठकर खाने की भावना से भी समानता के सिद्धांतों के व्यावहारिक-स्वरूप को काफी बल प्राप्त हुआ।

संगत—संगत का अर्थ है जमाव या झुंड। संगत की संज्ञा उस जमाव को दी गई है जिसमें कि गुरु के विचारों और उपदेशों को श्रवण करने के लिए व्यक्ति जमा होते थे। सिखों के उस जमाव को गुर संगत कहा जाता था। लंगर में जिस तरह भोजन करते समय हर व्यक्ति बराबर था उसी प्रकार संगत में भी हर व्यक्ति बराबर था। संगत हिन्दी के संगीत शब्द का ही पर्याय है। सत्संग को भारतीय दर्शन में काफी ऊँचा स्थान दिया गया है। तुलसीदास ने सात स्वर्गों के सुख को सत्संग के सुख से कम ही माना है।[1] ऊँच-नीच, शत्रु और मित्र संगत में बराबर हो जाते हैं। उस संगत में हर शख्स अपना व्यक्तित्व खोकर समष्टिगत हो जाता है। 'व्यक्ति' नाम की तो वहाँ पर कोई चीज ही नहीं रह जाती। जैसे पानी के कण एक-एक एकत्रित होकर सरोवर संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार व्यक्ति संगत में मिलकर संगत हो जाता है। व्यष्टि समिष्टि में लीन होकर उसके साथ एकाकार हो जाती है।

मूलमंत्र—उनके समस्त विचारों का मूलमंत्र था "ओंकार"। इसका अर्थ हमने पहले ही स्पष्ट कर दिया है। नानक की विचारधारा का सार श्लोक में आ जाता है। यह श्लोक जपुजी साहब के अन्त में दिया गया है। उसके अनुसार "हवा गुरु के समान है, पानी पिता है, पृथ्वी माता है, दिवस और रात धाय के समान हैं। जिसका कार्य मनुष्य मात्र को जगाना और सुलाना है। इसी में सारा जगत खेल रहा है। बुराइयाँ और अच्छी बातें ईश्वर के दरबार में हाथ जोड़कर खड़ी हैं। सबके अपने-अपने कर्म ईश्वर ने लिख दिए हैं। जिन्होंने ईश्वर का स्मरण किया है उन्होंने अपने-जीवन की सफलता प्राप्त कर ली है। उनके मुख, उज्ज्वल हैं और उनके साथ कई औरों का भी लाभ हो जाता है।"[2]

---

१. तात स्वर्ग सुख अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलइ न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥ तुलसीदास

२. पवणु गुरु, पाणी पिता, माता धरति महतु।
दिवसु राति दोइ दाई दइआ खेलै सगल जगतु।
चंगि आईआ बुरआईआ वाचै धरमु हदूरि।

हठयोग का प्रभाव—नानक ने खुली तौर से हठयोग की साधनाओं का समर्थन तो नहीं किया किन्तु उनके पद हठयोग से अलिप्त भी न रह सके। योगियों की शब्दावली का प्रयोग उन्होंने बराबर किया है। वे कहते हैं कि "निरविकार, अलेख ईश्वर के गुण सारे देश देशांतर गा रहे हैं। सत्करतार या ईश्वर तो हर किसी में है। अनहद नाद हो रहा है। त्रिकुटी के भीतर ही इसका घनघोर शब्द हो रहा है। सोऽहं शब्द ही तो अमीरस है। योगी इसे ढूंढते फिरते हैं। नानक के मतानुसार ये सब वस्तुएँ मनुष्यों के पास ही हैं। इसके लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं। वे कहते हैं कि "शरीर रूपी राज्य में मन राज्य करता है। पांचों इन्द्रियां उसके शासनाधीन हैं। वह पवन के संयोग से अपना आसन जमाता है। यदि पवन को ही योगसाधना द्वारा निरोध कर उसे पंगु बना दिया जाय तो उसका कार्य पूरा हो जाएगा।"[१] आगे वे कहते हैं कि मन के भीतर प्रपंच है। यदि योगसाधना द्वारा "सबदि" या पवन पर अधिकार कर लिया, उसके मरते ही अपनी मृत्यु का सारा भय जाता रहता है और ईश्वर की कृपा से मन स्थिर हो जाता है।

नानक ने जितने भी पदों की रचना की है उसमें किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की स्तुति के पद प्राप्त होते ही हैं। उनका मुख्य उद्देश्य अपने भक्तिभावों को अपने पदों द्वारा ही व्यक्त करना था। उनकी रचनाओं में स्वतन्त्र काव्य प्रसंग, इतिवृत्तात्मक या ऐतिहासिक प्रसंग बहुत कम आते हैं। राम की महिमा का बखान ही वाह गुरु और सतगुरु के रूप में उन्होंने किया है। राम की स्तुति से ग्रन्थ साहिब भरा पड़ा है। कबीर की तरह उनका राम दशरथसुत नहीं था। अपने मन से वे कहते हैं कि "हे मन तू हरि से ऐसी प्रीति कर जैसे जल और कमल में होती है।"[२]

नानक ने नीति विषयक पद भी लिखे हैं। इन पदों पर भी अध्यात्म की छाप लगी हुई है। उनका विशेष जोर चरित्र की पवित्रता और विचारों की श्रेष्ठता पर था। उनकी अनुभूति व्यष्टि से उठकर समष्टि की ओर चली गई थी। उनकी साधना में उनके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण परिहार हो चुका था। इसलिए उन्हें व्यक्तिगत सुखों या दुःखों की चिन्ता नहीं थी। यद्यपि उन्होंने ईश्वर-प्राप्ति के लिए गृहस्थ जीवन को आदर्श रखा है किन्तु उनका व्यक्तिगत गृहस्थ जीवन आदर्श नहीं था। उन्होंने भौतिक सुखों का तो बलिदान ही कर दिया था। रवीन्द्र के मतानुसार "जो

करमी आपे आपणी के नेड़े कै दूरि।
जिनी नामु धिआइआ गए मसकवति घालि।
नानक के मुख ऊजले केति छुटी नालि—जपुजी साहब अन्तिम श्लोक;
गु० ग्र० सा०; पृ० ८।

१. गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा रामकली; म० १।
२. गऊड़ी; म० १।

मनुष्य सत्य के लिए, अपने देश के लिए, लोगों की भलाई के लिए अपना जीवन दे देता है, जो अपने आपका ख्याल एक विशाल पृष्ठभूमि पर करता है, वह देखता है कि उसके लिए व्यक्तिगत सुखों और दुखों ने अपना अर्थ बदल दिया है। ऐसा मनुष्य कष्टों को सहन करता हुआ अपने सुखों का बलिदान कर देता है।"[1]

नानक की रचनाओं में पौराणिक पात्रों और भक्तों की महिमा का बखान पाया जाता है। ईश्वर की आरती करते हुए आरती के समस्त उपादनों की कल्पना उन्होंने प्रकृति में ही की है। आरती करने के लिए किसी बाहरी आलंबन की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने प्रकृति के सामान्य एवं विशाल प्रतीकों को लेकर ही आरती के समस्त भौतिक उपकरण प्रस्तुत कर दिए हैं। उनके कथनानुसार सारा आकाश थाल है। सूर्य और चंद उस थाल के दीपक हैं, तारिका मंडल उस थाल के बिखरे हुए मोती हैं, मलयानल धूप का कार्य कर रहा है। चंवर का कार्य पवन कर रहा है।[2] इस तरह समस्त प्रकृति ही अखिलेश्वर की आरती कर रही है।

इसके साथ-ही-साथ संसारी पुरुषों को उन्होंने नसीहत भी दी है। इन नीति-विषयक बातों का उद्देश्य चरित्र सुधार ही है जो कि ईश्वर प्राप्ति का एक अंग होता है। वे कहते हैं कि "यह जमीन जो दृष्टिगत होती है यह नाशवान है। संसार की दौलत नहीं रहने वाली है। संसार के असंख्य लखपति और करोड़पति मिट जाएँगे। दौलत तो उसी की मानी जाएगी जो खिलाएगा और खाएगा। दौलत तो उसकी जमा होगी जो दान देता रहे और स्वयं उसका संग्रह न करते हुए दूसरों को देता ही रहे। न कि वह अकेला उसका उपभोग करे।"[3]

नानक ने यह माना है कि इसी भौतिक शरीर से ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। इसी में सब कुछ है। नामदेव भी कहते हैं कि "हाथ ही करताल का कार्य करते है। आँखें पखावज का रूप धारण करती हैं। मस्तक में रबाब बजता है। कानों में बंसी की ध्वनि आ रही है। इस तरह ईश्वर की अगाध महिमा का भास इसी शरीर

---

१. मैन, टैगोर

२. गगन मैं थालु रविचंदु दीपक बने, तारिका मंडल जनक मोती।
धूप मलआनल लो, पवणु चवरा करे, सगल बनराइ फलंत जोती।
गुरु ग्रंथ साहिब; रागु धनासरी, महला १, पृष्ठ १३।

३. कीजे नेकनामी जो देवे खुदाइ, जो दीसे जिमी परसी होसी फनाहि।
दायम व दौलत कसे वेशुमारन रहिंगे करोड़ी न रहिंगे हजार।
दमड़ा तिसी का जो खर्चे और खाय, देवे दिलाये राजाइ खुदाइ।
होता न राखे अकेला न खाए, तहकीक दिलदानी वही मिल्लत जाइ।
सुन्दर गटका नसीहत नामा; पृष्ठ ५६६।

में हो रहा है।"[१]

बाहरी प्रभाव—बहुधा बहुत-सी बातें गुरु नानक की इस्लाम से प्रभावित बताई जाती हैं। इस्लाम का खुदा सातवें आसमान पर रहता है किन्तु नानक का निरंकार पुरुष किसी स्थान विशेष में नहीं रहता, वह तो घट-घट में व्याप्त है। नानक ने बहुदेव-वाद, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि का खंडन किया। उस समय उनका विचार एक संतुलित विचारधारा का प्रसार था। किसी के प्रभाव में आकर अपने विचारों का उन्होंने प्रसार नहीं किया। उन पर कोई बाहरी प्रभाव जबरदस्ती ढूंढ़ना व्यर्थ है या उन्हें इस्लाम के एकेश्वरवाद से भी प्रभावित बताना आदि इसी तरह का है। "सर्वं खल्विदं ब्रम्ह" "वसुधैव कुटुम्बकम्" आदि विचार भारत में पुरातन काल से ही चले आ रहे थे। ये तो आध्यात्मिक विकास के साधन माने गए हैं। इस्लाम का एकेश्वरवाद भी उसकी अपनी मौलिक कल्पना नहीं है। इस्लाम पर ईसाई, यहूदी विचारधाराओं का बहुत ही प्रभाव पड़ा है क्योंकि अरब में इस्लाम के प्रसार के पहले ये विचार वैसे ही किसी-न-किसी रूप में प्रचलित थे।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत उस समय अनेक जातियों में बँटा हुआ था जबकि हर अहले इस्लाम बराबर माना जाता था। किन्तु यह समानता भारत के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं थी। उस समय एकता की व्यावहारिकता पर विदेशी ही जोर दे रहे थे। चैतन्य ने कहा है कि "ईश्वर की कृपा जाति और पुत्र नहीं देखती।"[२] इसलिए कृष्ण ने विदुर के घर भोजन किया था।[3] नानक ने जिस एकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया वह भारतीय विचारधारा का ही एक अंग मात्र था।

कला-पक्ष, भाषा—नानक ने अपने विचारों के प्रसार के लिए मध्यकालीन पंजाबी का ही आधार लिया। यह भाषा पंजाबी के आधुनिक रूप से भिन्न है। नानक जिस प्रदेश के थे उस प्रदेश की भाषा के संस्कार उन पर बहुत ही कम थे। उनका अधिकतर जीवन गुजरानवाला जिले के बाहर ही बीता है। जीवन के प्रारंभिक वर्षों में ये दौलतखान लोदी के पास कार्य करने के लिए भेज दिए गए थे। जैसे बुद्ध ने अपने विचारों के प्रसार के लिये जन-भाषा पाली को अपनाया उसी तरह नानक ने भी जन-भाषा को अपना माध्यम बनाया। उनको अपने विचार जनता तक पहुंचाने थे। उनका सत्य रास्ता यही था कि ये जनता की भाषा को अपनाते। उन्हें सीधी और सरस-सी बातें सीधे और सरस से ढंग से कहनी थीं। इटली के प्रसिद्ध महाकवि

---

१. कर करताल पखावज नैन, माथे बजे रबाबा।
करना भये बंसरी बाजे, जेहब धुन अगाधा—नामदेव

२. ईश्वर कृपा जाति कुल नहीं माने—चैतन्य

३. विदुरेर घरे कृष्ण करिल भोजन—चैतन्य

दांते ने भी जनता की भाषा को ही माध्यम बनाया था। उस समय इटली के साहित्यिक विद्वानों ने दांते पर अपना रोष प्रगट किया था। कालांतर वे विद्वान तो काल के गाल में समा गए और दांते ही की वाणी ने उसे अमरत्व प्रदान किया।

नानक की भाषा के तीन स्वरूप देखे जा सकते हैं (१) हिन्दी (२) फारसी बहुल पंजाबी या हिन्दी और (३) पंजाबी। फारसी बहुल शब्दावली में उनके पद अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं। फारसी उस समय राजभाषा थी इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि नानक उससे प्रभावित होते। दूसरे प्रकार के पदों में हिन्दी का प्रयोग मिलता है। कई पदों में खड़ी बोली का प्रभाव देखा जा सकता है। यथा—

बगे बाजो करके दुनिया लूट खाई।
पिये पिलाते और खाए कबाब।
× × ×
गफलत करोगे तो पाओगे मार।
बेटो व बेटा कोई लेगा न सार॥[1]

नसीहत नामे की समस्त भाषा में खड़ी बोली का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। कई पदों का शब्द-विन्यास तो आधुनिक हिन्दी के निकट हो गया।

नानक का अधिकतर साहित्य तो पंजाबी में ही है। परन्तु यह कहीं-कहीं क्लिष्ट हो गई है। उनकी भाषा एक तरह से पुरानी पंजाबी और मूल का ही मिश्रण है। क्रियाओं में होसी, खासी आदि के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। उनकी भाषा में रावलपिंडी और गुजरावानला जिले में बोली जाने वाली पंजाबी के प्रयोग भी मिलते हैं। उनकी भाषा सूर और तुलसी की तरह कसी हुई तो नहीं है किन्तु उसमें कबीर की अक्खड़ता भी नहीं है। भाषा में प्रवाह और सरलता है। उन्होंने अप्रचलित शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, इस कारण भाषा में प्रवाह और सरलता है। अभिधा के साथ-ही-साथ व्यंजनात्मक शक्ति का भार वहन करने में भी उनकी भाषा समर्थ है। युगों के पश्चात भी उनकी वाणी उसी रूप में सुरक्षित अवस्था देखी जा सकती है।

अलंकारों का प्रयोग—नानक की वाणी में सहज और स्वाभाविक रूप से हुआ है। अलंकारों के शास्त्रीय प्रयोग उपलब्ध नहीं होते। उनके पदों में यत्र-तत्र उपमा, रूपक प्रतीक, अनुप्रास अलंकारों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। रूपक—

गगन में थालु, रविचंदु दीपक बने,
तारिकामंडल जनक मोती, धूप मलआनल लो।
पवणु चवरा करे

1. नसीहत नामा, सुन्दर गुटका; पृ० ५६६।

उदाहरण अलंकार—पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर माँहि जल छाँहि ॥
तैसे ही हरि बसे निरंतर, घट ही खोजो भाई ॥

छन्दों का विशेष तौर से निर्वाह नहीं हुआ है। उनके पद विभिन्न राग-रागिनियों में लिखे गए हैं। नानक स्वयं गायक भी थे, राग-रागनियों का उन्हें विस्तृत ज्ञान था। इसलिए छन्दों की अपेक्षा उनका ध्यान गीतात्मक की ओर अधिक था।

रसों में उनके पदों में शांत रस का निर्वाह अधिक हुआ है। ये पद भक्ति-भाव से भरे पड़े हैं। ऐतिहासिक वर्णात्मक स्थलों के अभाव के साथ-साथ करुण और शृंगार के पद भी नगण्य से हैं।

व्यक्तित्व विश्लेषण—दो एक विद्वानों ने नानक की साक्षरता पर संदेह प्रगट किया है। परन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता। कबीर की तरह उन्होंने कहीं भी "मसिकागद छूयो नही" तो कहा नहीं है। इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि मौलवियों और पंडितों के पास उन्हे शिक्षा प्राप्ति के लिए भेजा गया था। कबीर आदि के विषय में ऐसे प्रमाणों का अभाव है। संस्कृत का भले ही उन्हें ज्ञान न रहा हो किन्तु फारसी, पंजाबी, और ब्रज का तो उन्हें ज्ञान था। उन्होंने सत्संग और भ्रमण से ज्ञान प्राप्त किया।

पश्चिमोत्तर भारत में नानक का सब से प्रसिद्ध व्यक्तित्व हो गया था। अपने जीवन काल ही में उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई थी। जहाँ कहीं भी संतों का नाम आता है वहाँ अनायास ही कबीर और नानक[1] का नाम ले लिया जाता है।

कृष्ण ने गीता में अपने आपको भगवान कहा है या पुरुषोत्तम की संज्ञा दी है। ईसा ने अपने आपको परमात्मा का इकलौता बेटा कहा, हजरत मुहम्मद ने अपने आपको परमात्मा का दूत बताया किन्तु नानक ने अपने आपको एक साधारण मनुष्य ही माना है।

१. सिद्धिनाथ तिवारी ने निर्गुण भक्ति दर्शन में "निवेदन" लिखा है कि "संत साहित्य में कबीर और जायसी प्रमुख हैं। कबीर के साथ नानक का नाम तो सुना था, जायसी का नहीं पता नहीं, लेखक ने जायसी को कैसे संत माना है।

पंचम अध्याय

गुरु अंगददेव, गुरु अमरदास एवं गुरु रामदास

जीवनवृत्त व विचारदर्शन

गुरु अंगददेव का जीवन वृत्त[1]—गुरु अंगद का जन्म मिति वैसाख ११ सं० १५६१ को मत्ते दी सरां नामक स्थान में हुआ था। मत्ते दी सरां मुक्तेसर के पास फिरोजपुर जिला पंजाब में है। इनके पिता फेरू व्यापारी एवं गाँव पुरोहित थे। वे शक्ति के उपासक थे गुरु अंगद का पहला नाम लहिना था। लहिना का विवाह मत्ते दी सरां में खिवि नामक स्त्री से हुआ था। इनके एक पुत्री अमरो और दो पुत्र दातू और दासू थे।

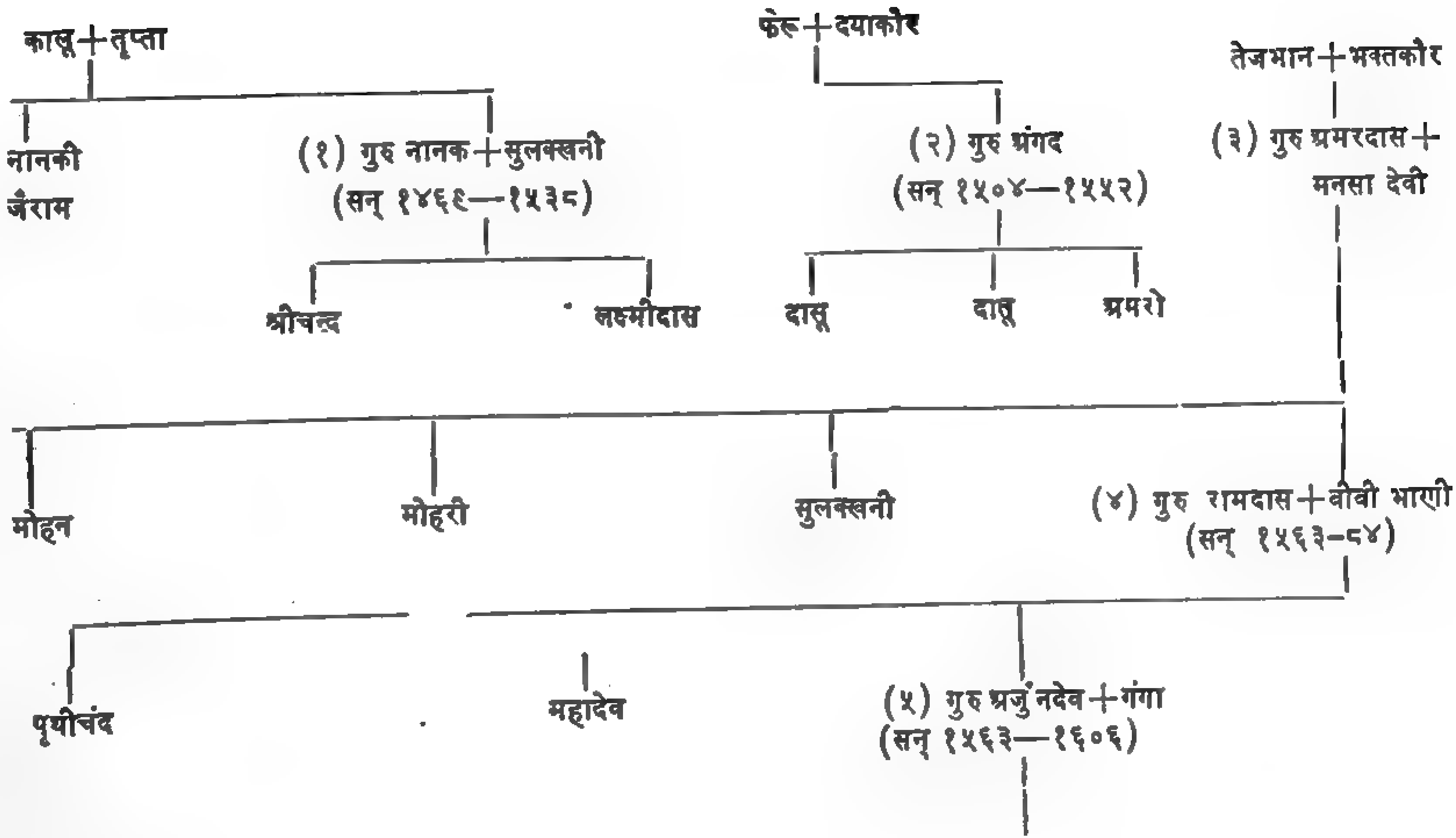
गुरु अंगद के आरम्भिक जीवन के विषय में गुरु नानक की जीवनी में चर्चा की गई है। अंगद भी पहले शक्ति के उपासक थे। सरां में रहते हुए वे अपनी मंडली सहित कांगड़ा की ज्वालामुखी की यात्रा किया करते थे। सन् १५२६ में पिता की मृत्यु के बाद परिवार का सारा बोझ इन्हीं पर आ गया। एक दिन प्रातः जोधा नामक एक सिख से जपुजी एवं आसा दी वार का पाठ सुनकर अंगद का मन उस ओर आकर्षित हो गया। नानक के बारे में जोधा से समस्त जानकारी की।

एक बार ये अपने परिवार सहित व मित्रों सहित ज्वालामुखी के दर्शन को जा रहे थे। मार्ग में करतारपुर में वे अपनी मंडली सहित रुक गए। नानक के पूछने पर इन्होंने अपना पूरा परिचय दिया। गुरु नानक के उपदेशों को सुनकर ये बहुत ही प्रभावित हुए। अपने पैरों के सारे घुंघरू उतार कर इन्होंने फेंक दिए और देवी के समक्ष नृत्य करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इनकी मंडली के सदस्यों ने समझाया बुझाया किन्तु उनकी एक न चली। अंगद के परिवार ने भी उनके इस आचरण से

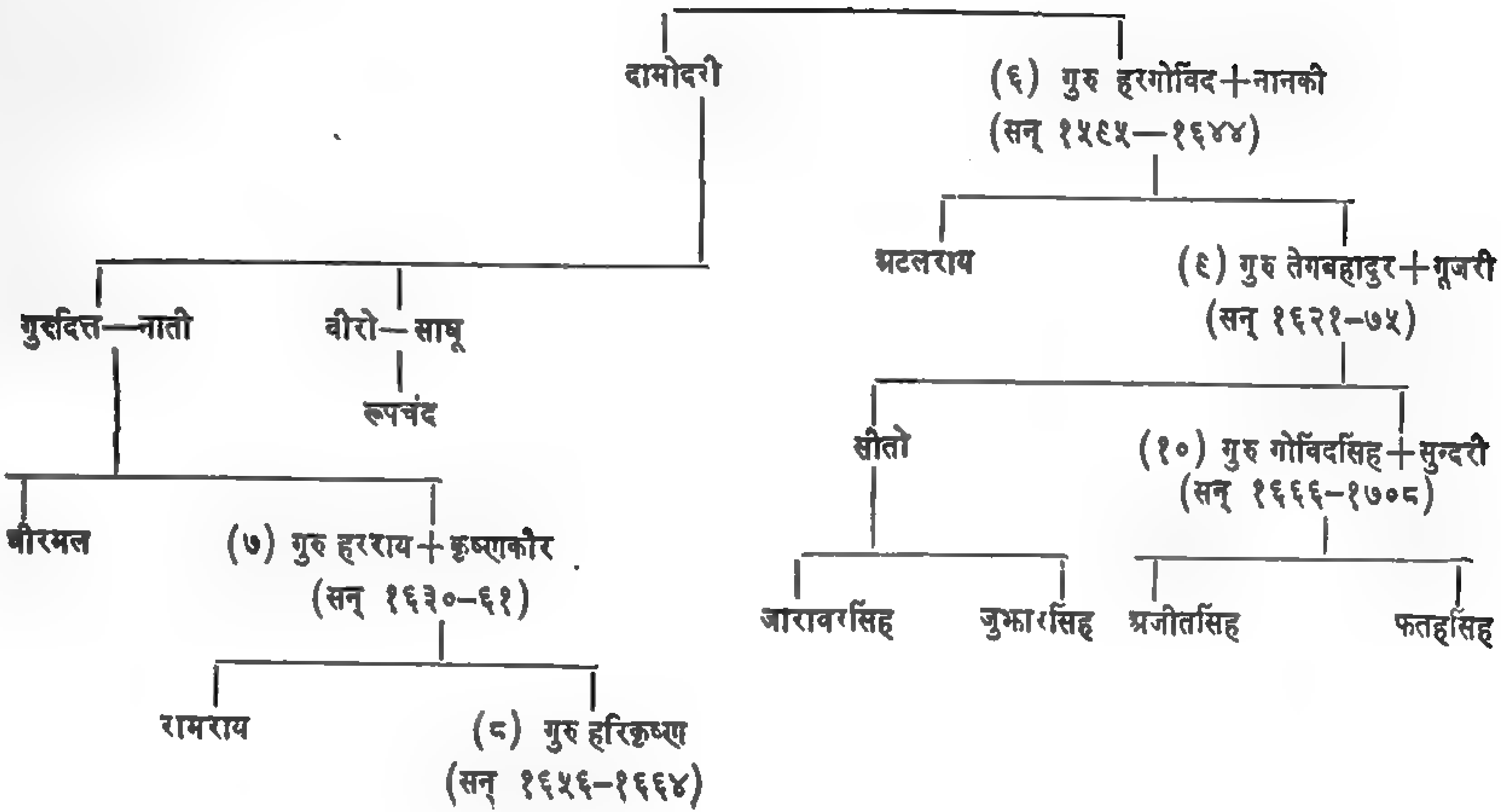
---

१. गुरु अंगद का नाम अंगदसिंह नहीं था। जैसाकि भोलानाथ तिवारी ने 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' में लिखा है। सिंह लगाने की प्रथा सिखों में गुरु गोविन्दसिंह के बाद ही उनके आदेशानुसार प्रारम्भ होती है।

सिख गुरु परम्परा



कालू+तृप्ता
नानकी
जैराम
(१) गुरु नानक+सुलक्खनी
(सन् १४६९—१५३८)
श्रीचन्द
लक्ष्मीदास
फेरू+दयाकौर
(२) गुरु अंगद
(सन् १५०४—१५५२)
दासू
दातू
अमरो
तेजभान+भक्तकौर
(३) गुरु अमरदास+
मनसा देवी
मोहन
मोहरी
सुलक्खनी
(४) गुरु रामदास+बीबी भाणी
(सन् १५६३-८४)
पृथीचंद
महादेव
(५) गुरु अर्जुनदेव+गंगा
(सन् १५६३—१६०६)


दामोदरी
(६) गुरु हरगोविंद+नानकी
(सन् १५९५—१६४४)
गुरुदित्त—नाती
वीरो—साधू
रूपचंद
भटलराय
(९) गुरु तेगबहादुर+गूजरी
(सन् १६२१–७५)
धीरमल
(७) गुरु हरराय+कृष्णाकौर
(सन् १६३०–६१)
रामराय
(८) गुरु हरिकृष्ण
(सन् १६५६–१६६४)
सीतो
(१०) गुरु गोविंदसिंह+सुन्दरी
(सन् १६६६–१७०८)
जोरावरसिंह
जुझारसिंह
अजीतसिंह
फतहसिंह

असन्तोष प्रकट किया परन्तु इन सबका अंगद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसके बाद अंगद नानक के पास ही रहने लगे। इनकी असीम श्रद्धा देखकर गुरु नानक ने इनसे कहा, "मैं तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ, पहले अपने घर का सारा काम-काज निपटाकर आ जाओ।" घर आकर सारा वृतान्त अंगद ने अपनी स्त्री से कह सुनाया और उससे कहा कि "मैंने गुरु की सेवा का निश्चय कर लिया है।"

घरबार का सारा काम निपटाकर गुरु के लंगर के लिए एक नमक की बोरी लेकर ये गुरु नानक के घर पहुँचे। माता सुलक्खनी ने इनका स्वागत किया और कहा कि गुरु नानक खेतों पर हैं। नमक की वह बोरी वहीं पर छोड़कर अंगद खेतों की ओर बढ़ गए। नानक ने अपनी गाय भैंसों के लिए वहाँ पर घास के तीन गट्ठर रखे हुए थे। उन्हें घर लाना था। वे कीचड़ और पानी में सने हुए थे। नानक के पुत्र एवं अन्य शिष्य उस स्थान से बहाना बना चल दिए। अंगद ने उस समय नए कपड़े पहिने थे। उन्होंने तीनों गट्ठर उठा लिए। नानक के पीछे-पीछे अंगद घास का गट्ठर लादे हुए चलने लगे। उनके नए कपड़े कीचड़ से खराब हो गए। माता सुलक्खनी ने यह देखा तो नानक से कहा कि क्या मेहमान से यही वर्ताव किया जाता है? नानक ने कहा घास के इन गट्ठरों को उसी ने उठाया जो कि इनके योग्य था।

सूर्योदय के एक प्रहर पहले उठकर नानक रावी में स्नान करने जाते थे। सूर्योदय के समय जपुजी का पाठ कर वे ईश्वर की स्तुति के पद गाया करते थे। अंगद भी नानक के साथ प्रातः उठते और उनकी पूरी सहयता किया करते थे। कड़ी-से-कड़ी ठंड भी अंगद के मार्ग में बाधा उपस्थित नहीं कर सकती थी। अंगद को देखकर नानक के तीन शिष्यों ने भी गुरु नानक की सेवा उसी लगन से करने की ठानी। भाई बुड्ढा भी उनमें था। दूसरे दिन नानक के उठने से एक प्रहर पूर्व ही उठकर वे रावी पर जा पहुँचे। सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। यहाँ तक कि उनका रक्त जमने लगा। बुरी तरह कांपने और सिहरने लगे। उसी समय ओले भी पड़ने लगे। तीनों ठिठुरते हुए वापिस भाग आए। अंगद ने उस भयंकर सर्दी में पैर नहीं मोड़े। प्रातः पानी से बाहर आकर नानक ने अंगद की सरहाना की। नानक के लिए इस तरह के भयानक कष्टों को सहते देख अंगद को देखकर नानक के अन्य शिष्य आश्चर्यचकित रह गए।

शिष्यों की परीक्षा—गुरु नानक ने भी नियमित रूप से अपने शिष्यों की परीक्षा लेनी प्रारम्भ कर दी थी। ठंड में एक बार रात को ही नानक के घर की एक दीवार गिर गई। नानक ने उसी समय उसकी मरम्मत करने की आज्ञा दी। गुरु नानक के पुत्रों ने तो बहाने बनाने शुरू कर दिए और वहाँ से खिसक गए। अन्य सिख भी इतनी रात को काम करने लिए तैयार नहीं हुए। रात के ही समय लहिना ने नानक की इच्छानुसार दीवार बनानी प्रारम्भ की। दीवार का जब कुछ हिस्सा बन गया तो नानक ने उसे गिराकर फिर बनाने को कहा। अंगद ने दीवार गिरा दी और फिर से बनाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार नानक ने कई बार वह दीवार गिराकर बनवाने

को कहा । अंगद ने हिम्मत नहीं तोड़ी । वह भी हर समय उसी उत्साह से कार्य करते रहे । यह देखकर नानक के पुत्र अंगद पर हंसने लगे । अंगद ने कहा "सेवक का काम सिर्फ सेवा ही करना है । "गुरु नानक ने अपने परिवार के सदस्यों को सम्बोधित करते हुए कहा कि "तुम इस मनुष्य को नहीं जानते, पहले यह दुर्गा का भक्त था । गुरु के मिलने से परमात्मा की वह वास्तविक सेवा कर रहा है ।"

नानक और अंगद के सम्बन्ध दिन प्रति प्रगाढ़ होते जा रहे थे । अंगद के प्रति नानक के पुत्रों में द्वेष की भावना घर करने लगी । नानक ने अंगद को कुछ समय के लिए अपने घर लौट जाने को कहा । अंगद खडूर लौट आए । तीन वर्ष के बाद गांव लौटने पर गांव का मुखिया तख्तमल अंगद के चरणस्पर्श करने आया । ग्राम के अन्य निवासी भी अंगद के चारों ओर जमा हो गया । अंगद के पदों को सुनकर तख्तमल को ज्ञान प्राप्त हुआ । खडूर में रहते हुए अंगद भजन-गान आदि में लीन रहते थे । नानक अंगद की भक्ति की चर्चा सुनकर अंगद को खडूर में मिलने आए । अंगद ने अपनी पत्नी सहित नानक के चरण स्पर्श किए । उन्होंने अपना सर्वस्व नानक के चरणों पर रख दिया । अंगद को नानक ने आध्यात्मिक उपदेश दिए । उसके बाद नानक करतारपुर लौट आए । नानक के प्रयाण के पश्चात खडूर में अंगद ने नाम जप ज्यों-का-त्यों प्रारम्भ कर दिया ।

अंगद नामकरण—अंगद की असीम भक्ति का परिचय मिलते ही पुनः नानक ने लहिना से खडूर में भेंट की । नानक ने अंगद से कहा "तुमने असीम भक्ति का परिचय दिया है । तुमसे अधिक कोई सिख मुझे प्रिय नहीं है । तुम्हारा और मेरा स्वरूप मिटकर एक हो चुका है । तुम्हारी रचना मेरे अंग से हुई है । इसलिए तुम्हारा नाम अंगद हुआ ।" यह कहकर अंगद को नानक अपने साथ करतारपुर आए । लहिना का नाम उस दिन से अंगद हो गया ।

नानक की सेवा या दर्शनों के लिए जो भी यात्री आते थे उनकी सेवा स्वयं अंगद ही किया करते थे । अपने लड़कों का समाधान करने के लिए एक बार नानक ने कहा कि मेरे कपड़े धो लाओ । यह बात रात को प्रार्थना के बाद ही अपने लड़कों से नानक ने कही थी । नानक के पुत्रों ने उत्तर दिया कि इस समय रहट बंद हो चुके हैं अतएव कपड़े धोना मुश्किल है । यदि धो भी लिए गए तो उन्हें सुखाना कठिन है, सवेरे धोबी की व्यवस्था हो जाएगी । यह कहकर नानक के पुत्र वहां से चल दिए । नानक ने अंगद को कपड़े धोने की आज्ञा दी । अंगद ने उसी समय कपड़े धो दिए ।

गुरु गद्दी पर—कालांतर गुरु अंगद गुरु गद्दी पर बैठे । नानक के स्वर्गवास पर ये बहुत दुखी हुए और खडूर आकर रहने लगे । इनके खडूर में आ जाने का किसी को पता नहीं था । खडूर में निहाली नामक एक लड़की ने इन्हें एक कमरा दे दिया । गुरु अंगद ने कमरे के बाहर एक ताला लगवा दिया । निहाली को दरवाजा न खोलने

का आदेश दिया। निहाली को उन्होंने यह भी आदेश दिया कि उनकी उपस्थिति के बारे में वह किसी को पता तक न लगने दे। गुरु अंगद नामजप में ही व्यस्त रहा करते थे। निहाली भी उनकी सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न थी। इस तरह ६ मास बीत गए। गुरु अंगद के दर्शन न होने कारण इनके शिष्यों को चिंता होने लगी। आखिर भाई बुड्ढा के प्रयत्नों से गुरु अंगद को खोज निकाला गया।

गुरु अंगद सूर्योदय से पहले उठते। एक प्रहर पहले उठकर स्नान करने के बाद जपुजी, आसा दी वार का पाठ सूर्योदय तक करते थे। उसके बाद बीमार अपाहिजों को देखते थे। ये बीमार दूर-दूर से अपने रोगों के उपचार के लिए गुरु अंगद के पास आते थे। विशेष कर कोढ़ियों को अच्छी तरह से देखभाल कर उनका उपचार करते थे। उसके बाद सबको भोजन मिलता था। बालकों से अंगद को विशेष प्रेम था। बहुधा वह कहा करते थे कि मनुष्यों को अपना हृदय बालकों की तरह निर्मल रखना चाहिए। वे कुश्ती देखते और लोगों को उपदेश दिया करते थे। वे अपना दरबार सजाते। उसमें भजन गान आदि होता था। सुबह की तरह रात को भी लंगर की व्यवस्था होती और मुफ्त भोजन दिया जाता।

कन्नोज की पराजय के बाद हुमायूँ के समक्ष अंधकारमय भविष्य ही रह गया। गुरु अंगद की कीर्ति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए आया। उस समय अंगद ध्यानादि में मस्त थे। अतएव हुमायूँ को तब तक ठहरना पड़ा। इस कारण हुमायूँ क्रोधित हो उठा। गुरु अंगद को मारने के लिए उसने तलवार की मूठ पर हाथ रखा परन्तु तलवार नहीं निकली। उसे लज्जित होना पड़ा। गुरु अंगद ने हुमायूँ से कहा कि "जबकि शेरशाह के विरुद्ध तुमको तलवार का उपयोग करना था, उस समय कर नहीं सके और फकीरों को प्रणाम करने की अपेक्षा तुम तलवार मारना चाह रहे हो। कायर की तरह तो तुम रणक्षेत्र से भागे और यहाँ बहादुर बनकर तलवार उठा रहे हो। तलवार की मूठ पर तुमने हाथ न रखा होता तो तुमको शीघ्र राज्य की प्राप्ति हो जाती किन्तु अब देर से होगी।" हुमायूँ प्रणाम करके वहाँ से चला गया।

वैष्णव भक्त अमरदास की सेवा—अमृतसर से कुछ ही दूर पर बसरका नामक ग्राम में अमरू नामक एक वैष्णव भक्त रहा करते थे। वे अक्सर गंगा स्नान पर शालिग्राम की पूजा किया करते थे। अमरू का साधक सदैव किसी-न-किसी गुरु की खोज में रहा करता था। एकबार अमरू ने अपने भतीजे से ब्याही गई बीबी अमरो के सुरीले कंठ से नानक के पद का एक अंश सुना। बीबी अमरो गुरु अंगद देव की पुत्री थी। अमरदास उन पंक्तियों पर मोहित हो गया। उन पंक्तियों को उन्होंने बारबार दोहराने के लिए कहा। अमरदास जी को वे पंक्तियाँ सुनकर बहुत ही आनन्द हुआ। बीबी अमरो सूर्योदय से एक प्रहर पहले उठकर जपुजी का पाठ करती थी। फिर वह छाछ बिलोती थी। जिस पद को अमरदास ने सुना था वह छाछ बिलोते समय ही वह गा रही थी। यह पद सुनकर अमरदास ने बीबी अमरो से उन्हें गुरु अंगद तक

ले चलने को कहा। बीबी अमरो ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। कालांतर बीबी अमरो ने अमरदास की भेंट गुरु अंगद से करवा दी। मिलकर अमरदास बहुत ही प्रसन्न हुए। अमरदास पहले तो कट्टर वैष्णव थे। पहले तो उन्होंने गुरु अंगद के सम्पर्क में आकर भी अपनी कट्टरता को छोड़ा नहीं परन्तु गुरु अंगद के कारण धीरे-धीरे उनके समस्त अन्धविश्वास दूर होने लगे। अमरदास लगन से गुरु अंगद की भक्ति करने लगे।

एक बार गोविंद नामक किसी व्यक्ति ने कोई मुकदमा जीतने की खुशी में ब्यास नदी के तट पर नगर बसाने के लिए गुरु अंगद से सहायता के लिए प्रार्थना की। गुरु अंगद ने अपनी छड़ी अमरदास को देकर उस व्यक्ति के साथ भेज दिया। उस नगर के निर्माण में गोविंद को अमरदास ने काफी परामर्श दिया। गोविन्द ने कृतज्ञ होकर अमरदास के लिए वहाँ एक विशाल भवन बनवा दिया। अमरदास गुरु अंगद की आज्ञानुसार रात को उस भवन में रहा करते थे। दिन को गुरु अंगद की सेवा में उपस्थित हो जाते। बाद को यह नगर गोइंदवाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अमरदास वृद्ध हुए जा रहे थे किन्तु वे भक्ति और सेवा के साक्षात रूप थे। दिन, प्रतिदिन उनमें गुरु अंगद के प्रति उनकी सेवा और भक्ति बढ़ती ही जा रही थी। ब्यास से खडूर तक वे गुरु अंगद के लिए पानी ले आया करते थे। रास्ते में जपुजी का पाठ करते जाते थे। जपुजी का पाठ समाप्त हो जाने पर वे आसा दी वार का पाठ प्रारम्भ कर देते थे। गोइंदवाल और खडूर के मध्यस्थ जहाँ पर जपुजी साहब का पाठ समाप्त हो जाता और आसा दी वार का प्रारम्भ होता वहाँ पर एक गुरुद्वारा बना हुआ है, उसे दमदमा साहिब कहा जाता है।

खडूर के पास ही जुलाहों का एक गाँव था। उसके आसपास कपड़े बुनने के लिए जमीन में उन्होंने गड्ढे बना रखे थे। एक दिन प्रभात के अन्धकार में अमरदास गुरु अंगद के स्नान के लिए पानी ले जा रहे थे। किसी गड्ढे में उनका पैर आ गया इस कारण वे गिर पड़े। सारा पानी गिर पड़ा। आवाज सुनकर जुलाहे चोर चोर चिल्लाते हुए आ गए। उन्होंने अमरदास को गिरा हुआ तथा जपुजी का पाठ करते हुए देखा। "निथावां" कहकर उन्होंने अमरदास पर दया प्रकट की और वहाँ से चले गए। निथावां का अर्थ होता है जिसका कोई स्थान न हो।

साधु की धृष्टता—खडूर में ही एक घमंडी और ढोंगी साधु रहा करता था। गुरु अंगद को देखकर यह कुढ़ा करता था। खडूर में एक समय वर्षा बिल्कुल नहीं हुई। आषाढ़, सावन, भादों बीत जाने लगे किन्तु वर्षा का कोई पता न चला। चारों ओर अकाल पड़ने के कारण लोग त्राहि-त्राहि करने लगे। किसान उस ढोंगी साधु के पास पहुँचे और उसे अपनी गाथा सुनाने लगे। उसने कहा कि यदि अंगद को इस नगर से भगा दिया जाए तो मैं अपने योगबल से २४ घंटे में वर्षा कर दूंगा। बुद्धिहीन किसानों ने उस ढोंगी साधु का कथन गुरु अंगद को सुनाया। यह सुनते ही गुरु अंगद ने खडूर छोड़ दिया। रास्ते में काफी दूर तक उस ढोंगी साधु के भय के कारण किसी

ने गुरु अंगद को ठहरने तक न दिया। परिणाम स्वरूप उन्हें सात या आठ गाँव पैदल ही चलने पड़े। इधर २४ घंटे क्या कई दिन भी बीतने लगे किन्तु वर्षा का कोई नाम नहीं दीखा। किसानों ने उस ढोंगी साधु को घेर लिया और कहा कि जब तक गुरु अंगद यहाँ थे तो कम-से-कम उनके लंगर से मुफ्त भोजन तो मिलता था, तुम्हारे पास तो वह भी नहीं मिलता। किसानों ने उस साधु को मारपीट कर वहाँ से खदेड़ दिया। गुरु अंगद ने अमरदास से जब सारा वृतान्त सुना तो उस साधु के भाग्य पर उन्होंने दया प्रकट की।

अन्तिम समय—गुरु अंगद के पुत्र दातू और दासू उन्हीं के साथ रहा करते थे। अपने पुत्रों की अपेक्षा अंगद अमरदास से ही प्रसन्न रहा करते थे। एक बार बिवाई के फटने से अंगद को काफी कष्ट हो रहा था। उन्हें रात को नींद नहीं आ रही थी। अमरदास ने गन्दा खून चूसकर फेंक दिया जिससे उन्हें फौरन आराम मिल गया। अमरदास की वृद्धता और उनके कष्टों को देखकर गुरु अंगद का हृदय द्रवित हो उठा। विशेषकर जुलाहों वाली घटना ने तो गुरु अंगद का ध्यान अमरदास ने खींच लिया था। अमरदास को उन्होंने अपने निकट बुलाया। स्नानादि कर उन्हें नए कपड़े पहिनाए और उन्हें अपने सिंहासन पर बैठा दिया। भाई बुड्ढा से उन्होंने अमरदास को तिलक लगाने को कहा। पाँच पैसे और एक नारियल रखकर गुरु अंगद ने अमरदास को अपना मस्तक नवा दिया। समस्त सिखों को एवं अपने परिवार को बुलाकर अमरदास को गुरु स्वीकार करने का उन्होंने आदेश दिया।

चैत सुदी ३ सं० १६०६ को गुरु अंगद ने समस्त सिखों को एक भोज दिया। सिख धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रति उन्हें सजग किया। दूसरे रोज सूर्योदय से पहले उठकर गुरु अंगद ने स्नान कर नए कपड़े पहिने। उन्होंने जपुजी साहब का पाठ किया। समस्त सिखों को उन्होंने एकत्रित किया। गुरु अमरदास को गोइंदवाल में ही निवास करने का उन्होंने आदेश दिया। इसके बाद वह गुरु कहते-कहते शांत हो गये। चैत सुदी ४, सं० १६०६ में उनका स्वर्गवास हुआ। उस समय उनकी अवस्था ४६ वर्ष की थी। वे १२ वर्ष ६ माह ६ दिन तक गुरु गद्दी पर विराजमान रहे।

कार्य—गुरु अंगद ने गुरु नानक द्वारा प्रचलित विचारधारा को एक निश्चित रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने लंगर का विस्तार कर दिया। लंगर प्रतिदिन नियमित रूप से चलने लगा, बाहर से जितना भी धनधान्य आता वह लंगर की सेवा में ही भेज दिया जाता था। सिखों के अतिरिक्त अन्य अतिथि भी भारी संख्या में लंगर से अन्न प्राप्त करते थे। गुरु अंगद के समय में लंगर की प्रथा ने एक सुनिश्चित रूप धारण कर लिया था। गुरु अंगद का चरित्र सेवा और दया-भाव से पूर्ण रहता था। उनके पास जो भी धन आता वह सब गरीबों की सेवा में चला जाता। गुरु नानक की तरह ही उनका दृष्टिकोण विवेक पूर्ण और व्यापक था। गुरु गद्दी के लिए अपने पुत्रों की चिन्ता न कर योग्यता का ध्यान रखते हुए गुरु गद्दी उन्होंने अमरदास

ही को दी। अमरदास ने भी अपने जीवन-काल में गुरु अंगद की प्रतिष्ठा का पानी उतरने नहीं दिया। जिस तरह नानक ने गुरु गद्दी अंगद को देने के पश्चात खडूर में रहने का आदेश दिया था, करतारपुर में नहीं। उसी तरह अमरदास को गुरु गद्दी देने के पश्चात अंगद ने उन्हें खडूर नहीं बल्कि गोइंदवाल में रहने का आदेश दिया। वह इसलिए कि ये गुरु के परिवार वालों से बच सकें।

रचनाएँ—स्वतन्त्र रूप से गुरु अंगद की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। उनकी समस्त वाणियां गुरु ग्रंथ साहिब में ही संग्रहीत हैं। गुरु ग्रंथ साहिब में ये महला २ के नाम से संग्रहीत हैं। इनकी वाणियों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। भाव, सोरठ, सूही, रामकली, मलार की वार और सारंग आदि रागों के अन्तर्गत ये लिखी गई है।

गुरुमुखी लिपि—गुरु अंगद ने नानक के पदों को पहली वार सुनिश्चित रूप से लिखवाना प्रारम्भ किया। गुरु नानक की जीवनी को भी पहले-पहल उन्होंने ही लिखवाया। इस समय फ़ारसी राज-भाषा थी। वह जनता से दूर थी। संस्कृत को पंडितों ने जनता से दूर रखा था। गुरु अंगद ने जिस लिपि का प्रयोग करवाया उसे बाद को गुरुमुखी की संज्ञा दी गई। प्रचलित मत के अनुसार गुरु अंगद ने गुरुमुखी की रचना की थी। इस विषय पर हम प्रथम अध्याय में ही विस्तार से लिख आए हैं। जन्म-साखियों और सिख-गुरुओं के पदों को इसी लिपि में लिखा गया है। सं० १६०१ में "जन्म-साखी भाई वाले" की रचना हुई। गुरुमुखी लिपि में पंजाबी साहित्य की यह पहली पुस्तक थी।

पिनकाट ने जिस तरह नानक को निरक्षर कहा है उसी तरह मोनियर विलियम्स का कथन है कि गुरु अंगद बिल्कुल निरक्षर थे।[1] जिसने पंजाबी साहित्य की चीजों को पहली बार गुरुमुखी लिपि में लिखवाया उससे यह आशा करना कि वह निरक्षर रहा होगा असंगत ही प्रतीत होता है। विलियम्स साहब ने इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया। गुरुमुखी में देवनागरी, टांकरी और शारदा लिपि की प्रवृत्तियां मिलती हैं जिससे यह पता लगता है कि उपरोक्त लिपियों का ज्ञान भी किसी-न-किसी रूप में अंगद को रहा होगा। अपने सामने जब उन्होंने जन्म-साखी लिखवाई तो क्या उन्हें पढ़ने का ज्ञान भी न रहा होगा। उनके पिता स्वयं गांव के पुरोहित थे। वह कुल भी निरक्षरों का नहीं था। अतएव यह कहा नहीं जा सकता कि गुरु अंगददेव निरक्षर थे।

गुरु—नानक ने गुरु की स्तुति करते हुए कई पदों की रचना की है। परन्तु उनका मानव गुरु कोई न था। अंगद के साथ यह बात नहीं थी। गुरु अंगद जी जागरूक चेतना का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अत्यंत परिपक्व विचारधारा का भार वहन

---

१. रिलीजस थॉट्स ऐमंगस्ट हिन्दूज; मोनियर विलियम्स; पृ० १६४।

करने वाला नानक का साधक था। अंगद ने गुरु नानक की ही विचारधारा को आत्मसात कर आगे अपना मार्ग पुरस्सर किया। गुरु महिमा गाते हुए अंगद कहते हैं कि मन, मणियों की कोठरी की तरह है और तन उसकी छत है। उस पर अज्ञान का ताला लगा हुआ है। उसकी कुंजी गुरु के पास ही है और ज्ञानोदय केवल गुरु से ही हो सकता है।[1]

गुरु के महत्त्व की उन्हें सहानुभूति थी। गुरु की महिमा करते हुए वे कहते हैं "घड़े में जल बँधा-सा रहता है। इधर-उधर बह नहीं सकता। लेकिन घड़े का निर्माण जल से ही होता है। इस ज्ञान के लिए गुरु की ही आवश्यकता है।"[2]

नानक की विचारधारा को अंगद ने आत्मसात कर संसार के समक्ष रखा। खंडन-मंडन की प्रवृत्ति उनमें पाई तो जाती है किन्तु अंगद का भक्त निरीह और सरल हृदय का था। सत्य पर नम्रता का आवरण चढ़ाकर ही जगत के समक्ष उसे उन्होंने प्रस्तुत किया। इसी कारण उनके पदों में कई स्थलों पर साहित्यिकता और काव्यात्मकता के सुन्दर स्थल मिलते हैं।

नामस्मरण—नामस्मरण को अंगद का साधक भला कैसे भूल सकता था? वैष्णव सम्प्रदाय में भी नामस्मरण को काफी महत्त्व दिया गया है। नामस्मरण में सिर्फ नाम का ही जाप नहीं आता। उसमें हृदय की शुद्धता भी अपेक्षित है "लोग तो दिन-रात संसारी कामों ही में लगे रहते हैं। तृष्णा की भूख मिटती नहीं। नाम का बीज जब मन में पड़ता है, उस समय सच्चे शब्द की उत्पत्ति होती है।"[3] भारतीय-दर्शन पर दुःखवाद की छाप किसी-न-किसी रूप में लगी ही है। आनन्दवाद की प्रेरणा हालांकि जगह-जगह पर दी गई है किन्तु उस पर दुःखवाद का आवरण किसी-न-किसी रूप में मिलेगा ही। बौद्ध ने भौतिक-जीवन और जगत को दुःखमय ही कहा था। उनका दर्शन दुःखवाद ही से आच्छादित है। सिख गुरुओं की रचनाओं में दुःख और निराशा का प्रतिपादन करने वाले प्रसंग आते हैं किन्तु मूल रूप से उनका दर्शन दुःखवादी नहीं था। गुरु अर्जुनदेव का कवि तो कहता है कि 'दुःख नहीं सब सुख ही है रे।"

---

१. गुरु, कुंजी, पाहु निवलु, मनु कोठा तनु छति।
नानक गुरु बिन मन का ताकु न उघड़े, अवर न कुंजी हाथ।
गु० ग्रं० सा०; राग सारंग, सलोक महला २; पृष्ठ १२३७।

२. कुम्भे जल बध्या रहे, जल बिन कुम्भ न होइ।
ज्ञान का बध्या मन रहे, गुर बिन ज्ञान न होइ॥
गु० ग्रं० सा० वार आसा, महला २।

३. मरण सुख सोती, वणजु न करि थाके, तृस्ना भूख न जाई।
नानक नाम बीजि मन मन्दरि, सचै सबद सुभाई॥
गु० ग्रं० सा० वडहंस महला २, पृ० ५५।

भाषा—गुरु अंगद ने मध्यकालीन पंजाबी का ही प्रयोग किया है। उस भाषा का स्वरूप ब्रज भाषा के ही निकट का है। इनके पदों का अधिक भाग ईश्वर की स्तुति से ही भरा पड़ा है, ऐतिहासिकता, नीति-सम्बन्धी या शुद्ध काव्यात्मक प्रसंग तो विरले ही हैं। उनकी भाषा में सरसता, एकरूपता और प्रवाह है। उनके विचारों का भार सहन करने में वह सर्वथा समर्थ है। नानक की अपेक्षा अंगद की भाषा सरल और प्रवाह-मय है। उन्होंने जन-भाषा का ही प्रयोग किया है।

उन पदों में लय है। नीरस और अप्रचलित शब्द उनमें नहीं मिलते। संगीतात्मकता की पूरी-पूरी रक्षा की गई है। सिख गुरुओं ने इस बात को समझ लिया था कि संगीत-बद्ध लयपूर्ण वाणी में गद्य की अपेक्षा अमरता होती है। रचनाओं में प्रमुख शांत रस ही है। अलंकार भी उनकी रचनाओं में सहज और स्वाभाविक रूप से ही आए हैं। अलंकारों के शास्त्रीय प्रयोग कर रचना को उन्होंने कृत्रिम और बोझिल नहीं होने दिया। रूपक, अनुप्रास, उदाहरण, भ्रांति आदि की सफल योजना उनकी रचनाओं में हुई है। यथा—

रूपक	**गुरु कुंजी पाहु निवलु मनु कोठा तन छति।**
उदाहरण	**नाल इआणे दोस्ती कदे न आवै रासि;** **पालि अन्दर लीक जिउ उसदा थाउ नथेहु।**
भ्रांति	**वस्तु अन्दर वस्तु समावे, दूजी होवे पासि।**

इनकी रचनाएँ गीतात्मकता और भावात्मकता से पूर्ण हैं। इतिवृत्तात्मक स्थलों का तो उनमें सर्वथा अभाव है। कई स्थलों पर तो उन्होंने काफी सुन्दर भाव व्यक्त किए हैं।

गुरु अमरदास

जन्म—गुरु अमरदास का जन्म मिति वैशाख शुक्ल १४ संवत् १५३६ को हुआ था। इनके पिता का नाम तेजभान और माता का नाम भक्तकौर था। ये भरत के वंशज बताये जाते हैं। २३-२४ की अवस्था में इनका विवाह मनसादेवी से सम्पन्न हुआ। अमरदास पहले वैष्णव थे। बाद में गुरु अंगद द्वारा ये सिख धर्म में दीक्षित हुए।

गोइंदवाल निवास—गुरु हो जाने के पश्चात् गुरु अंगद के आदेशानुसार इन्होंने अपना निवास गोइंदवाल ही रखा। ईश्वर के ध्यान में रत ये आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लगे। ये एकांत वास करने लगे। इससे शिष्यों को बड़ी ही चिंता हुई। भाई बल्लू ने इनका यह एकांतवास भंग किया। धीरे-धीरे इनकी प्रसिद्धता के साथ गोइंदवाल की प्रसिद्धता में वृद्धि होने लगी और लोग आकर गोइंदवाल में बसने लगे। जन-संख्या में वृद्धि के कारण शिष्यों के लिए घर बनवाने की समस्या खड़ी हुई। गुरु अमरदास ने अपने पुत्र सावनमल को वहाँ के पहाड़ी राजा के पास लकड़ी और बल्ले लाने के लिये भेजा। राजा ने सावनमल का स्वागत किया। जंगल से लकड़ियाँ कटवा-

कर व्यास नदी के मार्ग गुरु अमरदास के पास भिजवा दीं।

गुरु अंगद के पश्चात् खडूर में अंगद के पुत्र ने अपने आप को गुरु घोषित कर दिया और कहा कि अमरदास तो हमारा नौकर है। परन्तु फिर भी अंगद के पुत्र ने देखा कि अमरदास की प्रतिष्ठा दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही बढ़ रही है। वह चिढ़कर अमरदास से मिलने के लिये गोइंदवाल आया। अमरदास को देखकर उसने कहा कि "कल तक तो तू हमारा पानी भरता था आज गुरु बनकर कैसे बैठ गया।" यह कहकर उसने गुरु अमरदास को एक लात जमाई। लात खाकर भी अमरदास ने क्रोध व्यक्त नहीं किया। उन्होंने नम्रता से उत्तर दिया कि "आपके चरणों को चोट तो नहीं लगी।" इसके बाद गुरु अमरदास गोइंदवाल छोड़कर अपने जन्मस्थान बसरका में आकर एकांतवास करने लगे। अंगद का पुत्र उनकी सारी धनराशि ऊँटों पर लाद कर खडूर की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसे डाकुओं ने घेरकर लूट लिया और मार-पीटकर लंगड़ा भी कर दिया।

गोइंदवाल पुनरागमन—अमरदास के गोइंदवाल छोड़कर चले जाने से शिष्यों में क्षोभ होना स्वाभाविक था। परन्तु किसी को पता नहीं था कि अमरदास कहाँ गये? शिष्यों ने भाई बुड्ढा से अमरदास का पता लगाने को कहा। भाई बुड्ढा ने अपने दल के आगे गुरु अमरदास की घोड़ी को कर लिया। सारा दल घोड़ी के ही पीछे चलने लगा। घोड़ी बसरका में गुरु अमरदास के निवास के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई। शिष्यों के अनुरोध से गुरु अमरदास को आखिर बाहर आना ही पड़ा। सबने भाई बुड्ढा की अक्लमन्दी की तारीफ की। बसरका में अभी तक इस स्थान पर वार्षिक मेला लगता है।

गोइंदवाल का महत्त्व बढ़ जाने पर वहाँ पर कुछ समृद्धशाली मुसलमान भी बस गए। हर किसी को वे अपने से नीचा ही समझते थे। जो शिष्य पानी भरने के लिये जाते उनके घड़े वे तोड़ देते थे। इस तरह हर किसी बात में वे अपनी धार्मिक संकीर्णता का ही परिचय देने लगे। उनकी धार्मिक संकीर्णता को दूर करने के लिये अमरदास परमात्मा से प्रार्थना किया करते थे।

एक समय गुरु अमरदास कसूर गये। वहाँ पर उस समय भयानक गर्मी पड़ रही थी। उन्होंने नगर-अधिकारी से उसके बाग में ठहरने के लिये अनुमति माँगी। नगर का अधिकारी एक खत्री था। उसने साफ इन्कार कर दिया। साथ ही कठोर शब्दों में उसने अमरदास को गाली भी दी। अमरदास एक गरीब पठान के घर ठहरे। उस पठान के सौहार्द से अमरदास बहुत ही प्रभावित हुए। पठान ने कहा "मैं दरिद्र पुरुष हूँ। नहीं तो आप को अच्छी तरह से प्रसन्न करता।" गुरु अमरदास ने कहा "ईश्वर का चिंतन किया करो। एक दिन तुम कसूर के अधिकारी हो जाओगे।" कालांतर बादशाह ने उस खत्री परिवार के अत्याचारों और दुष्कृत्यों के कारण नगर की बागडोर उसके हाथ से लेकर उस पठान के वंशजों के हाथ में थमा दी।

शिष्य संख्या में जैसे-जैसे वृद्धि होने लगी तो कुछ प्रमुख शिष्यों ने अमरदास से इस बात का अनुरोध किया कि वर्ष में एक बार सबके एकत्रित होने के लिये कोई स्थल और समय होना चाहिए। गुरु अमरदास ने वैसाख और माघ के प्रथम दिवस एवं दिवाली पर सबको एकत्रित होने का आदेश दिया।

गोइंदवाल में एक सुनार रहता था। उसने एक प्रौढ़ा स्त्री से विवाह किया। इस कारण वह निःसन्तान था। उसने यात्रियों के लिये एक कुंआं खुदवाना प्रारम्भ किया और निकट ही एक मन्दिर बनवाना प्रारम्भ कर दिया। वह यात्रियों के विश्राम के लिये मन्दिर तैयार करवा रहा था। अमरदास उसे इस कार्य में व्यक्तिगत रूप से सहायता पहुँचाने गए। अमरदास का आगमन सुनकर वह सुनार अपनी स्त्री सहित आया। गुरु अमरदास के आशीर्वाद से कालांतर उस सुनार के दो पुत्र हुए। उन पुत्रों को सुनार की स्त्री के साथ देखकर बहुधा उन्हें लोग सुनार के नाती समझ लेते थे। इस कारण उनका नाम मायपोत्रे पड़ गया। गोइंदवाल में अभी तक उस सुनार की पीढ़ी वर्तमान है, वे मायपोत्रे कहलाते हैं।

पुत्री भानी का विवाह—अपनी पुत्री भानी की अवस्था देखकर मनसादेवी ने गुरु अमरदास से उसके विवाह के लिए कहा। एक दिन उनके दरवाजे से एक खोंचे-वाला गुजर रहा था। उसे देखते ही मनसादेवी ने कहा कि वर ऐसा होना चाहिए। गुरु अमरदास ने उसी लड़के को बुलाकर पसंद कर लिया। उस लड़के का नाम जेठा था। लड़का देखने में स्वस्थ और सुन्दर था। उसके माता-पिता ने उसे चने उबालकर घुंघनी बेचने का कार्य सौंपा था। जेठा सदा ही मुस्कराया करता था और साधुओं की संगति किया करता था। घर में ज्येष्ठ होने के कारण ही उसका नाम जेठा पड़ गया था। घुंघनी बेचने का काम सौंपकर माँ-बाप ने सोचा कि लड़का संसारी काम-काज में लग जाएगा। एक बार वह घुंघनियाँ लेकर रावी के किनारे गया। वहाँ उसने भूखे साधुओं को सारी घुंघनियाँ बाँट दीं। साधु बहुत ही प्रसन्न हुए और जेठा की उन्नति के लिए उन्होंने प्रार्थना की। जेठा ने अमरदास के पास पहुँचकर उनकी सेवा प्रारम्भ कर दी। वह भोजन बनाता, पानी लाया करता, लंगर में सेवा करता और बाकी समय गुरु अमरदास की सेवा में लगाता। राम की सेवा करने से उसका नाम रामदास पड़ गया। कालांतर यही जेठा गुरु रामदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुरु अमरदास ने जेठा के पिता को समस्त बातें कहला भेजीं। मिति फागुन २२ सं० १६०० को बीबी भानी के साथ जेठा का विवाह संपन्न हुआ। विवाह हो जाने पर जेठा लाहौर अपने घर लौट आया। जेठा के माता-पिता ने चाहा कि जेठा घर पर ही रहे किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। जेठा ने गुरु अमरदास को अपना ससुर नहीं बल्कि गुरु माना था। बीबी भानी के लिए उसी तरह जेठा केवल पति ही नहीं बल्कि गुरु का शिष्य एवं संत के रूप में था।

जेठा की गुरुसेवा—लाहौर से गोइंदवाल लौटने पर जेठा ने अपना सेवा

का वही पुराना क्रम जारी कर दिया। दिन, प्रतिदिन उसका लगन बढ़ती ही जा रही थी। गुरु अमरदास की प्रसिद्धता देखकर वहाँ के ब्राह्मणों और खत्रियों को उनसे ईर्ष्या होने लगी। उन्हें अपनी जाति का बड़ा गर्व था किन्तु साक्षरता के नाम पर इन ब्राह्मण और खत्रियों के लिए काला अक्षर भैंस बराबर ही था। उन्होंने जब देखा कि अमरदास के पास जाति-पाँति का कोई सवाल नहीं है तो अकबर के दरबार में उन्होंने शिकायत पेश की। बादशाह के दरबार में गुरु अमरदास का एक पठान मित्र था, उसने बादशाह को वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा दिया। अकबर ने शिकायत लाने वाले ब्राह्मणों और खत्रियों के शिष्टमंडल को भगा दिया।

बादशाह से पुनः शिकायत—पहली बार जब इस शिकायत का कोई प्रभाव न पड़ा तो ब्राह्मण और खत्री पुनः अपनी शिकायत लेकर अकबर के दरबार में पहुँचे। उन्होंने शिकायत की "अमरदास ने ऋषि मुनियों की वर्ण व्यवस्था को तोड़ दिया। चारों युगों में ऐसी नास्तिकता नहीं देखी गई।" अकबर ने अपने एक अधिकारी द्वारा अमरदास के पास यह कहला भेजा कि वे अकबर को दर्शन देकर कृतार्थ करें। अमरदास वृद्धता के कारण दिल्ली जाने में असमर्थ थे अतएव उन्होंने जेठा को ही अपना प्रतिनिधि बनाकर भेज दिया। अकबर और जेठा के सत्संग से उन झूठी शिकायत करने वालों की कलई खुल गई। जेठा ने अकबर को पूर्ण रूप से संतुष्ट कर दिया। अकबर के विशाल दृष्टिकोण ने उन शिकायत करने वालों की संकीर्णता का पता पा लिया। अकबर ने उन ब्राह्मण और खत्रियों से कहा "इस दरवेश और खुदा में कोई फर्क नहीं है। तुम लोग सत्य का विरोध कर रहे हो।" इन शिकायत करने वालों को अपना-सा मुँह लेकर लौटना पड़ा।

हरिद्वार यात्रा—परंतु अकबर ने अमरदास से हरिद्वार की यात्रा के लिए अनुरोध किया और फरमान जारी कर दिया कि जो यात्री अमरदास के साथ होंगे उन पर कर नहीं लगेगा। अत्यंत वृद्धता के बावजूद भी अमरदास ने अपनी यात्रा प्रारंभ की। इस कर की छूट के बारे में जब लोगों को पता हुआ तो वे भारी संख्या में आकर गुरु अमरदास की तीर्थ-मंडली में सम्मिलित होने लगे। व्यास पार करते-करते तो यात्रियों की संख्या काफी बढ़ गई। कर से बचने के लिए उनकी मंडली का हर सदस्य 'वाह गुरु' का जाप करने लगा। हरिद्वार से लौटने पर गुरु अमरदास का भारी स्वागत किया गया। अमरदास ने अपनी मंडली के यात्रियों से कहा "जैसे सतनाम का जाप करने से ये कर वसूल करने वाले तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सके उसी तरह सतनाम का जाप करने से मौत भी तुम्हारा कुछ नहीं कर सकेगी।"

जब हुमायूँ पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय उसने कृतज्ञता स्वरूप गुरु अंगद को कई गांव उपहार स्वरूप देने चाहे। उस समय गद्दी पर अमरदास विराजमान थे।

उन्होंने हुमायूं को संदेशा भेजा कि "फिर कभी किसी फ़कीर की हत्या करने का प्रयास नहीं करना।"

सरोवर का निर्माण—एक दिन जेठा को बुलाकर अमरदास ने उसे आदेश दिया कि शिष्यों के एकत्रित होने के लिए तुम एक स्थान बनवाओ। फिर वहीं पर सरोवर का निर्माण करो। बादशाह ने आखिर जागीर तो दी है। जेठा ने गोइंदवाल से दूर लगभग २५ मील एक जन-शून्य स्थान को चुना। जेठा ने वहाँ पर एक तालाब और गृह का निर्माण करवाया। इसी बीच में गुरु अमरदास ने जेठा की कर्तव्य-निष्ठा की परीक्षा लेनी प्रारंभ कर दी। जेठा उस परीक्षा में हर बार उत्तीर्ण हुआ। एक बार उन्होंने एक चबूतरे को सात बार गिरवाकर सात बार बनवाया। जेठा ने हर बार उस चबूतरे को प्रसन्नता से बनाया। यह देखकर अमरदास अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि तुम्हारे वंश में सात पीढ़ी तक गुरु गद्दी चलेगी।

वंश में ही गुरु-परंपरा—अपने विवाह के पश्चात् बीबी भानी अपने पिता ही की सेवा किया करती थी। एक समय संध्या को गुरु अमरदास जब ध्यान में मग्न थे उस समय उसने देखा कि उनकी खटिया का पाया टूटा जा रहा है। उसने टूटे पाए की जगह अपने हाथ का सहारा दे दिया। अमरदास ने जब आँखें खोलीं और यह दृश्य देखा तो अत्यंत प्रसन्न हुए। अमरदास ने बीबी भानी से वर माँगने को कहा। बीबी भानी ने अनुरोध किया कि गुरु परंपरा उसके ही वंश में चलती रहे। अमरदास ने एवमस्तु तो कर दिया किन्तु कहा "तुमने बिना सोचे निर्बाध रूप से बहने वाली गुरु परंपरा को सीमित करने का प्रयास किया है। इसका परिणाम भविष्य में संकट रहित नहीं होगा।" गुरु अमरदास का यह कथन आगे चलकर सत्य ही निकला।

एक समय जेठा के रिश्तेदार तीर्थ से लौट रहे थे। जेठा को इस तरह अपनी ससुराल में मेहनत करते देख वे बिगड़ उठे। गुरु अमरदास के प्रति भी उन्होंने असंतोषजनक शब्दों का व्यवहार किया। जेठा क्रोधित हो उठा। उसने कहा कि "तुम्हारी दृष्टि में वे मेरे ससुर हैं। वे मेरे गुरु हैं और मैं गुरु का गुलाम हूं।"

गुरुगद्दी का त्याग—अब तक गुरु अमरदास ने जेठा की पूर्ण रूप से परीक्षा ले ली थी। भाई बल्लू से उन्होंने ५ पैसे और एक नारियल लाने को कहा। रामदास को स्नान करवाकर नए कपड़े पहिनाए गए। गुरु गद्दी पर रामदास को बैठाया गया। अमरदास ने पाँच पैसे और एक नारियल रखकर रामदास को नमस्कार किया। परंपरा के अनुसार भाई बुड्ढा ने रामदास को तिलक लगाया। भादों शुक्ल पक्ष की त्रियोदशी, सं० १६३१ को रामदास गुरुगद्दी पर विराजमान हुए। गुरु अमरदास ने अपने पुत्र मदन और मोहरी व परिवार के अन्य सदस्यों तथा शिष्यों को रामदास को गुरु मानने का आदेश दिया।

स्वर्गवास—इसके बाद सब लोगों को बुलाकर उन्होंने अपना अंतिम संदेश दिया "मेरा अंत समय आ गया है।" जपुजी का पाठ करते-करते अपने ऊपर उन्होंने

चादर ओढ़ ली। व्यास के किनारे भादों पूर्णिमा सं० १६३१ को गुरु अमरदास का स्वर्गवास हुआ।

कार्य—ग्रीनलेस के शब्दों में गुरु अमरदास के आज्ञापालन और नम्रता में दृढ़ता थी।[1] वे सेवा और दया के अवतार थे। उनके प्रति यदि कोई कठोर शब्दों का भी प्रयोग करता तो उन्हें उसकी चिंता नहीं होती थी। मनुष्य की चारित्रिक व नैतिक महत्ता को वे काफी महत्त्व देते थे। अपने जीवन में उन्होंने कभी किसी का भी बुरा नहीं सोचा। दातू उन्हें लात मार कर भी चला गया किन्तु उन्हें क्रोध नहीं हुआ। गोइंदवाल के मुसलमान निवासी उन्हें तंग करते थे किन्तु परमात्मा से वे सदैव उनकी धार्मिक संकीर्णता दूर करने के ही लिए प्रार्थना करते थे। खत्री और ब्राह्मणों ने अकबर से जब झूठी शिकायत की तब अकबर को अपने दृष्टिकोण की स्पष्टता से उन्होंने परिचित करा दिया। अकबर का व्यापक दृष्टिकोण उसे समझने में समर्थ हो सका था। उनके लंगर में स्वादिष्ट भोजन भी बँटा करता था किन्तु वे रूखा-सूखा ही खाकर ध्यान में लीन रहा करते थे। भाई बुड्ढा ने एक बार आपत्ति प्रगट की "आपके लंगर में जब सब स्वादिष्ट भोजन करते हैं और आप रूखा-सूखा खाकर ही आराम करते हैं। यह कहाँ तक ठीक है?" अमरदास अंगद के बाद गुरु नानक की परंपरा के योग्यतम शिष्य थे। उन्होंने परिश्रम से ही गुरु गादी प्राप्त की थी और आगे भी योग्य पात्र को ही उसके लिए चुना।

मंजों की स्थापना—जहाँ तक गुरु अमरदास के शिष्य फैले हुए थे उस समस्त क्षेत्र को गुरु अमरदास ने २२ भागों मे विभाजित किया। तदनुसार उन्होंने २२ मंजों की स्थापना की थी। मंजी या मंजा का अर्थ पंजाबी भाषा में चारपाई होता है। धार्मिक केन्द्रों को मंजों की संज्ञा मिली। हर एक केन्द्र का अधिकारी उन्होंने एक योग्य पुरुष को ही बनाया। स्त्री-शिक्षा के निमित्त २२ उपदेशिकाएँ भी विभिन्न स्थानों पर उन्होंने नियुक्त कीं। गुरु के प्रति अमरदास में भक्ति और श्रद्धा स्वतंत्र रूप से जाग्रत हुई थी। अमरदास के वैष्णव साधक ने अंगद के गुरु से प्रेरणा ग्रहण कर अपने चरित्र की दृढ़ता के समन्वय से गुरु गद्दी की प्रतिष्ठा का भार अत्यंत योग्यता से वहन किया।

लंगर—गुरु अमरदास का लंगर उनके भक्त और अनुयायियों की सहायता ही से चलता था। जो धन-धान्य बाहर से आता वह सीधा ही लंगर की सेवा में भेज दिया जाता था। जो भी दर्शनार्थ आता वह भूखे पेट वापस नहीं जाता था। लंगर की प्रथा का मुख्य उद्देश्य सब में समानता की भावना लाना ही था। जाति-पाँति के गर्व से रहित होकर क्या ब्राह्मण और क्या शूद्र एक ही पंक्ति में भोजन करते थे। लंगर का उद्देश्य यही था कि लोग जाति-पाँति को भूलकर पृथक् भोजन न

---

१. गासपल आफ़ गुरु ग्रंथ साहिब; ग्रीनलेस; पृ० ५२।

बनाते हुए एक ही स्थान पर खाने बैठें।

अमरदास का जीवन बहुत ही सादा था। अपने वस्त्र पुराने हो जाने पर वे किसी शिष्य को दे दिया करते थे। ये समानता के पक्षपाती थे। उनकी रचनाएँ महला ३ के अन्तर्गत गुरु ग्रंथ साहिब में सुरक्षित हैं। उनकी सब से प्रसिद्ध रचना—आनन्द है। सिखों में यह आनन्द के अवसरों पर गाई जाती है। कहा जाता कि उसके गान से मनुष्य के समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं।[1]

अमरदास का आनन्दवाद—उपनिषदों में लिखा है कि "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्" जीवन का परम लक्ष्य आनन्द ही माना गया है। सृष्टि के विभिन्न जीव किसी-न-किसी रूप में अपनी विभिन्न अवस्थाओं में इस आनन्द की प्राप्ति में ही लगे हुए हैं। प्रसाद का कवि कामायनी में श्रद्धामूलक आनन्दवाद की स्थापना करता है। अमरदास का साधक भी कहता है कि हे माता मेरे चारों ओर आनन्द ही आनन्द है। क्योंकि मुझे सतगुरु (ईश्वर) की प्राप्ति हो गई है।[2] ईश्वर की ही तो प्राप्ति के लिए विभिन्न साधकों, भक्तों और तपस्वियों ने विभिन्न प्रकार की साधनाओं का प्रयोग किया है। इसलिये वे अपने मन से कहते हैं "हे मन, तू सदा ईश्वर के साथ रहा कर। हरि के साथ रहकर तू हर प्रकार के भौतिक सुखों का विस्मरण कर दे। तुझे वह स्वीकार कर वह तेरा सारा कार्य कर देगा। तेरा स्वामी सब बातों में समर्थ है। ईश्वर को भला क्यों विस्मृत किया जाए।"[3] गुरु नानक की भांति अमरदास ने भी मानव के गुरु के लिए गुरु और ईश्वर के लिए सतगुरु शब्द का व्यवहार किया है। जिस तरह ईश्वर की प्राप्ति सच्चे गुरु की ही सहायता से होती है उसी तरह ही आनन्द की प्राप्ति गुरु के अभाव में नहीं हो सकती। अमरदास कहते हैं कि आनन्द-आनन्द तो सब कहते हैं, किन्तु वास्तविक आनन्द तो गुरु की ही सहायता से प्राप्त होता है।[4]

कृपाकर ज्ञान अंजन उसने आँखों में लगा दिया है। उसके कारण सांसारिक अज्ञान दूर हो गया है। उसी कारण सांसारिक मोह भी टूट चुका है। उन्हें भी

---

१. आनन्दु सुनो वडभागियो सगल मनोरथ पूरे।
गु० ग्र० सा०, रामकली महला-३।

२. आनन्दु भइआ मेरी माए, सतगुरु मैं पाइया।

३. ए मन मेरिआ तू सदा रहु हरि नाले,
हरि नालि तु रहु, तू मन मेरे दुख सभ विसारना।
अंगी काउहु करे, तेरा कारज सभि सवारना,
सभना गला समरथु सुआमी सो किउ मनहु विसारे।

४. आनन्दु आनन्द सभु को कहै, आनन्द गुरु ते जाणिआ।
गु० ग्र० सा० रामकली, महला ३, आनन्दु पद-२।

सच्चे शब्द की प्राप्ति हुई है। गुरु से इसी आनन्द का ज्ञान हुआ है। परमेश्वर से मिलन को ही अमरदास का निरीह भक्त अपनी सरल-सी भाषा में आनन्द कहता है। इस आनन्द में ज्ञान और प्रेम का समन्वय है। ज्ञान और प्रेम का महत्त्व है कि गुरु ने विवेक की आँखों में ज्ञान का अंजन लगा दिया है।[1]

वैष्णव संस्कार—गुरु अंगद पहले शाक्त और गुरु अमरदास वैष्णव थे। वे स्वतंत्र बुद्धि, कार्य तत्परता, विनय और सेवा के ही आधार पर गुरु बने। वैष्णव संस्कार उनमें से चले तो गए थे किन्तु उनकी रचनाओं में विष्णु के अवतारों की चर्चा का उल्लेख पाया जा सकता है। ईश्वर की स्तुति से अमरदास के पद भरे पड़े हैं। ईश्वर को उन्होंने अगम अगोचर[2] कहा है। उसकी प्राप्ति का आधार सच्चा नाम ही है गुरु नानक द्वारा निर्धारित यह नामस्मरण ही है। ये कहते हैं कि तेरा नाम तो सच्चा आधार है। उस सच्चे नाम से मेरी सारी भूल जाती रही है।[3] भक्तों के लक्षण बताते हुए वे कहते हैं कि भक्तों की चाल निराली होती है। उन्हें कठिन मार्ग से जाना पड़ता है।

गुरु—अमरदास को अंगद-जैसा योग्य गुरु प्राप्त हुआ था। अमरदास के मतानुसार जो गुरु से विमुख रहते हैं उन्हें ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।[4] आगे वे कहते हैं कि गुरु का शब्द मन में वास करता है। उसी समय तनमन निर्मल होता है। बिना गुरु के ईश्वर को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। गुरु की स्तुति से उनके पद भरे पड़े हैं। उनमें सच्चे हृदय की झलक का मार्मिक दिग्दर्शन होता है।

खंडन-मंडन की प्रवृत्ति—निर्गुणधारा के पोषक होने के कारण उनका दृष्टिकोण व्यापक था। वे किसी जाति, कुल, धर्म आदि में सीमित होकर कोई बात नहीं कहते थे। अपने युग के तत्कालीन भ्रष्टाचार पर दो एक शब्द उन्होंने कहे तो हैं परन्तु उसमें बौद्धिक सहानुभूति मात्र है, अनुभूति की गहराई उसमें नहीं है। अमरदास कहते हैं[5] कि पंडित और ज्योतिषी पढ़-पढ़कर शास्त्रार्थ करते फिरते हैं।

---

१. गियानु अंजनु गुर दिया अभिमान अंधेर, विनास।
गु० ग्र० सा०; सुखमयी, पृ० २२३।

२. अगम अगोचर तेरा अंत न पाइआ।
गु० ग्र० सा०; रामकली महला-३, आनंदु प०, पृ० ४०।

३. साचा नाम मेरा आधारो साचु नाम आधारु मेरा बिन भूखा सभि गवाइया।
गु० ग्र० सा० रामकली महला-३, आनंदु प० ४।

४. वे गुरु ते विमुख होवे, बिनु सतिगुरु मुकति न पावे।
गु० ग्र० सा०; रामकली महला-३ आनंदु प० २२।

५. पढ़ि-पढ़ि पंडित जोतकी, वाद करहिं बिचारु;
मति बुधि भई न बूझ के, अंतरि लोभ विकार।
गु० ग्र० सा० सिरी राग, महला-३ घर-१ प० २।

परन्तु इन विद्वानों की बुद्धि तो वास्तविक रहस्य का पता ही नहीं लगा पाती। अन्दर से तो लोभ-रूपी विकार ही मन में भरा पड़ा है। अमरदास कहते हैं कि योग-साधना द्वारा शरीर को कष्ट देकर योगी तप करते हैं। परन्तु उनका अहं तो मरता ही नहीं। आध्यात्मिकता के नाम पर वे मौज करते हैं। उन्हें ईश्वर का नाम कभी उपलब्ध नहीं हो पाता।[1] ईश्वर से मिलने के लिए अहं का परिहार आवश्यक है। कबीर कहते हैं यह तो प्रेम का घर है। खाला का घर नहीं है। यहां तो वही बैठ सकता है जो अपने अहं को मार सकता है।[2] नानक का साधक भी कहता है कि ईश्वर के सम्मुख अपना अहं मिटा कर और सारा तनमन वार कर ही आना पड़ता है।[3]

कलापक्ष—अमरदास की वाणी में मार्मिकता और मधुरता पूर्णरूपेण मिलती है। ऐतिहासिक या इतिवृत्तात्मक स्थल उनके पदों में नहीं पाए जाते। रचनाओं में व्यापक हृदय के साथ-ही-साथ साख विनय पूर्ण हृदय के उद्‌गार मिलते हैं। ईश्वर को उन्होंने पति रूप में संबोधित किया है।

नानक ने इधर-उधर काफी भ्रमण किया था। इसलिए उनकी भाषा पर अन्य प्रदेशों के प्रभाव भी मिलते हैं। अमरदास की भाषा में एकरूपता पाई जाती है, उसमें प्रभाव और सरलता है। क्लिष्ट भाषा का व्यवहार उन्होंने नहीं किया है। उनकी भाषा प्राचीन पंजाबी की अपेक्षा व्रज के निकट है। नानक और अंगद की ही तरह जीवित भाषा में ही उन्होंने अपनी वाणी की रचना की। भाषा में अक्खड़ता और सधुक्कड़ीपन नहीं है।

रचनाओं में शांत रस की ही योजना हुई है। वैराग्य और अध्यात्म प्रधान स्थल ही वहां अधिक आए हैं। उनकी वाणी केवल सैद्धान्तिक विचारों का ही भार वहन नहीं करती। भाषा भावों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल है। छंद और अलंकारों के विषय में अमरदास का कवि सचेत रहा है। छंद के बंधनों की अपेक्षा उनका ध्यान संगीतात्मकता की ओर अधिक रहा है। इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र जो अलंकार मिलते हैं उनकी योजना स्वाभाविक तौर से ही हुई है। अनुप्रास, रूपक, तद्‌गुण आदि के अनेक उदाहरण उनमें देखे जा सकते हैं।

---

१. काइआ साधै ऊरध तप करै, विचहु हऊमै न जाइ।
अधिआतम करम मजे करे, नामु न कबहु पाइ।
गु० ग्र० सा०; सिरी राग, महला-३ प० १।

२. यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस उतारे भुंई धरे, या में पैठे मांहि। — कबीर

३. मसकु काट धरा तिसु आगे, तनु मनु आगे देऊ।
सिध गोसटी; रामकली, महला-१ प० १।

गुरु रामदास

जन्म—गुरु रामदास का जन्म मिती कार्तिक १, संवत् १५९१ को हुआ था। इनके पिता का नाम हरिदास और माता का नाम दयाकौर था। पहले इनका नाम जेठा था। कालान्तर ये गुरु रामदास के नाम से जाने गए। इनके तीन पुत्र थे प्रिथिम्रा, महादेव तथा अर्जुन। अर्जुन ही रामदास के पश्चात् गुरुगद्दी पर बैठे।

गोइंदवाल में—रामदास ने गुरु अमरदास का संदेश सिखों को सुनाया। अमरदास की इच्छा एक ऐसे स्थल के निर्माण के लिए थी जहाँ पर वर्ष में एक बार कम-से-कम समस्त शिष्य एकत्रित हो सकें। रामदास ने संतोखसर के पास ही अमृतसर बनाने की योजना को कार्यान्वित करना प्रारम्भ किया। इस योजना की देखभाल में काफी समय व्यतीत हो गया। उसी समय ये रामदास लाहौर अपने पिता के घर लौट आए। इनके पिता की मृत्यु हो चुकी थी। अपने पिता का घर उन्होंने एक मंदिर के रूप में परिवर्तित कर दिया। उसके पास ही एक कुआँ बनवा दिया।

गोइंदवाल में एक विनम्र हुंदाल नामक भक्त रहा करता था। सुख-दुःख से परे वह निर्लिप्त जीवन व्यतीत करता था। लोग इसका आदर करते थे। गुरु रामदास एक बार लंगर देखने गए। उस समय वह आटा गूंध रहा था। उसने अपने आटे से सने हाथ पीछे छिपा लिए और उनके चरणों पर झुक पड़ा। गुरु रामदास उससे बहुत प्रसन्न हुए। हुंदाल से उन्होंने कहा "जंदिआला जाकर तुम अपना संदेश जनता को सुनाओ।" जीवन के अन्तिम क्षणों तक हुंदाल ने जनता को गुरु रामदास का संदेश दिया। जंदिआला में उसकी समाधि बनी हुई है।

रामदास की प्रसिद्धि चारों ओर फैल चुकी थी। रामदास ने सरोवर बनवाने का कार्य पूर्ववत् ही जारी रखा। सरोवर के निर्माण और लंगर के लिए धन की आवश्यकता थी। रामदास ने संपत्ति एकत्रित करने के लिए मसंदों की नियुक्ति की। मसंद मसनद का ही विकृत रूप है। अफगान बादशाहों का अधिकारी वर्ग मसनदे-अली कहलाता था। सरोवर के बनते-बनते उसके चारों ओर लोगों की घनी आबादी भी होने लगी। नगर का नाम रामदास पुर पड़ गया।

एक बार गुरु रामदास के किसी सम्बन्धी ने अपने पुत्र के विवाह पर उन्हें निमंत्रित किया। गुरु रामदास अत्यन्त व्यस्त थे अतएव उन्होंने अर्जुन को ही भेज दिया। पहले तो उन्होंने अपने बड़े लड़के प्रिथीचंद को जाने के लिए कहा। प्रिथीचंद ने बहाने बनाकर जाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने दूसरे पुत्र महादेव से कहा। उसने भी जाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा कि वह संसारी बातों में पड़ता ही नहीं। गुरु रामदास ने अपना प्रस्ताव गुरु अर्जुन के सामने रखा। अर्जुन तैयार हो गए।

लाहौर में विवाह समाप्त हो जाने पर अर्जुन को रुकना पड़ा। अतएव

वे पिता के वियोग से व्याकुल रहने लगे। अतः पत्र द्वारा पिता की कुशल-क्षेम पूछ कर उन्होंने पिता से दर्शनों की इच्छा प्रगट की। प्रिथिआ ने वह पत्र दूत से ले लिया। पिता के नाम से अर्जुन को उसने लाहौर में ही रहने का आदेश दे दिया। प्रिथिआ को सदैव यह भय लगा रहता कि अर्जुन को उनकी सेवा और भक्ति के कारण कहीं गुरु गद्दी न मिल जाए। पत्र पाकर अर्जुन सारा माजरा समझ गए। अर्जुन ने दूसरा पत्र लिखा और दूत को सख्त हिदायत दे दी किन्तु वह पत्र भी प्रिथिआ ने ले लिया। अर्जुन ने तीसरा पत्र लिखा और कहा कि वह सीधा गुरु रामदास को ही दे। रामदास को वह पत्र मिल गया। उसमें पिछले दोनों पत्रों का उल्लेख था। गुरु रामदास ने प्रिथिआ को बुलाकर उससे दोनों पत्र माँगे। वह बहाने बनाने लगा। प्रिथिआ के वस्त्र की जेब में से वे पत्र मंगवा लिये गए। पत्र मिल जाने पर वह अत्यन्त लज्जित हुआ। भाई बुड्ढा ने यह बात समस्त शिष्यों को बता दी।

गुरु गद्दी का त्याग—रामदास ने अर्जुन की पूरी तरह से परीक्षा ले ली थी। अर्जुन को गुरु गद्दी पर बैठाकर ५ पैसे और एक नारियल रखकर गुरु रामदास ने अर्जुन को नमस्कार कर दिया। भाई बुड्ढा ने परंपरा के अनुसार तिलक लगाया। समस्त शिष्यों को बुलाकर गुरु रामदास ने यह आदेश दिया कि अब अर्जुन को गुरु मानें।

दुष्ट प्रिथिआ—गद्दी न मिलने के कारण प्रिथिआ क्रोधित हो उठा। गुरु रामदास के प्रति उसने दुर्वचनों का प्रयोग किया। प्रिथिआ ने कहा कि ज्येष्ठ पुत्र के नाते गुरु गद्दी पर उसका अधिकार था और वह गुरु गद्दी से गुरु अर्जुन को हटाकर ही छोड़ेगा। अपना न्याय वह बादशाह से करवाएगा। गुरु रामदास ने उसे बहुत समझाया परन्तु वह न माना। रामदास को प्रिथिआ के लिये "मीन" शब्द का भी प्रयोग करना पड़ा। गुरु रामदास को अमरदास के शब्द उसी समय याद आए कि "तुमने बहते हुए स्रोत को बाँधने का प्रयास किया है। जिसका परिणाम संकटों से रहित न होगा।"

इसके बाद गुरु रामदास अन्य सिखों और परिवार के सदस्यों को लेकर गोइंदवाल आ गए। मोहन और मोहरी से भी वे मिले। बावली में स्नान करने के पश्चात् सबने एक साथ भोजन किया। गुरु रामदास आसा दी वार का पाठ करते हुए ध्यान मग्न हो गए। अन्त समय गुरु अर्जुन देव को अमृतसर का सरोवर पूरा करने का उन्होंने आदेश दिया। गुरु रामदास का स्वर्गवास भादों सं० १६३८ को हुआ।

कार्य—मोनियर विलियम्स् ने गुरु रामदास को विनीत कहा है। रामदास ही प्रथम गुरु थे जिन्होंने संपत्ति का भौतिक महत्व समझकर उसका प्रयोग करना प्रारंभ किया था। एक संगठित संस्था के निर्माण के लिए उन्हें संपत्ति की आवश्यकता थी। उनकी प्रसिद्धता और महानता के कारण रोज काफी संख्या में दर्शनार्थी

आते थे। इसी संपत्ति से उन्होंने जमीन खरीदी और अमृतसर के प्रसिद्ध स्वर्ण मंदिर की नींव डाली। अमृतसर के प्रसिद्ध स्वर्ण मंदिर को बनवाने का श्रेय गुरु रामदास को ही है। कहना न होगा कि भारतीय शिल्पकला की यह एक अनमोल कृति है। रामदास ने बिखरे हुए सिखों को एक संगठित रूप देना प्रारंभ किया। गुरु अर्जुन के बाद गुरु गद्दी वंश परंपरा की ही चीज बन गई।

रचनाएँ—अन्य सिख गुरुओं की ही तरह इनकी भी रचनाएं गुरु ग्रंथ साहिब में ही सुरक्षित हैं। ये महला ४ के अंतर्गत हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इनकी (रामदास) रचनाओं में कान्ता भाव के भजन हैं। जो कभी-कभी सूरदास आदि सख्य और मधुरभाव के उपासकों की रचनाओं के साथ तुलनीय हो सकते हैं।[1] गुरु ग्रंथ साहिब में इनके पदों की संख्या काफी है। अपने विचारों को बड़ी ही सीधी तरह से इन्होंने व्यक्त किया है। इनके साधक की चेतना ने कहीं भी अपना व्यक्तिकरण काव्य में क्लिष्ट ढंग से व्यक्त नहीं किया। अपने कई पदों में इन्होंने गुरु नानक, अंगद और गुरु अमरदास के विचारों की केवल पुनरुक्ति ही की है। किन्तु उसे पुनरुक्तिदोष नहीं कहा जाएगा क्योंकि उनके कहने की शैली सर्वथा नवीन।

गुरु का महत्त्व—गुरु रामदास को गुरु अमरदास का सफल मार्गदर्शन प्राप्त हुआ था। इस कारण यह भला कैसे हो सकता था कि रामदास गुरु महिमा का अपनी रचनाओं में मुक्तकंठ से गान न करते! गुरु-माहात्म्य का बखान करते हुए वे कहते हैं कि "गुरु ही भवसागर का जहाज है, वही केवट है, गुरु कृपा से ही ईश्वर-प्राप्ति होती है, गुरु के बिना किसी को भी मुक्ति नहीं प्राप्त हुई है।[2] इतना ही नहीं गुरु के बिना ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। न ही गुरु बिना आत्मिक आनंद की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए नाम के अभाव में बहुमूल्य मनुष्य जीवन को एक तरह से व्यर्थ ही खोना है।"[3] गुरु की सच्ची वाणी को गुरु रामदास ने गुरु के व्यक्तित्व से कम महत्त्व नहीं दिया है। इसी भावना के आधार पर मानव गुरु के अभाव में भी गुरु ग्रंथ साहिब को सिख धर्म में गुरुवत् मान्यता ही प्राप्त हुई। गुरु रामदास कहते हैं कि गुरु ही वाणी है, और वाणी ही गुरु है। वाणी में ही सब प्रकार के अमृत हैं। गुरु जिस वाणी का उच्चारण करता है यदि सेवक उसका

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० १५३।

२. गुरु जहाज खेवट गुरु, गुर बिन तरिआ न कोई।
गुर प्रसाद प्रभु पाइये, गुर बिन मुक्त न होई।
गु० ग्र० सा०; सवैये महले ४ के पृ० १४०१।

३. गुर बिन ज्ञान न होवई, न सुख वसे मनि आई।
नानक नाम विहूनी मनमुखी, जामनि जनमु गंवाइ।
गु० ग्र० सा०; सोरठ की वार, महला ४; पृ० ६५०।

अनुगमन करें तो गुरु प्रत्यक्ष रूप से उसे मुक्ति दिला देता है ।[1]

हमने पहले ही बता दिया है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए उन्होंने गुरु को आवश्यक बताया है । वे आगे कहते हैं कि गुरु ने मानव की आँखों में ज्ञान-रूपी अंजन लगा दिया है । इस कारण अज्ञान-रूपी अंधकार का विनाश हो गया है । हरि कृपा से ही संत से भेंट हो सकी है । मन में ज्ञान का प्रकाश हुआ है । वे कहते हैं कि चारों ओर मैं-माया के सुखसागर में भ्रमित हो रहा था । मेरा मन भयभीत हो रहा था । ऐसे समय में मेरे कान में गुरु ने रामरूपी मंत्र दिया ।[2]

ईश्वर की स्तुति—ईश्वर को रामदास ने सतगुरु की संज्ञा दी है, इसके अतिरिक्त ईश्वर के लिए उन्होंने हरि नारायण सोपुरखु आदि शब्दों का भी व्यवहार किया है । रामदास का सोपुरखु न तो कुरान के अनुसार सातवें आसमान पर ही रहता है और न ही केवल स्वर्ग में । वह निरंजन है, अगम है, अपार है, सब उसकी स्तुति करते हैं । स्तुति करते-करते ये थकते नहीं । सबका यह सिरजन हार है ।[3] गुरु रामदास के पद अधिकतर ईश्वर की ही स्तुति में हैं । उनका साहित्य गुरु और सतगुरु की महिमा से ही भरा पड़ा है । नीति-सम्बन्धी पद भी उनके साहित्य में उपलब्ध होते हैं । ईश्वर की प्राप्ति के लिए रामदास ने नैतिक और चारित्रिक शुद्धता को आवश्यक माना है । हृदय की शुद्धता और चरित्र की उच्चता ईश्वर प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है । वे कहते हैं "हे ईश्वर यह संसार तेरी ही रचना है । तू जल, थल, आकाश में चारों ओर ही व्याप्त है । अमृत के समान तेरे मीठे वचन हैं ।[4] सारी प्रकृति उस परमात्मा के ही गुण गा रही है ।

उनकी रचनाओं में ऐतिहासिक या इतिवृत्तात्मक स्थल नहीं के बराबर हैं । भावात्मक रूप में ही अपनी चेतना को उन्होंने कलात्मक और काव्यात्मक रूप प्रदान किया है । पदों में काव्यात्मकता के सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं । यथा—

---

१. वाणी गुरु, गुरु है वाणी, विच वाणी अम्रित सारे ।
गुरु वाणी कहे सेवकु जनु माने, परतखि गुरु निसतारे ।
गु० ग्र० सा० नट महला ४; पृ० ९८८ ।

२. गिआनु अंजनु गुर दीया, अगिआन अंधेर बिनासु ।
हरि किरपा ते संत भेटिया, नानक मन परगासि ।
गु० ग्र० सा०; गउड़ी, सुखमनी; पृ० २९३ ।

३. सो पुरखु निरंजनु हरि पुरखु निरंजनु हरि अगमा-अगम अपारा ।
सभि धिआवहि, सभि धिआवहि, तुधु जो हरि सचे सिरजन हारा ।

४. कीआ खेल बड मेलु तमासा वहि गुरु तेरी सब रचना ।
तू जलि थलि गगनि पयालि पूरि रहिआ अम्रित ते मीठे जाके बचना ।
गु० ग्र० सा०; सवैये महले ४ के, पृ० १४०३ ।

हरि मुख काज रचाइआ, गुरमुखि वीआहणि आइआ।
वीआहणि आइआ गुरमुखि हरि पाइआ ता धन कंत पिआरी।
संत जना मिलि मंगल गाए हरि जीऊ आप सवारी।
सुरि नर गण गंधर्व मिलि आए अपूर बर्ज बणाई।
नानक प्रभु पाइआ मैं साचा न कदे मरै न जाइ।[1]

× × ×

हरि दरसन को मेरा मन बहु तपते।
जिऊ त्रिखावत बिनु नीर।
मेरे मनि प्रेमु लगो हरि तीर।
हमरि बेदन हरि प्रभु जाने, मेरे मन अंतर की पीर ॥१॥ रहाऊ
मेरे हरि प्रीतम की कोइ बात सुनावै सो भाई सो मेरा बीर।
मिलु मिलु सखी गुण कहु मेरे प्रभ के ले सतिगुर की धीर।
जन नानक की हरि आस पुजावहु, हरि दरसनि शांति सरीर ॥[2]

इस गुरु ग्रंथ साहिब से गुरु रामदास के पद पर्याप्त संख्या में उद्धृत किये जा सकते हैं जो काव्यात्मक प्रवाह और सरसता से ओत-प्रोत हैं। गुरु रामदास को अमृतसर के सरोवर निर्माण के लिये काफी समय तक एक ही स्थान पर रहना पड़ा था, अतएव उन्हें इच्छित शांति प्राप्ति हो गई थी। इस कारण वे काफी पद भी लिख सके थे।

भाषा—उनके पदों की भाषा हिन्दी ही है। पंजाबी के पद थोड़े हैं, उनमें भी हिन्दी भाषा की ही प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। सरल और प्रवाहमयी भाषा का व्यवहार कर गुरु रामदास का कवि अप्रचलित शब्दों से तो दूर ही रहा है। गुरु रामदास की भाषा में प्रवाह है।

गुरु रामदास के पदों में अधिकतर शांतरस की योजना हुई है। ये पद भक्ति और वैराग्य से पूर्ण हैं। अलंकार भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप से आए हैं। यथा—

उदाहरण अलंकार	हरि जुग जुग भगत उपाइआ पैज रखदा आइया रामराजे।
	हरिणाखसु दुस्टु मारिआ प्रहलादु तराइआ।
रूपक	गिआन अंजन जिस दिआ अगिआन अंधेर बिनासु।
विरोधाभास	गुर जहाज, खेवट गुरु, गुर बिन तरया न कोइ।
उपमेयोपमा	बाणी गुरु गुरु है बाणी विच बाणी अम्रित सारे।

१. सूही महला ४; सुन्दर गुटका; पृ० ४२५।
२. गौड़ महला ४, सुन्दर गुटका; पृ० २२६।

छठा अध्याय

गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर एवं गुरु गोविन्दसिंह आदि

जीवनवृत्त एवं विचार दर्शन

गुरु अर्जुन देव

जीवन—गुरु अर्जुन का जन्म बीबी भानी के गर्भ से मिति वैशाख कृष्ण ७, मंगल में संवत् १६२० को हुआ था। इनका जन्म गोइंदवाल में हुआ था। इनका विवाह मेओ निवासी कृष्णचंद्र की पुत्री गंगा के साथ संपन्न हुआ। सन् १५८१ में ये गुरु-गद्दी पर विराजमान हुए।

दुष्ट प्रिथिआ—गुरु रामदास के स्वर्गवास के पश्चात् इनके बड़े भाई प्रिथिआ ने पुनः इनसे कहा कि बड़े भाई होने के नाते गुरु गद्दी पर उसका अधिकार है। गुरु अर्जुन के विरुद्ध अपनी ईर्ष्या शांत करने के लिए उसने प्रारम्भ से ही तरह-तरह के षड्यन्त्र करने प्रारम्भ कर दिये थे। कुछ समय के पश्चात् प्रिथिआ ने अपनी शिकायत लाहौर के एक मुग़ल अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत की। उसने शिकायत की, "गुरुअर्जुन देव के गुरु बन जाने के कारण उसके तथा उसके छोटे भाई के गुज़ारे के लिए कुछ नहीं रह गया है।" प्रिथिआ की इस शिकायत पर गुरु अर्जुन ने अपने भाई महादेव और प्रिथिआ को सारी जायदाद दे डाली। भक्तों से जो-कुछ भी प्राप्त होता वही उनकी आय थी।

अमृतसर का निर्माण—गुरु रामदास के देहावसान के पश्चात् गुरु अर्जुनदेव ने अपना सारा समय अमृतसर सरोवर और शहर के विकास की ओर लगाया। साथ-ही-साथ रामदासपुर के बृहत्तर निर्माण की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया। अमृतसर सरोवर का जिस समय निर्माण हो रहा था, उस समय वे कार्य का निरीक्षण शीशम के वृक्ष की छाया में बैठकर किया करते थे। जिस बेरी की छाँह में बैठकर भाई बुड्ढा कार्य का निरीक्षण करते थे, वह अभी तक स्वर्णमंदिर के पास सुरक्षित है।

अमृतसर सरोवर का निर्माण मिति माघ १, सं० १६४५ के पश्चात् उन्होंने

हर मन्दिर की नींव रखी।[1] जो पहली ईंट रखी गई थी, बाद को वह एक कारीगर से हिल गई। गुरु साहब ने कहा कि चूंकि इसकी पहली ईंट हिल चुकी है अतएव इसकी नींव फिर से पड़ेगी। गुरु अर्जुन की यह बात सत्य निकली। सं० १८१६ में अहमद शाह अब्दाली ने सरोवर को तहस-नहस कर उसे भर दिया था। दो वर्ष के पश्चात् खालसा फ़ौज ने अपनी विजय के बाद सरोवर और हर मन्दिर का पुनः निर्माण किया। गुरु अर्जुन के समय में हर मन्दिर के निर्माण में भाई बुड्ढा भजनु और बहलु की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं।

अकबर के प्रसिद्ध मंत्री बीरबल के लिए गुरु अर्जुनदेव का उत्कर्ष असहनीय था। किन्तु अकबर की उदार नीति के कारण उसे कभी सफलता नहीं मिली। यूसुफाइयों से लड़ते समय मार्ग में उसने गुरु अर्जुनदेव को तंग करना चाहा था, किन्तु असफल ही रहा। युसुफाइयों से लड़ते समय ही बीरबल की मृत्यु हुई थी। सिख इतिहासकारों ने इस बात का उल्लेख गुरु अमरदास के जीवन में किया है।

हरगोविन्द का जन्म—गुरु अर्जुनदेव ने जालंधर जिले में करतारपुर नामक नगर बसाया। इसी समय गुरु नानक की समाधि के दर्शनार्थ वे डेरा बाबा नानक गए। इसी समय गुरु नानक के पुत्र श्रीचंद से भी इनकी भेंट हुई। गुरु अर्जुनदेव की पत्नी ने उनसे कई बार अपनी पुत्र-विहीनता पर दुख प्रगट किया। गुरु अर्जुनदेव ने कहा कि पहले भाई बुड्ढा का आशीर्वाद प्राप्त करो, फिर तुम्हें पुत्र-लाभ होगा। अन्त में बीबी गंगा अपने हाथ से भोजन तैयार कर थाली सजाकर भाई बुड्ढा के पास ले गई। इसे माता का प्रसाद मानकर भाई बुड्ढा ने बड़े प्रेम से खाया। मिति आषाढ़ वदी ६ सं० १६५२ को बडाली गाँव में बीबी गंगा के गर्भ से हरगोविन्द का जन्म हुआ। हरगोविन्द के जन्म पर प्रिथिया और उसकी स्त्री बुरी तरह से क्रुद्ध उठे। प्रारम्भ से ही इस बालक को मारने के लिए इन्होंने काफी प्रयास किए। परन्तु उन्हें कभी भी सफलता नहीं मिली। हरगोविन्द समयानुसार बलवान और सुन्दर होते गए।

चन्दूशाह की शत्रुता—गुरु अर्जुनदेव से शत्रुता रखने वाला दूसरा मनुष्य चन्दूशाह था। कुछ समय तक वह अकबर का अर्थमंत्री भी रहा था। वह दिल्ली निवासी था। अपनी कन्या के विवाह के लिए वह अच्छे-से-अच्छे घर की खोज में था। लोगों ने उससे गुरु अर्जुनदेव के पुत्र हरगोविंद के लिए सलाह दी। चन्दूशाह ने सुनकर कहा—'राजमहल की अटारी का सुन्दर खपरेल नाले में नहीं डाला जा सकता।" बाद को वह अपनी पत्नी के कहने से मान गया और उसने गुरु अर्जुनदेव को पत्र लिखा किन्तु उसके तिरस्कारपूर्ण वचनों का गुरु अर्जुनदेव को पता लग चुका था, इस कारण चन्दूशाह के दूतों के समक्ष ही गुरु अर्जुनदेव ने चन्दूशाह के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस घटना के पश्चात् ही गुरु अर्जुन ने हरगोविंद का विवाह दूसरे

---

१. मेकालिफ़ : सिख रिलीजन भाग; ३, पृ १०।

स्थान पर कर दिया। इस घटना के पश्चात् चन्दूशाह ने अपने-आपको काफी अपमानित समझा। वह गुरु अर्जुनदेव के विनाश पर तुल गया। हरगोविंद को इसी समय चेचक की बीमारी ने आ घेरा। गुर विलास, सूरज प्रकाश एवं गुर संहिता के लेखकों के मतानुसार बीबी गंगा इस बीमारी को दूर करने के लिए देवी की पूजा करने के लिए मंदिर गई थीं। किन्तु यह घटना संभव नहीं प्रतीत होती, क्योंकि गुरु अर्जुनदेव एक ईश्वर को छोड़ किसी मूर्ति या अन्य देवी की पूजा के विरोधी थे। मेकालिफ ने भी इस घटना का खंडन किया है।[1]

अकबर का सहायक मंत्री कबीरखाँ गुरु अर्जुनदेव को काफी मानता था। उसने इस बात की भरसक चेष्टा की कि प्रिथिआ का वैर गुरु अर्जुन से समाप्त हो जाए। सुलहीखाँ की सहायता से प्रिथिआ ने कई बार अपनी शिकायतें अकबर तक पहुँचाईं किन्तु अकबर की उदार नीति के कारण उसको सफलता नहीं मिल सकी।

प्रिथिआ द्वारा पुनः वैर—सन् १६०५ में अकबर के देहांत के बाद जहाँगीर गद्दी पर बैठा। चन्दूशाह और प्रिथिआ को नया अवसर हाथ लगा। अकबर, जहाँगीर के पुत्र खुसरो को बहुत मानता था। खुसरो अत्यन्त योग्य व्यक्ति था। कहा जाता है कि जहाँगीर के ही रहते अकबर ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाने तक का वचन दिया था। अकबर के मरते ही खुसरो ने पंजाब और अफ़गानिस्तान पर अपना अधिकार कर लेना चाहा। इस कारण जहाँगीर उससे नाराज़ हो गया। उसे पकड़ने के लिए शाही फ़ौजें भेजी गईं। आगरे से भागता हुआ वह तरनतारन आया। गुरु अर्जुन से उसने आर्थिक सहायता माँगी किन्तु गुरु अर्जुनदेव ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वह रुपया ग़रीबों के लिए है, शाहजादों के लिए नहीं। परन्तु बाद को खुसरो की दीनता पर उन्हें दया आ गई और उन्होंने पाँच सहस्र रुपये उसे दिए। प्रिथिआ और उसके पुत्र ने उपरोक्त घटना चन्दूशाह को ब्योरेवार सुनाई। चन्दूशाह ने जहाँगीर को शिकार के लिए पंजाब के दौरे की सलाह दी। उसने आगे यह भी सलाह दी कि काश्मीर जाते समय मार्ग में ठहरने के लिए लाहौर एक उचित स्थान रहेगा। लाहौर आने पर, खुसरो वाली घटना जहाँगीर को सुनाकर चन्दूशाह ने उसके कान भरे। गुरु अर्जुनदेव को लाहौर बुलाया गया। लाहौर में बादशाह ने इनसे कई प्रकार के प्रश्न कर अंत में उन्हें अपराधी ठहराया। उन पर दो लाख रुपया जुर्माना भी किया गया और 'गुरु ग्रंथ साहब' से कुछ अपने विचार से अनुचित समझी जाने वाली पंक्तियाँ भी उनसे निकाल देने को कहा गया। दोनों ही बातों को गुरु अर्जुनदेव ने अस्वीकार कर दिया।

कई मुसलमान लेखकों के मतानुसार गुरु अर्जुनदेव दो लाख की राशि देने में असमर्थ थे, यह भ्रामक कथन है। उनके शिष्य तो उनके अन्तिम समय तक राशि

१. मेकालिफ़; सिख रिलीजन; भाग ३, पृ० ४६।

एकत्रित करने को तैयार थे। परन्तु गुरु अर्जुनदेव ने उनको मना कर दिया था। उनका हृदय इतना निर्बल नहीं था, जो कि इन भौतिक कष्टों से भयभीत होकर अपना मार्ग बदल देता। उन्हें अपनी वाणी पर विश्वास था, किन्तु उन्हें यह भी पता था कि यह उनकी परीक्षा का समय है।

बन्दीगृह में—राजदंड अस्वीकार करने पर उन्हें बंदीगृह में डाल दिया गया। इनके दृढ़ निश्चय के कारण इनके विरोधियों ने यह ठीक तरह से समझ लिया कि ये साधारण तरीके से नहीं मानेंगे। इन पर गरम रेत डाली गई, लोहे की सलाखों से इनका शरीर तपाया गया, खौलते पानी में इन्हें फेंक दिया गया, खौलता हुआ तेल इन पर डाला गया। समस्त यातनाएँ सहने के बावजूद भी इन्होंने आह तक नहीं भरी। बंदीगृह में ये नामस्मरण करते बैठे रहे। वहाँ इन्हें न तो भोजन ही दिया गया न ही पानी।

अंतिम समय—पांच दिन इसी प्रकार यातना सहने के पश्चात् उन्होंने रावी में स्नान करने की अनुमति मांगी। इन्हें अनुमति मिल गई। अपने पांच शिष्यों, को लेकर ये रावी की ओर गए। इनके साथ शस्त्रधारी सिपाही भी थे। एक लम्बी चादर ओढ़कर एक शिष्य के कंधे का सहारा लेकर ये रावी की ओर धीरे-धीरे चलने लगे। उनके पैरों में छाले पड़ चुके थे। सेवक परीना के कंधे का सहारा लेकर लंगड़ाते हुए ये रावी पहुँचे। रावी पहुंच कर इन्होंने स्नान किया। तदनन्तर जपुजी साहब का पाठ किया और हरगोविंद को गुरु मानने का आदेश देकर जेठ सुदी ४ सं० १६६२ को ४३ वर्ष की अवस्था में अपनी इहलीला समाप्त की।[1]

मेलकाम, दबिस्तान और फोस्टर ट्रवल्स् के आधार पर कनिंघम का कथन है कि "ऐसा विश्वास किया जाता है कि कारागार के कष्टों के कारण उनका देहावसान शीघ्र ही हो गया। किन्तु उनके अनुयायियों का दृढ़ विश्वास है कि रावी में स्नान करने की आज्ञा प्राप्त कर, अपने पहरेदारों को भय और आश्चर्य से पूर्ण कर वे रावी की उथली धारा में अंतर्धान हो गए।"[2]

सिख इतिहासकारों का कहीं भी यह कथन नहीं है कि गुरु अर्जुनदेव का शरीर अंतर्धान हो गया था। यह सत्य है कि पांच दिनों तक पीड़ा सहने के पश्चात् वे अपने पांच शिष्यों को लेकर रावी तक गए और वहीं पर उनका शरीरांत भी हुआ। फर्कुहर का कथन है कि अर्जुन की मृत्यु के लिए तरह-तरह के मत प्राप्त होते हैं, परन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि शाहजादे के लिए प्रार्थना करने के कारण उन्हें गिरफ्तार

१. मकग्रेगर ने गुरु अर्जुन का देहावसान शाहजहाँ के समय में माना है इससे पता लगाया जा सकता है कि मकग्रेगर के वृतांत कितने भ्रामक हैं।

२. कनिंघम; हिस्ट्री आफ़ सिक्खस्; पृ० ७६।

कर लिया गया था।"[1] इस तरह २५ वर्षों तक गुरु गद्दी का भार वहन कर गुरु अर्जुनदेव अपने सिद्धांतों के लिए शहीद हो गए।

रचनाएँ और आदिग्रंथ:—गुरु अर्जुनदेव का महत्त्व केवल इसलिए नहीं है कि वे एक सफल भक्त और कवि थे। उनका महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है, क्योंकि उन्होंने अपने से पहले सिख गुरुओं और निर्गुणभक्तों की वाणी का संपादन कर संकलन किया। इसी संकलन का नाम आदिग्रंथ पड़ा। उन्हें इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि भविष्य में उनके अनुयायियों में धार्मिक मतभेद न हों, इस कारण नियमों का बना देना अत्यंत आवश्यक है। उसी तरह सिख गुरुओं द्वारा समय-समय पर कही गई वाणी का एकत्र करना उन्होंने अत्यंत आवश्यक समझा। इसके लिए उन्होंने अन्य निर्गुण भक्तों की श्रेष्ठ रचनाओं का भी संकलन किया। ग्रंथ साहिब में उन्होंने केवल उन्हीं पदों का संकलन किया जो ज्ञानाश्रयी निर्गुणधारा के थे। इसकी आवश्यकता इन्हें इसलिए पड़ी, क्योंकि प्रिथिआ कुछ पद लिखकर गुरु नानकदेव के नाम से प्रचलित कर रहा था। उन्होंने बिना किसी जाति-पांति और छोटे-बड़े का भेद-भाव रखते हुए वाणियों को एकत्र कर संपादित किया। इससे पहले गुरु अमरदास भी यह आदेश दे गए थे कि गुरु की वास्तविक वाणी की ओर भी ध्यान देना चाहिए। शिष्यों में भ्रम न फैले, इसलिए गुरु अर्जुनदेव को एक संपादित संग्रह की अत्यंत आवश्यकता प्रतीत हुई। वे अमरदास के ज्येष्ठ पुत्र मोहन के पास गोइंदवाल गए और एकत्रित वाणियों को उठा लाए। उन्होंने विभिन्न संप्रदाय के भक्तों को भी बुलवाया। भक्तों द्वारा जो वाणी इन्हें प्राप्त हुई, उनमें उच्चारण के कारण अंतर अवश्य आया होगा और पंजाबी शब्द भी आ गए होंगे। उन्हें शुद्ध रखने का भरसक प्रयास किया गया होगा। गुरु ग्रंथ साहिब के पदों की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि जिन रूपों में उनको संपादित और संकलित किया गया था उसी रूप में वे आज तक चले आ रहे हैं। पदों का चुनाव हो जाने पर उन्हें भाई गुरदास से लिखवाया गया। इस तरह यह आदि ग्रंथ मिति भादों सुदी १, सं० १६६१ को तैयार हुआ। रचना हो जाने पर उसकी प्रति भाई बुड्ढा को सुरक्षित रखने के लिए दे दी गई। गुरु ग्रंथ साहिब का संकलन विभिन्न राग-रागनियों में किया गया है।

ये पद क्रमानुसार विभिन्न 'महला' में रखे गए हैं। जैसे गुरु नानक के पद महला १; गुरु अंगद के पद महला २; अमरदास के पद महला ३; और गुरु रामदास के महला ४; में रखे गए। इनके पश्चात् भक्तों के पद आते हैं। अंत में रागमाला दी गई है जिसमें विभिन्न राग-रागनियों की चर्चा है।

सुखमनी—इनकी सर्वश्रेष्ठ और प्रसिद्ध रचना सुखमनी है। सुखमनी का अर्थ होता है, चित्त की शांति। इसमें १०–१० पंक्तियों की २४ अष्टपदियाँ संग्रहीत हैं।

---

१. फर्कुहर; माडर्न रिलीजस मूवमेंटस् इन इंडिया।

इनका पाठ प्रातः जपुजी के साथ किया जाता है। सुखमनी के अतिरिक्त इन्होंने बारहमासा और कई फुटकर पदों की रचना भी की है। इनके पदों की संख्या ६००० से भी अधिक है। गुरु ग्रंथ साहिब में इनकी ही वाणी सर्वाधिक है। चित्त की शांति का सुखरूपी अमृत अमर करने वाला ईश्वर का ही नाम है।[१] सुखमनी प्रारंभ करते समय वे आदिगुरु, सत्गुरु और श्री गुरु का नमन् कर लेते हैं :

आदि गुरए नमह, जुगादि गुर एनमह।
सति गुरए नमह, श्री गुरए नमह।

सत्गुरु, आदिगुरु और जुगादिगुरु से उनका तात्पर्य ईश्वर से ही है। इसके पश्चात् प्रभु की स्तुति कर उन्होंने यह बताया है कि प्रभु का नामस्मरण समस्त दुखों का हरण कर लेता है।[२]

गुरु अमरदास का आनंदवाद और गुरु अर्जुनदेव का सुखवाद—यदि गुरु अर्जुनदेव की सुखवादी धारा का मिलान गुरु अमरदास की आनंदवादी धारा से किया जाय तो दोनों एक से ही प्रतीत होंगे। अमरदास कहते हैं कि "आनंदु भए मेरी माए सतगुरु मैं पाए" और गुरु अर्जुनदेव कहते हैं "सुखमनी अम्रित प्रभ नाम" गुरु-अर्जुनदेव का जीवन भौतिक रूप से तो सुखी नहीं था। आजीवन उन्हें उनके सगे-संबंधी तंग ही करते रहे थे। बाद को सत्य पर दृढ़ रहने के कारण उन्हें शहीद भी होना पड़ा। किन्तु उनके साधक का सुख भौतिक साधनों में नहीं था। अतएव सदैव उन्होंने यही कहा कि चारों ओर दुख नहीं सुख ही है।[३]

प्रभु नाम के महत्त्व की चर्चा करते हुए गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि प्रभु स्मरण से गर्व नहीं आता, प्रभु के स्मरण से ही यम का दुख भाग जाता है। मृत्यु भी नाम के कारण मिट जाती है। मनुष्य अमर हो जाता है और वैरी टल जाते हैं। आशय यह कि प्रभु स्मरण से मनुष्य आत्मिक संतोष प्राप्त कर दुखों से बच जाता है।[४] प्रभु के नाम स्मरण से ही वह चिंता मुक्त हो जाता है। उसे एहिक सुखों की परवाह नहीं रह जाती। संसार में जितने भी बड़े-बड़े लोग दिखाई पड़ते हैं, उन्हें चिंता रोग ही खाए जा रहा है।[५]

---

१. सुखमनी अम्रित प्रभ नामु। [गु०ग्रं०सा० सुखमनी।]
२. प्रभ का सिमरन दुख न संतापे [वही]
३. दुख नहीं सब सुख ही है रे।
बुरा नहीं सब भला ही है रे। [गु०ग्रं०सा० कानड़ा म० ५।]
४. प्रभ के सिमरन गर्व न बसै, प्रभ के सिमरन दुख जम नसै।
प्रभ के सिमरन काल पर हरै, काल के सिमरन दुसमनि हरै।
प्रभ के सिमरन कुछ विघन लागै। [सुखमनी]
५. वड़े-वड़े जो दीसहि लोग ति कऊ बिआपै चिंता रोग।
[ग्रं० सा० गऊड़ी महला ५]

गुरु की सेवा के लिए वे कहते हैं कि अपनी विद्वत्ता का गर्व दूर कर एक सेवक की भाँति गुरु की सेवा करनी चाहिए। गुरु की सेवा करने से समस्त मनोरथ पूरे हो जाते हैं। अपने गुरु की सेवा करते समय सावधान रहना चाहिए।[1]

नाम महत्त्व बतलाते हुए वे कहते हैं कि जहाँ भाई मित्र पिता या पुत्र काम नहीं आएँगे वहाँ पर नाम सहायता देगा। वहाँ पर यम का दुःख संतप्त नहीं करेगा। वहाँ तेरे साथ कोई नहीं केवल नाम ही साथ रहेगा। विपत्ति के समय हरि नाम के सिवाय कोई मार्ग नहीं है।[2]

कबीर के राम ही गुरु अर्जुनदेव के राम थे। राम के लिए उन्होंने ईश्वर की वैष्णव नामावली का भी प्रयोग किया है। यथा—

अचुत पार ब्रह्म परमेसुर अंतरजामी
मधूसूदन दामोदर सुआमी
रिखिकेश, गोवर्द्धनधारी, मुरली मनोहर हरिरंगा
मोहन माधव क्रिसन मुरारे
जगदीसुर हरि जीऊ असुर संघारे
जगजीवन अबिनासी ठाकुर घट-घट वासी हैं संगा
धरणी धरईस, नरसिंग नारायण, दाड़ा अगे प्रिथमि धराहुए
बावन रूपी

उपरोक्त पद में देखा जा सकता है कि विष्णु भगवान के लिए प्रयुक्त कितने ही नामों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न अवतारों के लीला संबंधी पद भी उपलब्ध होते हैं। नीति से हटकर काव्य के सुंदर उदाहरण भी उनके काव्य में देखे जा सकते हैं—

कवन गुन प्रानपति मिलऊ री मेरी माई
रूपहीन, बुद्धिहीन बलहीनो मोहि परदेसनि दूर ते आई।
नाहिन दरबु न जोबन माती, मोहि अनाथ की करहु समाई।
खोजत खोजत भई बैरागन प्रभ दरसन कऊ हऊ फिरत तिसाई।
दीन दइआल क्रिपाल, प्रभ नानक साध संग मेरी जलनि बुझाई।

उपरोक्त पद में अपनी निरीहता और दीनता का परिचय एवं प्रभु सम्मिलन की भावना को सुंदर काव्यात्मक ढंग से रखा गया है। यह निरीहता प्रेम से ओत-प्रोत है। इसमें मीरा की वेदना है। उपरोक्त पद गीतिकाव्य और मुक्तक का भी सुंदर उदाहरण है।

---

१. सुंदर गुटका; माड महला पांच सहंसर नामा; गुरु ग्रंथ साहिब।
२. रागु गउड़ी पूरबी, महला; ५, गु० ग्र० सा०।

फुनहे महले ५ में कई पद काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यथा—

संत सभा महि बैस कि कीरति मैं कहां।
अरथी सभु सीगारु देहु जिऊ सभु दिवा।
आस पिआसी सेज सु कंति विछाइयै।
हरिहां मसतकि होवै भागु त साजनु पाईयै।[1]
सखि काजल हार तंबोल सभै किछु साजिआ।
सोलह कीए सीगारु कि अंजन पाजिआ।
जे घरि आवै कंतु त सभु किछु पाइयै।
हरिहां कंतै बाझु सीगारु सभ बिरथा जाइयै।[2]

मेरे हाथि पदमु अगनि सुख बसना, सखि मोरहे रतंनु पेखि दुखु नासना।
बासऊ संग गुपाल सगल सुख रासि हरि, हरिहां रिधि सिधि नवनिधि।
बसहि जिसु सदा करि।[3]

उनके बारहमासा में भी सुन्दर पद योजना मिलती है।

कला पक्ष—उनकी रचनाओं का प्रधान रस शांत ही है। शृंगार को लेकर भी उन्होंने कई उत्तम पदों की रचना की है। ऐसे पदों में केवल मिलन ही की तीव्र उत्कंठा दिखाई पड़ती है।

इनके पदों की भाषा ब्रज या मिश्रित हिन्दी ही है छंद और अलंकारों के

---

१. संतों की सभा में बैठकर इच्छा होती है कि ईश्वर के यश गाऊँ। समस्त शृंगार करने के पश्चात अपना सारा मन अर्पित कर मिलन की इच्छा कर, फिर मिलन की इच्छा से प्रेरित होकर पति के लिए शैया बिछाऊँ। भाग्य में लिखित होने से ही साजन से भेंट होती है।

गु० ग्र० सा० फुनहामहला ५।

२. हे सखि, मैंने काजल, हार-तांबूल इत्यादि सब-कुछ लाकर सजाया। सोलह शृंगार भी कर लिए, आँखों में अंजन भी लगा लिया। यदि पति घर आया तभी यह शृंगार सार्थक होगा अन्यथा व्यर्थ जाएगा।

गु० ग्र० सा० फुनहा महला ५।

३. मेरे हाथों में पद्म है। उसमें सुख की सुगंध है। हे सखी मेरे कंठ में नाम रूपी रत्न है। उसे देखकर समस्त दुख भाग जाते हैं। मैं गोपाल के संग रहती हूँ। वह पापों को दूर करने वाला और समस्त सुखों की निधिवाला है। उसके हाथों में ऋद्धि-सिद्धि है एवं नव-निधि है।

गु० ग्र० सा० फुनहा महला ५।

फुनहे महले ५ में गुरु अर्जुनदेव के ही समस्त पद हैं। ऐसे अन्य कई पद हैं जिन्हें विस्तार-भय से यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

प्रयोग भी स्वभाविक-रूप से काव्य-रचना साथ-ही-साथ आ गए हैं। उनके पद विभिन्न राग-रागनियों में ही हैं। उनमें उपमा, रूपक, अनुप्रास, श्लेष आदि की सुन्दर छटा प्राप्त होती है। फुनहे महले ५ में उन्होंने अडिल छंद का प्रयोग किया है। फुनहा की व्युत्पत्ति पुनः से हुई है। यह पुनः या पुनर् का ही दूसरा रूप है। उसकी संस्कृत धातु "प्रण" है जिसका अर्थ होता है वंदना करना। उसका प्राकृत रूप फुनह है। अडिल २१ मात्राओं का छंद होता है, इसमें ११ मात्राओं के पश्चात् यति होती है।

उनके अन्य कार्य और सांस्कृतिक देन—गुरु अर्जुनदेव की मृत्यु यद्यपि ४३ वर्ष की ही अवस्था में हो गई थी किन्तु इतने ही अल्प-समय में सिख-धर्म के लिए उन्होंने काफी महत्वपूर्ण कार्य किए। ग्रंथ साहित्य का आयोजन उनका प्रमुख साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य था। इसके अतिरिक्त जगत-प्रसिद्ध स्वर्ण मंदिर को उन्होंने पूर्ण करवा कर अमृतसर शहर की अभिवृद्धि की। तरन-तारन की अभिवृद्धि का भी श्रेय उन्हीं को है। प्रिथिआ ने गुरु अर्जुनदेव को स्थायी रूप से कभी एक स्थान पर बैठने नहीं दिया। जब वे डेरा बाबा नानक में गुरु नानक की समाधि के दर्शनार्थ गए थे तो श्रीचंद ने उनसे यही कहा था कि वे एक स्थान पर क्यों नहीं बैठते।

कहा जाता है कि अपने एक श्रद्धालु भक्त को इन्होंने सिंहल प्राणसंगली[1] की प्रति लाने भेजा था। प्राणसंगली की रचना गुरु नानक ने अपने सिंहल-निवास के समय में की थी। भक्त प्यारा सिंहल पहुँचा। सिंहल नरेश ने उसका स्वागत किया और कई उपहारों सहित प्राणसंगली की प्रति उसे दे दी। कहा जाता है कि प्राणसंगली की इस प्रति को किसी साधु ने चुरा लिया। योग संबंधी बातों पर प्राणसंगली नामक एक अन्य पुस्तक उपलब्ध होती है। सिख इतिहासकारों के अनुसार वह गुरु नानक ने नहीं लिखी है।

गुरु अर्जुनदेव ने अपने शिष्यों की शिक्षा का समुचित प्रबंध करवाया। अपने शिष्यों को इन्होंने दूर-दूर के प्रदेशों में घोड़ों का व्यापार करने भी भेजा। उसका प्रमुख उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार ही करना था। अपने २५ वर्षों की गुरु गद्दी के समय में उन्हें कष्टों का ही सामना करना पड़ा था किन्तु वे कभी भी विचलित नहीं हुए थे, अन्त समय तक वे धैर्य से कष्टों को सहते रहे। वे दया शांति और विनम्रता की मूर्त्ति थे। अपनी वाणी और नेतृत्व में उन्हें विश्वास था। यदि यह विश्वास कृत्रिम होता तो वे इतने अत्याचार सहन कर अपने प्राण इस तरह न त्यागते।

गुरु अर्जुनदेव के समय तक सिख गुरु परंपरा एक सरल रेखा में अग्रसर होती जा रही थी। इस समय तक सिख गुरुओं का कार्य शांति, दया और अहिंसा

---

१. प्राण संगली का यह वृतांत ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होता।

ही पालन करना था। लेकिन गुरु अर्जुनदेव की मृत्यु के पश्चात् ही सिख-धर्म एक मोड़ पर आ खड़ा होता है। गुरु अर्जुनदेव पर जब अमानुषिक और बीभत्स अत्याचार किए गए तब उनके शिष्यों का खून खौल उठा। इन जघन्य और अमानुषिक अत्याचारों से बचाने के लिये उन्हें तलवार उठानी पड़ी। सारे पंजाब में उस समय विदेशियों के अत्याचारों के कारण राजनैतिक वातावरण क्षुब्ध था। उस समय चुप रह जाना निरी कायरता ही होती। अहिंसा से आदमी देवता बन सकता है। लेकिन अहिंसा जानवर को भला आदमी नहीं बना सकती। वह तो समय की एक माँग थी। वे लड़ाई नहीं चाहते थे। विदेशियों के कारण धर्म की सुरक्षा के लिए ही गुरु हरगोविन्दसिंह को तलवार की मूँठ पर हाथ रखना पड़ा था। यदि इस समय की राजनैतिक या आर्थिक परिस्थिति को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि शांतिप्रिय सिखों को युद्ध की ओर ले जाने वाले कौन-से कारण थे। व्यावहारिकता के नाते यह आवश्यक था कि वे सुरक्षा के लिये अस्त्र उठाते। जो लेखक हरगोविंद पर तलवार पकड़ने का आरोप लगाते हैं वे उस समय के विदेशियों की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। यदि गुरु अर्जुनदेव सरीखे एक शांतिप्रिय पुरुष को इस बुरी तरह से मारा जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी।

गुरु तेगबहादुर

गुरु गद्दी के उत्तराधिकारी—जिस गुरु परंपरा में गुरु अर्जुनदेव के पश्चात् क्रमशः गुरु हरगोविंद, गुरु हरराय और हरकृष्ण गद्दी पर विराजमान हुए। परन्तु इन गुरुओं ने कोई पद रचना नहीं की। ९ वें गुरु तेगबहादुर की रचनाएं गुरु ग्रंथ साहिब में महला ९ के अन्तर्गत सुरक्षित हैं। तेगबहादुर, हरगोविंद के सबसे छोटे पुत्र थे। इनका जन्म अमृतसर में वैशाख सुदी ५ सं० १६७९ को नानकी के गर्भ से हुआ था।[1] इनका विवाह जालंधर जिले के करतारपुर नगर की गूजरी नामक स्त्री से हुआ था। पिता की मृत्यु के पश्चात् ये अपनी पुत्री और माता सहित बकाला रहने को आए। गुरु हरकृष्ण का जब अन्तिम समय आया उस समय उन्होंने 'बाबा बकाले' कहकर तीन बार हाथ हिलाया। इस बात की सूचना पाकर बकाले २२ सोढ़ी क्षत्रियों ने अपने आपको गुरु घोषित कर दिया। अन्त में जब लवाना परिवार के एक सिख जिसका नाम माक्खनशाह था। अपने डूबते हुए जहाज के बच जाने के उपलक्ष में ५०० मुहरें लेकर आया तब उसे यह देखकर घबराहट हुई कि एक साथ ही गुरु गद्दी पर २२ गुरु बैठे हुए हैं। उसने हर किसी की परीक्षा दो-दो मुहरें दे-देकर करनी

१. गुरु तेगबहादुर की दो जन्म तिथियाँ उपलब्ध होती है, एक सन् १६१२ की, दूसरी १६२२ की।

प्रारंभ की।[1] इन २२ सोढ़ी गुरुओं को मक्खनशाह की ५०० मुहरों का पता न था। सुखमनी के शब्द याद कर अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वास्तविक गुरु कोई नहीं है। जब बाद को वह तेगबहादुर के पास पहुँचा तो उनका अपूर्व सौजन्य और संतोष देखकर वह बहुत ही प्रभावित हुआ। उसे यह पता लगा कि लोगों के अनुरोध पर भी तेगबहादुर ने गुरु बनना अस्वीकार कर दिया है। उसके बाद सभी अनुयायियों के अनुरोध पर चैत्र शुक्ल १४ सं० १७७२ में गुरु गद्दी पर विराजमान हुए।

द्वेषाग्नि व षड्यंत्र—गुरु तेगबहादुर के गुरु बन जाने पर बकाला के अन्य सभी उनसे वैर करने लगे। मक्खनशाह की ५०० मुहरों और इनकी गुरु गद्दी की बात सुनकर इनका भाई धीरमल इनसे कुढ़ गया। उसने गुरु तेगबहादुर को गोली मारने के लिये कुछ मसंद भेजे। मसंदों ने उनसे ५०० मुहरें तो छीन ही लीं साथ ही उन पर गोली भी चलाई। इन्हें अधिक चोट नहीं लगी किन्तु ये कीरतपुर त्यागकर वहाँ से ६ मील दूर चले गए जहाँ पर आनन्दपुर नामक नगर की उन्होंने नींव डाली। उनके शिष्यों को जब यह पता लगा तो धीरमल को उन्होंने अच्छी तरह से दंड दिया और उससे ५०० मुहरें भी छीन लीं। कीरतपुर का परित्याग कर देने पर भी धीरमल और रामराय उनके विरुद्ध सदैव षड्यंत्र करते ही रहे। ये धर्म-प्रचार करते हुए भ्रमण करने लगे। उपदेश देते हुए सूर्यग्रहण के अवसर पर ये कुरुक्षेत्र भी गए। वहाँ यात्रियों ने उनका स्वागत किया। वहाँ से उपदेश देते हुए ये पूर्व की ओर कड़ा मानिकपुर गए। वहाँ मलूकदास नामक एक विख्यात संत रहा करता था। तेगबहादुर की आखेटादि की वृत्ति के बारे में सुनकर पहले तो उसने इनसे घृणा प्रगट की किन्तु बाद को इनसे मिलकर वह बहुत ही प्रभावित हुआ। धर्म-प्रचार करते हुए ये आगरा, इटावा, प्रयाग आदि की ओर भी गए।

आसाम की ओर—वे अपने परिवार सहित बनारस की ओर बढ़े। बनारस में इन्होंने "शबद का कोठा" नामक स्थान में निवास किया। इनके कपड़े बड़ी संगत में अभी तक सुरक्षित हैं। इसके बाद गया होते हुए ये पटना में पहुँचे, पटना उस समय मुसलमानी शासन का केन्द्र था। यहीं पर असम विजय को जाते हुए मार्ग में मिर्जा राजा जयसिंह का पुत्र इन्हें लेने आया। कामरूप के विरुद्ध उसने इनकी सहायता माँगी। इन्होंने सहायता देना स्वीकार कर लिया। असम की चढ़ाई दुर्गम कार्य माना जाता था। औरंगजेब के प्रसिद्ध मंत्री मीर जुमला की मृत्यु असम की चढ़ाई के समय ही हुई थी। टाड के वृत्तांतानुसार असम की चढ़ाई में रामसिंह की विजय तो साबित होती है।[2] मुंगेर राजमहल आदि को पार करते हुए ये असम पहुँचे। युद्ध से पहले शाही

---

१. मेकालिफ; सिख रिलीजन; भाग ४, पृ०३३२

२. राजस्थान, भाग २, एनल्स् ऑफ़ अम्बर; अध्याय १, टाड।

फौजों को काफी हानि उठानी पड़ी। तेगबहादुर के प्रयासों से दोनों पक्षों में संधि हो गई।

कामरूप के राजा ने इनका बहुत स्वागत किया। ब्रह्मपुत्र के तट पर राजा के अतिथि के रूप में कुछ दिनों तक रहे। वहाँ इनके कुछ लोग शिष्य भी बने। कहा जाता है कि उन शिष्यों के वंशधर दुबरी और चाओतालां में वर्तमान हैं और अभी तक गुरु तेगबहादुर को मानते हैं। पटना में मिति पौष सुदी ७ संवत् १७२३ को गोविंदराय का जन्म हुआ। यही कालांतर में गुरु गोविंदसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी समय असम से पटना लौट आए।

प्राणदण्ड—पुनः ये अपने परिवार को वहीं पर छोड़कर पंजाब की ओर बढ़े। वह आदेश देते आए थे कि गोविंदराय के बड़े होते ही उसे पंजाब से ले आया जाए। बाद को समस्त परिवार को पटने से इन्होंने आनन्दपुर बुलवा लिया।[1]

इसी बीच औरंगजेब ने अपना धर्म परिवर्तन का कार्य आरम्भ कर दिया। यह कार्य सर्वप्रथम काश्मीर से प्रारम्भ हुआ। बादशाह का यह विश्वास था कि काश्मीरी ब्राह्मण यदि धर्म-परिवर्तन कर लेंगे तो सारा भारत दब जाएगा। उक्त अत्याचार से पीड़ित होकर कुछ काश्मीरी ब्राह्मणों ने गुरु तेगबहादुर से प्रार्थना की। तेगबहादुर ने पंडितों को बताया कि किसी महापुरुष के बलिदान के बिना हिन्दू धर्म की रक्षा कठिन है। गोविन्दराय उस समय बालक ही थे। सुनकर उन्होंने कहा कि "इस पुण्य कार्य के लिए आपसे बढ़कर भला कौन महापुरुष हो सकता है।[2] गुरु तेगबहादुर ने उन ब्राह्मणों से कहा "बादशाह से जाकर कहो कि यदि तेगबहादुर धर्म परिवर्तन कर लेंगे तो सब धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हैं।" यह सुनकर बादशाह ने गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलावा भेजा। मार्ग में ये मिलते-जुलते दिल्ली की ओर बढ़े।

मिलने-जुलने के कारण देर हो जाना स्वाभाविक ही था। शाही दरबार में यह अफवाह फैल गई कि ये कहीं छिपे बैठे हैं। इनको पकड़ने के लिए गुप्तचर नियुक्त कर दिये गए। दिल्ली आते ही इन्हें बन्दी बना लिया गया। बादशाह ने इनसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा। इनके अस्वीकार करने पर इन्हें इनके अन्य पाँच शिष्यों सहित बन्दी गृह में डाल दिया गया। एक बार पश्चिम की ओर ये बंदीगृह की छत से देख रहे थे। इन पर इस बात का दोषारोपण किया गया कि पर्दे में रहने वाली बेगमों की ओर वह देख रहे थे। कष्टों से तंग आकर अनुमति पाकर तीन शिष्य

---

१. सूरज प्रकाश के लेखक के कथनानुसार गोविन्दराय को गुरु तेगबहादुर ने बुलावा भेजा था। किन्तु पिता पुत्र की भेंट न हो सकी थी। भाई सुखासिंह की रचना गुरविलास सूरज प्रकाश से प्राचीन है। उसके अनुसार पिता पुत्र की भेंट हुई थी।

२. गुरविलास; अध्याय ५; सुखासिंह।

तो बन्दीगृह से चले गए। इस्लाम न स्वीकार किए जाने पर इन्हें पहले से अधिक कष्ट दिया जाने लगा। सबसे पहले इनके शिष्य मातीदास को पकड़ा गया। उसे दो खम्भों के बीच बांधा गया। आरे से उसे काटा गया। अंत समय तक मातीदास जपुजी का पाठ करता रहा। इनके अन्त समय तक इनका एक अनन्य शिष्य गुरदित्ता ही रह गया।

अन्तिम समय—तीनों शिष्यों के जाते ही इन्हें एक पिंजड़े में डाल दिया गया। बादशाह ने हर प्रकार से प्रयत्न किया कि ये इस्लाम स्वीकार कर लें। इन्होंने हर बार ही अस्वीकार किया। अन्त को बादशाह ने एक मोलवी को भेजकर यह कहलवाया कि यदि तुम गुरु हो तो कोई चमत्कार दिखाओ। तब तुम्हें छोड़ दिया जायगा। अंत को मिति अगहन सुदी ५ सं० १७३२ को भरे दरबार में इनका बुरी तरह से बध किया गया। सन् १६७५ को इनका सिर चुपचाप इनका एक शिष्य आनन्दपुर ले गया। धड़ चालाकी से सवाना परिवार के लोगों ने हटा दिया। क्योंकि इनकी मृत्यु के पश्चात् इनका शव बादशाह ने पेड़ पर सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए लटकवा दिया था। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कनिंघम लिखता है, "बादशाह के सम्मुख उन्हें दिल्ली बुलाकर अपमान जनक शब्दों में अपने धर्म की निर्दिष्ट दिव्यता को साबित करने के लिए चमत्कार दिखाने को कहा गया। तेगबहादुर ने कहा कि मनुष्य का कार्य ईश्वर की आराधना करना है। फिर भी उन्होंने कहा कि वे अपने गले पर लिखकर कुछ चिपका लेंगे जिस पर तलवार का प्रभाव नहीं होगा। अंध विश्वास से भरे दरबार के लिए एक हाथ ही पर्याप्त था। कागज़ पर लिखा था "सर दिया पर सार न दिया।"……निष्ठुर एवं धर्मान्ध औरंगजेब ने 'काफ़िर' के शव का दिल्ली की सड़कों पर सार्वजनिक प्रदर्शन करवाया।[१]

गुरु तेगबहादुर के पकड़े जाने में भी मुसलमान इतिहासकार औरंगजेब पर इस बात का आरोप नहीं लगाते कि बादशाह ने तेगबहादुर का बध इस्लाम स्वीकार नहीं करने के कारण किया। वे मुसलमान इतिहासकार तेगबहादुर पर इस बात का इल्ज़ाम लगाते हैं कि लूट-पाट मचाने के कारण बादशाह ने उन्हें गिरफ्तार किया। कनिंघम ने इन्हीं मुसलमान इतिहासकारों के आधार पर लिखा है, "ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल से पंजाब लौटने पर गुरु ने एक धार्मिक उदासी से एक लुटेरे का रूप धारण कर लिया। उसने एक लुटेरे का धंधा अपना लिया। सतलज और हांसी के मध्यस्थ स्थान लूट-पाट कर उसने वीरान कर दिया। आखिर उसके पीछे शाही फौजें भेजी गईं और उसे पकड़कर दरबार में हाजिर किया गया।[१]" यह वृतान्त बिल्कुल ही असत्य है कि गुरु तेगबहादुर ने एक लुटेरे का रूप धारण कर लिया। जो व्यक्ति विनय शांति और दया की मूर्ति था उसके सहसा इस परिवर्तन को कैसे स्वीकार किया जाए? उसे

२. **कनिंघम हिस्ट्री आफ़ सिक्स्; पृ० ६४;** ।

लूट-पाट की आवश्यकता ही क्या थी? गुरु तेगबहादुर लूट-पाट का धंधा ही करते तो औरंगजेब की पकड़ में कभी न आते। सब बातों को समझते-बूझते हुए ही वे दिल्ली गए और शहीद हो गए। हमने आरम्भ ही में कहा है कि मुसलमान इतिहासकार और लेखकों ने अपने बादशाह के कुकृत्यों पर सदैव ही पर्दा डालने का प्रयास किया है। कनिंघम साहब भी "कहा जाता है" के आधार पर ही लिखते हैं, पुष्ट प्रमाणों पर नहीं।

रचनाएँ—गुरु ग्रंथ साहिब में महला ६ के अन्तर्गत गुरु तेगबहादुर की वाणी सुरक्षित है। अन्य सिख गुरुओं की तुलना में इनकी रचनाएं बहुत ही कम हैं। अन्य सिख गुरुओं की तरह इन्होंने भी वैराग्य और अध्यात्म से पूर्ण उपदेश ही दिए हैं। इनके शब्दों में इनसे पहले के गुरुओं द्वारा भावों की पुनरावृत्ति मिलती है। इनके अधिकतर श्लोक ईश्वर की ही स्तुति में ही लिखे गए हैं या नाम महिमा की ही चर्चा उन्होंने पदों में की है।

वे कहते हैं कि जिसने अपने जीवन में ईश्वर का गुणगान नहीं किया उसका जीवन व्यर्थ ही जानो। वे कहते हैं कि हे नानक ईश्वर से उसी तरह सम्बन्ध रख, जिस तरह जल और मीन का होता है।[२] जीवन के आरम्भिक वर्षों में ही ईश्वर की स्तुति नहीं की तो बाद में क्या करेगा? वृद्ध हो गया तो मृत्यु आ गई है। कुछ सूझ नहीं रहा है, भला ऐसे समय में क्या ईश्वर का जाप करेगा। इसलिए बावरे नर ईश्वर को क्यों नहीं भजता।[३] राम की महिमा तो अपार है। वे कहते हैं कि उसे पहिचान वह तो तेरे साथ ही बसता है।[४] क्योंकि सबका सुखदाता राम है दूसरा नहीं।[५]

गुरु तेगबहादुर के साधक की कविता तो उनकी साधना की साधन-मात्र थी। उस कविता का स्रोत तो अनजाने में ही फूटकर निकल पड़ा था। निस्संदेह जिस

---

१. रिलीजन आफ सिक्स; पृ० ९३; कनिंघम।

२. गुन गोबिन्द गायो नहीं जनमु अकारथ कीन।
कहु नानक हरि भजु मना, जिहि बिधि जल कौ मीन।
महला ९; सु० गुटका; पृ० ४९१।

३. बिरध भयऊ सूझै नहीं, कालु पहूचिऊ आनि।
कहु नानक नर बावरे, किऊ न भजै भगवान।
महला ९; सुन्दर गुटका; पृ० ४९२।

४. पतित उधारन, भै हरन, हरि अनाथ के नाथ।
कहु नानक तिह जानिये, सदा बसतु तुम साथ।
महला ९; सुन्दर गुटका; पृ० ४९२।

५. सभु सुखदाता राम है दूसर कोहि नांहि कोऊ।
महला ९; सुन्दर गुटका; पृ० ४९५।

व्यक्ति ने अपनी विचारधारा की सत्यता के लिए अपना जीवन तक दे दिया था उसकी वाणी अनुभूति शून्य नहीं हो सकती। उनकी वाणी में सेव्य और दैन्य-भाव के दर्शन होते हैं जो अहंमन्यता और गर्व से परे हैं। खंडन-मंडन के कुछ श्लोक भी उनके साहित्य में उपलब्ध होते हैं। उनमें कबीर का फक्कड़पन नहीं है। उनके दार्शनिक पक्ष का आधार सर्वात्मवाद ही था। इसीलिए वे कहते थे कि हरि का निवास तो घट-घट में है। उनका राम न तो सातवें आसमान पर रहता है और न ही करोड़ों देवी-देवता का ही रूप धारण करता है। वे कहते हैं कि इस माया के कारण ही मनुष्य दिन-रात दीन बनकर डोल रहा है। करोड़ों में ऐसा एक ही मनुष्य होता है जिसे नारायण से मिलने की चिंता होती है। जिस तरह जल से बुदबुदा उठता है और मिटता है उसी तरह यह जग रचना हुई है। सारी सृष्टि ईश्वर से निकलकर ईश्वर में ही लीन हो जाएगी। माया के मद में प्राणी आज अपनी चेतना खो चुका है।[२]

वैराग्य के प्रसंग इनकी रचनाओं में अन्य सिख गुरुओं की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। कला-पक्ष की अपेक्षा उनका भाव-पक्ष ही सुदृढ़ है। रचनाओं में शांत रस की प्रधानता है। इनके पदों की भाषा हिन्दी है।

गुरु गोविंदसिंह

इनका बचपन का नाम गोविंदराय था। इनका बचपन पढ़ने में ही बीता था। अपने पूर्वजन्म का ऐतिहासिक वृतांत इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "विचित्र नाटक" में लिखा है। वे लिखते हैं "पूर्व जन्म में मैं दुष्टदमन नामक राजा था।[३] मैं प्रजा पर धर्म-पूर्वक राज्य करता था। मंडल ऋषि से उपदेश ग्रहणकर अपनी वृद्धावस्था में अपने पुत्र विजयराव को गद्दी दे हेमकूट पर्वत (जहां अर्जुन ने तपस्या

---

१. घट घट में हरि जू बसै, संतन कहउ पुकार।

महला ९; सुन्दर गुटका; पृ० ४१८।

२. निसिदिन माइया कारने प्रानी डोलत नीत।
कोटम में नानक कोऊ नाराइन जिहि चीति।
जैसे जल से बुदबुदा ऊपजै बिनसै नीत।
जग रचना तैसे रची कहु नानक सुन मीत।
प्रानी कछु न चेतई मद माया के अंध।

महला ९; सुन्दर गुटका; पृ० ४१७।

३. कहा जाता है कि दुष्टदमन या धृष्टद्युम्न किसी समय काठियावाड़ का राजा था। उसका राज्य अमरकोट में था। वह बड़ा ही प्रजावत्सल और दयालु था। इस कारण उसका नाम भक्तवत्सल तक पड़ गया था। सिंध और काठियावाड़ में अभी तक पत्थरों पर उसकी मूर्ति खुदी मिलती है।

की थी) पर तपस्या करने चला गया। वहां पद्मासन मार महाकाल[1] के ध्यान में मग्न हुआ। कुछ काल के पश्चात् महाकाल पुरुष ने मुझे अपना दर्शन देकर मुझे अपना पुत्र कहकर संबोधित किया और कहा कि मेरे अन्य अवतारों को तो ईश्वर की संज्ञा प्राप्त हुई किन्तु तुम अपने आपको ईश्वर का सेवक कहकर प्रसिद्ध करना। इसी के पश्चात गुरु तेगबहादुर के घर जन्म हुआ।"

ये तेगबहादुर के इकलौते पुत्र थे। असम से पंजाब लौट आने पर तेगबहादुर ने इन्हें माता गूजरी सहित पटना से बुला भेजा। बालक की युद्ध-प्रिय प्रवृत्ति देखकर पिता ने इनके लिए शस्त्र-विद्या सीखने का उचित प्रबंध कर दिया था। इनका पहला विवाह केवल सात वर्ष की ही अवस्था में हरिवंश खत्री की पुत्री के साथ हुआ था। जिस समय गुरु तेगबहादुर शहीद हुए उस समय इनकी अवस्था केवल १५ वर्ष की ही थी। अपने पिता के अंतिम संस्कार समाप्त करने के पश्चात इनका ध्यान औरंगजेब के अत्याचारों की ओर गया। उस समय इनको अपने चारों ओर कोई भी मित्र नहीं नज़र आता था। पहाड़ियों में इन्होंने अपना डेरा जमाया। गुरुगद्दी पर बैठने पर नित्यप्रति ये सूर्योदय से पहले उठते। आवश्यक उपासना करने के पश्चात ये आसा दी वार का पाठ सुनते। इसके बाद अनुयायियों को उपदेश देते और युद्धकला का अभ्यास करते थे। कभी ये घुड़सवारी या शिकार के लिए निकल जाते। संध्या को रहिरास का पाठ होता था। इसी समय वह हर प्रकार की तैयारी कर आने वाले समय के लिए अपने आप को हर प्रकार से योग्य बना रहे थे। इन्हें पता था कि आज नहीं तो कल औरंगजेब से युद्ध होगा ही। कनिंघम के शब्दों में "यमुना की तटवर्ती दोनों ओर की निचली पहाड़ियों में गोविंद ने एकांतवास किया। वर्षों तक उन्होंने अपने आपको जंगली भालू के शिकार, शेर आदि के शिकार, फ़ारसी का ज्ञान प्राप्त करने और अपने कुल की गुप्त गाथाएँ जानने में लगाया।"[2]

कुछ सिख इतिहासकारों का यह भी कथन है कि वे इस समय पटना गए थे। और वापस आकर काश्मीर की पहाड़ियों में चले गए। पटने से एक बार लौटकर पुनः पटना जाने के पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते। पिता के बलिदान के पश्चात ये अपना सारा समय अपनी शक्ति बढ़ाने में ही लगाते रहे। यह समय कनिंघम ने मेलकाम के आधार पर बीस वर्ष का माना है। जिस समय पहाड़ी राजाओं से इनकी मुठभेड़ प्रारंभ हुई उस समय इनकी अवस्था ३५ वर्ष की थी।

---

१. यह पर्वत बदरीनाथ से लगभग सात आठ कोस पर है। वहां महाकाल का एक मंदिर बना हुआ है। उसमें कड़ाहप्रसाद का भोग लगता है। इस पर्वत पर तपस्या कर अर्जुन ने धनुष प्राप्त कर जयद्रथ का वध किया था।

२. कनिंघम; हिस्ट्री आफ़ दी सिक्खस्; पृ० ६६।

रतनराय की भेंट—आसाम नरेश का देहान्त हो जाने के पश्चात् उनका द्वादशवर्षीय पुत्र गुरु गोविंदसिंह से मिलने आया। उपहारस्वरूप वह अपने साथ ५ चतुर घोड़े, एक चतुर हाथी और एक ऐसा शस्त्र लाया था जिसमें से ५ अलग-अलग शस्त्र निकले थे। उक्त हाथी बहुत ही प्रवीण था। वह उनके जूते साफ कर देता। उनका चलाया हुआ तीर वापिस ला देता। पैर धोने के लिए वह पानी का घड़ा लिए हुए खड़ा रहता था। फिर तौलिये से उनका बदन पोंछता था, चवर झलता और रात को मशालें लेकर मार्गदर्शन करता था। रतनराय ने इस बात का विशेष अनुरोध किया था कि वे यह हाथी किसी को न दें। मियां लतीफ का कथन है कि दक्षिण से यह हाथी एक सिख लाया था।[1] परन्तु आपने इस बात का प्रमाण कोई नहीं दिया।

प्रतिशोध की भावना—जिस तरह गुरु हरगोविंद ने अपने पिता का बदला लेने के लिए तलवार की मूंठ पर हाथ रखा था उसी तरह गुरु गोविंदसिंह ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए सैनिक संगठन प्रारंभ कर किया। इनकी सेना में दूर-दूर से शिष्य और सिपाही भर्ती होने लगे। अपनी सेना के लिये इन्होंने एक बड़ा नगाड़ा बनवाया, उसका नाम रणजीत रखा। पहाड़ी राजा भीमचंद स्वयं उनसे मिलने आया करता था। उसकी दृष्टि हाथी पर पड़ी, उसने कई बहाने बनाकर वह हाथी मांगा किन्तु उसकी एक न चल पाई। देहरादून से ३० मील की दूरी पर गुरु गोविंदसिंह ने पौंटा नामक एक दुर्ग बनवाया। देहरादून में रहने वाले इनके चाचा रामराय से इनकी मित्रता हो गई। बुद्धूशाह नामक एक मुसलमान से भी इनका परिचय हुआ। इनसे प्रभावित होकर वह इनका शिष्य हो गया। श्रीनगर के राजा फतहशाह से भी इनकी घनिष्ठ मित्रता स्थापित हो गई, वे फतहशाह के साथ आखेट को भी जाया करते थे। एक बार फतहशाह की पुत्री के विवाह के उपलक्ष में इन्होंने सवा लाख रुपए और कुछ बहुमूल्य रत्न भेजे। विवाह भीमचंद के पुत्र से होने जा रहा था। उक्त मैत्री को उसने द्वेष की भावना से देखा और फतहशाह को उसने कहला भेजा कि गुरु गोविंदसिंह के उपहार वापस किए जाने पर ही यह अपने पुत्र का विवाह कर सकेगा अन्यथा नहीं। भीमचंद के आदमियों ने गुरु गोविंदसिंह द्वारा भेजे गए समस्त उपहार भी लूट लिए। इसके बाद गुरु गोविंदसिंह और पहाड़ी राजाओं में शत्रुता हो गई और कई युद्ध हुए। कई पहाड़ी राजाओं की मृत्यु भी हुई। इन युद्धों में विजय सदैव गुरु गोविंदसिंह की ही हुई। इसी समय यमुना तट पर इन्होंने काव्य-रचना भी की। श्रीकृष्ण संबंधी रासमंडल जैसी अन्य रचनाएँ इसी समय लिखी गई थीं।

पुत्रोत्पत्ति—मिती माघ सुदी ४ सं० १७४३ (सन् १६८६) को उनकी

---

१. हिस्ट्री आफ़; पंजाब; पृ० २७२; लतीफ।

पत्नी सुन्दरी के गर्भ से एक पुत्र अजीतसिंह ने जन्म लिया। दूसरी पत्नी जिता के गर्भ से दूसरे पुत्र जोरावरसिंह का जन्म मिति चैत्र वदी ७, सं० १७४७ को हुआ। इसी दूसरी पत्नी से ही मिति माघ सुदी १ सं० १७५३ को इनके तीसरे पुत्र जुझारसिंह का जन्म हुआ कहा जाता है कि इसके लिये बधाई देने के लिये बुन्देलखंड के प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र कुंवर इनके यहाँ वर्तमान थे। गुरु गोविंदसिंह ने इन्हें अपने यहाँ दरबारी कवि के रूप में नियुक्त कर लिया। इसी जिता पत्नी से चौथे पुत्र फतहसिंह का जन्म मिति फाल्गुन वदी ११ सं० १७५५ को हुआ।

दुर्गा की उत्पत्ति—गुरु गोविंदसिंह ने यह समझ लिया था कि औरंगजेब से टक्कर लेने के लिये जितनी सैन्य शक्ति की आवश्यकता है उतनी ही आवश्यकता लोगों से अन्धविश्वासों के निराकरण की भी है। गुरु गोविंदसिंह को पंडित केशोदास ने बताया कि उसके पास दुर्गा को प्रगट करने की शक्ति है। कोई उस ब्राह्मण का नाम कालिदास बताते हैं। गुरु गोविंदसिंह ने अपने यहाँ रामायण और महाभारत की शिक्षा देने के लिए ब्राह्मण नियुक्त किए थे। सबने एक स्वर से यही कहा कि युद्धों में सफलता प्राप्त करने के लिए देवी का प्रगट होना आवश्यक है। गुरु गोविंदसिंह ने देवी के प्रगट होने के लिए यज्ञ का आयोजन किया। समस्त हिसाब-किताब लगाकर ब्राह्मण देवता ने सिर्फ एक लाख रुपये का खर्च बताया।

यज्ञ का आयोजन किया। दूर-दूर निमन्त्रण भेजे गए। देखते-ही-देखते वहाँ पर शिखाधारी ब्राह्मणों का राज्य-सा हो गया। खर्च और भी अधिक बताया गया। गुरु गोविंदसिंह तैयार हो गए। वे स्वार्थी ब्राह्मणों को नाराज़ कर अपने अनुयायियों को नाराज नहीं करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि हिन्दू जाति अपने व्यर्थ के अन्ध विश्वासों को त्यागकर वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करे। एक माह व्यतीत हो गया। काफी घृत और हवन सामग्री का विनाश हुआ। दुर्गा प्रगट होने के कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़े। आचार्य जी से इसका कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि यदि गुरु गोविंदसिंह हर प्रकार की हिंसा बंद कर दें तो ही दुर्गा प्रगट हो सकती है। गुरु गोविंदसिंह ने यह भी स्वीकार कर लिया और आखेटादि जाना छोड़ दिया। पूर्णाहुति का चालीसवाँ दिन भी आ गया। परन्तु देवी प्रगट होने के कोई लक्षण प्रतीत नहीं हुए। आचार्य जी से पूछा गया तो उत्तर मिला कि देवी किसी कुलीन पुरुष की आहुति चाहती है। सुनकर गुरु गोविंदसिंह ने कहा "आपसे बढ़कर कुलीन पुरुष भला कौन हो सकता है? गुरु गोविंदसिंह तलवार निकालकर आचार्य जी के सिर पर डट गए। केशोदास ने सोचा था कि बलि के बहाने वह छूट जायगा। न किसी की बलि चढ़ाई जायगी और न ही दुर्गा के प्रगट होने की झंझट रह जायगी। परन्तु गुरु गोविंदसिंह की क्रोधपूर्ण मूर्ति देखकर केशोदास के होशहवाश गायब हो गए। शौच स्नान आदि का बहाना बनाकर केशोदास तो वहाँ से खिसक गया। इस घटना के बाद सारे ही पंडित एक-एक कर खिसक गए।

समस्त पंडितों के भाग जाने के पश्चात् अवशिष्ट सामग्री गुरु गोविंदसिंह ने हवनकुंड में उड़ेल दी। चारों ओर भयंकर अग्नि के कारण काफी प्रकाश हुआ। प्रकाश देखकर लोगों ने यह समझा कि देवी प्रगट हुई है। गुरु गोविंदसिंह नंगी तलवार लेकर बाहर आए। उन्होंने कहा यही देवी है। लोगों में यह विश्वास फैलता चला कि देवी ने प्रगट होकर गुरु गोविंदसिंह को वरदान दिया है। इसके बाद काफी संख्या में आ-आकर लोग इनकी सेना में भरती होने लगे।

उपरोक्त घटना का वृत्तांत कई रूपों में मिलता है। सत्य केवल इतना ही है कि लोगों को विश्वास दिलाने के लिए ही यह सब किया गया था। न तो कोई दुर्गा ही प्रगट हुई और न ही कोई नर बलि ही इन्होंने दी। यह घटना सन १६९९ की है। कनिंघम साहब के मतानुसार इस यज्ञ में २५ आदमियों की बलि दी गई।

लतीफ के मतानुसार ५ आदमियों की बलि दी गई थी।[1] किन्तु दोनों ही विचार निर्मूल और भ्रामक हैं।

नवीन युग का प्रारंभ—इसके बाद सभी सिखों को उन्होंने वैशाखी के मेले पर एकत्रित होने की आज्ञा दी और यह भी आदेश दिया कि समस्त शिष्य बिना बाल बनवाए ही आएँ। एक ऊँची जगह पर इन्होंने कालीन बिछवा दिया। पास ही की जगह को उन्होंने कनात से घिरवा दिया। उनके आदेशानुसार आधी रात को उनके एक शिष्य ने उस कनात में ५ बकरे बाँध दिए। दूसरे दिन उपासना के बाद उन्होंने अपना कार्य प्रारंभ किया। कनात के बाहर वे स्वयं नंगी तलवार लेकर खड़े हो गए। उपस्थित लोगों में से एक-एक कर ५ आदमियों को उन्होंने बलि के लिए बुलाया। चारों ओर सन्नाटा छाया था। लोगों को समझ नहीं आ रहा था कि आखिर यह सब क्या हो रहा है। बड़ी हिचकिचाहट के बाद लाहौर के दयाराम, दिल्ली के धर्मदास, द्वारका के हुकुमचंद, बीदर के साहिबचंद और पुरी के एक व्यक्ति ने हिम्मत की। इन्हें भीतर ले जाकर मारने का प्रदर्शन किया गया। प्रत्येक बार जब वे किसी एक को ले जाते तो उसे वहीं बिठा देते और उसके बदले एक बकरे को मारकर लहू में रंजित अपनी तलवार चमकाते हुए बाहर निकलते।

इसके बाद समस्त सिख समुदाय के सम्मुख उन्होंने एक जोरदार भाषण दिया और कहा कि इसके बाद नवीन युग का सूत्रपात होता है। इसके बाद ये पांचों मनुष्य जीवितावस्था में ही बाहर लाए गए। इन्हें "पंचप्यारों" की संज्ञा दी गई। गुरु गोविंदसिंह ने कहा कि आज से सिखों में वर्ण-व्यवस्था नष्ट हो गई है। समस्त सिख एक हैं। उनमें कोई वर्णभेद और जातिभेद नहीं होगा। अपने हाथ से दीक्षित कर उक्त पांच शिष्यों को अपने हाथ से खालिस बनाकर गुरु गोविंदसिंह ने उन्हें दीक्षित किया। इसके बाद ही खालसा पंथ की नींव पड़ी। खालसा की व्युत्पत्ति

१. हिस्ट्री आफ़ पंजाब; लतीफ।

खालिस (अरबी) शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है शुद्ध। दीक्षा के लिए कड़ाहे में पानी भरकर उसमें इन्होंने कृपाण चलाई और उस कृपाण की नोक से वह पानी पांचों शिष्यों पर छिड़क दिया। उनकी पत्नी जिता ने उक्त पानी में कुछ बताशे भी लाकर डाल दिए। उक्त पानी को अमृत की संज्ञा दी गई। उस दिन से खालसा पंथियों को गुरु गोविंदसिंह ने केश, कड़ा, कंघी, कच्छा और कृपाण रखने का आदेश दिया। उक्त दीक्षा कार्य वैशाख वदी १ सं० १७५६ को समाप्त हुआ। गुरु गोविंदसिंह ने एक काम तो कर लिया था—शिष्यों में नई जान फूंकना, किन्तु दूसरा काम था बादशाह के विरुद्ध सिर उठाना। यह प्रथा सिखों में "खंडे दी पाहुल" कहलाती है। गुरु गोविंदसिंह के उत्कर्ष से पहाड़ी नरेश सतर्क हो गए। उन्होंने उलटे सीधे शब्दों में बादशाह से इस बात की शिकायत की। खंडे दी पाहुल की प्रथा के पश्चात गुरु गोविंदसिंह ने पहाड़ी राजाओं से मित्रता स्थापित करने का विफल प्रयास ही किया।

पहाड़ी राजाओं को उन्होंने काफी युद्धों में हराया किन्तु उन्हें काफी हानि भी उठानी पड़ी। पंजाब के इस बढ़ते हुए विद्रोह को देखकर शाहजादा मुअज्जम को एक भारी फौज देकर औरंगजेब ने पंजाब की ओर भेजा। एक बार जिस समय इनकी सेनाएँ पहाड़ी राजाओं से मुठभेड़ ले रही थीं उस समय कन्हैया नामक एक व्यक्ति दोनों ओर के आहत सैनिकों को पानी पिला रहा था। गुरु गोविंदसिंह ने उसकी बहुत ही तारीफ की। कन्हैया के शिष्य अभी तक पंजाब में चले आते हैं। ये सेवापंथी के नाम से विख्यात हैं। सेवापंथी अपनी निष्काम सेवा के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं।

शाही सेना के आक्रमण—इसी समय शाही सेना ने नगर को लूटपाट कर किले को घेर लिया। गुरु गोविंदसिंह ने किले के फाटक बंद करवा लिए। वे अवसर पाकर शाही फौजों पर छापा मारते और फिर किले के फाटक बंद कर लेते। इसी समय पहाड़ी राजाओं का भी विरोधपत्र इन्हें मिला किन्तु इन्होंने चिंता नहीं की। किला घिर जाने पर कोई आदमी बाहर आ जा नहीं सकता था। ऐसे समय में शाही फौजों को तंग करने का इन्होंने एक विचित्र उपाय निकाला। यह वास्तव में उन लोगों को बताने के लिए था जो शाही फौजों के आश्वासन पर किला छोड़ने को तैयार थे। किले का सारा कचरा संदूकों में भरवाकर गाड़ों में भरकर इन्होंने किले से बाहर भिजवा दिया। संदूकों में ताले लगे थे। शाही सैनिकों ने समझा कि इन गाड़ों में कोई बहुमूल्य सामान जा रहा है। उन्होंने उसे लूट लिया। गुरु गोविंदसिंह ने अपने शिष्यों को यह दृश्य किले से दिखाया। उन्होंने कहा इन आक्रमणकारियों पर भला कैसे विश्वास किया जा सकता है। लड़ते-लड़ते सारी सामग्री समाप्त हो गई। केवल पचास सिपाही ही बचे। वहां रहना उन्होंने उचित नहीं समझा। थोड़ी-सी सामग्री सहित वे बाहर निकल गए। इस हड़बड़ी में उनकी माता गुजरी और दो छोटे पुत्रों की व्यवस्था नहीं हो सकी। दोनों बालक शत्रुओं के हाथ पड़ गए। वे

किसी लालची दुष्ट ब्राह्मण के हाथ पड़ गए। उस दुष्ट ने इनका सारा द्रव्य अपहरण कर पुरस्कार पाने की लालच से चौधरी को सूचना दे दी। चौधरी ने उन्हें सरहिंद के शासक के पास पहुँचा दिया। उक्त दोनों बच्चों की अवस्था क्रमशः नौ और सात वर्ष की थी। इस्लाम धर्म स्वीकार न करने के कारण दोनों को सूबा सरहिंद ने मिति पूस वदी १३ संवत् १७६२ को निर्दयता पूर्वक दीवार में चिनवा दिया। मेकालिफ के मतानुसार दोनों लड़कों को दीवार में नहीं चिनवाया गया था किन्तु उनका वध किया गया था। मेकालिफ कहता है "सिखों में यह सामान्य विश्वास है कि लड़कों को दीवार में चिनवा दिया गया और उसी स्थिति में उनकी मृत्यु भी हुई। परंतु सूरज प्रकाश और गुरबिलास के लेखकों के अनुसार उन्हें आयु के क्रम से एक गिलजई वधिक ने तलवार के घाट उतारा था।"[१] परन्तु सिख इतिहासकारों ने एक स्वर से यही स्वीकार किया है कि सरहिन्द के सूबेदार ने दोनों लड़कों को दीवार में चिनवा दिया था। इस विषय में मुसलमान लेखक भ्रामक मत ही उपस्थित करते हैं। मियां लतीफ का कथन है "गुरु के दोनों छोटे पुत्रों का समस्त आरोप सिख लेखक सरहिन्द के गवर्नर वज़ीर खाँ के मत्थे मढ़ते हैं। परंतु वे जानबूझ कर इस बात को नहीं मानते कि इस अपराध को उभाड़ने वाला कुलजस नामक एक ब्राह्मण था। उसे गोविंदसिंह के विरुद्ध व्यक्तिगत असंतोष था। मतान्तर के स्थानों पर मुसलमान लेखकों का मत लिया जा सकता है। क्योंकि सिख इतिहासकारों ने जो कुछ कहा है उस पर आधारित रहना संशय से रहित नहीं है।"[२] कहना न होगा कि लतीफ साहब ने इस कुकृत्य का आरोप उस वजीरखां से हटाकर कुलजस ब्राह्मण पर रखना चाहा है।

इस समय गुरु गोविंदसिंह अपना सब कुछ खोकर भी शाही फौजों से किसी-न-किसी रूप में टक्कर लेते ही रहे। औरंगजेब इस समय दक्षिण में युद्धों में व्यस्त था। वह काफी वृद्ध हो चुका था। वह अपने अंतिम दिन गिन रहा था। उसने कई पत्र लिखकर गुरु गोविंदसिंह को दरबार में उपस्थित होने के लिए अनुरोध किया। गुरु गोविंदसिंह ने उसकी बातों का कभी विश्वास नहीं किया। कनिंघम का यह मत गलत है कि "सिख लेखकों का इसमें मतैक्य प्रतीत होता है कि उनके महान गुरु को दक्षिण में एक सैनिक पद प्राप्त हो गया था।"[३] ट्रंप ने इस बात का खंडन किया है। उसने इस बात को माना है कि गुरु गोविंदसिंह ने मुगलसेना में कोई पद स्वीकार नहीं किया।[४]

१. सिख रिलीजन; भाग ५, पृ० १२८; मेकालिफ।
२. हिस्ट्री आफ़ पंजाब; पृ० २६८; लतीफ।
३. हिस्ट्री आफ़ दी सिक्खस्; पृ० ११६, टिप्पणी, कनिंघम।
४. वही; पृ० ११८।

बहादुरशाह के साथ—औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए युद्ध छिड़ गया। अंत को बहादुरशाह विजयी हुआ। इसकी सूचना उसने गुरु गोविंदसिंह को भी दी। इनकी मित्रता और आशीर्वाद के लिए अनुरोध करते हुए उसने इन्हें आगरा आने के लिए भी लिखा। गुरु गोविंदसिंह दिल्ली होते हुए आगरा पहुँचे। दोनों सौहार्द पूर्वक एक दूसरे से मिले। वहाँ से ये बादशाह के साथ जयपुर, चित्तौड़, बुरहानपुर आदि गए। इनके सौहार्दभाव में कहीं पर भी अंतर नहीं आया। जिस समय बहादुरशाह राजपूताने में था उस समय गुरु गोविंदसिंह गोदावरी तट पर नादेड़ चले गए। वहाँ के निवासियों से इनका परिचय हुआ। ऐसे ही लोगों में एक बैरागी साधु भी था। इनसे प्रभावित होने के कारण उसने इनकी शिष्यता भी स्वीकार कर ली। उसका नाम माधवदास था। वह खालसा पंथ का एक प्रमुख सदस्य बन गया। बाद को जाकर वही बीर बंदा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पंजाब में जाकर उसने विदेशियों के कुकृत्यों का पूरा-पूरा बदला लिया।

अंतिम समय—दक्षिण में गुरु गोविंदसिंह सं० १७६५ को पहुँचे थे। बहादुरशाह की सेना में इन्होंने कोई पद स्वीकार नहीं किया था। जैसा कि कनिंघम का कथन है कि "बहादुरशाह ने गोविंद को अपने शिविर में बुलाया। गुरु वहाँ गए। उनका आदर कर वहाँ उसने उन्हें एक सैनिक पद दिया।" मेकालिफ का मत है कि इनके धार्मिक उपदेशों से चिढ़कर एक पठान ने इनके पेट में कटार भोंक दी।[1] सिख इतिहासकारों के अनुसार पैंदाखां (जिसे गुरु हरगोविंद ने युद्ध में मारा था) के वंशज एक पठान गुलखां ने अवसर प्राप्तकर एक दिन सोते हुए गुरु गोविंदसिंह के पेट में कटार चुभो दी। बहादुरशाह ने जब यह सुना तो उसने अत्यंत होशियार वैद्य और जर्राह इनकी सेवा में भेजे। उन्होंने घाव भरकर सी दिया। उस पठान को गुरु गोविंदसिंह ने क्षमा कर दिया। परंतु जब वे एक बड़े धनुष की प्रत्यंचा खींच रहे थे तो घाव का टांका टूट गया। उनका घाव बह निकला। यह घटना प्राण घातक ही सिद्ध हुई। अंत समय निकट समझ कर वे वीरवेष में सुसज्जित हुए। कंधे पर धनुष रखा और हाथ में बंदूक ले ली। गुरु ग्रंथ साहिब को खोलकर सामने रखा। पाँच पैसे और एक नारियल रख उसे सिर झुकाया और गुरु ग्रंथ साहिब को अपने उत्तराधिकारी के रूप में छोड़कर चल बसे।

गुरु ग्रंथ साहिब—युद्धकाल में ही वे अपने अनुयायियों को छोड़कर दक्षिण की ओर बढ़ रहे थे। ये उस समय दमदमा नामक स्थान में ठहरे। गुरु अर्जुनदेव ने सर्व-प्रथम समस्त गुरुओं की रचनाओं को एकत्रित कर गुरु ग्रंथ साहिब की रचना की थी। सिर्फ़ इसमें संतमत ही की स्वतन्त्र विचारधारा की रचनाओं को स्थान दिया गया

---

१. सिख रिलीजन; भा० ६१, पृ० २४१; मेकालिफ।

था।[1] यह ग्रंथ इस समय कर्त्तारपुर के सोढ़ी खत्री धीरमल के पास था। गुरु गोविंदसिंह ने गुरु तेगबहादुर तथा अन्य भक्तों की वाणियों के समावेश के लिये यह ग्रंथ मँगवाया। धीरमल ने ग्रंथ नहीं दिया। कई बार झगड़ा करने के बाद उसने देने से साफ़ इनकार कर दिया और कहला भेजा कि "अगर तुम गुरु हो तो तुमको सारा ग्रंथ कंठस्थ होना चाहिये। इस ग्रंथ की तुम्हें क्या आवश्यकता ?" यह ताना सुनकर गुरु गोविन्दसिंह कुछ न बोले। सं० १६६२ में जब उन्हें अवकाश मिला तो अश्विन वदी १ को ग्रंथ साहिब की वाणियों को इन्होंने लिखवाना शुरू किया। इन्हें सारा ग्रंथ साहिब कंठस्थ था। भाई मनीसिंह को बैठाकर उससे गुरु ग्रंथ साहिब का पूरा पाठ इन्होंने लिखवाया। अपनी रचनाओं में से केवल एक ही श्लोक को इन्होंने गुरु ग्रंथ साहिब में स्थान दिया। इससे पहले ग्रंथ साहिब के दो संस्करण गुरु अर्जुनदेव द्वारा और भाई बन्नो द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके थे। किन्तु दोनों ही अधूरे थे। भाई मनीसिंह वाला संस्करण उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि अहमदशाह अब्दाली ने उसे नष्ट कर दिया था। इन्होंने उसकी कई नकलें बनवाकर विभिन्न स्थानों को भिजवाई। उनमें कहीं एक मात्रा का भी अंतर नहीं आने दिया गया। यह ग्रंथ ६ माह ६ दिन में लिखा गया। सिर्फ़ कबीर की वाणी का एक शब्द में उन्होंने फेरफार किया है। पहले उसमें "कहैं कबीर जन भए खुलासे" था गुरु गोविन्दसिंह ने "कहैं कबीर जन भए खालसे" कर दिया। यह ग्रंथ "दमदमे वाली बीड़" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रचनाएँ—गुरु गोविंदसिंह की समस्त रचनाएँ "दशम पातसाह का ग्रन्थ" में संग्रहीत हैं। अपनी अधिकतर साहित्य रचना इन्होंने ३३ वर्ष की अवस्था तक ही कर डाली थी। जिस समय ये पहाड़ियों में रहकर अपनी शक्ति का विकास कर रहे थे उस समय इन्होंने अपनी एवं अपने दरबारी कवियों की रचनाओं को एकत्रित करवाया। बाकी इनका सारा समय तो युद्धों में ही बीता। आनन्दपुर छोड़ते समय इनका बहुत-सा साहित्य विनष्ट हो गया था। गुरु ग्रन्थ साहिब में इनका यह श्लोक माना जाता है।

बल होवा बन्धन छुटे तब किछु होत उपाइ।
नानक सब किछु तुमरे हाथ में तुमही होत सहाइ।

उपरोक्त दोहा गुरु तेगबहादुर के निम्नलिखित दोहे का प्रत्युत्तर था। जब गुरु तेगबहादुर औरंगजेब की क़ैद में थे उस समय उन्होंने लिख भेजा—

---

१. वेणीप्रसाद ने लिखा है कि "गुरु महाराजों के अलावा इसमें (गुरु ग्रन्थ साहब में) कबीर, दादू, सूर, तुलसी सब ही अच्छे-अच्छे महात्माओं की उचित और उपदेशावली है"; वेणीप्रसाद; गुरु गोविंदसिंह; पृष्ठ ४६। वेणीप्रसाद का उक्त कथन गलत है। ग्रन्थ साहिब में केवल निर्गुण संतों की ही वाणी है। तुलसी की वाणी ग्रन्थ साहिब में नहीं है। सूर का एक पद आदि ग्रंथ में है किन्तु ये सूर भी कृष्ण काव्य के प्रसिद्ध सूर नहीं हैं।

बल छुटकिऊ बंधन परे, कछु न होत उपाइ ।
कहु नानक अब उट में, हरिराजि जिऊ होहु सहाई ।

उनकी रचनाओं को निम्नलिखित श्रेणियों में रखा जा सकता है ।

१. विशुद्ध भक्ति पूर्ण—जाप, अकाल स्तुति, स्फुट पद ।

२. वीररस पूर्ण—चंडी चरित्र, (प्रथम एवं द्वितीय) विचित्र नाटक, (आत्म-चरित्र) शस्त्र-नाममाला, रामावतार, कृष्णावतार तथा अन्य अवतारों की कथा ।

३. ऐतिहासिक तथा अनुवाद—ज्ञान प्रबोध, गोविंदगीता, प्रेम सुमार्ग आदि ।

४. नीति पूर्ण—त्रिया चरित्र ।

५. पत्रात्मक—जफर नामा ।

उपरोक्त रचनाओं में से ज्ञान प्रबोध, गोविंदगीता, प्रेम सुमार्ग आदि रचनाएँ विवादास्पद हैं । इसे गुरु गोविंदसिंह ने लिखा है या नहीं यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता । ये रचनाएँ प्रमाणित नहीं हो सकीं हैं कि वस्तुतः उनकी ही हैं या उनके दरबारी कवियों की हैं ।

गुरु गोविंदसिंह मूलतः एक धार्मिक संत परंपरा के उत्तराधिकारी थे । परिस्थितियों के कारण उन्हें लोकनायक का स्वरूप भी धारण करना पड़ा । उनके व्यक्तित्व में एक योद्धा, संत एवं एक कवि का समन्वय था । लौकिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय होने के कारण उनकी रचनाओं में वीररस का परिपाक भी बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है । यदि कहा जाए कि गुरु गोविंदसिंह पंजाबी के न होकर हिन्दी के ही कवि थे तो भी कोई अत्युक्ति न होगी । उनकी प्रतिष्ठा एक वीर कवि के रूप में अधिक है।

जाप साहिब—यह इनकी एक श्रेष्ठतम रचना है । इसमें आध्यात्मिक और भक्ति संबंधी विचार ही हैं । निराकार ईश्वर की स्तुति में लिखे गए पद ही जाप के नाम से प्रसिद्ध है । गुरु ग्रंथ साहिब का प्रारंभ जैसे जपुजी साहिब से होता है वैसे ही दशम ग्रंथ का प्रारंभ जाप साहिब से होता है । इसमें कुल १९९ पद हैं । इसमें ईश्वर को विभिन्न नामों से संयोजित किया गया है । ओजपूर्ण भाषा में ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कर उसकी मूलभूत एकता का प्रतिपादन किया है । छन्दों का क्रम वंदना के साथ ही परिवर्तित होता जाता है । छप्पै, भुजंगप्रयात, चांचरी, चरपट, रुयाल, हरि बोल, मना आदि विभिन्न छंदों में एक तरुण भक्त योद्धा ने ईश्वर के चरणों में आत्मनिवेदन प्रस्तुत किया है । प्रथम पद में ही ईश्वर के कई नामों का प्रयोग देखिए—

चक्र चिहन अरु बरन जाति अरु पाति नहिन जिहि ।
रूप रंग अरु रेख भेख कोऊ कहि न सकति किह ।
अचल मूरति अनुभव प्रकास अभिजोति कहिजै ।
कोटि चंद्र इंद्राण साह साहाणि गणिजै ।

त्रिभवन महीप सुर नर असुर, नेत-नेत बन त्रिण कहत।
भव सरब नाम कथै कवन करम बरनत नाम सुमति।

अकाल स्तुति—नाम से ही स्पष्ट हो जाता है यह अकाल की स्तुति है। जाप के समान ही इसमें ईश्वर की स्तुति में कहे गए पद हैं। जाप की अपेक्षा इस रचना का विषय एवं वर्णन विस्तृत है। दार्शनिक विचारों के साथ-ही-साथ सामाजिक कुरीतियों और ईश्वर के नाम पर चलने वाले पाखंडों का वर्णन भी इधर-उधर मिलता है। इसमें कुल २७१ पद हैं। कवित्त, चौपाई, सवैया, तोमर, लघुनिराज, भुजंगप्रयात, त्रिभंगी आदि अनेक छंदों का समस्त रचनों में प्रयोग हुआ है। इस कृति की भाषा ओजमयी है। ओज के साथ ही उसमें परिमार्जन और प्रवाह है। स्तुति का आरंभ वे ओम् के स्मरण से ही करते हैं—

प्रणवो आदि एककारा।
जलथलमहियल कियो पसारा।
आदि पुरख अविगत अविनासी।
लोक चतुर्दस जोति प्रकासी।

ईश्वर की विभिन्न रूपों में स्तुति करने के बाद अकाल स्तुति का कवि पाखण्डों का त्याग कर विशुद्ध हृदय से ईश्वर के प्रेम में निमग्न होने के लिए कहता है—

तीरथ महान दया तपु दान सु।
संजम नेम अनेक विसेखे।
बेद पुरान कतेब कुरान।
जमीन जमान सबान के पेखे।
पउन अहार जती जत धार।
सबै सुविचार हजारक देखे।
श्री भगवान भजे बिन भूपति।
एक रती बिन एक न लेखे।

विचित्र नाटक—गुरु गोविंदसिंह की यह रचना सर्वाधिक लोकप्रिय कही जाएगी। इसमें १४ अध्याय और ४७१ पद हैं। इसमें उन्होंने अपने विगत जीवन के बारे में लिखा है इसलिए यदि इसे गुरु गोविंदसिंह का आत्म-चरित भी कहा जाए तो अयुक्ति न होगी। उनके वंश का इतिहास, जन्म के पूर्व की कथा, अपने इस जन्म धारण का उद्देश्य और पहाड़ी राजाओं और मुगल सेनाओं से लिए गए कुछ युद्धों का वर्णन इसमें है।

प्रथम अध्याय में १०१ पद ब्रह्म के रौद्ररूप श्री काल की स्तुति में लिखे गए हैं। पहले दोहे में ही ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए खड़ग को नमस्कार किया गया है। खड़ग को वे दुर्गा का प्रगट रूप समझा करते थे—

नमस्कार श्री खंग कऊ, करो सु हितु चितु लाइ ।
पूरन करो ग्रंथ इहि तुम मुहि करो सहाय ।

खड़ग की स्तुति में लिखा गया यह एक अन्य त्रिभंगी छंद है। इसमें वीर रस का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन हुआ है—

खग खण्ड विहंडम् खल दल खण्डं ।
अति रण मंडं, बवडं बरबंडं ।
भुज दंड अखंड तेज प्रचंड ।
जोति अमडं भानु प्रभं ।
सुख सन्ता करणं दुरमति दरणं ।
किल विख हरणं अति सरणं ।
जय जय जग कारण सृष्टि उबारन ।
मम प्रतिपारण जय तेगं ।

आगे वे महाकाल की वंदना करते हैं—

नमो देव देवं नमो खंग धारं ।
सदा एक रूपं सदा निरविकारं ।

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में उन्होंने अपने वंश का वर्णन किया है। सूर्यवंश की उत्पत्ति, उसमें उत्पन्न राजाओं की वंशावली, जिस प्रकार पंजाब में राम के पुत्रों ने लाहौर, कसूर आदि बसाए, उनकी संतानों में बाद में युद्ध हुआ। कुश की संतान काशी विद्याध्ययन करने गई और कालांतर वेदी कहलाई। लव की संतान सोढ़ी कहलाई। वेदी कुल में गुरु नानक और सोढ़ी कुल में गुरु गोविन्दसिंह का जन्म हुआ। पांचवें अध्याय में अपने जन्म से पूर्व के नौ गुरुओं की कथा है। गुरु तेगबहादुर के बलिदान का इतिहास है। छठवें अध्याय में अपने जन्म से पूर्व की कथा का उल्लेख किया है। उस अकाल ध्वनि की ओर संकेत किया है जो संसार में धर्म को अधर्म से बचाने आया है। सप्तम अध्याय में अपने जन्म की कथा है। नवम्, दशम्, एकादश और त्रयोदश अध्यायों में पहाड़ी राजाओं तथा मुगल सेनाओं से युद्धों का वर्णन है। अंतिम अध्याय में उपसंहार और चंडी चरित्र के प्रारम्भ के बारे में उल्लेख है।

विचित्र नाटक में इतिवृत्तात्मकता और भावत्मता का अच्छा समन्वय है। इस रचना में वीररस का प्रतिपादन इन्होंने बहुत ही ओजस्वनी वाणी में किया है। यह रचना उनकी प्रखर कल्पनाशक्ति, रस व्यंजना एवं अलंकार योजना का एक अत्यंत सुन्दर, उत्कृष्ट उदाहरण है। विचित्र नाटक निःसंदेह उनकी सर्वोत्तम रचना में से एक है।

चंडीचरित्र—(प्रथम एवं द्वितीय) संस्कृत में उपलब्ध चंडीचरित्रों के आधार पर इस चंडी चरित्र की रचना की गई है। चंडीचरित्र जैसी रचनाएँ लिखकर गुरु गोविंदसिंह दलित प्रजा वर्ग को अत्याचारी शासकों के अत्याचारों के प्रति सजग करना चाहते थे। जनता को उत्साहित करने के लिए पुरानी वैभव पूर्ण घटनाओं की पुनरा-

वृत्ति आवश्यक थी। पंजाबी भाषा में लिखी गई यह "चंडी दी वार" पंजाबी साहित्य के वीर रस की एक अनमोल कृति है।

इसके प्रथम भाग की कथा मार्कण्डेय पुराण में वर्णित दुर्गा की कथा है। आठ अध्यायों से पूर्ण इसमें २३३ पद हैं। संपूर्ण रचना उस कवि ने लिखी है जिसने दुष्टों और अत्याचारियों के दमन के लिए संकल्प किया था। ग्रंथ के अन्त में वे अपनी अभिलाषा इस प्रकार प्रगट करते हैं—

देह शिवा वर मोहि इहै।
शुभ करमन ते कबहुँ न टरौं।
न डरौं जब अरि से जाय लरौं।
निसचै करि अपनी जीत करौं।
अरु सिख हौं अपने मन को इह।
लालच उक्रगन तउ उचरौं।
जब आवकी अउध निदान बने।
अति ही रण में तब जूझ मरौं।

चंडीचरित्र के द्वितीय अध्याय की कथा भागवत में वर्णित देवी की कथा के आधार पर है। आठ अध्यायों में समाप्त होकर इसमें २६२ पद हैं। महिषासुर ने जब इंद्र पर विजय प्राप्त कर ली थी उस घटना का वर्णन पहले अध्याय में है। तीनों लोकों में उसका अधिकार हो गया था। भय से आतंकित हो सब देवता कैलाश में जा बसे थे। वस्त्रों का त्यागकर उन्होंने भगवे वस्त्र धारण कर लिये थे। उनके ही शब्दों में—

महिख दैत सूरयं। बढ़ियो सु लोह पूरयं॥
सो देवराज जीतयं। त्रिलोक राज कीतयं॥१॥
भजे सु देवता सबै। इकत्र होइकै सभै॥
महेसरांचल बसे। बिसेख चित्त मो त्रसे॥२॥
जुगस भेस धारिकै। भजे हथियार डारिकै॥
पुकार आरत चले। बिसर सूरमा भले॥३॥

समस्त काव्य में देवी और दानवों का वीररस और ओजपूर्ण वाणी में युद्धों का वर्णन मिलता है। नवीन उपमाओं उत्प्रेक्षाओं, और रूपकों की योजना कई स्थानों पर अत्यंत मनोरम बनी पड़ी है। निम्न पद में रूपक की छटा देखने योग्य है—

कोप के चंड प्रचंड चढ़ो इत।
क्रुद्ध के धूम चढ़ो उत सैनो।
धाम कृपानन मार भयो तब।
बेयो लगो बरछी कर पैनो।
बीर हनो अरि के मुख पै।
फटि ओठ दिये जिमि सोहे की छैनो।

देत गंगा जमना तन स्याम सों ।
सोहू बह्यो जिहि भांति त्रिवेनी ।

ज्ञान प्रबोध—इस रचना में ३३६ पद हैं इसका आधार महाभारत के उत्तरार्ध की कथा है । इसमें भक्ति, नीति, दर्शन और इतिहास का अपूर्व सम्बन्ध है । प्रथम १२५ पदों में ब्रह्म का एवं उसके अनेक रूपों का वर्णन है । फिर उसकी आराधना की गई है । इसके पश्चात् युधिष्ठिर के राज्य, उनके धर्मशासन, राजसूय यज्ञ आदि का वर्णन है । उसको प्रारम्भ इस प्रकार है—

नमो नाथ पूरे सदा सिद्ध करमं ।
अछेदी अभेदी सदा एक करमं ।
कलंकं बिना निहलंकी सरूपे ।
अछेदं अभेदं अखेदं अनूपे ।

चौबीस अवतार—इस कृति को कोई लेखक गुरु गोविंदसिंह के किसी दरबारी कवि की रचना मानते हैं । इसमें विष्णु के अवतारों का ही वर्णन है । मुख्य अवतार राम और कृष्ण के ही चरित्रों का वर्णन इसमें मिलता है । इसमें रामावतार संबंधी ८६४ और कृष्णावतार संबंधी २४९ पद हैं । रामावतार का प्रकाशन गोविंद रामायण के नाम से बनारस से हुआ है । यह रचना रामकाव्य में नवीन शृंखला के रूप में योगदान दे सकती है । रामकाव्य होते हुए भी कवि का लक्ष्य राम के वीर रूप की ओर अधिक रहा है । कवि की प्रतिभा युद्धों के अवसर पाकर काव्य में निखर उठती है । ऐसे अवसरों पर उनकी प्रतिभा को देखकर कहना पड़ता है कि वे वीररस के बहुत ही ऊंचे कवि थे ।

तुलसी के राम के समान ही गोविंद के राम भी सर्वज्ञ और अनंत हैं । उन्होंने राम को दैवी पुरुष मानकर जनसाधारण से दूर नहीं किया । राम का चरित्र लोक-नायक के रूप में चित्रित करके उसे अस्वाभाविक नहीं बनने दिया । सीता के नारीत्व का दिग्दर्शन भी सुन्दर ढंग से हुआ है । उनका रावण भी तुलसी और वाल्मीकि के रावण से भिन्न है । गोविंद रामायण का प्रारंभ इस प्रकार है—

अब मैं कहों राम अवतारा । जैस जगत मों किया पसारा ।।
बहुतकाल बीतत भयो जबै । असुरन बंश प्रगट भयो तबै ।।
असुर लोक बहु करें बिवादा । किन्हुं न तिन्हें तनिक में साधा ।।
सकल देव इकठे तब भये । छीर सिंधु जहं बह तहं गए ।।
बहु चिर बसत तहां चिर ठामा । विष्णु सहित ब्रह्मा जिहि नामा ।।
बार-बार ही दुखित पुकारत । कान परी कल सी धुनि आरत ।।

रीतिकाल में नायिकाओं का ही नखशिख वर्णन हुआ है । गुरु गोविंदसिंह राम की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "राम के कपोलों पर भृंग गुंजन कर रहे हैं । काले केश गालों पर लटक रहे हैं । प्रतीत होता है सांप के छोटे-छोटे बच्चे

लवंगलता के समान लिपटे हैं। राम की जंघा देखकर केला, आंखें देखकर हिरण, मुख देखकर चंद्रमा और कमर देखकर शेर तथा वाणी सुनकर कोयल मन में लज्जित हो रही है। राम की छवि ऐसी थी कि शिशु भी पालने में पड़े रहना नहीं चाहते थे और राहगीर राह नहीं चल सकते थे।[१] लंका के युद्ध क्षेत्र का वर्णन देखिए "एक-एक वीर दूसरे से उलझ रहे हैं। यदि एक वीर दूसरे को क्रोध से ताक रहा है और तो दूसरा योद्धा किसी दूसरे को खींचने में लगा हुआ है। कोई योद्धा दूसरे को वहां से उठाकर ले जा रहे हैं। कुछ योद्धा वाणों की वर्षा कर रहे हैं। कुछ क्रोध में धनुष चढ़ा रहे हैं। कुछ युद्धभूमि में तड़प रहे हैं। उनकी मृत्यु भी हो चुकी है। एक सामंत दूसरे से भिड़ रहा था, तो एक दूसरे से बिछुड़ रहा था। एक-एक वीर अनेक शस्त्रधारियों से भिड़ रहा था, कोई अडिग रहता और कोई गिर रहा था।

स्फुट सवैये और पद—उनके स्फुट पदों एवं सवैयों की संख्या एक सौ है। इनके व्यक्तित्व का दर्शन कराने के लिए ये सवैये काफी हैं। गुरु गोविंदसिंह एक कवि की हैसियत से वीर रस के ही श्रेष्ठ कवि थे। सत्रहवीं सदी में जब हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल में वीरगाथा युग की परंपरा का पुनरुत्थान हम केवल भूषण और लाल के रूप में पाते हैं उस समय उनमें सबसे ऊँचा स्थान गुरु गोविंदसिंह का है। वे राज कवि नहीं थे बल्कि स्वयं राजा और कवि थे। उनकी वीररसात्मक कविता केवल कल्पना का ही आधार लेकर नहीं चली। उनमें अनुभूति थी। उनके पिता का बलिदान हो गया था। माता शहीद हो गई थीं। चारों पुत्र आंखों के सामने मारे गए। ऐसे व्यक्ति की वीररसात्मक चेतना यदि अपने चरम विकास पर पहुँचकर निखर उठती है तो उसमें आश्चर्य ही क्या? उन्होंने औरंगजेब के सामने कभी सिर नहीं झुकाया। सैनिकों की संख्या अत्यंत न्यून होने पर भी उनका कवि कहता है "सवा लाख से एक लड़ाऊं तभी गोविंदसिंह नाम कहाऊं।" चारों लड़कों की मृत्यु पर वे कह उठते हैं—

इस भारत के शीश पर चारों दीन्हे वार।
चार मुए तो क्या हुआ जब जीवित कई हजार॥

क्या वीररस के पूर्ण परिपाक के लिए इससे भी अधिक किसी अन्य प्रकार की रचना की आवश्यकता है?

गुरु गोविंदसिंह की पंजाबी कविता—गुरु गोविंदसिंह ने केवल चंडी दी वार में संग्रहीत कविताएँ पंजाबी भाषा में लिखी हैं। उसमें भी वे हिन्दी के शब्दों से अपना पीछा नहीं छुड़ा सके। सिरखंडी छंद में दुर्गा और दैत्यों का युद्ध वर्णित है।

१. गुंजत भृंग कपोलन ऊपर, नाग लवंग रहे लव लाई।
कंज कुरंग कलानिधि केहरि, कोकिल, हेर हिये ठहराई।
बाल लखे छवि खाट परे नहि, बाट चले निरखे अधिकाई।

इस रचना का प्रधान रस वीर है। उनकी यह रचना वीररस की एक अनमोल कृति है। यथा—

जंग मुसाफ़ा बज्जिआ, रण घूरे नगारे चावले।
झूलन नेजे बैरकां, नीसाण लसण लसावणे।
ढोल नगारे पवन दे, उंघण जाण जटावले।
दुरगा दानो गए रण, नाद वज्जण खेत भीम्रावले।
वीर परोते बरछिएं, जण डाल चूमते म्रावले।

चंडी दी वार में भयानक और वीररस का अद्भुत-समन्वय पाया जाता है। बीच में कहीं-कहीं हास्य रस की भी सफल योजना हुई है। पंजाबी भाषा में ऊपरोक्त छंद में वीररस में चंडी दी वार पहली रचना है। उपरोक्त छंद का प्रयोग गुरु नानक ने राग सारंग में किया है। गुरु नानक ने शांतरस का प्रयोग किया है जबकि गुरु गोविंदसिंह ने अधिकतर वीररस का प्रयोग किया है। गुरु नानक के कवि की अपेक्षा गुरु गोविंदसिंह का कवि उपरोक्त छंद का सफल प्रयोगकर्ता है। चंडी दी वार में कई स्थानों पर शब्दचित्रों की सुन्दर योजना हुई है। इसके अतिरिक्त प्रेम और विरह को साधन बनाकर उनका कवि आध्यात्मिकता की ओर भी निकल गया है। इस रचना में गीतात्मकता के भी कुछ उत्कृष्ट नमूने देखने को मिलते हैं। उन्होंने ठेठ माझी पंजाबी का प्रयोग किया है। अपने जीवनकाल में गुरु गोविंदसिंह माझे में कभी नहीं गए किन्तु फिर भी उन्होंने ठेठ माझी का ही प्रयोग किया है। उनके दरबार में ५२ कवि थे।

कलापक्ष—गुरु गोविंदसिंह के काव्य का भावपक्ष जितना उठा हुआ है उतना ही उनका कलापक्ष भी उठा है। पूर्ववर्ती गुरुओं से उनमें कलात्मकता अधिक है। साहित्य रचना के अतिरिक्त उन्हें साहित्य-शास्त्र का भी पूरा-पूरा ज्ञान था। अपने पांच शिष्यों को उन्होंने संस्कृत का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए काशी भेजा था। हिन्दी साहित्य में वह युग रीतिकाल का था। उस समय हिन्दी कविता अपनी प्राणप्रतिष्ठा खोकर कलात्मकता के कृत्रिम घेरे में पूरी तरह चक्कर लगा रही थी। कविता के नाम पर अलंकार और छंदों का जमाव मात्र हो रहा था। अलंकार और पिंगल के पीछे पड़कर कवियों ने कविता की दुर्गति कर रखी थी। ऐसे समय में गुरु गोविंदसिंह की कविता में चमत्कार और सूक्ति प्रयोग अवश्य हुए हैं परन्तु उनका कवि अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग नहीं कर रहा था। वह कला और साहित्य के प्रति होने वाले अपने कर्तव्यों को जानता था। कलात्मकता का उनकी प्रतिभा साध्य नहीं बल्कि साधन के रूप में प्रयोग करना जानती थी।

भाषा—हिन्दी और पंजाबी के अतिरिक्त गुरु गोविंदसिंह फारसी, अरबी और संस्कृत के भी जानकार थे। हिन्दी के अतिरिक्त उन्होंने फारसी और पंजाबी भाषा में भी कविता लिखी है। पंजाबी भाषा के संबंध में तो हम ऊपर ही लिख आए हैं

कि कविता में उन्होंने शुद्ध भाषा का ही प्रयोग किया है।

फारसी भाषा में उन्होंने जफरनामा की रचना की है। औरंगजेब को उन्होंने उसके अत्याचारों के विषय में जो लिखा है वह सब जफरनामा में सुरक्षित है। जफरनामा में उन्होंने औरंगजेब को उसके द्वारा किए जाने वाले अमानुषिक अत्याचारों के प्रति सजग किया था। फारसी कविता का उदाहरण देखिए—

कसे कौल कुरआं मुनब एतबार।
हमा रोजि आखिर शवद मरद ख्वार।[1]

उनकी कविता में शुद्ध ब्रजभाषा के भी प्रयोग पाए जाते हैं। राजस्थानी के अतिरिक्त खड़ी बोली के भी सफल प्रयोग उनकी भाषा में मिलते हैं यथा—

सवा लाख से एक लड़ाऊं, तभी गोविंदसिंघ नाम कहाऊं।

रचना में उन्होंने चौबोला छंद का व्यवहार किया है। ऐसे छंद में एक साथ उन्होंने चार भाषाओं का प्रयोग किया है। निम्न रूप में फारसी, ब्रज और खड़ीबोली का विवरण देखिए—

रंगे रंग राते मयंमस्त माते मकाबूल गुलाब के फूल सोहैं।
नरागोस ने देख कें नाक ऐंठा मृगोराज को देखते मान मोहैं।
शबो रोज शराब ने शोर लाया प्रजा आम जाहान के पेखवारे।
भँवें तान कामान की भांति प्यारी निकामान हो नैन के बाण मारे।

ब्रज, पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रण देखिए—

धाए महावीर साधे सितं तीर काछे रणं चीर बाना सुहाए।
खां कर्द अरकब यलो तेज हम शब धुं तुंद अजदहो उम्मिआ जंगाहे।
भिड़े धाए उहां बुले बैन कोहां करे छाह जीहां भिड़े भेड़ भज्जे।
पियो पोसताने भछो राबड़ी ने कहा छै धनोरे घनो ने निहारे।

ब्रज, पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रण—

गाजे महाशूर घुम्मी रणं हूर भरमो नमं पूर वेखं अनूपं।
चले बल्ल साईं जिवों जुग्गं ताईं तेंडे घोली जाईं अलावीतं।
लगो लार वाने वरो राज माने कहो और काने हठी छांड़ि येसे।
वरो आन मोको भजों आन तोकों चलो देव लोकों तजों वेगि लंका।

उनकी रचनाओं में पूरे नौ रसों के प्रयोग मिलते हैं। परन्तु वास्तव में गुरु गोविंदसिंह वीर रस के ही सफल कवि हैं। उनका क्षेत्र युद्ध ही था। वीर कवि के रूप में तो सत्रहवीं सदी में हिन्दी के वे सर्वश्रेष्ठ वीर कवि ही कहे जाएंगे।

हिन्दी साहित्य में उनका स्थान—हिन्दी साहित्य में गुरु गोविंदसिंह की वीर-रसात्मक रचनाओं का सही-सही मूल्यांकन नहीं हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण तो

---

१. जफरनामा; पृ० १४, अवतारसिंह।

यह रहा है कि उनकी रचनाएँ देवनागरी लिपि में उपलब्ध न होकर फ़ारसी और गुरुमुखी लिपियों में है। हिन्दी के इतिहासकार गुरु गोविंदसिंह की दो एक रचनाओं के नाम गिनाकर ही छुट्टी कर लेते हैं। उसमें सिर्फ किन्हीं दो एक विशेषताओं का ही वे उल्लेख कर देते हैं। उनकी रचनाओं में अन्य सिख गुरुओं की अपेक्षा अधिक साहित्यिक सौष्ठव है। भूषण और लाल की अपनी विशेषता है। किन्तु गुरु गोविंद का कवि भूषण और लाल की परम्परा से भी आगे बढ़ा हुआ है। वे स्वयं राजा थे और स्वयं ही कवि। हिन्दी में वीर साहित्य पर ऐसे भी शोध कार्य हुए हैं जिनके शोधकर्ताओं को शायद गुरु गोविंदसिंह के नाम तक का पता नहीं है। उनके बहुत-से ग्रंथों का अभी ठीक-ठीक अध्ययन हुआ ही नहीं है।

गुरु गोविंदसिंह और उनके युद्ध—कई पश्चिमीय विद्वानों ने गुरु गोविंदसिंह पर इस बात का आरोप लगाया है कि उन्होंने तलवार पकड़कर अपने से पूर्ववर्ती चली आती हुई गुरुओं की आध्यात्मिक परम्परा को समाप्त कर दिया। यह आरोप लगाने से पूर्व यदि उस समय की तत्कालीन परिस्थितियों को देख लिया जाए तो यह आरोप भ्रामक ही सिद्ध होगा। पहली बात तो यह है कि गुरु गोविंदसिंह पहले एक भक्त और संत थे और बाद को एक कवि और योद्धा। जापजी साहिब और अकालस्तुति आदि उनकी रचनाएँ आध्यात्मिकता से भरी हुई हैं। उन्होंने किसी व्यक्तिगत लोभ या राज्य स्थापन के लिए तो तलवार नहीं उठाई थी।

इतिहास साक्षी है कि मुगल बादशाहों की उदारता अपना दम तोड़कर हिंसा, अत्याचार और प्रताड़ना को स्थान दे गई। अकबर की उदारता इतिहास की वस्तु बन चुकी थी। वहाँ था औरंगजेब का शासन। उसके राज्य में क्रूरता, भ्रष्टाचार और मक्कारी खुलकर खेल रहे थे। आर्य-संस्कृति और आर्य-संस्कारों को अंतर्वेद से विदेशियों ने हटा ही दिया था। ऐसे समय में उनके आगे एक बहुत ही भारी सवाल था। वे तलवार पकड़ें या अहिंसा और क्षमा के नाम पर बकरी और कुत्तों की तरह मरते जाएँ। उन्होंने असम्मान और अप्रतिष्ठित जीवन की अपेक्षा सम्मान और प्रतिष्ठा पूर्ण मृत्यु को लाख दर्जे अच्छा समझा। औरंगजेब को उन्होंने लिखा था कि विवश होकर ही उनको तलवार पकड़नी पड़ी है। गुरु गोविंदसिंह ने तलवार अपने और अपने पुरातन आदर्शों के बचाव के लिए उठाई। वे लड़ाई नहीं चाहते थे। आत्मरक्षा के ही लिए उन्होंने सेना का सहारा लिया। पश्चिमीय लेखक विशेष कर अंग्रेज भला इस बात को कैसे समझते कि भारत किसका था ? इसके निवासी कौन थे ? सत्तावन और ब्यालिस के आंदोलनों को भी गदर का नाम देने वाले यह कैसे समझें कि गुरु गोविंदसिंह के युद्धों का भारतीय दृष्टिकोण से क्या महत्त्व था ?

गुरु गोविंदसिंह और इस्लाम—गुरु गोविंदसिंह की लड़ाई इस्लाम से नहीं बल्कि विदेशी आक्रमणकारियों से थी। उनके अत्याचारों के खिलाफ थी। इस बात को समझने की भूल मुसलमान लेखकों ने की है। मुगलकालीन इतिहासकारों को एक

बार छोड़ दिया जा सकता है क्योंकि स्वयं वे मुसलमानी शासन में ही इतिहास लिखते थे। बादशाहों का नमक खाते थे इसलिए स्वाभाविक था कि बादशाहों ने जो कुछ भी किया उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन ये मुगलकालीन इतिहासकार नहीं लगा सके। वे अपने अन्नदाताओं के खिलाफ न्याय के नाम पर भला क्या लिखते? परन्तु समस्त सामग्री और साधनों के उपलब्ध होने के बावजूद आज भी ऐसे लेखक हैं जो विवेक से काम न लेकर अत्यन्त भ्रामक मत उपस्थित करते हैं। ऐसे लेखकों में एक उल्लेखनीय हैं मियां लतीफ़। पंजाब का इतिहास उन्होंने इतिहासकार की दृष्टि से नहीं लिखा। एक जगह वे लिखते हैं कि "गुरु गोविंदसिंह ने कुरान को फाड़कर फेंक दिया था।"[1] उसके बाद मियां लतीफ का कथन है कि "लंगर में उनके अपने ही लोग सिर्फ भोजन पा सकते थे और नहीं।"[2] इससे अधिक भ्रामक कथन और कोई नहीं हो सकता। लंगर में कोई भी बिना किसी भेदभाव के भोजन प्राप्त कर सकता है। इस तरह की पंक्तियां लिखने वाले लेखक यह भूल जाते हैं कि गुरु गोविंदसिंह का व्यक्तित्व संकीर्णता और सांप्रदायिकता के घेरे से कहीं ऊपर उठा हुआ था। विदेशी शासकों ने इस्लाम और कुरान के नाम पर भारत में जघन्य-से-जघन्य अत्याचार किये हैं। अपने स्वार्थों के लिए इन्होंने इस्लाम की सदैव आड़ ली है। इसीलिए गुरु गोविंदसिंह ने औरंगजेब को यह लिखा था कि कुरान की क़सम खाने वालों को भी मैंने अविश्वासी होते देखा।[3] लतीफ मियां लिखते हैं "वह (गुरु गोविंदसिंह) हर एक मुसलमान का चिर शत्रु हो गया।"[4] गुरु गोविंदसिंह को हर एक मुसलमान से यदि चिढ़ होती तो बुद्धुशाह सरीखे मुसलमान उनके मित्र कैसे होते और उनकी ओर से कैसे लड़ते? गुरु गोविंदसिंह को विदेशी शासकों के अत्याचारों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठानी थी। बुद्धुशाह से उन्होंने कुरान सीखी थी। उन्होंने इस्लाम के विरुद्ध कहीं भी एक शब्द तक नहीं कहा है। उनकी लड़ाई भी अत्याचारी और अन्यायियों से थी, चाहे फिर वह हिन्दू रहा हो या मुसलमान। पहाड़ी राजाओं से उन्हें लड़ना पड़ा। वे तो मुसलमान नहीं थे। स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस्लाम से उनका विरोध बताते हुए जो दलीलें दी जाती हैं वे सारहीन हैं। उन पर विचार करना भी समय नष्ट करना है।

व्यक्तित्व विश्लेषण—गुरु गोविंदसिंह के व्यक्तित्व में एक संत कवि और योद्धा का व्यक्तित्व था। इसी कारण वे एक सफल लोक-नायक हो सके। यहां तक कि लोग उन्हें ईश्वर का अवतार समझने लगे किन्तु उन्होंने स्पष्ट कहा कि—

जो हमको परमेसर उचरहिं।
ते नर घोर नरक में परहिं॥

---

१. लतीफ; **हिस्ट्री आफ़ पंजाब**; पृष्ठ २६३।
२. वही; पृष्ठ २७१।
३. **ज़फरनामा**; अवतारसिंह; पृष्ठ १२।
४. लतीफ; **हिस्ट्री आफ़ पंजाब**; पृष्ठ २६१।

मैं हों परम पुरुष को दासा ।
देखन आयो जगत तमाशा ॥

उन्होंने अपने आपको परम पुरुष का दास ही कहा है। उनका जीवन विदेशी सत्ता के विरुद्ध एक संघर्ष की लम्बी कहानी थी। अंत समय तक तो प्रायः उनका सब कुछ नष्ट हो चुका था। अपने शिष्यों में वह जान फूंक गए कि जिस चीज को वे अपने जीवनकाल में नहीं देख सके वह उनकी मृत्यु के बाद सफल होकर रही, वह था पंजाब से विदेशी राज्य का उन्मूलन। सफलता ही केवल किसी की महानता की कसौटी नहीं होती। उन्होंने संघर्ष किया और समाप्त हो गए लेकिन अपने पीछे वे एक ज्वालामुखी छोड़ गए जिसने बाद को सफलता पूर्वक पंजाब से विदेशियों को बाहर निकाल दिया।

उनका सबसे बड़ा कार्य था निम्न जातियों को बराबर का स्थान देना। नीची जातियों के लिए वे कहते हैं—

युद्ध जिते इन्ही के प्रसाद ।
इन्हीं के प्रसाद सु दान करे ॥
अघ ओघ टरे इन्ही के प्रसाद ।
इन्ही की कृपा फुन धाम भरे ॥
इन्ही के प्रसाद सुविद्या लई ।
इन्ही की कृपा सब शत्रु मरे ॥
इन्ही की कृपा से सजे हम हैं ।
नहीं मो सों गरीब करोर परे ॥

उस घोरतम अत्याचारों के युग में उनका व्यक्तित्व वीरों को जागृत करने के लिए पर्याप्त था। सारा देश विदेशियों ने दबा लिया था। किन्तु इन्होंने कभी भी विदेशियों के सामने सिर नहीं झुकाया और औरंगजेब की पकड़ में कभी नहीं आए।

इनका समय हिन्दी का रीतिकाल ही था किन्तु इनके साहित्य में रीतिकालीन हिन्दी कविता की कृत्रिमता, श्रृंगार, चमत्कार और सूक्ति प्रयोग नहीं हैं। इनकी रचनाओं का सही-सही मूल्यांकन किया जाए तो रीतिकाल में वीर साहित्य में एक नवीन अध्याय जुड़ जाएगा।

मोनियर विलियम्स् के शब्दों में "यदि गुरु नानक ने सिख धर्म की नींव डाली तो दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने उसमें देशभक्ति की नींव डाली।"

फुटकर कवि

भाई गुरदास—आप गुरु रामदास के भतीजे थे। पंजाबी साहित्य में आपको गुरदास प्रथम के नाम से जाना जाता है। गुरु गोविंदसिंह के समय में भाई गुरदास द्वितीय हुए थे। भाई गुरदास संस्कृत, फारसी और हिन्दी के विद्वान थे। गुरु अर्जुन-

देव ने आदि ग्रंथ की प्रति इन्हीं से लिखवाई थी। पंजाबी भाषा में इन्होंने ३९ वारें लिखी हैं। इसमें सिख धर्म का समस्त आशय आ जाता है। ४०वीं वार भाई गुरदास द्वितीय की है। आपकी भाषा में संस्कृत और फारसी शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। कविता में साहित्यक गहराई है। सिख धर्म के विभिन्न रूपों को लेकर उस पर ही इन्होंने अपने मत प्रगट किए हैं। इनकी कविता का उदाहरण यथा—

गिदड़ दाख न अपड़, आंखे चूह कोड़ी।
नचण नच न जाणई, आथे भुई सौड़ी॥
बोले अग्गे गाविए, भैरों सो गोड़ी।
हंसा नाल टटीहरी, किउं पहुंचे दौड़ी॥
सावण वणं हरिया वले धक्क जमे अऊड़ी।
वे मुख सुख न वेखई, ज्यों छुट्ड छेड़ी॥ वार-३४।

इसके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय कवि हैं भाई गुरदास द्वितीय, बलीराम, बाबा सुन्दर, गरीबदास। बलीराम शाहजहां के समकालीन था। इन्होंने "कुफियां" लिखी हैं। इनकी कविता में माधुर्य है।

गुरु ग्रंथ साहिब में सता, बलवंड, बाबा सुन्दर आदि के पद हैं जो भक्ति-भाव से पूर्ण हैं।

मियां मीर से भेंट

बुल्लेशाह के मूल निवासस्थान के बारे में मतभेद ही है। एक मत के अनुसार बलख के बादशाह थे। विषय भोगों से ग्लानि हो जाने के कारण किसी भी पहुँचे हुए फकीर का पता इन्होंने अपने वजीरों से पूछा। लोगों ने इन्हें मियां मीर का ही नाम बता दिया। अपने पुत्र को गद्दी पर बैठा, मियां मीर से मिलने के लिए ये लाहौर की ओर बढ़े। उस समय मियां मीर वन में कुटी बनाकर निवास करते थे। वहां पर उनकी आज्ञा के बिना प्रवेश किया नहीं जा सकता था। बुल्लेशाह ने संवाद दिलवाया कि बलख के बादशाह भेंट करना चाहते हैं। उस समय बुल्लेशाह अपने कुछ दरबारियों के साथ थे। मियां मीर ने कहला भेजा कि इस दशा में मेरे दर्शन नहीं किए जा सकते, आना है तो वे अकेले ही आएँ। यह सुनकर बुल्लेशाह ने अपना सामान लुटा दिया और दरबारियों को भी विदा कर दिया। वे मीर साहब से अकेले ही मिलने चले। मीर साहब ने वहां से १२ कोस दूर किसी फकीर के पास १२ वर्षों तक तप करने की आज्ञा दी। वहां से लौटने पर ही बुल्लेशाह को मियां मीर के दर्शन हुए। उस समय ये कृशकाय हो चुके थे। बाल बढ़ रहे थे। मीर साहब ने अपने सिद्धान्तों का उपदेश देकर इनका नाम बुल्लेशाह रखा।

अन्य मत—एक दूसरे मत के अनुसार इनका जन्म कुस्तुन्तुनिया में सं० १७६० में हुआ था। अपनी किशोरावस्था में ही इन्हें आध्यात्मिक विषयों में रुचि हो गई

थी और पंजाब की ओर पैदल ही चल पड़े थे। यहाँ ये कई हिन्दू साधकों के संपर्क में आए थे। ये इनायतशाह सूफी के संपर्क में भी आए।

तीसरा मत—तीसरे मत के अनुसार इनका जन्म लाहौर जिले में पंडोल नामक गांव में मुहम्मद दरवेश के घर सं० १७३७ को हुआ था। बड़े होने पर वे साधु दर्शनीनाथ के संपर्क में भी आए। अंत में इन्होंने इनायतशाह प्रसिद्ध सूफ़ी फकीर से दीक्षा प्राप्त की। ये कादरी शत्तारी संप्रदाय के अनुयायी समझे जाते रहे हैं। इनकी साधना का प्रमुख केन्द्र कसूर था। इनका देहान्त कसूर में सं० १८१० में हुआ था। वहाँ पर इनकी समाधि वर्तमान है। एक अन्य के मतानुसार इनका समय सन् १६८० से १७५२ तक माना जाता है।

रचनाएँ—इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रेम सिंह द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनकी दूसरी रचना का प्रकाशन बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से 'सीहर्फी' के नाम से हुआ है। बुल्लेशाह ने अपने मत को सरल पंजाबी हिन्दी भाषा द्वारा व्यक्त किया है।

मत—कादरी शत्तारी संप्रदाय के होने के कारण बुल्लेशाह पर वेदांत आदि का भी काफी प्रभाव था। मंदिर मस्जिद में जाने की अपेक्षा इन्होंने ईश्वर प्राप्ति के लिए हृदय की शुद्धता को अपेक्षित माना है। तीर्थ आदि का उन्होंने विरोध किया है। मक्का, नमाज, मस्जिद आदि की निस्सारता पर उन्होंने अपनी वाणियों में विचार व्यक्त किए हैं। उनकी रचनाएँ मस्ती से पूर्ण हैं। उनकी वाणी में स्वानुभूति के स्वर स्पष्ट हैं। उन्होंने अपने ईश्वर को आनन्दरूप तथा नित्य बताया है। बुल्लेशाह पर कबीर का पर्याप्त प्रभाव था। वैसे तो इन्हें सूफ़ी संत कवि ही माना जाएगा किन्तु अपनी वाणियों में यत्र-तत्र इन्होने संत मत संबंधी स्वतंत्र विचार भी व्यक्त किए हैं। इनका विचार है कि ईश्वर को 'इश्क के रास्ते' से ही प्राप्त किया जा सकता है।

कविता—बुल्लेशाह की कविता में पंजाबी अलंकारों का प्रयोग मिलाता है। उस पर फारसी का प्रभाव बहुत ही कम है। शब्दावली में हिन्दी, लहिंदा, प्राकृत, अपभ्रंश तथा फारसी का प्रयोग हुआ है। इसलिए इनकी शब्दावली कई स्थानों पर मिश्रित या खिचड़ी हो गई है। उनकी कविता पर किसी विशिष्ट धर्म का प्रभाव नहीं है। उन्होंने प्रचलित बाह्याडंबरों का खंडन-मंडन किया था। अपनी वाणियों द्वारा इस्लाम की कट्टरता का इन्होंने विरोध किया है।

भाई मनीसिंह—आप दरबार साहिब अमृतसर के ग्रंथी[1] थे। आप गुरु गोविन्दसिंह के समकालीन थे अतएव आपको गुरु गोविन्दसिंह का भी सामीप्यलाभ हुआ था। पंजाबी के अतिरिक्त आप अरबी, फारसी और संस्कृत के भी जानकार थे। इसलिए इनकी भाषा साहित्यिक है। ये भाई गुरदास की अलंकार परंपरा के ही अनुगामी थे। भाई मनीसिंह ने पंजाबी साहित्य की गद्य लेखन परंपरा में सहयोग दिया।

---

१. गुरु ग्रंथ साहिब का पाठ करने वाले।

सप्तम अध्याय

नामदेव एवं कबीर

विचार-दर्शन एवं रचनाएँ

नामदेव

नामदेव के नाम से लगभग आधे दर्जन कवियों का होना बताया जाता है। क्षितिमोहन सेन ने महाराष्ट्र के सन्त नामदेव का उल्लेख कर मारवाड़ और बुलन्दशहर के नामदेव नामक व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है।[1] श्री विनयमोहन शर्मा ने भी लिखा है "ज्ञानेश्वर कालीन नामदेव के अतिरिक्त महाराष्ट्र में पाँच नामदेव सन्त और हो गए हैं।"[2] नामदेव ज्ञानदेव के समकालीन थे। महाराष्ट्र के कुछ विद्वानों का कथन है कि गुरु ग्रंथ साहिब पद रचयिता नामदेव का महाराष्ट्र के नामदेव से कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों एक ही नहीं हैं। पहली बात तो यह है गुरु ग्रंथ साहिब के पदों से नामदेव के जीवनकालीन जिन घटनाओं का पता लगता है वे ज्ञानदेव कालीन नामदेव के जीवन में मिलने वाली घटनाओं से अभिन्न नहीं हैं। मूर्ति को दूध पिलाना, मन्दिर का द्वार पश्चिम की ओर करना, मृत गाय जिलाने के प्रसंग दोनों में ही समान हैं। दोनों के इष्टदेव विट्ठल हैं। उत्तर के किसी संत ने अपना इष्टदेव विट्ठल नहीं माना है। मराठी और हिन्दी पदों में समान रूप से विट्ठल शब्द का प्रयोग मिलता है। मराठी और हिन्दी पदों में भाव भी समान ही हैं। साथ ही हरि, गोविंद, रामु, केशव, माधव आदि का समान रूप से प्रयोग हुआ है। गुरु ग्रंथ साहिब में प्राप्त पदों में मराठी शब्द-विन्यास भी कहीं-कहीं मिलते हैं। इससे यही प्रतिपादित होता है कि पंजाब के नामदेव और महाराष्ट्र के ज्ञानदेवकालीन नामदेव अभिन्न हैं। इस मत का समर्थन श्री विनय मोहन शर्मा ने भी किया है।[3]

नामदेव कबीर से पहले हो गये हैं। वे ज्ञानदेव के समकालीन थे और दोनों ही यादवकालीन थे। डॉ० मोहनसिंह दीवाना ने नामदेव के जीवन काल को सन् १२६०

---

१. क्षितिमोहन सेन; मिडिवियल मिस्टीसिज्म; पृष्ठ ५७।

२. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन; श्री विनयमोहन शर्मा; पृष्ठ १००।

३. वही; पृष्ठ १०४।

से १४५० माना है।[1] परन्तु श्री विनयमोहन शर्मा ने उनके इस मत का खंडन किया है।[2] यह तो निर्विवाद रूप से मान लिया गया है कि ज्ञानदेव और नामदेव समकालीन ही थे। इनका जन्म सन् १२७० माना जाता है। नामदेव की मृत्यु सन् १३५० में हुई। नामदेव ज्ञानदेव की समाधि के ५० वर्ष पश्चात् समाधिस्थ हुए।

जीवन सामग्री—नामदेव को महाराष्ट्र के पांच प्रमुख संतों की श्रेणी में लिया जाता है। तुकाराम को अपना आध्यात्मिक आदर्श माना है। उत्तरी भारत की सन्त परम्परा नामदेव की किसी-न-किसी रूप में ऋणी है। कबीर से पहले ही उत्तर भारत में ये अपने विचारों का प्रसार कर चुके थे। भिन्न-भिन्न भक्तमाल के लेखकों ने नामदेव के बारे में लिखा है। उनकी एक स्वतन्त्र जीवनी भी प्रकाशित हुई है। परन्तु सांप्रदायिक और चमत्कारिक बातों के बीच से वास्तविक तथ्यों को पहिचानना कठिन है। डॉ० मोहनसिंहदीवाना की भी एक पुस्तक "भक्त शिरोमणि नामदेव की नई जीवनी, नई पदावली" निकली है।

जाति और कुल—कई लोगों ने यह बताने का प्रयास किया है कि नामदेव क्षत्रिय थे। उनके मतानुसार ये गाधि क्षत्रिय थे।[3] परन्तु नामदेव ने कहीं भी अपने नामदेव होने का उल्लेख नहीं किया है। धन्ना और रैदास ने नामदेव को छीपी बताया है। स्वयं नामदेव अपने वंश का परिचय देते हुए कहते हैं कि "पंढरीनाथ मेरी जाति ही दीन हीन की है। तूने इस संसार में नामदेव को दर्जी जाति का क्यों बनाया ?"[4] स्पष्ट है कि नामदेव छीपी या दर्जी ही थे। इस पर भी उन्हें जो क्षत्रिय साबित करने का प्रयास करते हैं उन्हें नामदेव का अंधभक्त ही कहा जाएगा। इनका जन्म सतारा जिले में कन्हाड़ निकट नरसी बमनी नामक गांव में हुआ था। पिता का नाम दामोशेट और माता का नाम गोनाबाई था। कई उसे गोणाई भी कहते हैं। क्षितिमोहन सेन के मतानुसार नामदेव का जन्म सन् १२६३ में हुआ था।[5] मेकालिफ ने नामदेव की जन्म तिथि सन् १२७० मानी है।[6] पंजाबातील नामदेव के लेखक के मतानुसार इनका जन्म शके ११९२ प्रथम संवत्सर कार्तिक शुक्ल ११, रविवार को सूर्योदय के समय हुआ था।[7]

---

१. डॉ० मोहनसिंह; भक्त शिरोमणि नामदेव की नई जीवनी, नई पदावली।
२. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन; श्री विनयमोहन शर्मा; पृष्ठ १०७।
३. नामदेव वंशावली; नन्हेंलाल शर्मा; पृष्ठ २, भूमिका।
४. दीन हीन जात मेरी पंढरी के राया।
दुनिया में छीपी नामा काहेकु बनाया। तुकाराम तात्या; श्री नामदेव; पृ० १७७।
५. मिडिवियल मिस्टीसिज्म; क्षितिमोहन सेन; पृष्ठ ५६।
६. सिख रीलिजन; मेकालिफ; पृ० १८; भाग ५-६।
७. श्री नामदेव आणि त्यांचे कुटुंबातील व समकालीन साधूच्या अभंगाची गाथा; तुकाराम तात्या; पृष्ठ १७७।

तुकाराम तात्या ने इनकी वंशावली इस प्रकार दी है—[1]

- दामा शेट—गोणाई
  - नामदेव-राजाई
    - नारा, पत्नी लांडाई
    - महादा, पत्नी-गोणाई
    - गोंदा, पत्नी-मेलाई
    - विठा, पत्नी साकराई
    - लिंबाबाई
  - आऊबाई

नामदेव छीपी जाति के थे, इनका धंधा दर्जी का था। छीपी का अर्थ कपड़ा छापनेवाला होता है। हो सकता है कि मराठी "शिंपी" शब्द ही छीपी बन गया हो। शिंपी का अर्थ मराठी में दर्जी होता है। इनके घर में पूर्व पुरुषों में भक्तिभाव पहले से ही वर्तमान था। इसलिए नामदेव को भी भक्त होते देर नहीं लगी। इनके पिता गाँव के बाहर शिव के मन्दिर में जाया करते थे। दामा शेट प्रतिवर्ष पंढरपुर की यात्रा भी किया करते थे। उनके भक्ति भाव का प्रभाव नामदेव पर पड़ना स्वाभाविक ही था।

कई लोगों का कथन है कि नामदेव अपनी युवावस्था में डकैत बन गये थे। इनका विवाह नौ वर्ष की ही अवस्था में किसी गोविंद शेटी की पुत्री से हो गया था। इनकी पत्नी का नाम रजाबाई कहा जाता है। मेकालिफ के मतानुसार नामदेव ने इसे अपना दुर्भाग्य ही कहा है।[2] जब ये डकैती करते थे उस समय इनके पास एक अच्छी-सी घोड़ी थी। डकैती का परित्याग करने पर इसी घोड़ी पर चढ़कर नामदेव पंढरपुर से सोलह मील की दूरी पर स्थित औंदी के शिव मन्दिर में नागनाथ के दर्शन करने जाते थे।[3] नामदेव का मन घर गृहस्थी में नहीं लगा और वे पंढरपुर आकर विट्ठल की सेवा करने लगे। ज्ञानदेव के साथ उन्होंने उत्तर भारत की भी यात्रा की थी।

गुरु—क्षितिमोहन सेन के मतानुसार नामदेव के गुरु ज्ञानेश्वर थे।[4] परन्तु यह मत गलत है। परम्परा के अनुसार भी विसोबा खेचर ही नामदेव के गुरु कहे जाते हैं। विसोबा खेचर से इन्होंने दीक्षा ज्ञानदेव के संपर्क में ही आकर ली। जिस समय नामदेव विसोबा खेचर को ढूंढ़ते हुए शिवमन्दिर में गए उस समय विसोबा खेचर शिवलिंग पर अपने दोनों पैर डालकर बैठे हुए थे। विसोबा के कहने से नामदेव ने उनकी टाँगों को हटाना चाहा। परन्तु शिवलिंग भी साथ-साथ घूमने लगा। नामदेव

---

१. श्री नामदेव आणि त्यांचे कुटुंबातील व समकालीन साधूंच्या अभंगाची गाथा;

२. मेकालिफ; सिख रिलीजन भाग ६; पृष्ठ २०।

३. वही पृ० ११।

४. क्षितिमोहन सेन; मिडीवियल मिस्टीसिज्म; पृ० ५६।

इस घटना से विसोबा खेचर को पहिचान गए। उसी समय विसोबा खेचर को उन्होंने अपना गुरु स्वीकार कर लिया।[१] विसोबा से यह उनका प्रथम मिलन था। गुरु नानक के सम्बन्ध में भी ऐसी ही कथा प्रचलित है जो कि कावे के घूम जाने से संबंधित है। ज्ञानदेव का नाम नामदेव ने आदर से तो लिया है किन्तु कहीं भी उन्हे गुरु के रूप में स्वीकार नहीं किया है। नामदेव स्वयं कहते हैं कि "खेचर जी के चरण पर नामा सिपी लागा।'[२] महाराष्ट्र में प्रचलित परम्परा के अनुसार भी नामदेव के गुरु विसोबा खेचर ही थे। अतएव क्षितिमोहन सेन का मत गलत ही कहा जाएगा।

ज्ञानदेव से मित्रता—ज्ञानदेव के साथ नामदेव की घनिष्ठ मित्रता थी। सर्वप्रथम इनकी भेंट पंढ़रपुर में हुई थी। यात्रा करते-करते ज्ञानदेव नामदेव के घर पहुँचे। भेंट करने के पश्चात् इनसे ज्ञानदेव ने अपने साथ चलने का अनुरोध किया। नामदेव इनके साथ हो लिए। आगे बढ़ने पर मंगल, संत चोखामेला और आरणमेढी में सावंतमाली भी इनके साथ मिल गए। तेरगाँव नामक स्थान में गोरी भी इनके साथ शामिल हो गए। नामदेव ने आदर और श्रद्धा से सब लोगों की सेवा की। नामदेव ने इस यात्रा का विशद वर्णन अपने ५६ अभगों द्वारा मराठी में किया है। इस रचना का नाम तीर्थावली है। अन्त में दिल्ली, जगन्नाथपुरी आदि घूमते हुए ये पंढ़रपुर आ गए। कहा जाता है कि हस्तिनापुर मे इन्होंने मुहम्मदबिन तुग़लक से भी भेंट की। इस घटना का वर्णन उन्होंने उस पद में किया है जहाँ कि गाय जिलाने का प्रसंग है।

उत्तरभारत की यात्रा से लौटकर ज्ञानेश्वर ने आलंदी में समाधि ले ली। नामदेव उस समय उन्ही के पास थे। अपने अभंगों में नामदेव ने ज्ञानेश्वर के वियोग का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। इस समय इनकी अवस्था लगभग पचास वर्ष की थी। अपने परिवार से तो ये विरक्त ही हो चुके थे। उनका मन उचट गया और महाराष्ट्र से बाहर वे पंजाब की ओर चले गए। उत्तर में आकर कुछ दिनों के लिए ये हरिद्वार में रहे थे। फिर पंजाब में धोमान नामक स्थान में गए। मेकालिफ ने लिखा है कि धोमान आने से पहले ये भटवल नामक स्थान में गए थे। भटवल में ये किसी सरोवर तट पर ठहरे थे। यह स्थान नामियाना नाम से प्रसिद्ध है। उस समय इनके साथ लाधा और जल्ला नामक शिष्य भी थे। नामदेव ने उक्त सरोवर से हटकर अपने लिए एक एकांत स्थल निकाल लिया और वहीं पर भजन आदि करने लगे। धीरे-धीरे वहाँ पर बहुत से लोग एकत्र होने लगे और धोमान नामक गाँव की सृष्टि हो गई। वहाँ पर बाद को रामगढ़िया मिसल के प्रसिद्ध योद्धा जस्सासिंह रामगढ़िया ने एक मठ बनवा दिया। उस तालाब का जीर्णोद्धार रणजीतसिंह की

---

१. लि० र० पंगारकर; श्री ज्ञानेश्वर चरित्र; पृ० १३१-३२।

२. तुकाराम तात्या; श्री नामदेव आणि त्यांचे कुटुंबातील व समकालीन साधूच्या अभंगाची गाथा; पद २३५१।

खास सदाकौर ने करवाया।[1] तब से यहाँ पर साल में दो बार धार्मिक मेला लगता है। यहाँ के लोग संत नामदेव की ही जाति के हैं और उनके अनुयायी हैं। क्षितिमोहन सेन ने किसी बोहरादास नामक व्यक्ति का उक्त मठ के संचालक के रूप में नाम लिया है।[2] नामदेव के संप्रदाय का नाम यहाँ पर "बाबा नामदेव का संप्रदाय" है। सेन के मतानुसार उक्त मठ में कोई दोसौ वर्ष पुराना हस्तलिखित ग्रंथ भी है जिसमें कि हिन्दी और मराठी में पद हैं। सिखों के धार्मिक ग्रंथ की ही तरह यह पूजनीय समझा जाता है। नामदेव के अनुयायी सिखधर्म के ही अनुयायी हैं। किन्तु कृपाण इनके लिए त्याज्य है।

मृत्यु—क्षितिमोहन सेन ने नामदेव की मृत्यु सं० १५२१ में मानी है।[3] तुकाराम तात्या के मतानुसार नामदेव ने अंतिम समाधि पंढ़रपुर में शके १२६८ में ली। प्रचलित परंपरा के अनुसार विद्वानों ने उनकी मृत्यु तिथि सन् १५०७ मानी है। श्री विनयमोहन शर्मा के मतानुसार इन्होंने "८० वर्ष की अवस्था में सन् १३५० में पंढ़रपुर में विट्ठल के महाद्वार पर समाधि ले ली।" महाराष्ट्र में प्रचलित परंपरा के अनुसार उनकी मृत्यु का समय उपरोक्त ही माना जाता है। उनकी मृत्यु आश्विन सं० १४०७ को हुई। इनकी समाधि पंढ़रपुर में वर्तमान है। विट्ठल के मंदिर की सीढ़ियों के निचले भाग में इनका एक पीतल का सिर बना हुआ है।

क्षितिमोहन सेन के मतानुसार नामदेव की भेंट फिरोजशाह तुगलक से हुई थी और सैयद वंश के अंतिम शासक शाह आलम ने वहाँ एक मठ बनवाने के लिए जमीन भी दी थी।[4] इन घटनाओं का मेल ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होता। फिरोजशाह का शासन काल सं० १४०० से १४४५ माना जाता है। शाह आलम गद्दी पर सं० १५०० से १५०८ तक रहा। विलियम क्रुक के मतानुसार नामदेव ने मारवाड़ में सन् १४४३ में जन्म लिया था और वे सिकंदर लोदी के समकालीन थे।

रचनाएँ—इनके जीवनकाल के अंत तक इनकी ख्याति महाराष्ट्र से पंजाब तक फैल चुकी थी। इनकी रचनाओं का प्रचार इधर-उधर होने के कारण उनमें परिवर्तन आना स्वाभाविक ही है। नामदेव नाम से कई व्यक्ति हो गए हैं अतएव महाराष्ट्रकालीन नामदेव की रचनाओं का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। गुरु ग्रंथ साहिब में लिये गए उनके हिन्दी पदों की संख्या ६२ है। एक मराठी संग्रह में ये पद १०२ की संख्या तक पहुँच गए हैं। हिन्दी के पद इनकी वृद्धावस्था के माने जाते हैं। मेकालिफ के मतानुसार उनके पद तीन अवस्थाओं के हैं। बचपन के—जबकि वे मूर्ति-

१. सिख रिलीजन; मेकालिफ; पृ० ३६।
२. मिडिवियल मिस्टीसिज्म; क्षितिमोहन सेन; पृ० ५७।
३. हिन्दी को मराठी संतों की देन; विनयमोहन शर्मा; ० पृ१००।
४. मिडोवियल मिस्टीसिज्म; क्षितिमोहन सेन; पृ० ५६।

पूजक थे। युवावस्था के—जबकि वे अपने अंधविश्वासों को दूर कर रहे थे और वृद्धावस्था के। तुकाराम तात्या ने नामदेव के हिन्दी पद तो दिए हैं किन्तु गुरु ग्रंथ साहिब में जितने पद हैं उसमें वे नहीं आते। श्री विनयमोहन शर्मा ने भी नामदेव के हिन्दी पद 'हिन्दी को मराठी संतों की देन' नामक पुस्तक में दिए हैं।

वारकरी संप्रदाय के मूल प्रणेता ज्ञानेश्वर ही थे। आज तक भी वे उस संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ प्रचारक माने जाते हैं। वारकरी भक्तों की साधना पद्धति सगुण-मार्गीय है। उनके लिए कोई ऊँच-नीच या धनी-दरिद्र नहीं है। वे अपने दैनिक कार्यों को करते रहते भी भगवान का भजन करते हैं। धन-दौलत से उदासीन रहते हुए भी कुटुम्ब पालन के लिए वे कोई-न-कोई कार्य करते ही रहते हैं। नामदेव वारकरी अवश्य थे किन्तु जैसे-जैसे वे वृद्ध होते गए वैसे-वैसे उनका झुकाव संत मत की ओर होता गया। उनमें विचार-स्वतंत्रता आती गई। नामदेव कहते हैं कि "जहाँ देखो उसकी ही झलक है। माया की मोहक शक्ति में से विरला ही यह बूझ सकता है कि सब गोविंद-ही-गोविंद हैं। गोविंद बिन दूसरा कोई नहीं है। जल और उसका बुदबुदा दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं होते। यह तो परब्रह्म की लीला है।"[1] ईश्वर की बड़ाई करते हुए वे कहते हैं कि यदि वह राज दिला देता है तो कोई बड़ी बात नहीं। यदि वह भीख मंगवाने लगता है तो भी क्या आश्चर्य है? मेरे मन तू तो हरि का भजन कर उसी से तेरा निर्वाण होगा। राम के स्मरण से आवागमन के कष्टों से तू मुक्त हो जाएगा।"[2] उनका आधार एक मात्र राम ही था। "मुझ अंधे का सहारा तो राम ही है। मैं तो गरीब हूँ। उसे तेरे ही नाम का आधार है। मेरा रहीम, करीम, अल्लाह और गनी सब कुछ वही है। मैं तो तेरे दरवाजे पर अर्ज करने आया हूँ। सरिता के समान तू भला करता है। देने-लेने वाला तू ही एक है, दूसरा कोई नहीं। मैं क्या विचार करूं जब तू ही दाता है। तेरे बिना तो मुझ में विचार

---

१. एक अनेक व्यापक पूरक जत देखा तत सोई।
माया चित्र विमोहित विरला बूझे कोई।
सब गोविंद है, सब गोविंद है, गोविंद बिन नहीं होई।
सूत एक मन सत हस है, जैसे ओतप्रोत प्रभु सोई।
जल तरंग और फेन बुदबुदा जल ते भिन्न न कोई।
यह परपंच पारब्रह्म की लीला श्रो विचारत आनन होई।

गुरु ग्रंथ साहिब; रागु आसावर।

२. जो राज दे कवन बड़ाई।
जो भीक मंगावे तब क्या घटा जाई।
तू हर भज मन मेरे पद निर्वाना।
बहूर न हामे तेरा आवज जाना।

गुरु ग्रंथ साहिब; रागु गुजरी; भगत नामदेव।

करने की भी शक्ति नहीं है। नामदेव का स्वामी तो हरि ही है।"[1]

गुरु महिमा—अपने पदों और अभंगों में नामदेव ने अपने गुरु विसोबा खेचर की महिमा गाई है क्योंकि वे तो उनके गुरु ही थे। गुरु के प्रति उन्हें पूर्ण आदर और श्रद्धा का भाव था। वे मानते थे कि भवसागर से त्राण पाने के लिए गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। वे कहते हैं "मेरे भाई सुन गर्भ की यातना कितनी कठोर होती है। नौ मास तक तो बंधन में ही पड़ा रहता है। तू अभी तक नहीं जागा। अंत समय तुझे छुड़ाने को कोई नहीं आएगा। संसार में चारों ओर आग लगी है। तू आखिर किस लिए सोया हुआ है। संसार के इन कष्टों की बात सुनकर नाम देव तो सावधान हो गया है। उसने तो गुरु का पांव पकड़ लिया है। मैं अनाथ व्यक्ति तुम्हारी शरण में आया हूं।"[2] उन्हें अपने गुरु पर पूर्ण विश्वास था। यह उनका गर्व नहीं था। जैसे कबीरदास ने जतन से चादर ओढ़ी थी जबकि औरों ने तो मैली कर दी थी। उसी तरह से नामदेव ने गुरु के पांव में "मिट्टी डारी" है। वे कहते हैं कि "गुरु ने ही मेरा जीवन सफल कर दिया है। दुःख को हटाकर मेरे अंतर् में सुख-ही-सुख भर दिया है। राम नाम के अभाव में तो मेरा जीवन सारहीन ही है।"[3]

बाह्याचार—निम्न जाति के होने के कारण नामदेव को उच्च जातियों के अत्याचार सहने पड़े थे। वे कहते हैं "हे पंढरी के राया, तूने मुझे दीन-हीन जाति का

---

१. मैं तो अंधले की टेक मेरा नाम कुन्दकारा।
मैं गरीब मसकीन तेरा नाम है अधारा॥
करीमा रहीमा अल्लाह तूं गनी।
हाज़रा हजूर दर पेस तूं गनी॥
दरियाव तूं दहिद तूं विसयावर तूं धनी।
देह लेह तूं एक दीगर काई नहीं॥
तूं दाना तूं बीना मैं विचारू क्या करो।
नामे चे स्वामी तू बकसिंद हरी॥
गुरु ग्रंथ साहिब; रागु तिलंग; नामदेव भगत।

२. गरभी की गहना सेन मेरे भाई, नव मास बंधन डारे।
नहीं जगा हिलने चलने को बाका, छोड़न को कोई नहीं आवे॥
आग लगी देखत है अंधे, कामे के खातर सोया।
ऐसी बात सुनके नामा सावध हुआ, गुरु के पाव मिट्टी डारी॥

३. सफल जनम मोको गुरु कीना, ग्यान मोको गुरु दीना।
राम नाम बिन जीवन मन हीना, नाम देव स्मरण करु जाना॥
तुम जीवन से जीव समाना॥
तुकाराम तात्या; श्री नामदेव आणि त्यांचे कुटुम्बातील व समकालीन साधच्या अभंगाची गाथा; पद० २३५१।

क्यों बनाया। नाम मंदिर में गया तो उसे पूजा भी नहीं करने दी गई। पूजा करते समय ब्राह्मण ने उसे धक्का देकर निकाल दिया। मन्दिर के पीछे आकर नामदेव अल्लाह को पुकार रहा है। जिस ओर नामदेव घूमता है मन्दिर भी उसी ओर घूमता जाता है। नाना वर्णों का लोप होकर उसका एक ही वर्ण हो चुका है। तुम कहाँ के ब्राह्मण और हम कहाँ के शूद्र हैं? सब हो तो आखिर आदमी हैं। मेरा मन सुई है तो तन धागा है। खेचर जो के चरणों पर नामदेव ने अपना सिर रख दिया है।"[1] नामदेव ने बाह्याचारों के विरुद्ध जो उद्‌गार प्रगट किये हैं वे खीझ से नहीं हैं। उस बात के लिए मनुष्यता के इस कलंक को उनका मनुष्य सहन नहीं कर सकता। उन पर नीची जाति के होने के कारण जो अत्याचार हुए उनका उन्हें क्षोभ नहीं है। उनकी वाणी में कबीर का तीखापन नहीं है। निम्न जाति के होने के कारण उच्चवर्णों की जातियों द्वारा होने वाले अत्याचारों की उन्हें स्वानुभूति थी। उनका भक्त तो शांत और व्यापक दृष्टिकोण का प्राणी था। सामाजिक अंधविश्वासों के प्रति वे केवल बौद्धिक सहानुभूति मात्र देकर ही नहीं रह गये। उन्होंने वही बात कही जिस बात को महसूस किया। वे कहते हैं "बनारसी तप करता है और तीर्थ में मरने के लिए जाता है। परन्तु उससे क्या होता है? अश्वमेध यज्ञ किया, सोना दान दिया किंतु राम की भक्ति तो न की। पाखंडी इन सब को छोड़, आखिर इन सबमें क्या रखा है। मन में कपट मत कर, नित्य हरि का नाम ले। गंगा और गोदावरी नहाने जाता है, कुंभ के मेले में जाता है, केदारनाथ जाता है, गोमती नहाता है, सहस्र गोदान करता है, कई तीर्थ कर अपने तन को हिमालय मे गलाता है, लेकिन राम नाम नहीं जपता। हाथी, घोड़े दान तो करता है किन्तु राम का नाम नहीं लेता। बाद को रोष करने से या यम को दोष देने से क्या लाभ?"[2]

विट्ठल के लिए उन्होंने विट्ठलु और बिठ्ठला शब्दों के भी प्रयोग किये हैं।

---

१. दीन हीन जाति मेरी पंढरी के रामा, ऐसा तुमने नामा दरजी काहे कु बनाया।
टाळ बिन लेके नामा देउल में गया, पुजा करते बह्मन उन्ने बाहर डकलाया।
देउल के पीछे नामा अल्लक पुकारे, जीदर जीदर नामा उदर ही देवल फिरे।
नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध नहा, तुम कहा के बाम्हन हम कहा के सूद।
मन मेरा सुई तन मेरा धागा, खेचर जी के चरण पर नामा सिपी लागा।
श्री नामदेव आणि त्यांचे कुटंबातील व समकालीन साधूच्या अभंगाची गाथा, पद २३५१।

२. बनारसी तप करे उलट तीरथ मरे, अगनी देह काया कला किजे असमेदयज किजे।
सोना दान दिजे, रामनाम सर तो न पुजे, छोड़ छोड़ रे पाखंडी।
मन कपट न कीजे, हर का नाम नित्य नित्य लीजे गंगा जो गोदावरी जाइउ।
कंभ जो किदारे, नाइये गोमती, सहस्र गोदान कीजे आप बराबर कंचन दिजे।

हिन्दी पदों में इसका सर्वप्रथम प्रयोग नामदेव द्वारा ही हुआ है। उत्तर भारत में विष्णु के लिए विट्ठल का प्रयोग उन्हीं से प्रारम्भ हुआ। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग व्यापक ब्रह्म के अतिरिक्त पंढरपुर की विट्ठल प्रतिमा के लिए भी किया है। दोनों ही अर्थों में उनके साहित्य में विट्ठल के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। हिन्दी पदों में जहाँ कहीं भी विट्ठल का प्रयोग हुआ है, वह सर्वव्यापी ब्रह्म के ही लिए है। श्री विनय मोहन शर्मा के मतानुसार "इसका कारण यह प्रतीत होता है कि विसोबा खेचर से दीक्षित होने के कारण नामदेव की भक्ति पंढरपुर के मन्दिर में स्थित विठोबा की मूर्ति में ही केन्द्रित थी। अतएव मराठी अभंगों में विट्ठल की मूर्ति के चरणों में बार-बार जन्म लेकर समर्पित होने की उत्कट भावना है।"[1] कबीर ने भी विट्ठल का प्रयोग कालांतर व्यापक ब्रह्म के लिए किया। यथा—

गोकुल दनाइक बीठुला, मेरो मन लागो तोहि रे।

× × ×

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागो तोहि रे।[2]

नामदेव की भक्ति—तुकाराम तात्या ने 'श्री नामदेवाची आणि त्यांचे कुटुम्बातील साधूच्या अभंगाची गाथा' में एक पद दिया है जिसका अर्थ है कि "भक्ति के स्वरूप को पहिचानने के लिए नामदेव के अभंग पढ़ो। परन्तु उनमें पहले ज्ञान और फिर भक्ति का शोध करो।" नामदेव के पदों में भक्ति का स्वरूप निर्धारित करते समय यह बात अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। इसका यह आशय नहीं कि उनकी भक्ति प्रेम शून्य थी। प्रेम और भक्ति में ज्ञान और प्रेम का एक-सा समन्वय होता है। उनकी भक्ति में नामसाधना को काफी महत्त्व था। उन्होंने नाम को संसार के समस्त भौतिक पदार्थों से ऊपर बताया है। उनके मतानुसार नामस्मरण ही भक्ति का सर्वश्रेष्ठ सोपान है। नामस्मरण से ही भ्रमों का नाश होता है। सर्वोत्तम धर्म नामोच्चार ही है।

हरि हरि करत मिटे सभि भरमा।
हरिके नामले ऊतम धरमा।
प्रणवै नामा ऐसो हरि।
जासु जपत में अपदा टरी।[3]

कोट जो तीरथ करे, तन जो माले गाले।
रामनाम सर तो न पुजे, अस्वदान, गजदान सेनानरी भुमदान ऐसो दान नित्य नित्य कीजे। आत्मा जो निर्मल कीजे, आप बराबर कंचन दिजे, रामनाम सर तो न पुजे मन न कीजे रोष, यमें न दीजे दोष, निर्मल निर्वाण पद चीत दीजिये, दसरथ राय राजा मेरा रामचन्द। परणवे नामा तत रस अमृत पीजे। पद २३७२; तुकाराम तात्या।

१. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन; श्री विनयमोहन शर्मा; पृष्ठ १२०।
२. कबीर ग्रंथावली; संपादक हरिऔध; पृष्ठ ८८।
३. पंजाबातील नामदेव; जोशी (१९४० संस्करण), पृष्ठ १०८।

नामदेव मूलतः मराठी के ही कवि हैं। हिन्दी में तो उन्होंने थोड़े से ही पद लिखे किन्तु उनकी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए ही वे पर्याप्त हैं। हिन्दी की रचनाएँ उनकी वृद्धावस्था की कही जाती हैं। अतएव संदेह नहीं कि उनमें उनके प्रौढ़ विचार ही व्यक्त हुए हैं। तुकाराम तात्या ने कबीर का एक पद उद्धृत किया है जिसका अर्थ है "सुरत की सुई और मुरत का धागा है। उससे नामदेव हरि का बाना हो रहा है। हे भगवान तुम क्यों निर्दय हो रहे हो। मुनियों ने सारा देश बिगाड़कर रखा है। नामदेव को बुलाकर लाओ। हे नामा, तू आकर अपना हरि या वीठुल दिखला। तेरा राम या गोविंद कहाँ है ?" अपने समय की तत्कालीन परिस्थितियों से असन्तोष व्यक्त कर कबीर ने नामदेव का स्मरण किया है इससे पता लगता है कि उत्तर भारत में नामदेव ने काफी प्रसिद्धता प्राप्त कर ली थी। कबीर ने जिस बाह्याचार, ढोंग, सामाजिक बुराइयाँ, बाह्याडम्बरों की निस्सारता के बारे में लिखा है उसका आरम्भिक रूप नामदेव के अभंगो में देखा जा सकता है। इस बात में उत्तर भारत की संत परम्परा पर किसी-न-किसी रूप में नामदेव का ऋण है। कबीर और नानक से वे पहले हो गये हैं। कबीर और नानक ने उनका नाम बड़े ही आदर भाव से लिया है। बारकरी होकर भी वे बारकरी नहीं थे। भगवान के दर्शन उन्होंने निराकार रूप में किए थे। बारकरी संतों और निर्गुण संतों के बीच में उन्होने एक कड़ी का काम किया था। उनकी रचनाओं में अद्वैत और सर्वात्मवाद की झलक साफ-साफ देखी जा सकती है। ईश्वर की माया के दर्शन उन्होंने उसके द्वारा बनाए गये हर जीव में किए थे। एक बार अपनी बनाई हुई रोटियों को वे घी चुपड़ने के लिए घी लेने उठे तो कोई कुत्ता उनकी रोटियाँ लेकर भाग ले चला तो उन्होंने कहा "भगवान उन रोटियों में भी यह घी तो चुपड़ लो। रूखी-सूखी न खाओ।" उनकी वाणी सीधी और प्रेम से ओतप्रोत है। महाराष्ट्र में तो उन्हें उद्धव का अवतार माना जाता है।

भाषा—नामदेव के हिन्दी पद गुरु ग्रंथ साहिब में और थोड़े से इधर-उधर सुरक्षित हैं। गुरु ग्रंथ साहिब का संकलन नामदेव के लगभग ढाइसो वर्ष बाद हुआ। इस अवधि में मूल पदों में अंतर आना तो स्वभाविक ही है। अतएव उनके पदों की भाषा की सूक्ष्म वैज्ञानिक परीक्षा तो नहीं हो सकती अतएव हम स्थूल निष्कर्ष ही निकाल सकते हैं। नामदेव के हिन्दी पदों पर मराठी छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनके पदों में मराठी संबंध सूचक मधें आदि का प्रयोग हुआ है। उनमें आणीयले, राखीले, मांडियले, आणिले, भराइले, छाड़ियले, पोढियले जो क्रिया शब्द मिलते हैं ये मराठी क्रियाओं के ही विकृत रूप हैं। उन क्रियाओं पर मराठी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। निम्नलिखित मराठी शब्द उनकी हिन्दी पद रचना में देखे जा सकते हैं। यथा—अभिलाचा, तुमने देवल, मधे, जाचे, इसके अतिरिक्त कई हिन्दी शब्द मराठी से प्रभावित होकर विकृत रूप में उनकी पद रचना में आए हैं।

उनके पदों की भाषा में संस्कृत के सभी स्वर और व्यंजन वर्तमान हैं। वैसे

संतों की वाणियों में ऋ, लृ, श, ष, क्ष और ज्ञ ध्वनियां नहीं प्राप्त होतीं। उनमें ऋ के स्थान पर रि, श के स्थान पर स, ष के स्थान पर ख, क्ष के स्थान पर ख और ज्ञ के स्थान पर गिम्रा के रूप मिलते हैं। नामदेव की वाणी इस सिद्धांत का अपवाद नहीं प्रस्तुत करती। उनकी भाषा में विविधता भी है। संत के नाते उन्हें तो अपनी बात ही कहनी थी। भाषा की कृत्रिम एकरूपता ढूंढ़ना उनके पदों में व्यर्थ होगा किन्तु कबीर की अपेक्षा उनकी भाषा अधिक स्थिर और परिमार्जित है। खड़ी बोली के साथ-ही-साथ उनमें ब्रज, पूर्वी हिन्दी और पंजाबी, भाषा के शब्दों का भी समावेश हुआ है। गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित पदों में थोड़े बहुत अरबी, फारसी शब्द भी आए हैं। वैसे उनके पदों पर अरबी, फारसी के शब्दों का प्रभाव लक्षित नहीं होता।

जहां तक उनके पदों में कविता का प्रश्न है तो नामदेव का भक्त एक सफल कवि भी था। अपने विट्ठल को उन्होंने रामु, माधो, गोविंदु, हरि आदि नामों से संबोधित कर मिलन सुख का उल्लास प्रदर्शित किया है। उनके पदों में शांत, वात्सल्य और करुण रस की प्रधानता है। अपनी स्वानुभूति को प्रगट करने के लिए उन्होने उपमा, रूपक, दृष्टांत उदाहरण आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। अपने "सुआमी" के प्रति उन्हें जो प्रीति थी उसे उन्होंने सरल-सी वाणी में रख दिया। उनकी भक्ति में करुणा, विश्वास और श्रद्धा है। उनमें उद्वेलित हृदय के उद्‌गार मिलते हैं। ज्ञानदेव ने कहा है "नामा की कविता में कथन मात्र नहीं है—कवित्व है। उनका रस अद्भुत और निरुपम है।"[1] उनके पदों में हृदय को स्पर्श करने का गुण है।

कबीर

मोनियर विलियम्स् का तो यहां तक कथन है कि कबीर नामक कोई व्यक्ति ही नहीं हुआ था। इस अतिशयोक्ति पूर्ण कथन को स्वीकार तो नहीं किया जा सकता किन्तु इससे यह साबित हो जाता है कि कबीर की प्राप्त होने वाली जीवन-सामग्री कितनी अनिश्चित है। यह निर्विवाद है कि—वे जाति के जुलाहे थे। कबीर का जीवन वृतांत ज्ञात करने के लिए रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रे० वेस्टकॉट, मैकालिफ, अंडरहिल, डा० भांडारकार, फर्कुहर की रचनाएँ पढ़ी जा सकती हैं। कबीर की जीवन सामग्री के लिए परशुराम चतुर्वेदी कृत 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' का 'परिशिष्ट क' भी देखा जा सकता है।

रचनाएँ—कबीर ने कहा तो था कि "मसि कागद छूयो नहिं" किन्तु उनके नाम से कई पद प्रचलित हैं। उनमें यह भी पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन-से पद कबीर के हैं और कौन-से नहीं। उन्होंने समय-समय पर जो भी पद गाए, उन्हें ही उनके भक्तों ने लिपिबद्ध कर लिया। कबीर पंथियों का तो कथन है कि

---

१. "परी नामयाचे बोलणें नव्हें हें कवित्व, हा रस अद्भुत निरोपमु"
श्री नामदेव चरित्र; सन् १९५२ संस्करण; माधवराव अप्पाजी मुले; पृ० ८६।

सद्गुरु की वाणी अनंत है। किन्तु इस कथन को उसी रूप में नहीं स्वीकार कर लिया जा सकता। जो पद इनके नहीं प्रतीत होते वे भी इनके नाम से चल निकले हैं। स्व० रामदास गौड़[1] ने कबीर की पुस्तकों की एक लम्बी सूची दी है। रामकुमार वर्मा ने ६१ पुस्तकों की सूची दी है। किन्तु इन पुस्तकों की जांच कर हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि "इनमें से निश्चित रूप से अधिकांश पुस्तकें दूसरों की लिखी हुई है।"[2] इन रचनाओं में बाह्याचार, भेष आदि की महिमा चलती है जबकि कबीर ने उनका खंडन किया है। द्विवेदी जी ने यह माना है कि कबीर की जीवित अवस्था में ही बहुत से जाली ग्रंथ बन गए होंगे। बीजक कबीरदास के मत का पुराना एवं प्रामाणिक संग्रह है। इसमें ८४ रमैनियां हैं। यह चौपाई छंद में है। कबीरदास की सबसे प्रामाणिक रचना उनकी साखियां ही हैं—

साखी आंखी ज्ञान की, समझु देखु मन मांहि।
बिन साखी संसार के, झगरा छूटत नांहि।

बीजक के अतिरिक्त हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके स्वयंवेद का उल्लेख किया है। कबीर पंथियों द्वारा उल्लिखित स्वयवेद के चार भेदों की उन्होंने चर्चा की है (१) कूट वाणी (२) टकसार (३) मूल ज्ञान (४) बीजक वाणी। श्यामसुंदर दास ने कबीर की वाणियों का संपादन कर और उसके आधार पर कबीर ग्रंथावली का प्रकाशन किया। गुरु ग्रंथ साहिब में भी कबीर के पद संग्रहीत हैं। ये पद जिस रूप में एकत्रित किए गए थे उसी रूप में चले आ रहे हैं। कम-से-कम भाषा संबंधी परिवर्तन तो उनमें नहीं हुआ। कबीर साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह सबसे प्रामाणिक संग्रह है। रामकुमार वर्मा ने इन पदों का संत कबीर नाम से संपादन किया है। वेलवेडियर प्रेस ने भी कबीर की रचनाओं का प्रकाशन किया है। क्षितिमोहन सेन ने भी कबीर के पदों का संग्रह किया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी कबीर की वाणियों का अनुवाद अंग्रेजी में **Hundred poems of Kabir** के नाम से किया है।

युगलानन्द ने भी "सत्य कबीर की साखी" का प्रकाशन किया है। हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने भी अपनी पुस्तक कबीर में कबीर के कुछ उत्तम पदों का संग्रह किया है।

गुरु—कबीर के गुरु के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत प्रचलित हैं—

(१) कि कबीर के गुरु रामानन्द थे।

(२) कबीर ने शेख तकी से दीक्षा ग्रहण की थी।

(३) पीतांबर पीर नामक भी कोई कबीर का गुरु रहा था।

रामानन्द—सर्वसाधारण की यह धारणा रही है कि स्वामी रामानन्द कबीर

---

१. रामदास गौड़; हिन्दुत्व; पृ० ७३४।

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी; कबीर; पृ० १५।

के गुरु थे। ऐसा मानने वालों में रामचन्द्र शुक्ल अग्रणी हैं। इतिहास में वे इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि कबीर के गुरु रामानन्द ही थे। कहा जाता है कि एक बार गंगा-स्नान को जाते समय प्रभात में घाट पर रामानन्द का पैर कबीर पर पड़ गया। पैरों के नीचे किसी मनुष्य को पाकर रामानन्द ने कहा 'राम-राम', कबीर ने उसे ही गुरु-मंत्र मान लिया और उस दिन से रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। रामानन्द अपने समय के प्रसिद्ध व्यक्ति थे। समकालीन होने के कारण यह सम्भव भी हो सकता है कि रामानन्द कबीर के सम्पर्क में आए होंगे और कबीर प्रभावित भी हुए होंगे। अभी तक ऐसा कोई प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें कि दावे के साथ यह लिखा गया हो कि रामानन्द कबीर के गुरु थे। जो दो-एक हस्तलिखित पोथियाँ प्राप्त भी होती हैं तो उनकी प्रामाणिकता के बारे में सन्देह ही है। कबीर ने यह स्पष्ट कहीं भी नहीं लिखा कि रामानन्द उनके गुरु थे।

शेख तकी—शेख तकी भी दो हो गए हैं एक मानिकपुरी, दूसरे फूंसीवाले। गुलाम सरवार ने यह मत व्यक्त किया है कि शेख तकी कबीर के गुरु थे। इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक दृष्टिकोण की व्यापकता के कारण शेख तकी हिन्दू एवं मुसलमानों में समान रूप से ही प्रिय थे। परन्तु उसमें भी उपरोक्त दो शेख तकी हुए हैं तो प्रश्न है कि किस शेख तकी के सम्पर्क में कबीर आए थे? कड़ा मानिकपुर के शेख तकी चिश्तिया थे। उनका मृत्युकाल सन् १५४६ माना जाता है। इस कारण ये कबीर के समकालीन तो प्रतीत नहीं होते। दूसरे बीजक की एक रमैनी में कबीर शेख तकी को सम्बोधित कर समझाते हुए कह रहे हैं। यदि शेख तकी कबीर के गुरु रहे होते तो शेख तकी कबीर को सम्बोधित करते न कि कबीर सम्बोधित करते।

फूंसीवाले शेख तकी सुहरावर्दिया संप्रदाय के थे। उनका समय सं० १३७७-१४४१ बताया जाता है। किन्तु वेस्टकार ने शेख तकी की मृत्यु सन् १४८६ में बताई है। शेख तकी के साथ कबीर साहब का सत्संग होना बताया जाता है और यह प्रमाणित भी होता किन्तु दोनों महापुरुषों में इस बात से गुरु-शिष्य का कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। दोनों की भेंट ही गुरु-शिष्य के सम्बन्ध प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

पीताम्बर पीर—कबीर साहब की एक रचना से यह भी प्रतीत होता है कि ये किसी गोमती तट निवासी पीताम्बर पीर के पास भी जाते रहे हैं।

पीताम्बर पीर की कबीर ने मुक्तकण्ठ से प्रार्थना की है। परन्तु स्तुतिगान का आशय पीताम्बर पीर को गुरु के रूप में स्वीकार करना नहीं है।

कबीर साहब ने अपने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की है किन्तु किसी भी पुष्ट प्रमाण के अभाव में शेख तकी, पीताम्बर पीर या रामानन्द को कबीर का गुरु नहीं माना जा सकता। संतों ने जो भी ज्ञान प्राप्त किया था वह सत्संग के माध्यम से ही था इसलिए कबीर साहब का उपरोक्त महापुरुषों के सम्पर्क में आना स्वाभाविक ही था।

किन्तु कबीर साहब ने किसी एक विशेष से दीक्षा नहीं ग्रहण की थी। उनकी रचनाओं में गुरु, सत्गुरु व गुरुदेव शब्द विभिन्न स्थलों पर आए हैं। कबीर साहब ने स्पष्ट कहा था कि 'मसि कागद छूयो नहिं, कलम गह्यो नहीं हाथ,' वे यह भी कहते हैं कि उन्होंने न तो कोई विद्या ही पढ़ी है और न ही किसी मत विशेष का पालन किया है। हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि कबीर का कोई मानव गुरु नहीं था। उन्हें समय-समय पर जिन महापुरुषों से ज्ञान-लाभ हुआ, उनका नाम उन्होंने अत्यन्त आदर-भाव से लिया है। कबीर स्वतंत्र विचारक थे जिन्होंने सब कुछ अपने निजी एवं व्यक्ति-गत प्रयत्नों द्वारा ही सीखा।

उलटबांसियां—कबीर की उलटबांसियां एक प्रकार से भ्रम का विषय ही बनी हुई हैं। उस समय योगी और तांत्रिक लोग सीधी-सी बात को उलटी करके या जटिल करके ही लोगों के सामने रखते थे। कबीर जिस वंश में जन्मे थे उसका योग से अलिप्त रह जाना असंभव था। योगियों, तांत्रिकों और सहजयानियों ने इस उलट-बांसियों की परम्परा को आगे बढ़ाया। कबीर ने भी ऐसी ही उलटबांसियां लिखी हैं कबीर ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी-साहित्य में उलटबांसियों का प्रयोग प्रारम्भ किया। कबीर की ये उलटबांसियां वहीं समझ आती हैं जहां कि उन्होंने शास्त्रीय अर्थ को ग्रहण किया है। ये शास्त्रीय प्रतीक, गंगा, जमुना, वारुणी, सरस्वती, त्रिवेणी, वाराणसी, सूर्य, चन्द्र, सोमरस, मदिरा, गोमांस, ब्रह्मपथ, भुजंगी, नागिन, विष, अमृत, श्मशान, बेलि, लता आदि हैं। किन्तु इन बातों के बावजूद भी कई उलट-बांसियां काफी क्लिष्ट हैं। उनके अर्थ निकलना कठिन है। कबीर को समझने के लिए उनकी सीधी-सादी वाणी ही पर्याप्त है। ये उलटबांसियां कबीर के मत को समझने में कतई सहायक नहीं होतीं। कबीर की इन उलटबांसियों से कई बातों का पता नहीं लगाया जा सकता। कहीं-कहीं पाठक योग, शास्त्रीय या भक्ति सम्बन्धी सिद्धांतों का आधार लेकर उनका अर्थ निकाल सकता है।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रंथों में भी ऐसे पद आए हैं जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उनके अर्थों का पता बहुधा रूपकों की सहायता से ही मिलता है। उलटबांसियों के प्रयोग बौद्ध, जैन और नाथयोगियों के साहित्य में भी मिलते हैं। सहजयान, वज्रयान के अनुयायियों ने भी अपने चर्यापदों में इस प्रकार के अनेक प्रयोग किए हैं। ऐसे समय की परिस्थितियों से यदि कबीर साहब की उलटबांसियों की तुलना की जाए तो साफ-साफ प्रतीत होगा कि वे उस चली आती हुई परम्परा के विकास में ही एक कड़ी हैं। पारिभाषिक शब्दों से भी सदैव उनका पूरा-पूरा अर्थ नहीं लगाया जा सकता। अपनी स्वतंत्र बुद्धि से कार्य लेना ही पड़ता है। इस कारण उससे प्राप्त तथ्य में मतभेद का होना स्वाभाविक ही है। इतना ही नहीं बल्कि कबीर के पदों में भी विभिन्नता है। उनके जो पद कबीर बीजक, गुरु ग्रंथ साहिब तथा कबीर ग्रंथावली में एक साथ मिलते हैं वे कहीं तो घट गए है या उनकी दो-एक पंक्तियां

बढ़ गई हैं। इस प्रकार उलटबांसियों का अर्थ संदिग्ध ही रह जाता है। जो पद्य जिस रूप में जहाँ पर मिलता उसका अर्थ उसी रूप में वहीं करके भी संतोष नहीं होता।

परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर साहब की उलटबांसियों का विषयानुसार वर्गीकरण कर उन्हें पांच रूपों में रखा है।[1] ये निम्नानुसार हैं—

१—वे जिनमें सांसारिक भ्रम, प्रपंच, व्यवहार जैसे विषय आते हैं और वे भी जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओं की चर्चा करती हैं।

२—वे जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय पाया जाता है।

३—वे जिनमें ज्ञान-विरह, सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहा करता है।

४—वे जिनमें आत्मज्ञान, माया, काल, सृष्टि एवं मन जैसे विषयों के स्वरूप का परिचय दिया गया है।

५—वे जिनके द्वारा कबीर साहब सर्वसाधारण को किसी-न-किसी रूप में अपना सन्देश देते जान पड़ते हैं।

कबीर ने अपनी ऐसी रचनाओं को 'उल्टा वेद' में कहा है। कबीर ने उलटबांसियां क्यों लिखीं ? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता था कि कबीर जनता को सत्य से सदैव परिचित कराना चाहते थे। अपनी सीधी-सादी वाणी के अतिरिक्त कुछ बातें उन्होंने उलटबांसियों के माध्यम से भी कहीं। कबीर इन उलटबांसियों द्वारा न तो जनता का ध्यान अपनी ओर खींचना चाहते थे और न ही चमत्कारपूर्ण उक्तियों द्वारा जनता को दीक्षित करना चाहते थे। कबीर ने उलटबांसियों में कई स्थानों पर विरोधमूलक अलंकार से चमत्कार पैदा किया है। दूसरे प्रकार की वे उलटबांसियां भी हैं जहाँ पर विरोधमूलक बातें तो मिलती हैं किन्तु उनमें अद्भुत रस की प्रधानता है। इसमें विरोधमूलक तत्त्व गौण पड़ गया है। तीसरे प्रकार की वे उलटबांसियां भी हैं जिनकी रचना प्रतीकों के आधार पर की गई है। इसमें प्रतीक योजना की प्रमुखता होती है।

केवल उलटबांसियों के ही आधार पर कबीर साहित्य की परख ठीक-ठीक नहीं हो सकती।

कबीर के राम—कबीर के राम को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। किसी ने यह माना है कि कबीर के निर्गुण राम का आधार सगुण राम ही है। क्योंकि बिना किसी मूर्त आधार के उपासना नहीं हो सकती। कबीर ने जहाँ कहीं भी अपने राम का उल्लेख किया है वह निर्गुण राम ही है। वे कहते हैं कि "भाई निर्गुण राम का जाप करो, अविगत की चाल को पहिचानना सरल नहीं है। वेद, पुराण, स्मृति, व्याकरण, शेष गरुड़ और कमला भी नहीं जिसे जान सके, उसे जानना साहस का काम है। इस

---

१. कबीर साहित्य की परख; पृ० १६१।

कारण कबीरदास की तो यही सलाह है कि हरि की छांह पकड़ो।"[1] जिस राम की उन्होंने उपासना बताई है वह निर्गुण ही है। सगुण नहीं है। बार-बार उन्होंने इस बात की याद दिला दी है कि उनका राम निरंजन है। उसकी रूपरेखा नहीं है। वह समुद्र, पर्वत, धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पवन, पानी कुछ भी नहीं है। वह सब दृश्यमान जगत से न्यारा है। वह वेदों और भेदों से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का विषय नहीं है। वह रूप से परे अनुपम तीनों लोकों से विलक्षण है। इस राम को प्राप्त करने के लिए भक्ति की ही आवश्यकता है। ऐसी भक्ति जो प्रेम से पूर्ण हो।

कई स्थलों पर कबीर ने गोविंद, केशव, माधव आदि शब्दों का प्रयोग राम के पर्याय रूप में ही किया है। सगुण अवतारों के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। जब वे अपने परम उपास्य राम को इन नामों से पुकारते हैं तो उस समय उनका आशय इन शब्दों के पीछे निहित सगुण अर्थ से नहीं है। उनका अल्लाह अलख निरंजन है। वह सेवा से परे है। उनका विष्णु वह है जो संसार के रूप में फैला है। वह सनातन तत्त्व से पूर्ण है। उनका कृष्ण इस सृष्टि का निर्माण कर्ता है। उनका गोविंद ब्रह्मांड का धारणकर्ता है। उनका खुदा वह जो मनुष्य के दसों दरवाजों को खोल देता है। रब वह है जो चौरासी लाख योनियों को परवरदिगार है। करीम वह है जो सबका रख-वाला है। गोरख वह है जो ज्ञान-गरिमा से ही ज्ञात किया जा सकता है। महादेव वह है जो मन की बात जानता है। सिद्ध वह है जो समस्त दृश्यमान जगत का साधक है। नाम त्रिभुवन की एक मात्र गति है। जगत के सारे सिद्ध पैगम्बर आदि उसकी ही पूजा कर रहे है।[2]

कबीर के राम[3] ने "न तो दशरथ के घर अवतार ही लिया था और न ही उन्होंने

---

१. निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगति गति लखि न जाई।
चारि बेद जाके सुमृत पुराना।
नौ व्याकरना मरम न जाना।
सेस नाग जाके गरुड़ समाना।
चरन कंवल कंवला न हि जाना।
कहै कबीर जाके भेदे ना हीं।
निव जन बैठे हरि की छांहीं।
कबीर ग्रंथावली; पृ० ४६।

२. कबीर ग्रंथावली; पद ३२७।

३, न दशरथ धरि औतरि आवा, ना उसने ले गोद खिलाया।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया।
बावन होई न बलि छलिया, धरनी वेद लेन उधारिया।

लंका के राजा का नाश किया था। वामन अवतार धारण कर न तो उन्होंने बलि को ही छला था। न तो वे ग्वालों के संग ही घूमे फिरे थे। न ही वेदोद्धार के लिए वराह का रूप धारण कर धरती को दाँतों पर उठाया था। वे न तो गंडक के सालिगराम हैं, न वराह, न ही मत्स्य, कच्छप आदि विष्णु के अवतार ही हैं। न ही वे नर नारायण के रूप ही हैं।"

हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार "तुलसीदास के मन में" "दशरथ सुत हितु लोक बखाना, राम नाम का मर्म है आना" वाली उक्ति कबीर की ही थी।[1] इस प्रकार राम की अनुभूति को कबीर ने गूंगे का गुड़ ही कहा है। जो दर्शन और तर्क से परे है। पुस्तक की विद्या से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह तो केवल प्रेम से ही प्राप्त होता है। कबीर का मत है कि राम भक्त के दुःख को समझते हैं। राम के जितने भी रूपों का वर्णन उन्होंने किया है उसके मूल में निहित भावना को समझने की आवश्यकता है। सत्य को ही कई स्थानों पर उन्होंने राम का पर्याय माना है। उसे गुणातीत निर्गुण और निराकार कहा है। राम के रहस्य को प्रगट करने के लिए उन्होंने कई चेष्टाएँ की हैं।

कबीर की भक्ति का स्वरूप—कबीर ने अपनी समस्त साधना अपने मौलिक और व्यक्तिगत रूप में ही की थी। उनकी भक्ति पर किसी ने रहस्यवाद का आवरण चढ़ाया है और किसी ने एकेश्वरवाद का। उनके बारे में यह भी कहा गया कि वे (उनकी बानी) अपने "वाग् वैचित्र्य द्वारा अनपढ़ लोगों को चकित किया करते थे।"[2] ये सब मत भ्रामक और एकांगी हैं।

सगुण भक्तों ने भक्ति के कई साधन बताए हैं। अनन्यभाव से भगवान की शरण ही भक्ति में आवश्यक होती है। कबीर का स्वर बाह्याचारों के खंडन में जितना ही तीव्र हुआ है उतना ही भक्ति के क्षेत्र में विनय पूर्ण था। वे कहते हैं कि स्वामी हमारी भी चिंता करो। हम भवजल में पड़े हुए है। यदि तुमने सहारा नहीं दिया तो हम बह जाएंगे। हम क्या मुख लेकर विनती करें, हमें तो लाज आती है। मैं तो जन्म का अपराधी हूं। तुम तो मेरे अवगुण को देखते ही हो। मेरे नखशिख में तो विकार

गंडक सालिगराम न कोला, मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री बैठा ध्यान नहिं लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा।
तारमती शरीर न छांड़ा, जगन्नाथ के पंड न गाड़ा।
कहै कबीर विचार करि, यह उसे व्यवहार।
या ही ये जे अगम है सो विरति रह्या संसार।

कबीर ग्रंथावली; पृष्ठ २४२-४३।

१. कबीर; हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० ११९।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास; राम चन्द्र शुक्ल; पृ० ७७।

ही भरा पड़ा है। तुम ही मेरी रक्षा करो। मेरे अवगुणों को क्षमा कर दो। मैंने अवगुणों से बहुत से खराब कार्य किए हैं, चाहे दंड दो या चाहे बख्श दो।"[1]

वे कहते हैं कि "हे गोविन्द मैं तुम्हारी शरण आया हूं। क्यों नहीं मुझे तार देते। मनुष्य वृक्ष के नीचे छाया ही की आशा से आता है। यदि उसमें से ही आग निकलने लगे तो फिर क्या उपाय है? हे स्वामी, कबीर तो केवल तुमको ही जानता है। वह तुम्हारी शरण में आया है। कैसा आश्चर्य है कि तुम उसको चला रहे हो। हे गोविन्द सचमुच ही तुम डरने की वस्तु बन गए हो। कहां तो प्रेम रूपी अमृत देकर शरणागत की रक्षा करनी थी और कहां तुम उसे वियोग की ज्वाला में झुलसाने लगे।"[2]

प्रत्येक संप्रदाय में भक्ति के साधन और उपकरण निर्दिष्ट किए गए हैं। कबीर ने भक्ति के लिए इस तरह के किसी भी बाहरी साम्प्रदायिक साधन की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया है। कबीर की भक्ति बिना शर्त आत्म समर्पण मांगती है। शंकर के सिद्धान्तों में भक्ति के लिए आखिर थोड़ा-सा स्थान था। वैष्णव आचार्यों ने तो भक्ति को ही प्रधानता दी है। उपनिषदों की सूक्तियों के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने शंकराद्वैत का खंडन किया है। शंकर ने भी उपनिषदों की सूक्तियों का आश्रय लिया ही था। काव्यात्मक दृष्टिकोण से कबीर के वे पद श्रेष्ठ है जिनमें उन्होंने एक भक्त का हृदय व्यक्त किया है। कबीर मानते हैं कि उन्होंने सहजावस्था को प्राप्त कर लिया है। भक्ति के लिए एक रस होकर अपने आपको वे जाति-पांति के बंधनों से ऊपर समझते हैं। भक्ति के लिए यह अपेक्षित है कि संपूर्ण रूप से आडम्बर का त्याग कर दिया जाए।

इसी भक्ति के लिए कबीर कहते हैं कि "मैंने जाति और कुल दोनों का ही बन्धन भुला दिया है। शून्य और सहज में मैं अपना कपड़ा बुनता हूं। स्वयं ही बुनकर उसे पहिनता हूं। जहां अपने आपको नहीं पाता हूं वहां आकर गाने लगता हूं। अपने

---

१. सुरति करो मेरे साँइयाँ हम है भवजल माँहि।
आप ही बह जायेंगे जो नहि पकरो बाँह।
क्या मुख लै विनती करौं कैसे भावों तोहि।
तुम देखत अवगुण करो कैसे भावों तोहि।
मैं अपराधी जनम का नख सिख भरा विकार।
तुम दमता दुख भंजना मेरी करो सम्हार।
अवगुण मेरे बाप जी बक्स गरीब निवास।
जो मैं पूत कपूत हौं तऊ पिता की लाज।

कबीर ग्रंथावली; पृ० १०९-१०।

२. कबीर ग्रंथावली; पृ० १०९-१०।

आपको गीतों के द्वारा पाने का प्रयास करता हूँ। पंडित और मुल्लाओं ने जो कुछ भी लिखा है उसे हमने छोड़ दिया है। देख लो हमारा हृदय पवित्र है।"[1]

पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर की भक्ति का मूलाधार प्रेम था। ये कहते हैं कि "यह विरह की मारी वियोगिन पिऊ-पिऊ कर अपनी जान दे रही है। लेकिन उसका पिऊ तो निर्गुण है। शून्य स्नेही राम के बिना वहाँ और किसी का महत्व नहीं है।"[2] "विरह की मारी कबीर की आत्मा पिया मिलन की आस लेकर आखिर कब तक खड़ी रहे। पिया का स्थान ऊँचाई पर है। वहाँ भला कैसे जाएँ? पाँव ठहर नहीं पाते। चढ़-चढ़कर गिर जाती है। सम्हल-सम्हलकर वह आगे पैर रखती है। अंग-अंग काँप रहा है। पैर आगे नहीं पड़ते। भ्रम में पड़ी है। वह अनाड़ी है। उसे कभी मधुर मिलन का अनुभव नहीं हुआ। मार्ग संकीर्ण है, चाल अटपटी है। मिलन हो तो भला कैसे हो? इस समय तो सद्गुरु का ही आधार है। अपने अंतरपट खोलकर उन्हें ग्रहण कर ले पगली।"[3]

---

१. उलटि जात कुल दोऊ विसारी, सुन्न सहज माहि सुनत हमारी।
हमरा सगरा रहा न कोऊ, पंडित मुल्ला छाँड़े दोऊ।
बुनि बुनि आप पहिरावो, जई नहीं आप तहाँ ह्वै गावो।
पंडित मुल्ला जो लिख दीया, छाँडि चले हम कुछ न लीया।
रिदै खलासु निरखि लै मोरा, आजु खोजि खोजि मिले कबीरा।
कबीर; हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० ३००।

२. मैं अबला पिऊ-पिऊ करूँ निर्गुन मेरा पीव।
शून्य सनेही राम बिन, देखूँ और न जीव।
सत्य कबीर की साखी; वेंकटेश्वर; पृ० २६-२७।

३. पिया मिलन की आस, रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहि चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी।
पाँव नहि ठहराय, चढ़ूँ गिर गिर परूँ।
फिरि फिरि चढ़ूँ सम्हार चरन आगे धरूँ।
अंग अंग थहराइ, तो बहु विधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि, तो भ्रम में परि रहूँ।
बारि निपट अनारि, ये तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है।
छोरो कुमति विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु सबद सम्हारि चरन चित दीजिए।
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लावरी।
दिलबिच दास कबीर, मिले तोहि को बावरी।

कबीर ने भक्ति के लिए किसी बाहरी सांप्रदायिक आवरण को न तो स्वीकार ही किया और न ही उस प्रकार के किसी विधान की व्याख्या ही की है। "भक्ति और भेष में तो वही अंतर है जो जमीन और आसमान में है। भक्तिमय पुरुष तो अपने गुरु के ही चरणों में लीन हो जाता है। भेष की चिंता तो संसार को होती है। एक दूसरे की देखा-देखी क्या कभी भक्ति होती है? वह भक्ति ऐसी है जो अपना रंग बदल देती है। जैसे सांप अपनी केंचुली बदलता है वह उसी प्रकार है। उसकी अवस्था ऐसी ही है जैसी कि केसर की उसमें धूल पड़ जाने से होती है। इसे तो अपने कुल-वर्ण आदि की बाजी लगाकर जीतना पड़ता है। वह तो सूरमाओं का ही कार्य है। कामी, क्रोधी और लालची लोगों से भक्ति नहीं होती।"[१]

कबीर का साधक संसार के लिए भले ही बाहरी रूप से कठोर रहा हो किन्तु उसके हृदय में तो प्रेम का निर्मल स्रोत ही बहता था। वहाँ तो अभिमान को स्थान है ही नहीं। वहाँ तो बलिदान देकर के पश्चात् ही उसकी प्राप्ति होती है। वह तो प्रेम का घर है, खाला का घर थोड़े ही है। पहले अपने अहंकार को मिटाना होता है तब कहीं ईश्वर की प्राप्ति होती है। वहाँ प्रेम को मिटाना नहीं पड़ता। उसे सुलगना पड़ता है। न तो खेत में ही उगता और न ही बाजार में बिकता है। राजा हो या प्रजा जिसे उसकी आवश्यकता है वह ले जा सकता है किन्तु शर्त यह है कि उसे अपने सिर को कटवाना होगा और अपने अहंकार को दूर करना होगा।[२] "प्रेम की गली तो इतनी संकरी है कि उसमें दो, मनुष्य और उसका अहंकार उसमें नहीं आ सकते। जिस शरीर में प्रेम का संचार नहीं हुआ वह तो श्मशान के समान है। जैसे लुहार की खाल होती है जो वायु के निरे साँस लेती है उसी प्रकार ही वह मनुष्य है जिसमें कि प्रेम का संचार नहीं हुआ।"[३] "प्रेम का बवंडर उठा और यह शरीर उसमें जाकर मिल गया। आखिर उसका ही तो वह अंश था।"[४] कबीर की भक्ति का केन्द्रबिन्दु ही प्रेम है।

कबीर ने अपनी भक्ति में विरह के सुन्दर चित्र खींचे हैं। पिया के विरह में

---

१. कबीर वचनावली; पृ० १०२।

२. यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे भुईं धरे तब पैठे घर माँहि।
दास कबीरा यों कहे ऐसा हो तो आय।
प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा प्रजा केहि रुचे सीस देह ले जाय।

कबीर वचनावली; पृ० १०३।

३. कबीर वचनावली; पृ० १०६।

४. वही

कबीर की भक्ति रूपी प्रिया की आँखों में झांई पड़ गई है। नाम रटते-रटते जीभ में छाले पड़ गये हैं। आँखों से आंसू वह रहे हैं। किन्तु पपीहे के समान मुंह में रट लगी ही हुई है। वेदना से सारा शरीर म्लान हो गया है। राम कब मिलेंगे? लोग इसे सांसारिक पीड़ा ही समझ रहे।[1]

कोई नहीं समझता कि यह प्रेम की पीड़ा है। यह पीड़ा भाव जन्य है। लोग भले ही इसे दुःख कहें किन्तु यह तो उससे भिन्न है। परम प्रियतम के लिए रो-रोकर आँखें तो लाल हो गई हैं। प्रियतम का तो मार्ग यही है। पीड़ा और दुःख के पश्चात ही उसकी प्राप्ति होती है। वह हँसी और सुख को नहीं चाहता। यदि हँसकर ही उसकी प्राप्ति हो जाती तो भला संसार में कोई दुःखी ही क्यों रहता? रोदन में भी भक्त के लिए उल्लास है। पिया से प्रेम रस लेकर कबीर ने अपने आपको मिटा दिया था। पिया के समक्ष उसने अपने अस्तित्व को भुला दिया है। एक म्यान में भला दो तलवारें कैसे रह सकती हैं? कबीर ने तो अब प्रेम का प्याला अपने अन्तर् से लगा लिया है। रोम-रोम में वही प्रेम बस रहा है। कबीर ने गुरु रस का पान किया है, छाछ तक नहीं रही है। वह पक गया है। भव सागर से तर गया है। उसे संसार में आने की आवश्यकता नहीं है। पके घड़े को कुम्हार के चाक पर पुनः चढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती।[2]

कबीर के बहुत ही कम पद मिलेंगे जिनमें कि भगवद् भक्ति संबंधी उदाहरणों

---

१. अंखड़ियाँ झांई पड़ी, पन्थ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़या, राम पुकारि-पुकारि।
नैना नीझर लाइया, रहट बसे निह जाम।
पपीहा ज्यूं पिय-पिय करे कबरू मिलहुगे राम।
अंखड़ि प्रेम कसाइयाँ लोग जाणै दुखड़ियाँ।
सांई अपणै कोणै रोई-रोई रत्तड़ियाँ।
हंसि-हंसी कंत न पाइ जिन पाया तिन रोई।
जो हंसि-हंसि ही हरि मिले तो न दुहागिन कोई।

कबीर ग्रंथावली; पद ६।

२. पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान।
कबिरा प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहया और अमल क्या खाय।
कबिरा हम गुरू रस पिया बाकी रही न छाक।
पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढ़सि चाक।

कबीर वचनावली, पृ० १०४।

की कमी हो। कबीर की साधना भक्ति की ही साधना है। कबीर के वास्तविक अध्ययन के लिए उनकी भक्ति को समझना आवश्यक है। कबीर साहित्य में भक्ति के अतिरिक्त जो अन्य बातें उपलब्ध होती हैं उनका महत्त्व गौण ही है। भक्ति का महत्त्व सर्वोपरि है। इस असार संसार में भक्ति को ही सार माना गया है। जो लोग कबीर को केवल समाज-सुधारक ही कहकर संतोष कर लेते हैं वे उनके भक्ति पक्ष की ओर से बिल्कुल आंखें बन्द कर लेते हैं। समाज-सुधारक, कवि, निर्गुणिया या सहजिया होने से पहले कबीर एक भक्त हैं। वही उनका मूल और वास्तविक रूप है। उनकी वाणियों में ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय है और इसीलिए उन्होंने बार-बार प्रेम की ही व्याख्या पर जोर दिया है। इसकी शिक्षा लेने वे नहीं गए। सती को भला कौन सिखाता है? अपने स्वामी के साथ वह अपना तन क्यों चढ़ा देती है? प्रेम को कौन सिखाता है कि भोग-त्याग में ही है।[1]

कबीर वास्तव में ज्ञानी भक्त हैं। उनकी भक्ति में ज्ञान का सम्बन्ध है। ज्ञान और चिंतन करने के बाद भी ईश्वर से उन्होंने रागात्मक सम्बन्ध ही स्थापित किया था।

भारतीय भक्ति आंदोलन और कबीर—कबीर का युग दो प्रकार के धर्मों के संगम का समय था। उस समय हिन्दू और मुस्लिम विचारधारा अनेक रूपों और संप्रदायों में प्रवाहित हो रही थी। ऐसे समय में कबीर ने अपनी वाणी का प्रसार किया। वह समय भारत के लिए अभूतपूर्व था। भारतीय भक्ति साधना में कबीर का स्थान निश्चित करने से पहले यदि हम उस युग के पीछे स्थित एक सुदीर्घ आती हुई परम्परा का ऐतिहासिक अवलोकन करें तो वह उपयोगी सिद्ध होगा। कबीर के समय में जो धार्मिक स्थिति थी वह एक दिन का परिणाम नहीं थी। उसका बीज तो बौद्ध-धर्म के पतन के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। आर्य संस्कार अपने मूल स्वरूप को खोकर नवीन रूप धारण कर बैठे थे। अभी तक जो आक्रमणकारी बाहर से आते थे, वे यहां पर हार कर या जीत कर बस जाते थे। वे यहां की संस्कृति को अपना लेते थे। उनके धार्मिक विचारों में ऐसी विषमता नहीं होती थी जिससे कि उनका विरोध होता।

सर्व प्रथम बौद्ध धर्म का उस समय के हिन्दू धर्म से सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका। बौद्ध धर्म के समय या बुद्ध के ही समय भारत के दो भाग स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे थे। एक तो उच्च वर्ण और दूसरी निम्न वर्ण की जातियां। जाति प्रथा उग्र रूप धारण कर बैठी थी। ब्राह्मणों की जन्मजात ही श्रेष्ठता थी। आर्यों की वर्ण-व्यवस्था तो एक प्रकार से अपने अन्तिम सांस ही गिन रही थी। उस समय यज्ञों में पशु बलि होती थी। धर्म का स्वरूप काफी स्थूल हो गया था। संस्कृत देवभाषा थी।

---

१. सती कौन सिखावता है, संग स्वामी के तन जारना जी।
प्रेम को कौन सिखावता है, त्यागमांहि भोग का पावना जी।

फिर निम्नवर्ण को उसे सीखने का अधिकार भला कैसे हो सकता था इसी समय भारत में बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। निम्नवर्ण की जातियों को इससे एक प्रकार का त्राण मिला। भारत में बौद्धधर्म एक हद तक फैलाता ही गया; सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से बौद्धधर्म का ब्राह्मणों से सामंजस्य न बैठ सका। सिद्धांतों की दृष्टि से भी दोनों धर्मों में कई अन्तर थे। आत्मा की नश्वरता और ईश्वर की अस्तित्वहीनता का प्रतिपादन कर बुद्ध ने एक नवीन धर्म को पुरस्सर किया। बुद्ध की मृत्यु के बाद उसमें भ्रष्टाचार फैलने लगा। बौद्ध धर्म में निस्संदेह चिंतन तो उच्च-कोटि का हुआ किन्तु उसके कई विचार अपनी अस्पष्टता एवं गहराई के कारण जनता में ग्राह्य न हो सके।

बौद्धधर्म में उच्चकोटि के चिंतन के बावजूद भी, जनता को कई प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। जितनी बातें बुद्ध ने बताई थी यदि उनके अनुयायी वहीं तक रह जाते तो धर्म फिर भी रह जाता। बुद्ध की दो सदी बाद ही उनके शिष्य उन बातों पर विचार करने लग गए जिस पर कि स्वयं बुद्ध मौन रह गए थे। सिद्धांतों को बुद्ध ने अवक्तव्य कहा था। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध पंडितों ने अपनी स्वतंत्र कल्पना से काम लेना शुरु कर दिया। बौद्धधर्म ने पुनर्जन्म को तो माना किन्तु आत्मा को नश्वर बताया। आत्मा की नश्वरता के कारण पुनर्जन्म भला कैसा? इस प्रश्न के उत्तर में जनता के समाधान के लिए पूरी शक्ति नहीं थी। दूसरा प्रश्न निर्वाण को लेकर उठा। लोगों ने सोचा कि आत्मा नश्वर है तो पुनर्जन्म की कल्पना ही बेकार है और पुनर्जन्म नहीं है तो निर्वाण की क्या आवश्यकता? संघों और विहारों में समा कर यह धर्म जीवन से दूर भागने लगा।

ब्राह्मणवाद ने पुनः अपना सिर उठाया। बौद्धधर्म का उन्मूलन कर ब्राह्मणवाद यहाँ तक बढ़ा कि बौद्धधर्म का उन्मूलन करने वाले शंकर को भी "प्रच्छन्न बौद्ध" की संज्ञा मिली। बुद्ध के शून्यवाद को शंकर ने "प्रमाण विप्रतिषिद्ध" कहा। यह हालत यहाँ तक बढ़ी कि लोगों में यह कहावत के तौर से प्रचलित हो गया कि "मरते हुए बौद्ध के मुँह में पानी डालना भी पाप है।"[1] बुद्ध ने स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा देने के पश्चात् कहा था "आनंद, मैंने जो धर्म चलाया था वह पाँच सहस्र वर्ष चलने वाला था। किन्तु अब पाँच सौ वर्ष ही चलेगा। क्योंकि मैंने स्त्रियों को भिक्षुणी होने की अनुज्ञा दे दी है।" पाँच सौ वर्ष बाद ही बौद्धधर्म ने अपने पतन के पश्चात् महायान का स्वरूप ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया।

इन भ्रष्ट बौद्ध भिक्खुओं ने अपनी आचारहीनता छिपाने के लिए अनेकों तन्त्रों की रचना की। तंत्रों के लिए मार्ग खुल गया। स्त्री सेवन और विलासिता बढ़ने लगी। इस पतनोन्मुख बौद्धधर्म ने महायान की संज्ञा प्राप्त की। तंत्रों और

---

१. संस्कृति के चार अध्याय; दिनकर; पृ० २०२।

योगधारा के मार्ग से इन्होंने अपना विकास किया। महायान को ही उसके अनुयायियों ने मन्त्रयान का नाम दिया। महासुखवाद का प्रवेश होते ही यह वज्रयान कहलाया। इसका परिणाम ही बाद को सहजयान था। सहजयान इसी परम्परा का स्वाभाविक विकास था। क्योंकि दूसरे धर्मों की तरह ही बौद्धधर्म में ब्रह्मचर्य और भिक्षु जीवन पर जोर दिया गया था। लेकिन बारह शताब्दियों के तजुर्बे ने बता दिया था कि यह ढोंग के सिवाय कुछ नहीं है, आदमी आहार की ही तरह कामभोगों में पशुओं से विभिन्नता नहीं रखता। मठों के अप्राकृतिक जीवन में···बुराइयाँ बहुत भारी परिणाम में घुस आई थीं।[२] स्वयं बुद्ध ने अति योग पर प्रतिबंध लगाकर मध्यम मार्ग के लिए ही कहा था।

दूसरा धर्म जिससे कि हिन्दू धर्म का सामंजस्य नहीं हो सका वह था इस्लाम। बौद्धधर्म तो जहाँ से प्रारम्भ हुआ था वहीं समाप्त हो गया। लेकिन इस्लाम ने बाद को भारत में असभ्य और बर्बर आक्रमणकारियों के साथ प्रवेश किया। इस्लाम के आने से पहले ही भारत में इस्लाम के लिए भूमि तैयार हो गई थी। इसका एक मात्र कारण था उच्च जातियों के अत्याचार। इन निम्न जातियों की बुरी दशा थी। अपनी जाति के कारण वे सामाजिक अधिकारों से वंचित थे। वे नगरों से बाहर बसते थे। जब इस्लाम का भारत में प्रादुर्भाव हुआ उस समय इन निचली जातियों को उसमें एक प्रकार की राहत मिली। वह एक ऐसा नया धर्म था जो कि सामाजिक भूमि पर सब की एकता को स्वीकार करता था। यहाँ हर पहले इस्लाम बराबर था। निचली जातियों के लिए यह बात कम महत्त्व की नहीं थी। ये नीची जाति के लोग न तो उस समय हिन्दू ही थे और न ही मुसलमान।

इस्लाम के आने से एक आन्दोलन-सा उठा। पहले-पहल ये आक्रमणकारी बौद्धधर्म को समझने में असमर्थ रहे। स्वयं अलबेरूनी ने इन बौद्ध भिक्षुओं को "सिर मुंडे ब्राह्मण" कहकर ही संबोधित किया था। मुसलमानों के आने पर बौद्धधर्म भारत से बिल्कुल उठ गया। विदेशी आक्रमणकारियों ने मठों और विहारों पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट कर दिया। इन मठों के नष्ट होने से बौद्धधर्म मिट गया। लेकिन हिन्दूधर्म के साथ यह नहीं हुआ। हिन्दूधर्म केवल मठों और विहारों में ही नहीं था। न ही वह केवल मन्दिरों में ही था। वह जन-जन में व्याप्त था। मन्दिरों के नष्ट होने पर भी वह बना रहा। हिन्दू धर्म लोगों की आदतों में, उनके आचार-विचारों में बसता था।

जाते-जाते बौद्धधर्म जिनको अपने उत्तराधिकारी के रूप में छोड़ गया वे वर्णाश्रम, तीर्थ, व्रत, अवतार आदि के विरोधी थे। यही परम्परा आगे चलकर निर्गुण संतों के रूप में परिणित हो गई। इन्होंने ही हिन्दू मुस्लिम भेदभावों को दूर करने

---

२. हिन्दी काव्य धारा (राहुल)।

का प्रयास किया"। आरम्भ में लोगों ने इन्हें समझने में भूल की। इनके कड़े रुख के कारण इन्हें हिन्दुत्व का ही विरोधी बताया गया। इन आलोचकों ने हिन्दुत्व के नाम पर सदा उन स्वार्थियों का पक्ष लेने का ही प्रयास किया है। ये स्वार्थी सदा धर्म के नाम पर स्वार्थ साधन करते रहे हैं। इन स्वार्थियों को जब कोई खरी-खरी सुनाता तो वे अपने बचाव के लिए जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए धर्म विशेष की आड़ ले लेते हैं। अपने आप पर जो पड़ती है उसे धर्म के नाम पर फेंक देते हैं। लोगों को भी इतना समझने की फुर्सत नहीं रहती कि आखिर उस बाह्याचार या पाखंड संबंधी की गई आलोचना का क्या उद्देश्य था।

इस्लाम का हिन्दुत्व से समन्वय नहीं हो सका। इसका उत्तर स्वयं इस्लाम ही दे सकता है। अपने आरम्भिक दिनों में यह क्रांतिकारी धर्म था। दार्शनिक उलझनों से दूर रहकर मनुष्य को अन्ध-विश्वासों से बचाता था। हजरत मुहम्मद के बाद जब तक आरम्भिक खलीफाओं का जोर रहा तब तक हिन्दुओं से उनका संबंध मैत्री पूर्ण ही रहा। अबू बक्र, उस्मान उमर, अली जैसे खलीफाओं तक तो उसे ठीक तरह से संवारा गया। किन्तु जैसे ही वह अर्ध सभ्य और बर्बर जातियों के हाथों में पड़ा वह स्वार्थसाधन का माध्यम हो गया। गजनवी इस तरह का भारत के लिए पहला अत्याचारी था। कोई भी इतिहासकार उसके भयानक अत्याचारों की ओर से अपना मुँह नहीं मोड़ सकता। जिन मुसलमानों के कारण भारत में इस्लाम ने अपनी प्रतिष्ठा खोई थी वे गजनवी और गोरी अपने स्वार्थसाधन और तुच्छ मनोवृत्तियों को पूरा करने के लिए इस्लाम का बहाना लेकर असभ्य आक्रमणकारी अत्याचार करते हुए आगे बढ़े। गजनवी और गोरी के हाथों जो इस्लाम फैला वह वास्तविक इस्लाम का स्वरूप नहीं था। वह इस्लाम का विकृत रूप ही था। गजनवी और गोरी के अत्याचारों के प्रति मुसलमान लेखक मौन रहे हैं। इस्लाम की आड़ लेकर जो अत्याचार भारत में हुए वे शायद ही किसी देश के इतिहास में मिलें।

इस्लाम का हिन्दूधर्म से सामंजस्य न हो सकने के कई कारण थे। मुसलमानों की धर्मसाधना समूहगत थी। हिन्दुओं की साधनापद्धति व्यष्टिगत थी। हिन्दू जातियों में बंटे हुए थे। ये जातियों के बन्धन अत्यन्त दुस्तर थे। एक जाति से दूसरी जाति में जाना बहुत ही कठिन काम था। इस्लाम में इस तरह का कोई भेदभाव नहीं था। मुसलमानों के आने से पहले भारत में फैले हुए धर्मों का कोई निश्चित मत नहीं था। वह गैर इस्लामी मत था। जिसका नाम कालान्तर हिन्दू पड़ा। समस्त भारत में फैले हुए इन मतों या लोगों में सांस्कृतिक एकता थी। उनकी विभिन्नता में भी एकता थी। यह धर्म आचार प्रधान था। आचार प्रवणता और जाति प्रथा इसके आधार थे। मुसलमानों ने किसी धर्म को अपने में आत्मसात करने की दीक्षा नहीं ली थी। इस्लाम, धर्म को नहीं बल्कि व्यक्ति विशेष को अपने धर्म में दीक्षित करता था। एक बार दीक्षित हो जाने के पश्चात् उस व्यक्ति को सामाजिक अधिकार प्राप्त होता था।

इस्लाम इन बर्बरों के हाथ में पड़कर इस समय गैर मुसलमानी धर्मों को तहस-नहस करने की दीक्षा ले चुका था। हिन्दूधर्म को इस तरह की कोई शिक्षा नहीं मिली थी।

इन आक्रमणकारियों से पहले सूफ़ियों का आगमन इस देश में प्रारम्भ हो गया था। हिन्दुओं की आचार प्रवणता को वे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके। इस्लाम एक ऐसा मजहब था जो कि अपने अनुयायी को एक सुसंगठित समाज का सहारा देता था। परन्तु कबीर के समय में इस्लाम का विकृत और भ्रष्ट स्वरूप ही भारत में फैला रहा था। उनके अनुयायी उन्हीं बातों का अनुसरण कर रहे थे जिसके लिए कि उन्हें मनाई की गई थी। हिन्दुओं की ही तरह उनमें आचार प्रवणता का विकास हो रहा था। कबीर के समय में आकर तो उसका इतना पतन हो चुका था कि कबीर को उसके लिए कड़े से-कड़े शब्दों का व्यवहार करना पड़ा था। एक ओर तो ये मूर्तियाँ तोड़ते थे तो दूसरी ओर दरगाहों और कब्रों को पूजते थे।

ऐसे ही समय में कबीर ने मध्यम पथ का अनुसरण किया। ये सहजमार्गी कहलाते थे। इनकी स्थिति हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों से ही अलग थी। उस समय सहज-सहज तो सब चिल्लाते थे किन्तु इसको पहिचानने वाले ये संत ही थे। भारतीय भक्ति-धारा में कबीर का स्थान बहुत ऊंचा है। वे संत विचारधारा के समर्थक और प्रतिपादक थे। एक ओर हिन्दू भक्त थे तो दूसरी ओर मुसलमान भक्त। इनकी परम्परा ने दोनों को मिलाने का प्रयास किया। नीति के ऊंचे-से-ऊंचे आदर्शों का प्रतिपादन कर इन्होंने अपने व्यावहारिक विचारों को जनता के समक्ष रखा। कबीर के बिना भारतीय इतिहास के मध्य-युग के भक्ति आन्दोलन का अध्ययन अधूरा ही कहा जाएगा। मध्ययुगीन भक्ति साहित्य में कबीर की वाणियों का प्रमुख स्थान है।

भारतीय साधना के चार अंग माने जाते हैं। वे हैं कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति। कबीर साहित्य में इन चारों को देखा जा सकता है।

सहज साधना—अभ्यास की दृष्टि से कबीर की सहज साधना सबसे उत्कृष्ट कही जाएगी। सहज साधना एक प्रकार का मध्यम मार्ग ही है। इस सहज साधना की भारतीय भक्ति साहित्य में एक सुदीर्घ परम्परा रही है। उसके ऐतिहासिक क्रमिक विकास में तो स्थानाभाव के कारण जाना कठिन है। कबीर ने आत्मानुभूति की स्थिति में सदा रहने को सहज समाधि में रहना भी कहा है। इस सहज समाधि में अपनी प्रकृति सदा के लिए परिवर्तित हो जाती है। मन, पवन और सुरति एकत्रित होते हैं और ज्ञानाग्नि द्वारा काया की प्रकृति जलकर नष्ट हो जाती है।

किन्तु यह सहज साधना सरल नहीं है। यह तलवार की धार पर चलने के समान है। वे कहते हैं—

सहज सहज सब कोऊ कहे सहज न चीन्हे कोय।
जो सहजें साहब मिले सहज कहावे सोय।
सहजै सहजै सब गया सुत चित काम निकाम।

एक मेक ह्वै मिलि रहा दास कबीरा जान।
कड़वा लागे नीम-सा जामे एचातानि।
सहज मिले सो दूध-सा माँगा मिले सो पानि।
कह कबीर वह रक्त सम जामें ऐचातानि।

नानक और कबीर ही सच्चे अर्थों में सहजमार्गी थे। गृहस्थ जीवन को निभाते हुए उन्होंने अपनी भक्ति की। उनका यह मार्ग वास्तव में मध्यम था जो कि जन-साधारण के लिए सम्भव था। संतों का यह सहज मार्ग बौद्ध के मध्यम मार्ग से पृथक् था। यह एक प्रकार का वज्र मार्ग ही है। जहाँ न तो सांसारिक बातों को ग्रहण ही किया जाता है और न ही उनका परित्याग ही किया जाता है। वहाँ हठयोग से अपने शरीर को सुखाना नहीं पड़ता। सहज मार्ग का उद्देश्य होता है कि मनुष्य संसार में रह-कर भी सच्चे अर्थों में प्रगति कर सके। कबीर ने आडंबर, बाह्याचार आदि को अपनी साधना में स्थान नहीं दिया है। सहजावस्था में हृदय स्वच्छ हो जाता है और निर्म-लता छा जाती है।

हठयोग और कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार "नाथपन्थ की साधना पद्धति का ही नाम हठयोग है।" यदि हठयोग की बाहरी क्रियाओं, साधनों और आसनों को निकाल दिया जाए तो कबीर के हठयोग संबंधी विचारों में और हठयोग के सिद्धांतों में अद्भुत साम्यता मिलेगी। कबीर साहित्य का योग संबंधी बातों से सम्बन्ध तो प्राप्त होता है किन्तु हमें यह बात मूल में याद रखनी है कि कबीरदास योगी नहीं थे। वे गोरख के शिष्य नहीं थे। प्रश्न केवल यही रह जाता है कि उनकी बानियों में कहाँ तक योग का प्रभाव है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे हठयोग से अलिप्त रह सके थे।

कबीर ने भी यौगिक बाह्याचारों का उसी प्रकार खंडन किया है जैसे योगियों ने आचारों, तीर्थ, व्रत, छुआछूत आदि का खंडन किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि कबीर ने इस्लाम के अनुयायियों के बाह्याचारों का भी खंडन किया है जबकि योगियों के खंडन की परम्परा हिन्दुओं तक ही सीमित है। कबीर के खंडन स्वरों में योगियों की तीव्रता है।

गोरखनाथ अपने समय के माने हुए नेता थे। उनके बाद नाथ संप्रदाय का भारत में काफी विकास हुआ। कबीर ने इस विचारधारा को एक सीमा तक ही स्वीकार किया है। कबीर साहित्य में कुंडलिनी, इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, सुरति, अनहद नाद आदि योगियों की शब्दावली पाई तो जाती है किन्तु योगियों की शुष्क क्रियाओं एवं बाह्याचारों का तो स्पष्ट विरोध किया गया है। योगियों की क्रियायें उनकी सहजसाधना से अपना सामंजस्य न बैठा सकीं। अपने आपको व्यर्थ कड़े-से-कड़े कष्ट देने का दर्शन कबीर की बुद्धि ग्रहण करने से अस्वीकार करती थी।

कई लोगों का कथन है कि प्रारम्भिक दिनों में कबीर ने योगमत को स्वीकार

किया था। योग की क्रियाओं का जो उल्लेख उनकी वाणियों में मिलता है वही रचनाएँ इसी समय की ही हैं। किन्तु कबीर ने कभी भी योग को अपनी भक्ति का परम लक्ष्य नहीं माना है। धूनी रमाने, समाज से बाहर जाना, तपस्या करने के लिए वन में जाना उनके लिए एक प्रकार का पलायन था। योगियों के मनोमारन को चित्त निरोध के रूप में कबीर ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं "योगियों के अनुसार योग ही अच्छा है और सभी पंथों से श्रेयस्कर है। ये रुंडित-मुंडित योगी कहते हैं कि उन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली है। किन्तु सच तो यह है कि हरि के बिना वे अज्ञान में डूबे हैं।"[1]

कबीर ने योग की क्रियाओं को शरीर में ही धारण करने के लिए कहा है। वे कहते हैं मेरे कर्णभूषण श्रुति और स्मृति ही हैं। पहनने का वस्त्र क्षितिज ही है। उठना बैठना शून्य गुफा है। संप्रदाय कर्मकांड विहीन है। सिंगी ब्रह्मांड और खंड हैं। पृथ्वी बटुआ है और संसार भस्म है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में उनकी त्राटक लगी है।"[2]

कबीर की रचनाओं में योग की शब्दावली के अतिरिक्त योग की अन्य बातों का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनका साध्य तो भक्ति में था न कि योग में। योग से प्रभावित होकर भी कबीर योगी नहीं थे।

गुरु महिमा—यद्यपि कबीर के किसी मानव गुरु का पता नहीं लगता किन्तु अपनी बानियों में यत्र-तत्र गुरु की महिमा पर कबीर ने प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है कि "सन्तों, भक्ति सतो गुरु आनी।"[3] वे कहते हैं कि सतगुरु की महिमा अनन्त है। उसने मेरे नेत्रों को खोल दिया है।[4] किन्तु शिष्य का भी योग्य होना आव-

---

१. योगी कहहि जोगु भल मीठा अवरू न दूजा भाई।
रुंडित मुंडित एके सबही एकइ कहहि सिधि पाई।
हरि बिनु भरमि भुलाने अंधा।
जा पहि जाइ आप छुटकावान से बाँधे बहु फंधा।

२. सुरति सिम्रिति दुइ कन्धि मुद्रा परमिति बाहिरि खिंथा।
सुन गुफ महि आसणु बैसणु मलप बियरजित पंथा।
खंड ब्रह्मंड महि सिंगी मेरा बटुवा जगु भस्माधारी।
ताड़ी लागी त्रिपलु पलटी में छूटै होइ पसारी।

३. कबीर वचनावली; पृ० १२५।

४. सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार।।
कबीर ग्रंथावली, पृ० ३, साखी गुरुदेव को अंग।

श्यक है। यदि शिष्य ही बेकार है तो गुरु बिचारा क्या करे[1] और कहीं गुरु और शिष्य दोनों ही अंधे हुए तो फिर कहना ही क्या। अंधा यदि अंधे का ही मार्ग-दर्शन करे तो दोनों ही कुएँ में पड़ेंगे।[2]

बाह्याचार खंडन—जिस समय कबीर का आविर्भाव हुआ उस समय क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों में ही बाह्याचारों की प्रधानता हो रही थी। दोनों ही अपने-अपने सिद्धान्तों से अलग जा चुके थे। हिन्दुओं में गलत किस्म का धर्म प्रचलित हो रहा था। अहिंसा, संतोष, त्याग आदि बहुत ही विकृत रूप धारण कर बैठे थे। कायरता, अज्ञान और भावुकता से जनता पीड़ित थी। मुसलमान कई फिरकों में बँटे हुए थे। उसे देखकर कबीर का कवि भला कैसे चुप रह सकता था।

हिन्दुओं में पौराणिक मत और योगियों की ही प्रबलता थी। कबीर ने जो कुछ भी कहा है वह हिन्दू धर्म की आचार-बहुलता को लक्ष्य करके कहा है। किसी भी दार्शनिक या पौराणिक सत्यवाद का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। कबीरदास को वह ढोंग खटकता था। पांड़े या पंडित को संबोधित कर उन्होंने कई पद कहे हैं। उनका पंडित एक साधारण बौद्धिक स्तर का प्राणी है। उसे संबोधित कर उन्होंने उससे कई प्रश्न किए हैं।

"पांड़े झूठी बात कहता है। राम कहने-मात्र से यदि दुनिया गति पा जाती तो शक्कर कहने मात्र से मुँह न मीठा हो जाता? पानी कहने से ही प्यास बुझ जाती। आदमी के साथ जब तक तोता होता है तब तक वह हरि नाम लेता है, लेकिन जंगल में उड़ जाने के बाद वह उस आदमी को याद भी नहीं करता"[3] ऐसी बात नहीं कि पांड़े

---

१. सतगुर बपुरा क्या करे, सिपही मांहि चूक।
भावे त्यूँ प्रमोधि ले ज्यूँ बंसि बजाई फूक॥

कबीर ग्रंथावली

२. जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत॥ क० ग्र०; पद १५; पृ० २।

३. पंडित वाद वदते झूठा
रामा कह्यां दुनिया गति पावै,
खांड कह्यां मुख मीठा।
पावक कह्यां पांव जो दाझे।
जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूख जे भाजे,
तो सब कोइ तिरि जाई। नर के साथ सूवा हरि बोले, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ जाय जंगल से बहुरि न सुरते आनै।

हजारी प्रसाद द्विवेदी; कबीर।

प्रेम भक्ति आदि को न जानता हो। उसे इन सब बातों का पता है। लेकिन कबीर ने यह मान लिया है कि वह इन्हें नहीं जानता क्योंकि इन बातों का उसके दैनिक जीवन में प्रयोग नहीं दिखता। जैसा उसका जीवन होना चाहिए वैसा नहीं है। नामदेव का पांड़े भी कबीर के पांड़े के ही गुण धारण करने वाला है। वह तीर्थ, व्रत, छुआछूत, स्नान, जाति-पांति के अतिरिक्त कुछ जानता ही नहीं। पंडित के अपेक्षित गुणों का कबीर को पता था। उनका आशय पांड़े के उसी स्वरूप से था जिसका कि उपयोग पांड़े अपना पेट भरने के लिए कर रहा था। इससे पंडित के बारे में कबीर के अज्ञान का पता नहीं लगता बल्कि उस समय पुरोहित वर्ग की क्या दशा थी, इस बात पर प्रकाश पड़ता है और धर्म के नाम पर फैले भ्रष्टाचार के ऐतिहासिक अध्ययन में सहायता मिलती है।

हिन्दू ही नहीं, मुसलमानों के बाह्याचारों पर भी उन्होंने आघात किया। सुन्नत, बांग, कुरबानी आदि की उन्होंने खरी आलोचना की। काजी किताब पढ़ते-पढ़ते मर गया। यद्यपि बाहर से संस्कार युक्त कर कबीर का शरीर मुसलमान बना लिया गया था किन्तु यह क्रिया अधूरी थी। उन्होंने भक्ति का दामन थाम लिया था। इसलिए काजी झख मारकर भी उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकता था।[1] एक बार भक्ति का रास्ता पकड़ लेने पर कोई भी बाह्याचार उनका मार्ग नहीं रोक सकता था। आगे वे कहते हैं कि "कंकड़-पत्थर एकत्रित कर किसी तरह मस्जिद तो बना ली। उस पर चढ़कर मुल्ला बांग दे रहा है। क्या खुदा बहरा हो गया है।"[2]

दोनों ही धर्मों के बाह्याचारों से कबीर को कोई मतलब नहीं था। बाह्याचारों का खंडन न तो कबीर का पागलपन ही था और न ही उनका अहंकार। वे कहते हैं "देखो जगत किस तरह पागल हुआ जा रहा है। सच कहो तो दुनिया मारने दौड़ती है। हिन्दू कहते हैं कि राम हमारा है और मुसलमान कहते हैं कि रहीम हमारा है। आपस में दोनों ही झगड़ रहे हैं। धर्म कोई नहीं जानता है। धर्म का पालन करने

---

१. काजी कौन कतेब बखाने,
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एक नहीं जाने।
सकति से नेह पकरि करि सुनति यह न बंदू रे भाई।
जोर खुदाई तुरक मोहि करता तो आपे कटि किन जाई।
हजारी प्रसाद द्विवेदी; कबीर; पृ० ३२६, पद १६८।

२. काँकरि पाथरि जोरि के,
मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे,
क्या बहिरा हुआ खुदाय? —कबीर

वाले तो मुझे बहुत मिले। प्रातः ही वे उठकर स्नान करते हैं। आत्मा को छोड़कर पाषाण की पूजा करते हैं। वे ज्ञानहीन हैं। डिंभ धारण कर आसन मारकर बैठे हैं। मन में अभिमान भरा है। पीपल और पत्थरों की ये पूजा करते फिरते हैं। वे टोपी, माला इत्यादि धारण करते हैं। भजन गाते-गाते अपनी आत्मा की ही खबर भुला बैठे हैं। माया के अभिमान में मंत्र पढ़ते फिरते हैं। गुरु के साथ शिष्य भी डूब गए हैं और अंतकाल में जाकर पछताने लगे हैं। बहुत से पीर औलिया देखे जो कुरान आदि पढ़ते फिरते हैं। खुदा को खुद तो उन्होंने समझा नहीं उल्टे मुरीदों की ही संख्या बढ़ाकर उन्हें कब्र का रास्ता बतलाते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही दया को भुला दिया है। मांस खाते हैं और इस तरह के कार्य करने पर भी हम पर हँसते हैं। अपने को सयाना कहते हैं। कबीर कहते हैं कि दोनों में कौन दीवाना है यह तो समझ लेने की ही बात है।"[1]

खंडन की यह परंपरा कबीर के पहले ही चली आ रही थी। यह कबीर के पूर्ववर्ती हठयोगियों में भी पाई जाती है। योगियों से पूर्व सहजयानी सिद्धों में भी वह पाई जाती है। किन्तु कबीर की खंडन-वृत्ति अपनी पूर्ववर्ती इस खंडन की परंपरा से

---

१. साधो, देखो जग बौराना

साँची कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोऊ लड़े मरतु हैं मरम कोइ नहिं जाना।
बहुत मिले मोहि नेमी धर्मी प्रात करें असनाना।
आतम छोड़ि पषानैं पूजे तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीपर पाथर पूजन लागे तीरथ धर्म भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना।
साखी सब्दे गावत भूले आतम खबर न जाना।
घर घर मंत्र जो देत फिरत हैं माया के अभिमाना।
गुरुवा सहित शिष्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना।
बहुतक देखे पीर औलिया पढ़ें किताब कुराना।
कहैं मरीद कबर बतलावैं उनहूँ खुदा न जाना।
हिन्दु की दया मेहर तुरकन की दोनों घर से भागी।
वह करे जिबह वां झटका मारे आग दोऊ घर लागी।
या विधि हँसत चलत है हमको आप कहावें स्याना।
कहें कबीर सुनो भाई साधो इनमें कौन दिवाना।

हजारी प्रसाद द्विवेदी; कबीर, पृ० ३२६ पद १६८।

भिन्न है। कबीर ने ख न के लिए ही खंडन नहीं किया है। उनका मूलभूत केन्द्र तो भक्ति पर ही आधारित था। उनके खंडन में योगियों में पाई जाने वाली खीझ नहीं है। उसमें आत्म-विश्वास है। वे समाज के एक उपयुक्त ढांचे को देखना चाहते थे। उस रूप में न देखकर उन्हें चिढ़ होती थी। उस समय अपनी भावना को वे अत्यंत जोरदार शब्दों में व्यक्त कर देते थे। उन्हें इस बात की चिंता नहीं होती थी कि सुनने वाले पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा।

कबीर इतनी जोर से अपनी बात कह सके, इसके कई कारणों में से एक कारण यह भी था कि वे आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र थे। किसी के दरवाजे पर भिक्षा लेने नहीं गए थे और न ही पुरोहित का धंधा अपनाकर धर्म के नाम पर उन्होंने रोटी ही कमाई थी। धर्म का ऐसा गलत फायदा भी उन्होंने नहीं उठाया जैसा कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों में लोग उठा रहे थे। उन्हें अपनी कमाई पर गर्व था। वह पसीने की रोटी थी जिसमें पाप की बू नहीं थी। सत्य को भला उसी रूप में देखने में उन्हें क्यों झिझक होती? वे जुलाहे का धंधा करते थे। कपड़ा बुनते थे और भक्ति रस में लीन रहते थे। वे तो इतने मस्त रहते थे कि उन्हें अपने लाल की लाली ही चारों ओर दिखाई पड़ती थी। वे स्वयं ही उसके रंग में रंगकर लाल थे।[1]

कबीर जब राम रहीम की बात करते हैं तो उनका उद्देश्य "अद्वैतवाद के साथ पैगंबरी खुदावाद को मिलाने" का नहीं होता। वे कहते हैं कि राम एक है, उसके दो नाम लेने से यह दो नहीं हो जाता। वे नामों के पीछे नहीं दौड़ते फिरते। उन्हें वस्तु से मतलब था उसके नाम से नहीं। "सार, सार को गहि रहे, थोथा देइ उड़ाय।" लेकिन दुनिया तो उस थोथे के ही पीछे दौड़ रही थी। दोनों धर्मों के पुरोहित वर्ग ने अपनी-अपनी गद्दियां बना रखी थीं। धर्म के नाम पर तोप, बंदूकों की नौबत आ जाती थी। कबीर कहते हैं कि भाई यह भी अजब योग है कि महादेव के नाम पर पंथ चलाकर वे महंत कहाते हैं। हाट बाजारों में ये समाधियां लगाते फिरते हैं। इन कच्चे सिद्धों को माया ही प्यारी है। दत्तात्रेय ने भला कब शत्रुओं पर चढ़ाई की थी या शुकदेव ने कब तोपों का संग्रह किया था? या नारद ने कब बंदूक चलाई थी? ये विरक्त बने बैठे हैं किन्तु इनकी गद्दियां सोने से जगमगा रही हैं। इन्होंने हाथी-घोड़े जमा कर लिए हैं।[2]

---

१. लाली मेरे लाल की जित देखो, तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।

२. ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरे लिए गफिलाई।
महादेव को पंथ चलावे, ऐसो बड़ो महंत कहावे।
हाट बजारे लावें तारी, कच्चे सिद्ध न माया प्यारी।
कब दत्ते मवासी तोरी, कब सुखदेव तोपची जोरी।

दोनों धर्मों के बाह्याचारों के खंडन का मूल उद्देश्य यह बताना था कि "दोनों का परमात्मा आखिर कहाँ से आया ? अल्लाह, राम, करीम आदि नाम कैसे हैं ? जैसे आभूषण एक ही तत्व से बने होते हैं, उनके नाम ही भिन्न हैं। जो नमाज़ में है ही पूजा में है। वही महादेव है और वही मुहम्मद है। चाहे उसे आदि पुरुष ब्रह्मा के नाम से पुकार लो या उसे अल्लाह कह लो। एक ही जमीन पर रहते हैं। कोई तुरुक कहलाता है और कोई हिन्दू। वही मौलाना है और वही पांड़े है। चाहे वे खुतवा पढ़ें चाहे वेद आखिर दोनों एक ही बात है। एक ही मिट्टी के बर्तन हैं। केवल नाम ही अलग-अलग हैं। कबीर कहते कि दोनों ही भूल चुके हैं राम को कोई नहीं पा रहा है।"

कबीर ने झूठे संस्कारों, आडंबर, आचार-विचारों और व्यवहारों का ईर्ष्या-वश विरोध नहीं किया बल्कि ईर्ष्यावश दूसरों द्वारा कबीर का ही विरोध किया गया है। उनमें कठोरता नहीं थी। लेकिन सत्य होने के कारण उनकी वाणी कठोर लगती थी। उनकी वाणी सत्यता का भार वहन करने के कारण लोगों को असह्य बन गई थी। हिन्दू समाज में धार्मिक विद्रोह के बीज बोने का कार्य बौद्ध सिद्धों ने कबीर साहब से बहुत पहले ही प्रारंभ कर दिया था और इस बात में उनके साथ जैन-मुनियों तथा नाथपंथियों ने भी हाथ बँटाकर आगे मार्ग प्रशस्त किया। परंतु इन सुधारकों के प्रयत्न अधिकतर अस्पष्ट और अनियंत्रित थे। अथवा वे विभिन्न चमत्कारों पर आश्रित जान पड़ते थे। तमिल प्रान्त के अलवारों से प्रेरणा प्राप्त कर अग्रसर होने वाले आचार्यों का भक्ति आन्दोलन भी एकांगी था। क्योंकि वह किसी भी सामाजिक न्याय की व्यवस्था केवल वैष्णव धर्म के आधार पर ही देख सकता था। शास्त्रीय रूढ़ियों अथवा परंपराओं के प्रति उनका मोह पूर्ववत् ही बना हुआ था। इसके सिवाय सार्वभौम प्रेम की दुहाई देने वाले सूफ़ियों की भी दशा इनसे अधिक अच्छी नहीं थी। इस्लाम के प्रति उनकी आस्था जैसी-की-तैसी बनी हुई थी और वे मानव समाज के मूलाधार सिद्धांतों की विशद व्याख्या करते समय अपने पूर्व संस्कारों का परित्याग नहीं कर सकते थे। कबीर साहब को इन तीनों ही वर्ग वालों से प्रेरणा ग्रहण करने का अवसर मिला और उन्होंने इन तीनों की ही संकीर्णताओं से दूर बने रहने की चेष्टा की।[1]

काव्य प्रकार और छंद योजना—कबीर साहित्य के अध्ययन पर सबसे बड़ी इस दुविधा का सामना करना पड़ता है कि उनके कई पद भिन्न-भिन्न स्थानों पर

नारद कब बंदूक चलाया, व्यासदेव कब बंब बजाया।
उरहि लराई मति के मंदा, ई अतीत की तरकस बंदा।
धोरा चोरी कीन्ह बटोरा, गाँव धाग जस चले करोरा।

बीजक; ६९ रमैनी।

१. परशुराम चतुर्वेदी; कबीर साहित्य की परख; पृ० २, प्रस्तावना।

परिवर्तन के साथ उपलब्ध होते हैं। कबीर साहित्य के बहुत ही कम पद प्रामाणिक कहे जाएँगे। उनकी रचनाओं में प्रबंध काव्य का अभाव है। अधिकतर रचनाओं को मुक्तक या गीत की ही संज्ञा प्रदान की जा सकती है। उनके साहित्य को हम निम्न-लिखित शीर्षकों में ही पाते हैं। वे हैं (१) साखी (२) पद (३) रमैनी (४) बावनी (५) चौंतीसा (६) थिती (७) वार (८) चांचर (९) हिंडोला (१०) कहरा (११) बेलि (१२) बिरहुली (१३) विप्रमतीसी।

उनकी सभी रचनाओं को शास्त्रीय दृष्टिकोण से काव्य नहीं कहा जा सकता। वैसे तो उन्होंने अपने सरल भावों को व्यक्त करने के लिए ही पदों की रचना की थी किन्तु उसमें भी उनकी प्रतिभा के कारण काव्य कहलाने वाले कई उच्चकोटि के प्रसंग आते हैं। वे उन्हें किसी भी ऊँचे कवि से पीछे नहीं रखते। उनकी रचनाओं में उनकी साखियों की ही संख्या सर्वाधिक है। साखी को लोगों ने साक्षी का ही अन्यतम रूप माना है। साखियों में दोहे, चौपाई, श्याम, उल्लास, हरिपद, गीता, सार तथा छप्पय छंद मिलते हैं। दूसरे उनके पद या सबद प्रसिद्ध हैं। इन्हें कहीं-कहीं बानी भी कहा गया है। पदों में सार, रूपमाला, ताटंक विष्णुपद, उपमान आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

कबीर की कविता में व्याकरण के नियम और शास्त्रीय संस्कार नहीं मिलते। न ही छंदों की विविधता है और न ही अलंकारों की प्रचुरता पाई जाती है। उनका विषय क्षेत्र भी लौकिक दृष्टिकोण से संकुचित है। किन्तु इन दोषों की आड़ कबीर की कविता की व्यापकता को नहीं ढंक सकती। कबीर पहले भक्त थे फिर कवि। उनकी कविता का आधार उनकी स्वानुभूति ही है। उनकी कविता का भावपक्ष उनके कला-पक्ष की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कबीर की कविता में सहज ही रूप से उत्तम अलंकारों की योजना हुई है। उनके साहित्य में जो कुछ भी भाग कविता के अन्तर्गत आता है वह उन्हें एक ऊँचा कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

कबीर की भाषा—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कबीर की भाषा का विश्लेषण किया ही नहीं जा सकता। क्योंकि उनकी भाषा में एकरूपता मिलती ही नहीं। एक ही पद विभिन्न स्थानों पर शब्दों और अक्षरों के हेर-फेर के साथ प्राप्त होता है। 'मसि कागद' को तो कबीर ने हाथ लगाया ही नहीं था। उनके शिष्यों ने जो पद समय-समय पर लिख लिए थे वही कबीर के नाम से बाद को प्रचलित हुए। हो सकता है कि भक्तों की मातृभाषा का इन पदों पर प्रभाव पड़ा हो। कबीर के जो पद जिन-जिन क्षेत्रों में प्रचलित हुए उन पर स्थानीय भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा होगा। यह भी हो सकता है कि उन पर प्रादेशिक बोलियों का रंग चढ़ गया हो। जो पद पंजाब में प्रचलित हुए होंगे उन पर पंजाबीपन आ गया होगा। इसलिए कबीर के प्रचलित पदों की भाषा के दृष्टिकोण से शुद्धता संदेहास्पद है।

किन्तु व्याकरण और भाषाविज्ञान की कसोटी पर खरी न उतरकर भी उनकी

भाषा अपनी सानी नहीं रखती। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें "वाणी के डिक्टेटर"[1] कहा है। उनकी भाषा में प्राण हैं। व्यंग करने की शक्ति है। जिसके प्रति वह व्यंग होता है वह भी सुनकर तिलमिला उठता है। उनकी कविता से जो इधर-उधर आध्यात्मिकता आ गई है वही उनको महाकवि के पद पर पहुँचाने के लिए पर्याप्त है। उनकी भाषा की शक्ति उनकी व्यक्तिगत विशेषता ही है।

उनकी भाषा में अवधी, ब्रज, भोजपुरी, खड़ी बोली, पंजाबी और राजस्थानी भाषा की प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। कबीर की भाषा के बारे में अंतिम निर्णय देना कठिन काम है।

व्यक्तित्व विश्लेशण—कबीर का हृदय दोनों ही धर्मों की बुरी अवस्था को देखकर रो उठा था। उनकी करुणा जाग उठी थी। लेकिन वे कोई अभिनेता नहीं थे जो कि केवल सहानुभूति प्रगट करके ही चुप हो जाते। उनकी करुणा ने संसार की भाषा में कठोरता का आवरण पहिना।

यदि अच्छी तरह से देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनके हृदय में एक गहरी करुणा और तड़प थी। उन निरीह लोगों की ओर से वे अपना मुंह नहीं मोड़ सके जिन्हें कि धर्म के नाम पर पुरोहित वर्ग मूड़ रहा था। उनके पास एक भक्त का हृदय था। सत्यता का भार वहन करने के कारण उनकी वाणी कठोर लगती है। इन अत्याचारियों के पास दया नाम की कोई चीज नहीं थी। कबीर के पास दया और भक्ति दोनों ही थे। क्या योगी और क्या पांड़े या मुल्ला उनकी आलोचना से कोई भी नहीं बच सका। उन्होंने तो लोगों को समझाकर कहा था—

ज्ञान की गेंद सुर्त का डंडा कर,
खेल चौगान मैदान मांही।
जगत का भरमना छोड़ दे बालके,
आय जो भेष भगवंत पांहीं।
भेष भगवंत की शेष महिमा करे,
शेष के सीर पर चरन डारे।
कामदल जीति के कमल दल सोधि के,
ब्रह्म को बोधि के क्रोध मारे।
पद आसन करे पौन परिचे करे,
गगन के महल पर मदन जारे।
कहे कबीर कोई संत न जौहरी,
करम की रेख पर मेख मारे।

कबीर ने जो कुछ भी कहा वह फटकारकर ही कहा। वह औचित्य की सीमा

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी; कबीर, पृ० २१६।

से बाहर नहीं गया। वे परमात्मा से मिल चुके थे। सांई से उनका साक्षात्का रहो चुका था। इसलिए उन्हें संसार की चिन्ता तो थी नहीं, उन्हें आडंबरपूर्ण साधनों के पीछे जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वे न तो अपने जीवन के लिए किसी पर आधारित ही थे। वे सत्य के उपासक थे और सत्य की खोज में ही लगे रहे। सत्य के सिवाय उनका लक्ष्य अन्य नहीं था। वे भक्त अवश्य थे, उनके पास प्रेम था किन्तु किसी के लिए झूठा मोह नहीं था। स्वभाव से ही वे फक्कड़ तबियत होने के कारण रूढ़ियों से चिपके रहना उन्हें पसन्द नहीं था। वे तो प्रेम के दीवाने थे इसलिए दुनिया वालों से भला उन्हें क्या करना था। वे ऐसे प्रेम के दीवाने नहीं थे जो कि बेकारी में ही अपना समय नष्ट करते। उनका प्रिय तो उनके पास ही था। इसलिए कबीर निश्चित थे। द्वैत भावना उनके पास से जा चुकी थी। उनकी मस्ती में बेचैनी नहीं थी, वे तो कहते थे कि—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहें आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?
जो बिछुड़े हैं पियारों से भटकते दर-बदर फिरते ।
हमारा यार हममें है हमन को इंतजारी क्या ?
खलक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है ।
हमन गुरु नाम सांचा है हमन दुनिया से यारी क्या ?
न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़े पियारे से ।
उन्हीं से नेह लागी है हमन को बेकरारी क्या ?
कबीर इश्क का कर माता, दुई को दूर कर दिल से ।
जो चलना राह नाजुक है हमन सिर बोझ भारी है ॥

उन्होंने जहाँ कहीं भी असत्य को देखा वहीं बेझिझक उस पर उठाकर आलोचना कर डाली। उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि इस काम में असफलता मिलेगी या सफलता। उन्हें बदनामी की भी चिन्ता नहीं हुई। अपने ही जीवन-काल में अपने विचारों की स्पष्टता के लिए उन्हें कितना ही विरोध और कितने ही कष्ट सहने पड़े किन्तु वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। वे संसारी मनुष्य तो थे ही नहीं जो कि किसी बात की व्यावहारिकता पर विचार करते रहते। उन्होंने अपने कर्तव्य को पहिचान लिया था। कायरता वश उन अन्ध विश्वासों और अन्यायों को देखकर उन्होंने तटस्थ रहकर यह नहीं कहा कि "हमें क्या करना है ?" उनका साहस भरा जीवन इन्हीं मिथ्या विचारों से संघर्ष करता रहा।

योग और भक्ति का समन्वय लेकर उनका व्यक्तित्व खड़ा हुआ था। योग की परम्परा तो उन्हें, अपने ही कुल से प्राप्त हो गई थी। योगी को उन्होंने जहाँ कहीं भी संबोधित किया है वहाँ उनका उद्देश्य केवल योग की शुष्क प्रणाली के विरुद्ध ही जाना था। माया और ममता से कबीर अपने रास्ते से हटने वाले नहीं थे। उन्हें किसी

को धोखा देना पसन्द नहीं था। वे नहीं चाहते थे कि पुरोहित वर्ग धर्म के नाम पर लोगों के अज्ञान से लाभ उठाए। उन्होंने जो कुछ भी कहा उसमें आत्म-विश्वास था, अहंकार नहीं, उसमें न तो खीझ ही है और न ही "अंगूर खट्टे हैं" वाली भावना। प्रेम और भक्ति के नाम पर कायरता और दुर्बलता उनमें नहीं थी।

कबीर ऐसे प्रेमी थे जिनमें अहंकार नहीं था। उनका प्रेम ज्ञान का बोझ उठता है। प्रेम को कबीर ने बहुत ही ऊँचा स्थान दिया है। जो लोग कबीर को अहंकारी और कटु वाणी का प्रयोग करने वाले बताते हैं वे कबीर के उन पदों की ओर दृष्टिपात नहीं करते जहाँ पर कबीर ने अपने आप को निरीह-से-निरीह माना है। कहीं तो उन्होंने अपने को राम की कुतिया कहा है और कहीं ये कहा है कि सपने में भी यदि किसी से बर्राते समय भी राम का उच्चारण हो जाए तो मैं उसकी जूती का चमड़ा बनने को तैयार हूँ।

उनकी प्रचण्डता उनकी सरलता में थी। निरीहता में उनकी निष्ठा थी। उनका एक यह रूप है और वह एक रूप है जहाँ कि पंडित या शेख को संबोधित कर वे खरी सुनाते हैं। जब कभी भी तत्कालीन पंडितों की आलोचना की जाती है तो ये पंडित वेद-पुराण आदि का सहारा लेकर जनता की सहानुभूति, धर्म के नाम पर ले, सदैव अपने कुकृत्यों को ढँकते आए हैं। पुराण और कुरान की दुर्गति जितनी इस पुरोहित वर्ग के हाथों हुई है उतनी दूसरों के हाथों नहीं, उनकी व्यंगोक्तियाँ सुनकर पंडित और मुल्ले तिलमिला उठते थे। सरल और सीधी-सी भाषा में कबीर ने ऐसी चोट की है जो कि संत साहित्य ही में अद्वितीय नहीं है बल्कि उनके पहले के सिद्धों और योगियों के साहित्य में भी अद्वितीय है। हिन्दुओं ने उन्हें मुसलमान जानकर छोड़ दिया और मुसलमानों ने उन्हें हिन्दू जानकर उनकी उपेक्षा की। लेकिन कबीर सच्चे अर्थों में मनुष्य थे। वे अनुभव के बाद ही कुछ कहते थे। पंडित तो कागज पत्तर देखकर ही कुछ बोलता था किन्तु ये तो अपनी आँखों देखी ही कहते थे—

तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखों की देखी।

उनका समाज न तो मुसलमानों द्वारा ही आदर पा सका और न ही हिन्दुओं द्वारा। कबीरदास ने जिस व्यंगात्मक भाषा का प्रयोग किया है वह हिला देने वाली है। उसमें पाया जाने वाला तीखापन योगियों के कटाक्ष और व्यंग में नहीं है। वे एक ऐसी लापरवाही से जवाब देते थे कि वह उनके सुनने वालों का आसन हिला देता था। उन्होंने जो कुछ भी सीखा वह उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा का ही परिणाम था। कबीर ने ऐसे समाज का प्रतिनिधित्व किया जिसके लिए कि जाति-प्रथा मरण बनकर खड़ी हुई थी। उस अनाहत समाज के लिए यह जीवन मरण का सवाल था। लेकिन ऊंची जाति वाले उन्हें ऐसे देखते थे जैसे कि वे कोई पशु हों। उनसे कहा जाता कि इस जन्म में आँख बन्दकर सेवा किए जाओ अगले जन्म में उच्च जाति में जन्म लोगे।

जैसे-जैसे हिन्दू समाज का पतन होता जा रहा था वैसे-वैसे उनमें उच्च भावना-ग्रंथि बढ़ती जाती थी। अपनी कमजोरियों को जानते हुए भी उनके प्रति अज्ञानी बने रहने में उनका ही लाभ था।

कबीर के विरोधी दोनों धर्मों के ही ठेकेदार थे। कबीर की उग्रता आत्म-रक्षा पर ही थी आक्रमण नहीं। कबीर साहब के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय कोई तो उन्हें वैष्णव कहता है और कोई अक्खड़ जुलाहा या कई उन्हें समाज-सुधारक ही मानकर संतोष कर लेते हैं। जो हिन्दू उन्हें मुसलमान ही मानकर संतोष कर लेते उनके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन अत्यन्त समीचीन प्रतीत होगा। "जो लोग उन्हें (कबीर) मुस्लिम प्रभावापन्न सुधारक मानते हैं, ये बहुत ही उथले प्रमाणों पर उड़ती-उड़ती बातें करते हैं। कबीरपंथियों का और कोई दावा ठीक हो या न हो किन्तु उनका यह दावा सोलह आने संगत है कि कबीरदास मुसलमान नहीं थे। क्योंकि मुसलमान वंश में ही किसी का जन्म लेना और लालन-पालन होना किसी को मुसलमान नहीं बना देता, जन्म से मुसलमान रहे हों या नहीं विश्वास से बिलकुल मुसलमान नही थे।......उन्होंने अपने को कहीं भी मुसलमान नहीं कहा है। मुस्लिम धर्म साधना से तो उनका संबंध नाम-मात्र को था।"[1]

कबीरदास को वैष्णव[2] कहना भी उनके प्रति अन्याय करना है। अपने पदों में विष्णु के अवतरणों के तथा उनके नामों का उन्होंने उल्लेख अवश्य किया है किन्तु उन नामों के पीछे उनकी निराकार भावना तो काम कर रही थी। हमने पहले ही इस बात को साफ तौर से देख लिया है कि उनके राम निर्गुण थे। वैष्णव नामों को उन्होंने निराकार अर्थ में उल्लेख मात्र किया है किन्तु विभिन्न अवतारों की लीला उन्होंने नहीं गाई। उनका भगवान तो निराकार था। उन्हें भगवान के नाम से मतलब नहीं था। उनका मतलब तो उसके गुण से था। यदि यह मान लिया गया होता कि कबीर वैष्णव थे तो तब नानक और कबीर भारी वैष्णव मान लिए गये होते।

जो कबीर को केवल एक समाज-सुधारक ही कहकर संतोष कर लेते हैं वे भी कबीर के प्रति भारी अन्याय करते हैं। कबीर ने जो बुराइयाँ देखीं उनकी आलोचना अवश्य की किन्तु इसका यह मतलब नहीं था कि वे समाज-सुधार का बीड़ा ही उठाए फिरते थे। वे ऐसे सुधारक नहीं थे जैसे कि योरोप में मध्य-युग में पैदा हुए थे। कई योरोपीय लेखकों ने कबीर को पन्द्रहवीं सदी का भारत का मार्टिन लूथर कहा है।

---

१. कबीर; हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० १३७।

२. "कबीर सारतः वैष्णव थे। अपने आपको उन्होंने वैष्णव तो नहीं कहा है, परन्तु वैष्णवों की जितनी प्रशंसा की है, उससे उनकी वैष्णवता का बहुत प्रमाण है" श्यामसुन्दरदास; कबीर ग्रन्थावली; पृ० १७ (छठवां संस्करण)।

कबीर के व्यक्तित्व को किसी सुधारक के व्यक्तित्व के समक्ष रख सीमित नहीं किया जा सकता। मार्टिन लूथर तो केवल एक धर्म-सुधारक ही था। कबीर की भक्ति और कविता उसमें कहाँ ? मार्टिन लूथर को कोई कवि और भक्त नहीं कहता। जब कि कबीर एक उच्च कोटि के भक्त और कवि थे। कबीर और लूथर की निर्भीकता की साम्यता हो सकती है। लूथर को कबीर के व्यक्तित्व का एक अंग मात्र कहा जाएगा। कबीर का व्यक्तित्व मार्टिन लूथर के व्यक्तित्व से कहीं ऊपर उठा हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने समय में फैले हुए बाह्याचारों और आडम्बरों का खंडन किया लेकिन वह उनके महान कार्य का एक अंग-मात्र था।

किसी लेखक ने यह भी लिखा है—कबीर के समय में आर्थिक विषमता नहीं थी। यदि रही होती तो उन्होंने उस पर अवश्य कुछ-न-कुछ लिखा होता। कबीर चाहे जो रहे हों किन्तु वे कोई अर्थशास्त्र-वेत्ता नहीं थे जो कि अपने समय की आर्थिक व्यवस्था के विषय में बारीकी से लिखते। उनके चुप रह जाने का यह आशय नहीं कि उस समय आर्थिक विषमता नहीं थी। यदि विदेशी यात्रियों के तत्सम्बन्धी विवरण पढ़े जाएं तो पता लगेगा कि वह युग कितना आर्थिक विषमता और भ्रष्टाचार पूर्ण था। शासक वर्ग और सामंतवर्ग का काम निरीह जनता को केवल लूटना ही था। साधारण जनता इस सामंत वर्ग के लिए साधन जुटा-जुटाकर मर जाती थी। सामंतों के लिए विलासिता के साधन जमा करना ही साधारण जनता का कार्य था। सातवीं सदी से उन्नीसवीं सदी तक भारत के लिए घोर अंधकार का युग रहा है। अकबर के अतिरिक्त अन्य शासकों ने निरीह जनता को लूटा ही था।

कबीर की व्यापकता—

कबीर को केवल निर्गुणता के घेरे में भी नहीं रखा जा सकता। उनका मार्ग निर्गुण और सगुण से परे था। वेद तो निर्गुण और सगुण को ही बताकर यह कहते हैं कि वहाँ विश्राम मिलता है किन्तु ईश्वर तो इन दोनों से ही परे है। निर्गुण के आगे जीव सत्पुरुष को प्राप्त करता है, उसकी जगह वही है। परिपूर्ण ज्योति तो वही है। कबीर कहते हैं—

वेद कहे सरगुन के आगे निरगुण का बिसराम।
सरगुन निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम॥
सुख दुख वहाँ कुछ नहीं व्यापे, दरसन आठों जाम,
नूरे ओढ़न नूरे डासन नूरे का सिरहान।
कहै कबीर सुनो भाई साधो सतगुरु नूर तमाम॥[1]

---

१. कबीर; ह० प्र० द्वि०; पृ० २७५।

कबीर पर संपूर्ण संस्कार भारतीय ही थे। पुनर्जन्म को उन्होंने स्वीकार किया है। कबीर की विचारधारा हिन्दू और इस्लाम के बीच की कड़ी भी नहीं थी। इस्लाम मतावलम्बी तो वे थे ही नहीं। कबीर एक स्वतंत्र विचारक थे और सच्चे अर्थों में मनुष्य थे। उनकी विचारधारा को किसी भी बंधन में नहीं रखा जा सकता।

अष्टम अध्याय

दादू, रैदास तथा पीपा

जीवनवृत्त एवं विचार-दर्शन

दादू

जीवनवृत्त—दादू पंथियों के अनुसार दादू का जन्म अहमदाबाद में हुआ था। उनके मतानुसार दादू एक छोटे बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। उस ब्राह्मण का नाम लोदीराम था। किन्तु क्षितिमोहन सेन के मतानुसार अहमदाबाद में दादू के जन्म का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।[1] सुधाकर द्विवेदी के मतानुसार दादू का जन्म स्थान अहमदाबाद न होकर जौनपुर है।[2] उनके जन्म स्थान के बारे में प्रामाणिक सामग्री के अभाव में निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। इनका जन्म नानक के ६ वर्ष पश्चात् फाल्गुन सुदी२ बृहस्पतिवार सं० १६०१ को हुआ था। यह अकबर के राजत्वकाल में पड़ता है।

जाति—दादू पंथियों में इनके साबरमती में बहते हुए पाए जाने की कल्पना अधिक प्रसिद्ध है। इनकी मूल जाति का पता नहीं लगता। कई लोगों का कथन है कि ये लोदीराम के औरस पुत्र थे। बाद को पता लगता है कि इन्हें किसी ब्राह्मण ने पाल-पोसकर बड़ा किया था। सुधाकर द्विवेदी के मतानुसार ये काशी निवासी किसी मोची के पुत्र थे। क्षितिमोहन के मतानुसार ये एक मुसलमान धुनिया थे। क्षितिमोहन सेन ने तेजानन्द और जीवनपरची का आधार लेकर इनकी जाति निर्धारित की है। इनके मतानुसार ये मुसलमान थे। इनका प्रारम्भिक नाम दाउद था। इनकी पत्नी का नाम होवा था।[3] मुसलमान धुनिया होने का प्रमाण उनके मुसलमान शिष्य रज्जब के कथन से मिलता है—

> धुनि गर्भे उत्पन्नो, दादू योगेन्द्रो महामुनि।
> उत्तम जोग धारणम्, तस्मात् क्यं न्याति कारणम्॥[4]

---

१. क्षितिमोहन सेन; दादू, उपक्रमणिका, पृ० ११–१२।

२. क्षितिमोहन सेन; मिडिवियल मिस्टीसिज्म; पृ० १०८।

३. वही; पृ० १०६।

४. रज्जब जी की सर्वंगी; बे० बे० प्रेस प्रयाग; साध महिमा को अंग।

इन बातों से उनके धुनिया रह जाने में कोई संदेह नहीं रह जाता।

गुरु—प्रसिद्ध है कि जिस समय इनकी अवस्था ११ वर्ष की थी उस समय एक दिन ये अपने बालक मित्रों के साथ खेल रहे थे। एक साधु ने आकर इनसे भीख माँगी और पान खाकर अपनी पीक इनके मुँह में डाल दी। उस समय तो इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु जिस समय इनकी अवस्था १८ वर्ष की थी उस समय उसी साधु ने इन्हें पुनः दर्शन देकर पूर्ण ज्ञानी बना दिया। दादू ने उस साधु का नाम तो कहीं नहीं बताया है। क्षितिमोहन सेन ने इनके गुरु का नाम बुड्ढन या वृद्धानन्द बताया है।[1] कई लोगों के मतानुसार कबीर के पुत्र कमाल ही दादू के गुरु थे। कबीर का नाम तो दादू ने कई स्थानों पर आदर से लिया है किन्तु कमाल का नाम कहीं भी नहीं लिया इसलिए कमाल को दादू का गुरु नहीं माना जा सकता। दादू कहते हैं कि—

साँचा समरथ गुरु मिल्या, तिन तत दिया बताय।
दादू मोट महाबली, सब घृत मथिकर खाय॥[2]

सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं में वृद्धानन्द या बुड्ढन का दादू के गुरु के रूप में नाम लिया है—

दादू जी को गुरु अब सुनिये. बहुत भाँति तिनके गुन गुनिये।
दादू जी को दरसन दीन्हो, अकस्मात काहू नहिं चीन्हो॥
वृद्धानन्द नाम है जाको, ठौर ठिकानो कहूं न ताको।
सहज रूप बिचरैं भू माहि, इच्छा परे तहाँ सो जाहीं।
वृद्धानन्द दया तब कीनी, काहू पै गति जात न चीन्ही।
दादू जी तब निकट बुलायो, मुदित होइ करि कंठ लगायो॥
मस्तक हाथ धर्यो है, जब ही दिव्य दृष्टि उघरी है तबही।
यौं करि कृपा बड़ी दत्त दीनो वृद्धानन्द पयानो कीनो॥[3]

वृद्धानन्द कबीर की ही शिष्य परम्परा में बताए जाते हैं। अतएव बुड्ढन या वृद्धानन्द को गुरु माना जा सकता है।

किशोरावस्था तक इनके जीवन का पता नहीं लगता। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्हें वृद्धानन्द के दर्शन प्राप्त हो चुके थे। उस समय तक वे अपना जन्म स्थान छोड़ चुके थे। चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार दादू १८ वर्ष की अवस्था तक अहमदाबाद में ही थे। उसके छः वर्ष बाद ये सांभर आए। परन्तु जनगोपाल के मतानुसार ये तीस वर्ष की ही अवस्था में सांभर पहुँचे थे। निम्नलिखित पद इस बात पर प्रकाश

---

१. क्षितिमोहन सेन; दादू—उपक्रमणिका; पृ० ३७।
२. दादूदयाल की बानी; वे० वे० प्रेस प्रयाग; भाग १; साखी पृ० ४।
३. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी; स्वामी दादूदयाल की वाणी; पृ० १७।

डालता है—

बारह बरस बालपन खोये, गुरु भेंटे ये सम्मुख होये ।
सांभर आये समये तीसा, गरीबदास जनमे बत्तोसा ।।[1]

यात्राएँ—सांभर आगमन पूर्व दादू काशी, विहार, बंगाल का पर्यटन करते रहे थे। इसी यात्रा में इन्होंने काफी सत्संग किया। इसी समय ये कई योगियों और नाथपंथियों के प्रभाव से अलिप्त नहीं रह सके। बंगाल के बाउलों में दादू के प्रति श्रद्धा का एक विशेष भाव है। अपनी वंदना में उन्होंने दादू या दाऊद को स्थान दिया है। उनकी वंदना की प्रथम पंक्ति इस प्रकार है—

श्री युक्त दाऊद वंदि दादू यार नाम ।[2]

दादू पर योगियों या नाथपंथियों का प्रभाव केवल सैद्धान्तिक है। दादू ने पंजाब में भी उपदेश दिए थे। पंजाब में मुझे दादू की बहुत-सी रचनाएँ हस्तलिखित पोथियों में देखने को मिली हैं। अहमदाबाद जो कि उनका जन्मस्थान बताया जाता है वहाँ पर मुझे दादू की कोई रचना प्राप्त नहीं हुई। उनके पंजाब में उपदेश देने का समर्थन पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने भी किया है।[3]

भ्रमण के पश्चात् तो दादू एक ही स्थान पर रहने लग गये थे। इनके शिष्य भी इस समय नियम पूर्वक जमा होने लग पड़े थे। सं० १६३० से ये सांभर ही में रहने लगे थे। सर्वप्रथम वहीं से अपने पंथ के लिए इन्होंने कार्य प्रारम्भ किया। इनके मिलन स्थान को "अलख दरीबा" कहा जाता था। दादू ने इसे कहीं-कहीं चौगान का नाम भी दिया है। प्रतीत होता है कि जिस समय ये सांभर में थे उस समय इनका विवाह हो चुका था। निश्चित रूप से उस समय इन्होंने पंथ निर्माण शुरू कर दिया था। इनके शिष्यों ने इस संप्रदाय को ब्रह्म संप्रदाय कहना प्रारम्भ किया था। बाद को इसी का नाम पारब्रह्म संप्रदाय दिया गया। सांभर में ये छः वर्ष तक रहे। सं० १६३२ में इन्हें प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम गरीबदास रखा गया। दूसरे पुत्र का नाम मिस्कीनदास रखा गया। इनकी दो पुत्रियाँ भी थीं। उनका नाम नानी-बाई और माताबाई था। उनका गृहस्थ जीवन पैतृक सम्पत्ति से ही चलता था। सांभर से ये आमेर चले गये थे। आमेर में १४ वर्ष ठहरे थे। आमेर जाने का निश्चित कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। सम्भवतः ये किसी प्रिय शिष्य के अनुरोध पर ही वहाँ पर गये थे। आमेर से आने पर इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई।

अकबर से भेंट—इनकी प्रसिद्धि सुनकर अकबर ने इनसे भेंट करने की इच्छा प्रगट की। अकबर से मिलने के लिए ये फतहपुर सीकरी तक गए। सं० १६४३ में

---

१. जनगोपाल; जनमपरची।
२. तारादत्त गैरोला; सांग्स आफ़ दादू; पृ० १७।
३. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल; हिन्दी में निर्गुण संप्रदाय; पृ० ७२।

दोनों की भेंट हुई। ४० दिनों तक यह सत्संग चलता रहा। कहा जाता है कि इस घटना के पश्चात् अकबर ने अपनी मुद्राओं से 'अल्लाहो अकबर' हटवा कर "जल्ल जलालुहू" अंकित करवाया। दादू की अबदुर्रहीम खानखाना से भेंट हुई थी। अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग इन्होंने आमेर में ही बिताया। सांभर में ही इन्होंने पद रचना प्रारम्भ कर दी। वहाँ से इन्होंने द्योसा, मारवाड़, बीकानेर, कल्यानपुर आदि स्थानों में जाकर उपदेश दिए। द्योसा, से आकर ये नराना नामक गुफा में निवास करने लगे थे। वहाँ जेठ वदी ८ सं० १६६० को इनका देहान्त हो गया। उस समय इनकी अवस्था ५८ वर्ष २।। मास की थी। सांभर के निकट नराना में इनकी कई वस्तुएँ अभी तक सुरक्षित हैं। रज्जब ने अकबर से इनकी भेंट का उल्लेख किया है।

अकबर साहि बुलाइया गुरु दादू को आप।
सांच झूठ बयोरो हुओ, तब रह्यो नाम परताप।[1]

शिष्य संख्या—शिष्य संख्या की वृद्धि में दादू का विश्वास ही नहीं था। इनके व्यक्तित्व के कारण इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई थी। परशुराम चतुर्वेदी ने इन प्रसिद्धि प्राप्त शिष्यों की संख्या ५३ बताई है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने शिष्यों की कुल संख्या १०८ लिखी है। मत की पुष्टि के लिये इनके शिष्यों ने अपने अलग-अलग थांवे स्थापित किये। थांवे का आशय विभिन्न दादू मतावलम्बी धार्मिक केन्द्रों से ही है। सुन्दरदास नामक दो शिष्य थे। प्रसिद्ध सुन्दरदास तो छोटे सुन्दरदास ही थे। दादू के प्रधान शिष्य और उनके उत्तराधिकारी उनके ही पुत्र गरीबदास थे। इनके समस्त शिष्य कवि ही थे। छोटे सुन्दरदास ने ज्ञानसमुद्र, सुन्दरविलास आदि ग्रंथ लिखे। इनकी साखियों और पदों की संख्या काफी है। इसके अतिरिक्त पौड़ी हस्तलेख में गरीबदास, रज्जबदास, हरदास, जनगोपाल, चित्रदास, बषना, बनवारी, जगजीवनराम, छीतम, बिसनदास आदि की रचनाएँ संग्रहीत हैं। रज्जब मुसलमान थे। सर्वंगी नाम से उन्होंने एक उपयोगी संग्रह बनाया है जिसमें निर्गुण मतावलम्बी रचनाएं ही संग्रहीत हैं। राघोदास ने अपनी भक्तमाल में एक रचना द्वारा दादू के ५२ शिष्यों की सूची इस प्रकार दी है—

दादू जी के पंथ में बावण द्रिगसु महंत।
प्रथम ग्रीब, मिस्कीन, बाई, द्वै सुन्दरदास।
रज्जब, दयालदास, मोहन ज्यारं प्रकासा।
जगजीवन, जगनाथ, तीन गोपाल, बखानूं।
गरीबजन, द्वूजन, घड़सी, जंमल द्वै जानूं।
सादा तेजानन्द पुनि प्रभानन्द, बनवारि द्वै।

1. सर्वंगी; पौड़ी।

साधू जनहुरदास, हू कपिल, चतुरभुज पार ल्यं ।
चत्रदा ,चरणप्राग दै, चंन प्रहलादा ।
वषनो जग्गोवाल, माषू, टीला श्रव चंदा ।
हिंगोल, गिर, हरि, स्यंघ, निरांदूरण, जइसो संकर।
भ्राभू बांभू. संतदास, टीकूं स्थामहियर ।
माधव, सुवास, नागर, निजाम, जन राघो वरिण कहंत ।
दादू जी के पंथ में ये बावन दिगतु न्हंत ।

रचनाएँ—दादू पंथियों के कथनानुसार तो दादू की वाणियों की संख्या बीस हज़ार है। किन्तु इन सबका कोई प्रामाणिक संग्रह अभी तक उपलब्ध नहीं होता है। दादू के शिष्य संतदास और जगन्नाथ ने हरड़ेवाणी के नाम से एक संग्रह तैयार किया है। रज्जब ने भी इन्हीं वाणियों को ३७ विभिन्न अंगों और प्रकरणों में विभाजित किया है। उक्त संग्रह का नाम अंगवधू है। सुधाकर द्विवेदी ने एक संग्रह काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित करवाया है। उसमें २६५२ साखियाँ हैं। २७ रागों के अनुसार छपे ४४५ पद हैं। जयपुर में एक दूसरा संग्रह दलजंगसिंह ने भी प्रस्तुत किया है। सबसे प्रामाणिक संग्रह चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी का है। यह अजमेर से प्रकाशित हुआ है। यह ३७ अंगों में विभाजित है। इसके पदों की संख्या २६५२ है। २७ विभिन्न रागों में छपे ४४५ पद हैं। वेलवेडियर प्रेस प्रयाग से भी दादू की रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है।

इसमें संदेह नहीं कि दादू संत-परम्परा के ही एक उज्ज्वल रत्न थे किन्तु उन्होंने अपने विचारों को अन्य संत कवियों की अपेक्षा अधिक मनोहर ढंग से रखा है, यही उनकी विशेषता है। उनका विषय तो कबीर और नानक से भिन्न नहीं था किन्तु उनका-सा माधुर्यभाव कबीर और नानक में भी नहीं पाया जाता। शैली की विशेषता तो उनकी अपनी ही है। अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने के बाद भी उनकी जागरूक चेतना समन्वय जानती थी। जो वस्तु प्रेम से हो सकती थी उसके लिए वे कठोर शब्दों का प्रयोग करना नहीं चाहते थे।

दादू को गहन अनुभूति का साक्षात्कार हो चुका था। इसलिए ही उन्होंने कहा था कि जब ईश्वर प्राप्ति हो गई तो अन्य किसी चीज़ की क्या आवश्यकता ? हरिजन में ही हरि मिल गया। कबीर की सहजावस्था दादू को भी प्राप्त हो गई थी। इसलिए उस मार्ग को उन्होंने सहजमार्ग ही कहा है। उनका ब्रह्मसंप्रदाय इसीलिए सहज-संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। उनका ईश्वर में पूर्ण विश्वास था। ऐसा ईश्वर जो कि घट-घट में व्याप्त है। दादू का मार्ग स्वतंत्र था। जो भी सत्य में विश्वास करते थे उनके लिए पंथ के दरवाजे सदैव ही खुले रहा करते थे। वे चमत्कार का विरोध करते थे। उस समय विभिन्न संप्रदायों के साधु ज्ञानहीन और अबोध जनता को तरह-तरह के चमत्कार बताकर अपना स्वार्थ साधन कर रहे

थे। दादू ने सदैव सरल भक्ति पर ही जोर दिया है। वे कहते थे, ईश्वर तो तुम्हारे अन्दर ही है। फिर देहरा या मसीत जाने की क्या आवश्यकता? सतगुरु तो इसी घट में है।[1] कबीर की ही भाँति गूंगे के गुड़ जैसी अनुभूति उन्हें भी हुई थी। उस अनुभूति को कबीर की ही तरह उन्होंने भी गूंगे का गुड़ कहा है। कितने ही पारखी मर गये किन्तु उनसे ईश्वर का मूल्य बराबर नहीं आंका गया। दादू कहते हैं कि सब आखिर इस बात के लिए हैरान हैं कि उसे कैसे व्यक्त किया जाए। उसकी अनुभूति तो गूंगे के गुड़ के समान है।[2]

दादू की साधना अद्वैतवादी थी। उसमें ईश्वर के सिवाय अन्य को स्थान नहीं। वे तो एक ही आनन्द में लीन थे। वे निराकार निरंजन ब्रह्म के उपासक थे। उन्हें तो सब जगह ईश्वर का सहज रूप ही दृष्टिगत होता था। वे तो केवल एक ईश्वर को देखना चाहते थे अन्य को नहीं।[3] भीखा को भी यही अनुभूति हुई थी इसलिए उन्होंने कहा था 'भीखा केवल एक है किरतिम भवा अनेक।'[4] दादू तो उस देश के हैं जहाँ सब एक रस हो चुके हैं।[5]

दादू की सहज भावना प्रेम से ही प्लावित हुई थी। प्रेम का जो मधुर रूप दादू के पदों में पाया जाता है वह अन्य सन्त कवियों की रचना में दुर्लभ है। इस-लिए वे कहते हैं "कि सहज के सरोवर में प्रेम की जो लहरें उठती हैं उनमें मन और आत्मा झूलते हैं। वे अपने स्वामी के साथ वहाँ पर मिल जाते हैं।"[6] पीतांबरदत्त

---

१. यह मसीत यह देहुरा, सतगुर दिया दिखाइ,
भीतरि सेवा बन्दगी, बाहिर काहे जाहि।
रामनरेश त्रिपाठी; कविता कौमुदी; पृ० २७१।

२. केते पारिख पचि मुये, कीमत कही न जाय,
दादू सब हैरान हैं, गूंगे का गुड़ खाइ।
रामनरेश त्रिपाठी; कविता कौमुदी; पृ० २७१।

३. सदा लीन आनन्द में, सहज रूप सब ठौर,
दादू देखे एक को दूजा नाहीं और।
बानी ज्ञान सागर; पृ० ४२-४३।

४. संत बानी संग्रह; भाग २; पृ० १०४।

५. एक देश हम देखिया, जहाँ सत नहि पलटै कोइ,
हम दादू उस देश के जहाँ सदा एक रस होइ।
कविता कौमुदी; भाग १, पृ० २७१; पद १०।

६. दादू सरवर सहज का, तामें प्रेम तरंग।
तहँ मन झूले आतमा अपने साँई संग।
बानी ज्ञान सागर; पृ० ४२।

बड़थ्वाल ने दादू को विवर्तवादी कहा है। दादू ने जिस एकरसता का उल्लेख किया है वहाँ जीवन और मरण का भय नहीं है। स्वर्ग, नरक का भी संशय यहाँ पर नहीं है। राम से विमुख होने में जो दिन चले गये वे खलते हैं।[1] राम के स्मरण में काया रूपी कमान में रहने वाले पाँच चोर ही बाधक हैं। इसलिए दादू कहते हैं कि इस कमान को ताकतवर ही खींच सकता है।[2]

दादू का रास्ता निराला ही था। हिन्दू और मुसलमानों की रूढ़ियों से उसका मार्ग भिन्न है। वादविवाद का झगड़ा वहाँ पर नहीं है। सहज ही में वह सब पर समभाव और दृष्टि रखना जानता है। वह तू-तू मैं-मैं के झगड़े में नहीं पड़ना चाहता है। उसका किसी से वैर नहीं, उसमें निराकार ब्रह्म की ही उपासना होती है। मोह और ममता से दूर वह अपने आप में ही पूर्ण है। वह न तो किसी का सिरजनहार है और न ही किसी का संगी। उसका आनन्द मन ही की एक आन्तरिक अवस्था है। उस राम के वियोग की अनुभूति का पता उन्हें बराबर लगता रहता था। वे कहते हैं "हमारा मित्र तो वही है। उसे किस विधि से पाया जाए ? पति तो परदेश में है। जब हमारी इच्छा होती है तो हम उसे देख नहीं सकते। यह भी कैसी विडम्बना है। बिना देखे मन में दुःख होता है। मन में उसके दर्शनों का अभाव खलता है। जब तक वह हमारे समक्ष प्रगट होकर नहीं आएगा तो हम उसके दर्शन कैसे करेंगे ? अब तक तो हम दोनों की एक ही सेज थी किन्तु अब तो वियोग नहीं सहा जाता। जब तक वे मुझसे मिलते नहीं तब तक चाहे समीप ही क्यों न हों किन्तु मेरे लिए तो दूर ही हैं न। उनके पास रहने का क्या फायदा जब उनको आँखें देख ही नहीं पातीं। मेरा हृदय धड़क रहा है। समझ नहीं आता कि उनसे कैसे मिलूं ?[3]

---

१. सुरग नरक संसय नहीं, जिवन मरण भय नाहिं।
राम विमुख जे दिन गये, सो सालें मन माहिं।
रामनरेश त्रिपाठी; कविता कौमुदी; भाग १, पृ० २७१, प० १३।

२. काया कठिन कमान है, खींचे बिरला कोई।
मारे पाँचों मिरगला, दादू सूरा सोई।
कविता कौमुदी; भाग १; प० १५, पृ० २७१।

३. कौण विधि पाइये री मीत हमारा सोइ, पासे पीव परदेस है रे।
बिन देखे दुख पाइये, यहु साले मन माहिं,
जब लौं नैन न देखिये, परगट मिले न आई।
एक सेज संगहि रैहे, यहु दुख सहा न जाई,
तब नेड़े दूर है रे जब लग मिलै न मोहि।
नैन निकट नहीं देखिये, संगि रहे क्या होइ।

दादू की तड़फ संत कवियों के लिए नई चीज नहीं है। हर संत ने ईश्वर के वियोग को कुछ ऐसे ही ढंग से व्यक्त किया है। इस वेदना का निरूपण बंगाल के बाऊलों में भी हुआ है। विरहिणी के रूप में अपनी दशा का बखान करते हुए दादू कहते हैं "मेरा स्वामी तो मेरे पास नहीं है मैं कैसे जिऊं? चंचल मन स्थिर भी नहीं होता। सदैव उदास ही रहता है। यह तो राम से भी नेह नहीं लगाता। साहब का स्मरण भी नहीं करता। बस मिलन की आस लगाए बैठा है। जिसे देखकर तू फूलता-फलता है आखिर वह तो रक्त-मांस का बना हुआ नश्वर शरीर है। संसार का भोग-विलास सब झूठा है। यदि हर सांस में प्रभु का स्मरण हो रहा हो तो ही यह जीवन जीने योग्य है। दादू कहते हैं कि यदि हरि प्रगट रूप से मिलें तो ही अंतर् में उजाला होता है।"[1]

दादू के समस्त साहित्य की विशेषता उनके प्रेम और करुणा का ही व्यक्तिकरण है। अन्य संतों की भांति दादू ने बाह्याचार का भी खंडन किया है परन्तु रोष और उग्रभाव उनमें लेशमात्र भी नहीं है। वे कहते हैं कि "जिन्होंने कंकरों और पत्थरों की सेवा की है उन्होंने अपने मूल तत्वों को ही खो दिया है। जब ईश्वर अंतर् में बैठा है तब दूसरी जगह जाने की क्या आवश्यकता है?"[2] कोई काशी जाता है, कोई द्वारका जाता है, कोई मथुरा जाता है लेकिन ये लोग भूल जाते हैं कि साहब तो

कहा करौं कैसे मिलै रे तलपै मेरो जीव,
दादू आतुर विरहनी कारन अपने पीव।
वियोगी हरि; संत सुधासार; पृ० ४२८।

१. कैसे जीवियै सांई रे सांई संग न पास।
चंचल मन निहचल नहीं, निसिदिन फिरै उदास।
नेह नहीं रे राम का, प्रीति नहीं परकास।
साहब का सुमिरण नहीं, करै मिलन की आस।
जिस देखै तूं फूलिया रे पाणि प्यंड परकास।
सो भी जलि बलि जाइगा, झूठा भोग बिलास।
तो जीवीये जीवणां, सुमिरै सांसे सास।
दादू परगट पिव मिलै तो अंतरि होइ उजास।
संत सुधासार; वियोगी हरि; पृष्ठ ४२८।

२. दादू जिन कांकर पाथर सेविया अपना मूल गँवाई।
अलख देव अन्तरि बसै, क्या दूजी जागह जाई।
संत सुधासार; वियोगी हरि; दादू; पद० २८।

घट में ही बैठा है।[1] काजी, मुल्ला, मोमिन और मुसलमान आखिर एक ही तो हैं। उनमें क्या अन्तर है? जो भी रहिमान के रंग में रंगा हुआ है वह सयाना है।[2] वे कहते हैं कि इन बातों को तो कबीर ने बार-बार कहा है किन्तु दुनिया तो पागल हुई जा रही है भला उसे सुनने की कहां फुरसत। हिन्दू और तुरक के तो अपने-अपने अलग-अलग रास्ते हैं। साधु का मार्ग तो दोनों के बीच का है।[3] मन्दिर और मस्जिद की निस्सारता को दादू ने अत्यंत नम्र भाव से व्यक्त किया है। वे बाह्याचारों की आलोचना तो करते हैं किन्तु उनमें कबीर की चोट नहीं है। हिन्दू और मुसलमानों के बाह्याचारों की उन्होंने कहीं भी तीखी आलोचना नहीं की। उन्होंने सम्यक् दृष्टिकोण प्रस्तुत कर दोनों धर्मों के बाह्याचारों की ओर संकेत अवश्य किया है।

दादू ने गुरु की महिमा भी गाई है। वे कहते हैं कि "रहस्य की रसात्मिका अवस्था में मुझे गुरु की प्राप्ति हो गई। मेरे मस्तक पर उन्होंने हाथ रखा और मुझे अगम अगाध दृष्टि प्राप्त हुई।[4] मानव गुरु के लिए गुरु तथा ईश्वर के लिए उन्होंने सतगुरु शब्द का व्यवहार किया है।

दादू कई भाषाएँ जानते थे। इसलिए हिन्दी के अतिरिक्त उनकी भाषा मारवाड़ी, सिंधी, मराठी, गुजराती और पंजाबी के पुट को भी लिए हुए है। उन्होंने पंजाबी और गुजराती में भी पद-रचना की है। फारसी के कई शब्दों का भी यत्र-तत्र उपयोग हुआ है।

दादू का स्वभाव सरल और व्यक्तित्व आकर्षक था। उनकी मृत्यु यद्यपि ५८ वर्ष की अवस्था में ही हो गई थी किन्तु इस अल्पावधि में ही उनकी काफी प्रसिद्धि हो गई थी। स्वभाव से वे नम्र और क्षमाशील थे।

रैदास

जन्म और जाति—संत रैदास की जन्म-तिथि का ठीक-ठीक पता नहीं लगता, सिर्फ इतना ही कहा जाता है कि वे कबीर के समकालीन थे। इनके पिता का नाम

---

१. दादू कोई दौड़े द्वारका, कोई कासी जाइ।
कोई मथुरा को चलै, साहिब घट ही मांहि।
संत सुधासार; दादू; पद ३१।

२. सोई काजी मुल्ला, सोई मोमिन मुसलमान।
सोई सयाने सब भले, जे राते रहिमान। **संत सुधासार**; पृ० ४२२।

३. कबीर बिचारा कहि गया, बहुत भांति समझाइ।
दुहुं बीचि मारग साध का, यहु संतों की राह।
संत सुधासार; पृ० ४२६, प० ११।

४. वियोगी हरि; **संत सुधासार**; पृ० ४४१।

रघ्घू और माता का नाम घुरविनिया था। पन्ना भगत के मतानुसार इन्होंने ढोरों का व्यवसाय करते हुए माया का परित्याग कर दिया था। ये साधुओं के साथ रहने लगे थे और भगवान के दर्शन प्राप्त करने में सफल हो गये थे।[1] इनके परिवार वालों का धंधा काशी में मृत पशु ढोने का था। स्वयं इन्होंने अपनी जाति को नीच जाति कहा है। कई स्थानों पर इन्होंने अपने को "चमार" या "खलास चमार" कहकर संबोधित किया है, यथा "कहि रैदास चमार" स्पष्ट है कि इनकी जाति चमार ही थी।

गुरु—प्रचलित परंपरा के अनुसार तो ये रामानन्द ही के शिष्य थे। इससे लगता है कि कबीर, सेन, नामदेव, त्रिलोचन आदि इनके पहले हो गये थे। उन्होंने कहा है कि "नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेनु तरे।" किसी पद में इन्होंने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है कि रामानन्द इनके गुरु थे। कबीर के साथ भी भेंट की कथाएं भी प्रचलित हैं किन्तु उसका उल्लेख भी उन्होंने कभी नहीं किया। यदि यह भी मान लिया जाए कि इनके परिवार वाले काशी के आस-पास मृत-पशुओं को ढोने का व्यवसाय करते थे तो हो सकता है कि रैदास कबीर और रामानन्द के संपर्क में आए होंगे। उन पर इस कारण कबीर और रामानन्द का प्रभाव भी पड़ा होगा। भक्तमाल में इनकी कथा अनेक चमत्कारों से भरी पड़ी है।

मीरा और रैदास—मीराबाई ने कहा है कि—

मेरो मन लाग्यो गुरु सों अब न रहूंगी अटकी।
गुरु मिल्या रैदास जी म्हाने, दीनी ग्यान की गुटकी।
सतगुरु संत मिले रैदासा, दीनी सुरत सहदानी।[2]

ऐसे ही कुछ पदों के आधार पर मीरा को रैदास की शिष्या कहा जाता है। परंतु मीरा का गुरु होना रैदास के संबंध में एक विवादास्पद प्रश्न ही है। जिस आदर से मीरा ने रैदास का स्मरण किया है उसी भाव से और आदर से उहोंने चैतन्य का भी स्मरण किया है। मीरा की भक्ति प्रधान रूप से सगुणमार्गीय ही थी। रैदास को मीरा ने सतगुरु के रूप में स्मरण किया है। वैसे तो यह साबित किया जा सकता है कि रैदास मीरा के गुरु थे हालांकि दोनों की साधना पद्धति भिन्न-भिन्न थी "अनुमान किया जा सकता है कि मीराबाई के गुरु रैदासी संप्रदाय के कोई ऐसे आचार्य रहे होंगे जो उनके समय में जीवित रहे होंगे।"[3]

झाली रानी—भक्तमाल की टीका लिखने वाले प्रियदास ने संत रविदास की

---

१. रविदासु ढुवता ढोर नीति तिन्ही तिआगी माइआ,
परगटु होआ साध संगि हरि दरसनु पाइआ।
गु॰ग्र॰ सा॰; धन्ना भगत; रागु आसा, पद २।

२. मीराबाई की पदावली; हिन्दी साहित्य सम्मेलन; पृ॰ १०, पद २४।

३. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परंपरा; पृ॰ २३९।

शिष्या के रूप में किसी झाली रानी का भी नाम लिया है। यह झाली रानी चित्तौड़ की ही थी और मीरा के श्वसुरकुल की थी। कहा जाता है कि मीरा ने काशी जाकर रैदास संत से दीक्षा ली थी। भक्तमाल में कई घटनाओं का उल्लेख मिलता है जिससे यह भी साबित होता है कि रैदास ने चित्तौड़ यात्रा भी की थी। ये कथाएँ चमत्कारों से भरी पड़ी हैं। अतएव रैदास से झाली रानी का दीक्षा लेना कोई नवीन बात नहीं है। काशी में रहने के कारण रैदास की ख्याति वैसे ही दूर-दूर फैल चुकी थी। झाली रानी तथा महाराणा सांगा का समय सं० १५३६-१५८४ ही था। यही समय रैदास का भी माना जा सकता है।

रचनाएँ—कहा जाता है कि हस्तलिखित रूप में उनकी कई रचनाएँ राजस्थान में पड़ी हुई हैं। परंतु संपादित होकर अब तक इनका कोई भी प्रामाणिक संग्रह नहीं निकला है। वेलवेडियर प्रेस प्रयाग से इनकी वाणियों का एक संग्रह "रविदासजी की वाणी" के नाम से प्रकाशित हुआ है। ग्रंथ साहिब में भी इनके पद हैं। वेलवेडियर के संस्करण में आये हुए बहुत से पद गुरु ग्रंथ साहिब में उपलब्ध होते हैं।

इनके जीवन का सार राम की ही भक्ति थी। इसलिए ये कहते हैं "ऐ मन राम की भक्ति कर। तू भ्रम में न पड़। माया के भ्रम में कहाँ भूला है ? आखिर संसार से तो हाथ झाड़कर ही जाना है। साथ तो कुछ जाने वाला नहीं। इस संसार में देख ले कि तेरा कौन है ? इस कलिकाल में यह सारी माया थोथी है। अपना सर्वस्व तो तू भक्ति की बाजी पर ही हार दे। रैदास कहते हैं कि तू गुरु के सत्य वचनों को मत भुला।"[1] जीवन की निस्सारता के बारे में वे कहते हैं कि "जो दिन आया है वह तो चला ही जाएगा। हमें भी तो इस संसार से जाना है। तुम्हें भी जाना है। हमारा रास्ता लंबा है, सदैव सिर पर मौत खड़ी है। तूने इस संसार को सत्य समझ रखा है यह तेरी भूल है। जिसने दिया है वही तेरी जीविका चलाता है। तुझे काहे की चिंता। अहंभाव छोड़कर तू ईश्वर की बंदगी कर। हृदय में रामनाम को जगह दे। सारा जन्म तो यों ही बीत गया है किन्तु तू राह पर नहीं आया। मृत्यु आ गई, चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार है। भला अब तुझसे क्या हो सकेगा ? रविदास कहते हैं कि ए नादान तू इस बात को क्यों नहीं समझता कि यह संसार नाशवान है।"[2] रैदास को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जिस बात का वे उपदेश दे रहे हैं उसका

१. वियोगी हरि; संत सुधासार; पृ० १६४; पद २६।

२. जो दिन आवहि सो दिन जावहि करना कूच थिरु नाही।
संगु चलत है हम भी चलना, दूरि गवनु सिर ऊपर मरना।
क्या तू सोया जाग अयाना, तै जीवन सचि करि जाना।
जिनि दिया सो रिजिक अंबरावै, सभि घटि भीतरि हाटु चलावै।
को बंदगी छांडि मैं मेरा, हिरदै नामु सम्हारि सवेरा।

व्यावहारिक श्रादर्श भी साथ-ही-साथ वे स्वयं प्रस्तुत कर रहे हैं। यह उनका दंभ या गर्व नहीं था। यह उनका दृढ़ विश्वास ही कहा जाएगा। कबीरदास ने "चादर जतन से श्रोढ़ी थी।" रैदास ने भी श्रपना सारा भार ईश्वर को ही दे दिया था। वे कहते हैं–राह पहाड़ श्रौर जंगलों से पूर्ण है। राम से वे केवल इस बात की विनती करते हैं कि वह उनकी पूंजी को सँभाल कर रखें। कहीं यह न हो कि भवसागर पार करते-करते यह नाव डूब जाए। वे राम से संसार का बोझा हल्का करने के लिए कहते हैं। वे कहते हैं कि उन्होंने तो रामनाम का धन लादा है। संसार को उन्होंने भुला दिया है। उन्हें तो यम का डंडा लगेगा ही नहीं। उन्होंने समस्त संसार-जंजाल को भुला दिया है। संसार का रंग तो बदलता ही रहता है। उनका रंग नहीं बदलने का क्योंकि उनका मजीठ रंग है। वह रंग पक्का है।

रैदास के भक्त ने साधु को बहुत ही ऊंचा स्थान दिया है। उच्चवर्ण की जातियों से भी श्रधिक साधु की महिमा है। "जिस कुल में साधु जन्म लेता है वहां पर तो वर्ण श्रौर श्रवर्ण का सवाल नहीं रह जाता। वहां तो यही समझना चाहिए कि निर्मलता का ही वास है। राजा श्रौर रंक का भेद वहां पर नहीं रह जाता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, डोम, म्लेच्छ चाहे जो कोई भी हो उसका कुल तर जाता है। भगवद्भजन से वह स्थान पवित्र हो जाता है। वह गांव श्रौर वह स्थान धन्य है जहां पर साधु का वास है। जिसने भक्ति का मार्ग पकड़कर संसार के समस्त जंजालों को दूर कर दिया है, जिसने संसार के समस्त विषयभोग तज दिए हैं, जो रामरस पीकर संसार से श्रलिप्त हो चुका है। ऐसे साधु या भक्त से पंडित, सूर, क्षत्रपति, राजा श्रन्य कोई भी हो, वह बड़ा नहीं होता। भक्त इस संसार में रहकर भी माया श्रौर भोगों से श्रलिप्त रहते हैं। जैसे कि पानी में रहकर भी कमल पात जल से श्रलिप्त ही रहता है।"[1] साधु का मार्ग बहुत ही कठिन है, बाहरी श्रावरणमात्र धारण

जनमु सिरानो पंथ न सँवारा साँझ परी दह दिसि अँधियारा।
कह रविदास नदान दिवाने, चेतसि नाही दुनिया फनखाने।

वियोगी हरि; संत सुधासार; पृ० १८५।

१. जिहि कुल साधु बैसनो होई।
बरन अबरन रंक नहीं ईस्वर, बिमल बासु जानिये जग सोइ।
बांभन सूद सभी डोम चंडाल मलेच्छ किन सोइ।
होइ पुनीत भगवंत भजन ते श्रापु तारि-तारै कुल दोइ।
धनि सो गांउ, धनि सो ठांउ, धनि पुनीत कुटुंब सभ लोइ।
जिनि पिया सार रस तजे श्रान रस होइ, रसमगन डारे बिषु खोइ।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबर श्रौरु न कोइ।
जैसे पुरैन पात जल रहै समीप भनि रविदास जनमे जगि जोइ।

वियोगी हरि; संतसुधासार; पृ० १८६।

कर लेने से कोई साधु नहीं हो जाता। साधु तो वही है जो परमात्मा के मिलन का आनंद जानता है। ईश्वर से मिलन का आनंद हर कोई नहीं समझ सकता। मिलन का सुख तो सुहागिन ही जानती है। सारा आनंद तजकर वह पिया से एकाकार हो जाती है। वह अपना तन-मन दे डालती है। जिसके खुद के अंतर् में दर्द नहीं है वह दूसरे का दर्द कैसे समझ सकता है। जिसने राम की भक्ति नहीं की वह तो अवश्य ही अभागिन है। उसने तो लोक और परलोक बिगाड़ लिया है। राम की भक्ति का मार्ग बहुत ही दुखदायी है वहां पर कोई साथ नहीं देता। वहां तो अकेले ही कदम उठाना पड़ता है। रविदास कहते हैं कि मैं तो तेरी शरण में आया हूं तुझे जो करना है सो कर।[1]

कबीर के भक्त में सेवा-भाव पूर्ण था। जहां वे एक ओर राम की कुतिया होना स्वीकार करते हैं वहां दूसरी ओर उनके भक्त को इस बात का विश्वास था कि उन्होंने जतन से चादर ओढ़ी है। जबकि समस्त संसार ने उस चादर को मैला कर दिया है। उसी तरह ही उनके भक्त को इस बात का पूरा-पूरा विश्वास है कि उन्हें यम का डंडा नहीं लगेगा। वे कहते हैं कि "हे स्वामी मैं तो अनाड़ी हूं। मेरा मन तो माया के हाथ बिक गया है। कहा जाता है कि तुम जगत गुरु हो। जगत के स्वामी हो। मैं तो कामी हूं। मेरा मन तो इन पांचों विकारों ने बिगाड़ रखा है। जहां देखता हूं वहीं दुःख-ही-दुःख दिखाई पड़ता है। मैं तो विश्वास ही नहीं करता किन्तु वेद इसके साक्षी हैं। बाहरी विकारों ने मुझे मारकर रखा है। रविदास कहते हैं कि आखिर क्या करूं? रघुनाथ को छोड़कर किनकी शरण जाऊं?"[2]

रैदास की उपासना निराकार निर्गुण ब्रह्म की ही उपासना थी। उनका भक्त तो इच्छा रहित है। वह केवल भगवान् के दर्शन ही चाहता है। उसका फल नहीं। "न तो मैं राम भक्त का जन कहलाना चाहता हूं। न दास बनकर सेवा ही करना चाहता हूं। योग, यज्ञ आदि कुछ नहीं जानता, उससे तो उदासीन रहता हूं। यदि भक्त बनता हूं तो लोग बड़ाई करने लग जाते हैं, जो मैं नहीं चाहता। योगाभ्यास करता हूं तो लोग सम्मान देते हैं। जो मुझ में कोई गुण हुआ तो लोग मुझे गुणी कहेंगे। मैं

---

१. सह की मार सुहागन जानै, तजि अभिमान सुख रसिया मानै।
तनु मनु देइ न सुनै, अंतर राखै, अवरा देखि न सुनै न भाखै।
दुखी दुहागन दुइ पख हीनी, जिनि नाह निरंतर भगति न कीन्हीं।
राम प्रीति का पंथ दुहेला, संगि न साथी पंथ अकेला।
दुखिया दरदमंद दरि आया, बहुतै प्यासै जवाब न पाया।
कहि रविदासु सरनि प्रभु तेरी, ज्यूं जानहु त्यूं करु गति मेरी।
वियोगी हरि; संतसुधासार; पृ० १८५; प० ६।

२. वियोगी हरि; संतसुधासार; पृ० १८८; प० ११।

तो गुणी आपको ही मानता हूँ। मोह-ममता के चक्कर में पड़ना नहीं चाहता हूँ। स्वर्ग और नरक के चक्कर में मैं नहीं पड़ता हूँ। बात कुछ नहीं है केवल तर्क की ही उलझन है। उसमें क्या रखा है ? अहं और मोह में रहकर मैंने अपना मूल गँवा दिया है। जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक कृष्ण, राम, रहीम आदि कुछ नहीं दिखाई देता। वेद, कुरान, पुराण आदि में से एक ने भी हरि का सहज रूप नहीं देखा है। रविदास कहते हैं कि मैं तो उसको ही पूजता हूँ जिसका कोई विशेष नाम या स्थान नहीं है।[1]

रविदास ने बाह्याचारों का भी विरोध किया है। ईश्वर की प्राप्ति में ये किसी बाहरी आडम्बर की आवश्यकता नहीं समझते। वे कहते हैं कि भाई भक्ति तो ऐसी चीज़ है जिसमें अभिमान के लिए तो बिल्कुल ही स्थान नहीं। क्या होता है नाचने-गाने से, क्या होता है तप करने से ? क्या होता है चरण धोने से ? जब तक वास्तविक तथ्य को नहीं पहिचाना जाता तब तक यह सब बेकार है। सिर मुँडाने से भला क्या होता है ! तीर्थ व्रत आदि रखने में क्या धरा है ! लोग परम तत्त्व को न पहिचानते हुए केवल वाह्याडम्बरों में ही पड़े रहते हैं। भक्ति से ही भगवान की प्राप्ति होती है। रविदास कहते हैं कि तू अभिमान को तज दे। धूल में यदि शक्कर मिल जाय तो उसे चींटी ही अलग कर सकती है। हाथी उसे अलग नहीं कर सकता। रस-प्राप्ति के लिए तो नन्हें-से-नन्हा बनने की आवश्यकता है। वे साधना को सरल-से-सरल रखने में ही विश्वास करते थे। बाहरी साधनों की व्यर्थता प्रगट करते हुए वे कहते हैं कि "हे राम तुझे मैं पूजा में भला क्या चढ़ाऊँ ? मन लायक फल-फूल तो मिलते ही नहीं। दूध चढ़ाता तो वह भी बछड़े ने जूठा कर दिया है। फूल को भौंरे ने सूँघ लिया है। जल को मछली ने पवित्र नहीं रहने दिया। मलयागिरि को साँपों ने खराब कर दिया है। विष और अमृत दोनों ही एक साथ हैं। मेरे तो मन ही में तेरी पूजा है। मन ही में धूप है। तेरे सहज-रूप की तो मैं मन-ही-मन आराधना करता हूँ। मैं तो पूजा अर्चना कुछ भी नहीं जानता। रविदास कहते हैं कि मालूम नहीं कि

---

१. राम भगत को जन [redacted] कहाऊं सेवा करूं न दासा।
जोग जग्य कुछ न जानूं ताते रहूं उदासा।
भगत भया तो चढ़ै बड़ाई, जोग करै जग माने।
जो गुन भया तो कहै गुनी जन, गुनी आपको जानै।
न मैं ममता मोह न महिमा, ये सब जाहि बिलाई।
दोजख भिस्त दोऊ सम करि जानूं दुहूं ते तरक है भाई।
मैं अरु ममता देखि सकल जग में मूल गँवाई।
जब मन ममता एक मन तबहि एक है भाई।
क्रस्न रहीम राम हरि राघव जग लगि एक न पेखा।

मेरी कौन-सी गति होगी ?"[1] इसी साधना के बल पर रविदास को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया था कि उन्होंने अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर ली है। तभी उनके भक्त ने कहा "हमने अब अच्छा घर पा लिया है। वह गाँव सदा ऊपर ही रहता है। उस शहर को पहुँचने की कोई गति नहीं है। वहाँ पर पहुँचकर किसी प्रकार की भ्रम या अंदेशा नहीं रह जाता। वहाँ किसी प्रकार की भर्त्सना या पीड़ा नहीं है। वहाँ जाकर किसी आदमी को अफसोस नहीं होता। वहाँ पर किसी प्रकार का धोखा नहीं है। आवागमन के मार्ग से मनुष्य छूट जाता है। वहाँ तो दया ही दया है। वहाँ का धनी परमात्मा है। रैदास कहते हैं कि हमारा तो मीत वही है जो उस शहर का वासी है।"[2]

रैदास यह कहकर कि "तीरथ बरत न करो।"[3] "थोथा पंडित थोथी बानी।"[4] "कहा भयो जे मूंड मुंड़ायो।" बाह्याचारों की निस्सारता पर भी कुठाराघात तो किया है। किन्तु उसमें उग्रता या तीखापन नहीं है। इस्लाम के बाह्याचारों की अपेक्षा रैदास ने हिन्दुओं के बाह्याचारों का खंडन अधिक किया है। समता और सदाचार पर जोर देकर अपनी प्रेम परा-भक्ति का निरूपण किया है। सत्य की अपरोक्षानुभूति ही उनका ध्येय था। वे स्वभाव से ही परम संतोषी थे। निस्पृहता तो उनमें कूट-कूटकर भरी पड़ी थी। अपने बनाये हुए जूते ये साधु संतों को पहिना दिया करते थे। आचरण की पवित्रता पर उन्होंने काफी जोर दिया है। नाभा की भक्तमाल में उनकी वाणी के लिए कहा गया है "संदेह ग्रंथि खंडन निपुन बानि विमल रैदास।

---

१. राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊँ, फल अरु फूल अनूप न पाऊँ।
थनहर दूध जो बछरु जुठारी, पुहुप भंवर जल मीन बिगारी।
मलयागिरि बेधियो भुजंगा, विष अम्रत दोऊ एकै संगा।
मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सहज सरूप।
पूजा अरचा न जानूं तेरी, कहि रविदास कथन गति मेरी।
वियोगी हरि; संत सुधासार; पृ० १६१, प० १६।

२. अब हम वतन खूब घर पाया, ऊँचा खैर सदा मेरे भाया।
बेगमपुर सहर का नाम, फिकर अंदेस नहीं तेहि गाम।
नहिं जहँ सांसत लानतमार, हैफ न खत्ता तरस ज्वाल।
आव न जान रहम औजूद, जहाँ गनी आप बसै माबूद।
जोई सैल करि सोई भावै, भरहम महल में को अटकावै।
कहि रिदास खलास चमारा, जो इस सहर को मीत हमारा।
वियोगी हरि; संत सुधासार; पृ० १६१ पद १८।

३. वही; पद २०।
४. वही; पद २१।
५. वही; पद १७।

की।"[1] इनका प्रभाव इनके ही जीवन-काल में फैल चुका था।

पीपा जी

भक्तमाल में पीपा के लिए लिखा है कि "श्री रामानन्दपद पाई भये अति भक्ति की सीवां।" इनकी गणना रामानन्द के बारह शिष्यों में होती है। डॉ॰ फर्कुहर के मतानुसार इनका जन्म सं॰ १४८२ में हुआ था। क्षितिमोहन सेन[2] ने भी इनका जन्म संवत् यही माना है। कनिंघम[3] ने गागरौन की वंशावली के आधार पर इनका समय सन् १३६० स्वीकार किया है और १३८५ के बीच ठहराया है। परशुराम चतुर्वेदी ने पीपा का जन्म काल सं॰ १४६५-७५ के लगभग माना है।[4]

पीपा ने कबीर की प्रशंसा की है। इन्हें वे गुरु तुल्य माना करते थे। उनके हृदय में बाल्यकाल से ही हरि भक्ति थी। सिंहासनारूढ़ होने पर भी वह बनी रही थी। वे गागरौन गढ़ के राजा थे। इनकी बारह रानियाँ थीं। आमोद-प्रमोद में भी इनकी साधु-सेवा बराबर चला करती थी। रामानन्द के साथ एक बार इन्होंने द्वारकापुरी की यात्रा की थी। जिस समय ये राज-पाट छोड़कर द्वारका के लिए निकले उस समय इन्होंने किसी रानी को साथ नहीं लिया। रानियाँ भी राजसी ठाट छोड़कर इनके साथ चलने को तैयार थीं। रामानन्द के कहने से सिर्फ छोटी रानी सीतादेवी को ही इन्होंने साथ लिया था। उसने बराबर कष्ट झेलते हुए सहधर्मिणी का कार्य निबाहा। द्वारकापुरी में इनके किसी परिचित भक्त ने इनका आतिथ्य सत्कार किया। उसने अपनी धोती बेचकर आतिथ्य सत्कार किया।[5] उस दम्पत्ति ने जनता में नाच-गाकर पैसे जमा किये। सारंगी पीपा ने बजाई थी।[6] भक्तमाल में इनकी द्वारकापुरी का यात्रा का वर्णन है।

परशुराम चतुर्वेदी ने इनकी हस्तलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है। ये रचनाएँ अप्रकाशित हैं। गुरु ग्रंथ साहिब में रागु धनासरी में इनका एक पद संग्रहीत है। इसके अतिरिक्त इनकी कोई भी प्रकाशित रचना उपलब्ध नहीं होती। गुरु ग्रंथ साहिब में प्राप्त पद का अर्थ है "जो पिंड में है सो ब्रह्मांड में है" यही सिद्धान्त उस पद में उन्होंने प्रतिपादित किया है। "मानव शरीर के अन्दर ही इष्टदेव, मंदिर और समस्त चर जीव हैं। काया में ही धूप-दीप नैवेद्य है। उसी में फूल, पूजन की समस्त

---

१. भक्तमाल; नाभादास; पृ॰ १३७।
२. क्षितिमोहन सेन; मिडिवियल मिस्टीसिज्म; पृष्ठ ८४।
३. कनिंघम; आर्किओलोजिकल सर्वे रिपोर्ट; भा॰३; पृ॰२६५-६७ और पृ॰१११।
४. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत परम्परा; पृ॰ २३४।
५. क्षितिमोहन सेन; मिडीवियल मिस्टीसिज्म; पृष्ठ ८४।
६. वही; पृ॰ ८५

सामग्रियाँ हैं। बिना कहीं आए गए ही काया में ही नवों निधियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो कुछ ब्रह्मांड में दिखाई पड़ता है सोई पिंड में है। जो सोचता है कि उसे प्राप्त हो जाता है। पीपा परम तत्त्व को प्रणाम करता है और कहता है कि उक्त वस्तु को सद्गुरु देखता है।"[1]

---

१. कायऊ देवा कायऊ देवल कायऊ जंगम जाती।
कायऊ धूप दीप नैवेद्या कायऊ पूजऊ पाती।
कायऊ बहु खंड खोज ते नव निधि पाई।
ना कछु आइबो ना कछु जाइयो राम की दुहाई।
जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे जो खोजे सो पावे।
पीपा प्रणवे परमततु सतगुरु होइ लखावे।
गुरु ग्रंथ साहिब; रागु धनासरी; पृष्ठ ६९५।

नवम अध्याय

सुन्दरदास (छोटे), धर्मदास, चरणदास, सहजोबाई, दयाबाई एवं अन्य फुटकर संत

जीवनी एवं विचार-दर्शन

सुन्दरदास

सुन्दरदास नामक दादू के दो शिष्य थे उसमें से छोटे सुन्दरदास ही अधिक प्रसिद्ध हुए। ये दादू के योग्यतम शिष्यों में से थे। ये बूसर गाँव के खंडेलवाल वैश्य थे। इनका जन्म चैत्र सुदी ९ सं० १६५१ जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी द्योसा नगर में हुआ था। पिता का नाम परमानन्द और माता का नाम सती था। कहा जाता है कि इनके पिता का उपनाम चोखा भी था। इनका जन्म स्थान खंडहरों के रूप में आज भी वर्तमान है। इस जाति के लोग उस नगर में नहीं रहते।

दादू से भेंट :—ये ६ वर्ष की ही अवस्था में दादू के शिष्य हो गए थे। जब दादू द्योसा आए थे उस समय इनके पिता सुन्दरदास को दादू के पास लेकर पहुँचे। दादू सं० १६५८ में द्योसा में ठहरे थे। दादू ने इनका नाम सुन्दरदास रखा। स्वयं इन्होंने कहा है कि—

> दादू जी जब द्योसह आए, बालपने हम दरसन पाए।
> तिनि के चरननि नायो माथा, उनि दीयो मेरे सिर हाथा।
> स्वामी दादू गुरु है, मेरो सुन्दरदास शिष्य तिमि केरो।[1]

कालांतर ये "छोटे सुन्दरदास" के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये दादू के परम भक्त थे। इन्होंने दादू की प्रशंसा कई स्थानों पर की है। दादू के साथ वे उनके अंत समय तक सं० १६६० तक नराना में रहे थे। इन पर जगजीवनराम का विशेष स्नेह था। इन्हीं के पास रहकर सुन्दरदास अपनी गुरु की वाणी कंठस्थ करते रहे थे। सं० १६६३-६५ में इन्हें रज्जब जी और जगजीवनराम काशी लेकर पहुँचे। वहाँ पर इन्होंने साहित्य और दर्शन का गहरा अध्ययन किया। काशी में ये असी घाट पर रहा करते

१. पुरोहित हरनारायण; सुन्दर ग्रंथावली; संस्करण सं० १९९३; पृ० १९८।

थे। काशी में ये तीस वर्ष की अवस्था तक अध्ययन करते रहे। संस्कृत के अतिरिक्त ये हिन्दी, फारसी और गुजराती अच्छी तरह से जानते थे। काशी में वर्तमान दादूमठ के पास ही इनका निवास रहा होगा।

काशी से लौटने के बाद इन्होंने प्रागदास बीहाणी का सत्संग किया। यहीं पर अपने किन्हीं छः साथियों के साथ रहकर किसी गुफा में इन्होंने योगाभ्यास किया। यहीं पर व्रत, संयम आदि का जीवन व्यतीत करते हुए इन्होंने दादू की वाणियों का अध्ययन किया। यहीं से इनकी प्रसिद्धता फैलने लगी। लोग इनके दर्शनार्थ आने लगे। फतहपुर का नवाब अलफखाँ भी उन दर्शनार्थियों में था। कहा जाता है कि नवाब स्वयं भी हिन्दी का कवि था। उसका उपनाम "जान" था। सुन्दरदास के साथ वह साहित्य और धर्म पर चर्चा किया करता था।

भ्रमण—यहीं से उन्होंने काफी दूर-दूर तक भ्रमण किया। उत्तर में बदरिकाश्रम, दक्षिण में गुजरात, मालवा, मध्यप्रदेश; पूर्व में बिहार, बंगाल, उड़ीसा तक इन्होंने भ्रमण किया। इन देशों के विभिन्न प्रकार के आचारों का वर्णन बड़े ही चटीले ढंग से इन्होंने अपने सवैयों में किया है। इन स्थानों में कुरसाना से इन्हें विशेषरूप से प्रेम था।

रज्जब जी से इनका विशेष श्रद्धाभाव था। गुरुवाणियों को समझने में इन्होंने रज्जब जी और जगजीवनराम ही से सहायता ली थी। रज्जब जी से सत्संग करने ये सांगनेर आया जाया करते थे। "सुन्दरदास ने रज्जब जी से बहुत ज्ञान-लाभ किया था। उनकी उक्तियों और विचारों और कविताओं में रज्जब जी की झलक पड़ती है।"[1]

दादू को रज्जब जी के संपर्क में रहने का अवसर सं० १६४४ से सं० १६६० तक मिला था। सुन्दरदास को ऐसा अवसर कम ही प्राप्त हुआ था किन्तु उनका ज्ञान रज्जब जी से बढ़कर ही माना जाता था। वे सं० १७६४ में रज्जब जी से मिलने सांगानेर पहुँचे। पता लगा कि रज्जब जी का देहावसान हो चुका है। ये वियोग को सहन नहीं कर सके। उस वर्ष ही इन्होंने भी अपना शरीर त्याग दिया। जहाँ इनकी दाहक्रिया हुई थी वहाँ एक गुमटी बनी हुई है और सफेद पत्थर पर लिखा है :—

संवत सत्रह सौ छियाला, कातिक सुदी अष्टमी उजाला।
तीजे पहर भरस्पितिवार, सुंदर मिलिया सुन्दर सार।

अपने अंत समय ये सांगानेर चले गए थे। वहीं पर मिती कातिक सुदी ८ सं० १७६४ को इनका देहावसान हुआ। पंथ की प्रथा के विपरीत इनके शव का अग्नि-संस्कार किया गया। इनकी अंत समय की ये चार साखियाँ हैं :—

निरालंब निरवासना, इच्छाचारी येह।
संस्कार पवनहि फिरे, शुष्कपर्ण ज्यों देह।

---

१. पुरोहित हरनारायण सुन्दर ग्रंथावली; प्रथम खंड; पृ० ५६।

वैद्य हमारे राम जी, औषधू हरिनाम।
सुंदर यहे उपाय अब, सुमरण आठो जाम।
सुंदर संयम को नहीं बड़ो महुच्छव येह।
आतम परमातम मिल्यो रहो कि बिनसो देह।
सात बरस सौ में घटे इतने दिन को देह।
सुन्दर आतम अमर है, देह खेह को खेह।

रचनाऐं :—छोटे बड़े सब मिलाकर इनके ४२ ग्रंथ कहे जाते हैं। पुरोहित हरनारायण ने सुंदर ग्रंथावली में इनको संपादित कर रखा है। इनकी रचनाओं का समय सं० १६६४ से १७७२ तक का माना जाता है। बड़े ग्रंथों में सर्वोत्तम ज्ञान-समुद्र और सवैये हैं। ज्ञानसमुद्र की रचना स० १७१० में हुई थी इसमें ५ उल्लास है। सुंदर ग्रंथावली में इनके ग्रंथों का क्रम निम्नानुसार है:—

प्रथम विभाग—ज्ञान समुद्र, यह ५ उल्लासों में विभक्त है।

द्वितीय विभाग—इसमें ३७ ग्रंथ हैं।

तृतीय विभाग—इसकी अंग संख्या ३४ है और छंद संख्या ५६ है।

चतुर्थ विभाग—साखी।

पंचम विभाग—२७ विभिन्न रागों में २१३ पद हैं।

षष्ठ विभाग—फुटकर काव्य।

साहित्यिक दृष्टिकोण से इनके ज्ञानसमुद्र और सवैयों का सर्वाधिक महत्त्व है। "वर्तमान काल तक के भाषा साहित्य में ज्ञान का भंडार छन्दोबद्ध सर्वगुणालंकृत ऐसा सुरम्य ग्रंथ है ही नहीं।"[1] उनके सवैये तो कबीर की उलटबांसियों के समान ही हैं। जब तक उनकी ठीक तरह से टीका न प्रकाशित हो तो उनका स्पष्टीकरण एक अत्यंत कठिन काय है। ज्ञानसमुद्र में शांतरस का पूर्ण परिपाक कई स्थानों पर देखने को मिलता है।

इनके पदों की भाषा प्राय: व्रज ही है। सुन्दरदास भ्रमणशील व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में कई देशों के उनके व्यक्तिगत अनुभव मिलते हैं। कई जगह के कटु अनुभवों को भी उन्होंने अत्यंत चुटीले ढंग से लिखा है। ध्वनि और अलंकारों के सफल प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलते हैं। इनकी सारी पद संख्या २७८८ कही जाती है। संत कवियों में गुरु गोविंदसिंह के अतिरिक्त सुन्दरदास के काव्य में साहित्यिक, काव्यात्मक परिमार्जित भाषा के दर्शन होते हैं। काव्य-शास्त्र का इन्हें ज्ञान था। अतएव कलापक्ष की दृष्टि से भी इनका काव्य अन्य संत कवियों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ कहा जाएगा। पंजाबी संत कवि भाई गुरदास की रचनाओं से इनकी रचनाओं का अद्भुत साम्य है। ज्ञानसमुद्र में गुरु, नवधा-भक्ति, अष्टांग

---

१. सुन्दर ग्रंथावली; पुरोहित हरनारायण; प्रथम खंड पृ० ५६।

योग, सेश्वर, सांख्यमत एवं अद्वैतमत का पांडित्य पूर्ण वर्णन है। इसमें वेदांत की सर्वोच्चता साबित कर भक्ति और सांख्य को उसका अंग ठहराया है। इस नीरस विषय को भी छंदों में सरस बनाकर सुन्दरदास ने व्यक्त किया है।

सुंदरदास को ईश्वर से प्रेम था। "इसी कारण उन्होंने घरबार ही विसार दिया। इधर-उधर उन्मत्त फिर रहे हैं। अपने शरीर की उन्हें कोई भी चिंता नहीं है। उनके रोम-रोम से श्वास उठ रहा है। आंखों से पानी बहा आ रहा है। सुन्दरदास कहते हैं कि आखिर नवधाविधि कौन करे, वे तो प्रेम रस पीकर मस्त हो गये हैं।"[1]

भक्ति में जितना ज्ञान को स्थान रहता है उतना ही प्रेम को भी। खैर प्रेम तो उसका मूलाधार ही है। यह तो ऐसा प्रेम है कि जिसके अभाव में उसको पाने वाला अपना जीवन ही व्यतीत नहीं कर सकता। 'जैसे जल विना मछली की स्थिति होती है वैसे ही दूध के अभाव में जैसे शिशु की अवस्था हो जाती है। पीड़ित व्यक्ति औषधि के अभाव में कैसे जी सकता है? चातक स्वाति बूंद के बिना कैसे रह सकता है? चकोर चन्द्र के अभाव में भला कैसे जिए? चंदन की चाह कर सर्प जैसे उसके अभाव में तड़पता है, निर्धन धन चाहता है, कामिनी को पति की आवश्यकता होती है, जब तक उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती उसको कुछ नहीं सुहाता, प्रेम का प्रभाव ही ऐसा है। वह नियम के बंधन नहीं जानता। सुन्दरदास कहते हैं कि यही तो सब प्रेम की बात है।"[2]

सुंदरदास ने जिस पीर का उल्लेख किया है उसकी विह्वलता सूर के विरह-वर्णन से अभिन्न प्रतीत होती है।

भक्ति में चाहे सगुण भक्ति रही हो या निर्गुण, इंद्रिय निग्रह पर समस्त संतों और भक्तों ने एक साथ जोर दिया है। इन पांच चोरों से बचकर विरले ही जा सके हैं। इन पांचों ने ही जगत को नचाया है। इन्हीं पांचों ने जगत को खाया है।

---

१. संत सुधासार; वियोगी हरि; पृ० ५७७, पद १५।

२. नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे।
पीर जाके औषद बिनु कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यों स्वाति बूंद, चंद को चकोर जैसे।
चदन को चाह करि सर्प अकुलात है।
निर्धन ज्यों धन चाहे, कामिनी को कांत चाहै।
ऐसी जाकी चाह ताको कुछ न सुहात है।
प्रेम को प्रभाव ऐसो, प्रेम जहाँ नेम कैसो।
सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है।
वियोगी हरि; सन्त सुधासार; पृ० ५८७।

ये पाँचों अत्यंत प्रबल हैं। इन पर कोई प्रहार नहीं कर सकता। ये पाँचों शरम भी बेचकर खा गए हैं। ये पाँचों इंद्रियां अपनी दिशा में ही दौड़ती हैं। अन्त में ये मनुष्य को नरक में डुबा देती हैं। ये ही मनुष्य को मतिहीन बनाती हैं। ये ही दूसरों के आधीन कराती हैं। झूठी आशा लगाकर ये पाँचों शरीर को डुबाती हैं। बुरे कर्म करा-कर ये अपना अपमान करवाती हैं इसलिए इनको वश में रखना बिरलेका ही काम है।[1]

सुंदरदास की बहुत-सी रचनाएं गुरुमुखी में लिखी हुई पंजाब में मुझे देखने को मिलीं। पुरोहित हरनारायण ने सुंदर ग्रन्थावली में इनके कुछ पंजाबी पदों को "पंजाबी भाषा अष्टक" में रखा है।

धर्मदास

कबीर की छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक धर्मदास कहे जाते हैं। यह धर्मदासी शाखा कहलाती है। इस शाखा के अनुयायियों की संख्या कबीर चौरा शाखा के अनु-यायियों से अधिक है। धर्मदास का निवास स्थान बांधवगढ़ ही था। इस शाखा की पहले-पहल स्थापना वहीं पर हुई थी। धर्मदास कसोधन बनिया थे। तीर्थयात्रा के लिए ये मथुरा, वृन्दावन आदि गए थे। यहीं पर इन्हें कबीर के दर्शन प्राप्त हुए। उपलब्ध प्रमाणों से यह पता लगता है कि कबीर ने अपने जीवन काल में धर्मदास से भेंट की थी। धर्मदास एक योग्य व्यक्ति थे। कबीर पंथ के प्रसार में इन्होंने बहुत ही सहायता दी थी।

इनका पहला नाम जुड़ावन था। पत्नी का नाम आमीन था। इनके दो पुत्र थे. उनका नाम नारायणदास और चूड़ामणि था। कहा जाता है कि नारायणदास ने पहले कबीर का विरोध किया था। आमीन और चूड़ामणि का कबीर के प्रति पूर्ण श्रद्धाभाव था। धर्मदास के बाद चूड़ामणि ही गद्दी पर बैठे थे।

अनुमानतः इनका जन्म सं० १४६० को माना जाता है। शरीर त्याग का समय सं० १६०० माना जाता है। धर्मदास को जब ज्ञान प्राप्त हुआ तो उन्होंने

---

१. इन पचों जगत नचावा, इन पंच सबनि को खावा।
ये पंच प्रबल अति भारी, कोउ सकै न पंच प्रहारी।
ये पंचों खोवें लाजा, ये पंचों करहि अकाजा।
ये पंच पंच दिसि दौरें, ये पंच नरक में बोरें।
ये पंच करें मतिहीना, ये पंच करें आधीना।
ये पंच लगावें आशा, ये पंच करें घट नाशा।
ये पंच विकर्म करावें, ये पंचों मान घटावें।
ये पंचों चाहें गुलका, ये पंच करें पुनि हलका।

अपनी सारी सम्पत्ति लुटा दी। सतनाम का पाठ करना उनका व्यापार हो गया। वे कहते हैं "कोई कांसा लादे फिरता है, कोई पीतल। कोई लौंग सुपारी का व्यापार करता है। हमने तो रामधन लादा है, हमारी तो पूंजी भी समाप्त नहीं होती और नफा भी चौगुना होता है। हमने यही भारी व्यापार किया है। हमें यह जगत-रूपी हाट् नहीं रोक सकता। हमारा रास्ता ही निर्भयता का है। हमने अच्छे कार्यों से कोठरी भर रखी है। धर्मदास व्यापारी तो नाम-रूपी पदार्थ लादकर चला है।"[1]

वैसे तो इनकी बहुत-सी वाणियां प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी एक रचना "धनी धर्मदास जी की शब्दावली" के नाम से वेलवेडियर प्रेस प्रयाग ने प्रकाशित की है। उनके बहुत से पदों से इस बात का पता लगता है कि वे कबीर के शिष्य थे और कबीर को बहुत ही मानते थे। भक्ति रस का जागरूक स्वरूप इनके पदों में पूर्ण रूप से मिलता है। कबीर के प्रति इन्होंने अत्यधिक श्रद्धाभाव व्यक्त किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर इनके गुरु ही नहीं बल्कि इष्टदेव भी थे। इनके कई पद कबीर के जीवन-काल से सीधे सम्बन्धित हैं। बहुत से ग्रंथ कबीर और धर्मदास के संवाद के रूप में ही लिखे गए हैं। इन्होंने कबीर की वाणी और विचारों से एक प्रकार से तादात्म्य ही स्थापित कर लिया था। इनकी वाणी बड़ी ही सरस और सरल होती है। संतों की सात्विक साधना का उन्होंने विशद-विवेचन किया है। खंडन-मंडन के रास्ते पर तो इनका भक्त गया ही नहीं। इनके मंगल, होली, सोहर, गीत काफी मधुर बन पड़े हैं। इनकी भाषा में अधिकतर पूर्वी हिन्दी के ही प्रयोग मिलते हैं। इनकी भाषा में एकरूपता है।

नाम की महिमा का बखान करते हुए वे कहते हैं कि "नामरस तो ऐसा है भाई कि आगे-आगे तो उसमें आग लगती चलती है और पीछे-पीछे वह हरा होता चलता है। ऐसे वृक्ष की बलिहारी है कि जिसे काट भी दो तो भी उसमें फल लगता है। अति कड़वा होते हुए भी उसमें रस है। साधते-साधते साध तो लिया है, किन्तु रस तो तभी प्राप्त हो सकता है जबकि लेने वाला अनुरागी हो। सूंघकर तो पागलपन आ जाता है। पीकर तो मौत ही आ जाती है। पीनेवालों के सिर पर धड़ तो होता ही नहीं। नामरस तो केवल शहीद ही पी सकते हैं। जिसे ज्ञान प्राप्त हुआ है जवाहिरात तो उसी ने पाए हैं। धर्मदास तो पीकर तृप्त हो गए हैं।"[2]

सेनानाई

सेनानाई के संबंध में कई मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार वे रीवां के बांधवगढ़ नरेश के सेवक थे। इसी मत के अनुसार ये रामानंद के भी शिष्य थे। कहा

---

१. संत सुधासार; वियोगी हरि; दूसरा खंड, पृष्ठ २।

२. वही; पृष्ठ ५।

जाता है कि एक समय इनके यथासमय उपस्थित न होने पर भगवान ने राजा का तैलमर्दन किया था। सेना को जब इस बात का पता लगा तब उन्हें काफी आत्म-ग्लानि हुई। उनके पद में रामानंद का नाम आता है। जिससे यह पता लगता है कि ये रामानंद के बाद ही हुए थे। रामानंद द्वारा ही इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। ज्ञान प्राप्त होने पर भी इन्होंने अपना कार्य नहीं छोड़ा था। इस घटना से राजा इतना प्रभावित हुआ कि उसने सेनानाई की शिष्यता तक ग्रहण कर ली। भक्तमाल में लिखा है "प्रभु ने दास के कार्य के लिए नाई का रूप धारण किया और छुरी एवं नाइयों की पेटी लेकर राजा की तैल मालिश की। परिणामस्वरूप राजा उसका शिष्य हो गया।"[1] सेन को उत्तर-भारत में इसलिए माना जाता है कि इनका पंथ उत्तर से ही प्रचलित है। श्री जोशी ने 'पंजाबातील नामदेव' में इस मत को पुरस्सर किया है।[2] यह मत उत्तर-भारत में प्रचलित है।

परशुराम चतुर्वेदी ने किसी पंडित नाम के सज्जन का उल्लेख किया है। पंडित[3] महोदय के मतानुसार सेन की कथा का वर्णन प्रसिद्ध मराठी कवि महिपति की भक्ति-विजय नामक पुस्तक में मिलता है। यह नाभादास की भक्तमाल पर आधारित है। इस मत के अनुसार सेन बांधवगढ़ के राजा राम की सेवा में थे। इनके १५० मराठी अभंगों के संबंध में यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस तरह नामदेव ने पंजाब में रहकर हिन्दी पदों की रचना की उसी तरह महाराष्ट्र में रहकर सेन ने मराठी अभंगों की रचना की होगी। पंडित ने मत के लिए कोई प्रामाणिक आधार प्रस्तुत नहीं किए। यदि सेन को राजा राम के समकालीन मान भी लिया जाए (सं० १६११ से ४८) तो ये रामानंद के समकालीन नहीं मालूम देते।

डा० रानडे ने सेन का समय शके १३६६ (सन् १४४८) माना है।[4] तीसरे मत के अनुसार वे बीदर राज्य की सेवा में नियुक्त थे और ज्ञानेश्वर की शिष्यमंडली में थे। डा० रानडे ने यह माना है कि बीदर राज्य की सेवा में थे। मेकालिफ ने इनका समय १४वीं सदी का उत्तरार्द्ध और पंद्रहवीं सदी का प्रारंभ माना है।[5]

श्री विनयमोहन शर्मा ने सेन का महाराष्ट्रीय होना ही बताया है।[6] उनके मराठी अभंगों से उनके जीवन पर प्रकाश तो नहीं पड़ता किन्तु यह सिद्ध होता है कि महाराष्ट्रीय जीवन का इन्हें अच्छी तरह परिचय था। सेन को उत्तर-भारत का नहीं माना

१. भक्तमाल; नाभादास (प्रियदास की टीका); पृ० १५८।
२. पंजाबातील नामदेव; पृ० २५।
२. उत्तरी भारत की संत परंपरा; परशुराम चतुर्वेदी; पृ० २३१।
३. मिस्टीसिज़्म इन महाराष्ट्र; रानडे।
४. सिख रिलीजन; मेकालिफ़; पृ० १२०, भाग ६।
६. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन; विनय मोहन शर्मा; पृ. १३२।

जा सकता। नामदेव के समान ही उन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की होगी। अपने अभंगों में भगवान विट्ठल की इन्होंने स्तुति गाई है। उनसे यह भी पता लगता है कि वे वारकरी थे। गुरु ग्रंथ साहिब में इनका एक पद आता है इससे यह प्रतीत होता है कि संतों में इनकी ख्याति तो थी किन्तु उत्तर भारत में इनके पंथ का विशेष प्रचार नहीं था। विनय मोहन शर्मा ने हिन्दी को मराठी संतों की देन में धनासरी राग में सेन का एक पद दिया है। यह उन्हें श्री समर्थ वाग्देवता मंदिर की एक जीर्ण पांडुलिपि से प्राप्त हुआ था। वह पद इस प्रकार है—

वेदहि झूठा, शास्त्रहि झूठा।
भक्त कहां से पछानी।
ज्या ज्या ब्रह्मा तू ही झूटा।
झूटी साके न मानी।
गरुड़ चढ़े जब विष्णु आया।
साच भक्त मेरे दोही।
धन्य कबीरा धन्य रोहिदास।
गावे सेना न्हावी।[1]

गुरु ग्रंथ साहिब में सेन का जो पद आता है उसके अनुसार सेन का कथन है—"ईश्वर की आरती धूप, दीप आदि सजाकर करने जाता हूँ। उत्तम बाती है। तू ही निरंजन कमलापति है। राम की भक्ति रामानंद ही जानते हैं। पूर्ण परमानंद की ये ही व्याख्या करते हैं। सेन कहते हैं कि परमानंद को भजो।"[2]

गरीबदास द्वय

गरीबदास नाम से कई और भी संत हो गए हैं किन्तु हमारा आशय यहाँ पर

---

१. हिन्दी को मराठी संतों की देन; विनयमोहन शर्मा; पृ० १३३।

२. धूप दीप घृत साजि आरती।
वारने जाऊं कमलापती।
मंगला हरि मंगला।
नितु मंगल राजा रामराई को।
ऊत्तमु दीयरा निरमल बाती।
तू ही निरंजनु कमलापाती।
रामाभगति रामानंद जाने।
पूरन परमानंदु बखाने।
मदन मूरति तारि गोविंदे।
सेणु भणै भज परमानंदे। गुरु ग्रंथ साहिब; रागु धनासरी; पृ० ६९५।

दादू के पुत्र और दूसरे रोहतक के गरीबदास से ही है। पहले गरीबदास दादू के ही पुत्र थे और उनके बाद गद्दी पर भी बैठे थे। जनगोपाल ने जन्मलीला में लिखा है—

दादू प्रगट पिता है जाके।
गरीबदास सुत उपज्यो ताके।

इनका जन्म सं० १६३२ में हुआ था। इनका जन्म स्थान सांभर है। स्वामी दादूदयाल ही इनके गुरु थे। इनकी मृत्यु सं० १६६३ में हुई थी। इनके नाम से नराना में गरीबसागर नामक एक तालाव बना हुआ है। महात्मा होने के साथ-ही-साथ ये कुशल गायक और वीणाकार भी थे। कहा जाता है कि दादूदयाल के ये औरस पुत्र थे। ये अत्यंत नम्र, विनयी और प्रतिभाशाली संत थे। अपनी नम्रता के कारण उन्हें अपनी गद्दी तक छोड़नी पड़ी थी। इनके बाद इनके छोटे भाई मिस्कीनदास गद्दी पर बैठे।

इनकी वाणियों का एक संग्रह "गरीबदास जी की वाणी" के नाम से दादू महाविद्यालय जयपुर से प्रकाशित हुआ है। इसका संपादन स्वामी मंगलदास ने किया है। इनकी भाषा में दादू का माधुर्य भाव पाया जाता है। उनमें राजस्थानी के प्रयोग भी हुए हैं। साखी और चौबोलों में क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। इनकी वाणी के चार भाग हैं—

१. अनभै प्रबोध।
२. साखी।
३. चौबोले।
४. पद।

अनभै प्रबोध एक प्रकार से संत साहित्य की डिक्शनरी ही है। संत साहित्य में आए हुए शब्दों के अनेक पर्यायों का पद्यात्मक संग्रह है। उनके पदों में प्रेम और विरह के मनोहर स्वरूप देखे जा सकते हैं। वे कहते हैं "हे मोहन, सब स्थानों में तू ही है। जीव-जंतु और जल-थल में तू ही तो है, किन्तु मूर्ख इसे नहीं समझते। घट-घट में अंतर्यामी ही तो वास कर रहा है। जैसे दूध में घी होता है उसी तरह ईश्वर का वास इस चराचर में है। जिस तरह लकड़ी में आग होती है उसी तरह उसकी ज्योति का प्रकाश चारों ओर फैल रहा है। सब में ब्रह्म है और ब्रह्म में ही सब हैं। सबमें उसकी माया का इसी तरह से निवास है। वह कर्ता सत्य रूप है। तिल में जैसे तेल, बीज में अंकुर, मृग की नाभि में कस्तूरी होती है वैसे ही ईश्वर की छवि चारों ओर वर्तमान है। वह केले में कपूर की तरह, सीपी में मोती की तरह है, गरीबदास कहते हैं कि गोविंद इसी तरह चारों ओर व्याप्त है।"[1]

दूसरे गरीबदास रोहतक में प्रसिद्ध हुए हैं। वे जाति के जाट थे। वे कबीर

---

१. संत सुधासार; वियोगी हरि; पृ० ५०४।

के भारी भक्त थे। इन्होंने "हिरंवर बोध" नामक एक विशाल ग्रंथ की रचना की है। कहा जाता है कि इसमें १७ हजार पद हैं, उनमें से सात हजार तो कबीर साहब के हैं। इस ग्रंथ का प्रकाशन नहीं हुआ है। गरीबदास की बानी का एक अत्यंत संक्षिप्त संस्करण संतबानी पुस्तकमाला से प्रकाशित हुआ है। संतबानी के संपादक के मतानुसार इसका समय सं० १७७४ से १८३५ तक है।

चरणदास

इनका जन्म भादों सुदी ३ सं० १७६० को माना जाता है। इनका जन्म-स्थान मेवात में डहरागाँव राजस्थान में माना जाता है। पिता का नाम मुरलीधर और माता का नाम कुंजी था। ये जाति के दूसर बनिया थे। इनके गुरु का नाम शुकदेव बताया जाता है। इनके जीवन से संबंध रखने वाले प्रसंग इनकी शिष्या सहजोबाई की वाणी में मिलते हैं। कुल के बारे में सहजोबाई ने लिखा है—

सखी री आज धन धरती धन बरसा।
धन डेहरा मेवात मंझारे हरि आए जन भेसा।
धन भादों धन तीज सुदी है धन दिन मंगलकारी।
धन दूसर कुल बालक जनम्यो, पुलिलत भये नर नारी।
धन धन माई कुंजो रानी धन मुरलीधर ताता।
अगले बत्तव अब फल पाए, जिनके सुत भयो ज्ञाता।

चरणदास का पूर्वनाम रणजीतसिंह था। सरकारी नौकरी के लिए इनके नाना इन्हें शिक्षित करने लगे। नाना के पास आकर ये दिल्ली में ही रहने लगे थे। "इनके पिता को कदाचित किसी बाघ ने खा लिया था। परंतु इनका संपर्क स्वामी सुखानंद से हुआ और इनके जीवन का रास्ता ही बदल गया। कहा जाता है कि सुखदेव दास या सुखानंद मुजफ्फरपुर में शूकरताल नामक गांव में रहते थे। इन्हें १९ वें वर्ष में दीक्षा मिली और सुखानंद ने इनका नाम रणजीत से बदलकर चरणदास रख दिया। परन्तु चरणदास के मतानुसार उनके गुरु व्यास सुत शुकदेव ही थे। जिन्होंने स्वयं दर्शन देकर इन्हें भगवत्-भक्ति का उपदेश दिया था। कहना न होगा कि चरणदास का यह कथन श्रद्धापूर्ण ही है। यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। अपने पदों में इन्होंने लिखा तो है—

चरनदास सुकदेव बतावे

दीक्षा लेने के बाद इन्होंने तीर्थों का पर्यटन प्रारंभ किया। उस समय इनकी अवस्था तीस वर्ष की थी। उस समय इनमें आध्यात्मिक प्रौढ़ता आ चुकी थी। तीस वर्ष की ही अवस्था में इन्होंने उपदेश देने प्रारंभ कर दिए थे। बहुत दिनों तक ये ब्रजमंडल में ही रहे।

पर्यटन के पश्चात् ये दिल्ली में ही रहने लगे थे। यहाँ इन्होने १४ वर्ष तक

योगाभ्यास किया। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध पर इन्हें काफी श्रद्धा थी। वियोगी हरि ने इन्हें "योगमार्गी वैष्णव"[1] कहा है। चरणदास का समय भारत में मुगलों के पतन-काल का ही समय था। नादिरशाह और अब्दाली के आक्रमण इसी समय हुए थे। इनका देहांत अगहन सुदी ४ सं० १८३४ को हुआ था। दिल्ली में इनकी एक समाधि बनी हुई है। डेहरे में इनकी एक छतरी बनी हुई है। वहाँ उनकी टोपी, माला, वस्त्र आदि सुरक्षित हैं। उसके पास ही बने मंदिर में उनके चरणचिह्न भी सुरक्षित हैं। वसंतपंचमी को वहाँ पर मेला लगता है।

रचनाएँ—इनकी २१ रचनाओं का पता लगता है किन्तु प्रामाणिक रचनाएँ १२ ही हैं—

१. ब्रज चरित्र।
२. अष्टांग योग वर्णन।
३. योग संदेह सागर।
४. पंचोपनिषद्।
५. भक्ति पदार्थ वर्णन।
६. ब्रह्मज्ञान सागर।
७. धर्म जहाज वर्णन।
८. अमरलोक अखंडधाम वर्णन।
९. ज्ञान स्वरोदय।
१०. मन विकृत करण गुटका सार।
११. शब्द।
१२. भक्तिसागर।

चरणदास ने नैतिक शुद्धता पर ही बार-बार जोर दिया है। निष्काम भक्ति का ही प्रतिपादन उन्होंने किया है। उनके पंथ को चरित्र प्रधान भी कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। उनकी साधना में योगब्रह्मज्ञान का अच्छा समन्वय है। उन्होंने अनीति की निम्नलिखित बातों की मनाही की है—

१ असत्य भाषण, २ अपशब्द कथन, ३ कठोर वचन, ४ वितंडावाद, ५ चोरी, ६ पर स्त्री गमन, ७ हिंसा, ८ दूसरे की हानि की चिंता, ९ बैर, १० विषयासक्ति।

प्रत्येक मनुष्य के उन्होंने निम्नलिखित कर्तव्य बताए हैं—

१. सद्गुरु सेवा, २. परिवार के प्रति कर्तव्य, ३. समाज के प्रति कर्तव्य, ४. सत्संग, ५. ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास।

एक को पूजकर दूसरे के प्रति उपेक्षा रखना मूर्खता है। चारित्रिक शुद्धता ही साधना का प्रथम सोपान है। प्रेम और भक्ति उसके आधार हैं।

---

१. वियोगी हरि; संतसुधासार; पृ० १५१।

इस प्रेम और भक्ति का व्यक्तिकरण वाह्याडंवरों से सम्भव नहीं है। सत्य का पालन व्यावहारिक रूप से ही किया जा सकता है। चरणदासी संप्रदाय में नियम और तालिकाएँ वर्तमान हैं। उस पर चलना प्रत्येक अनुयायी का कर्तव्य माना जाता है। कर्मवाद को भी चरणदास के साधक ने महत्त्व दिया है और कहा है कि कर्मवाद के प्रभाव से मनुष्य बच नहीं सकता। कृष्ण के प्रति उन्होंने अपनी भक्ति अवश्य प्रकट की है किन्तु मूलरूप से चरणदास निर्गुण भक्त ही थे। वे कहते हैं "उस निर्गुण परम पुरुष से ही अपना सम्बन्ध रखो। वह अजर-अमर है। वहाँ साधारण मनुष्य नहीं पहुँच सकता। उस स्थान पर सदैव सम्मुख पति (ईश्वर) ही रहता है। वहाँ आवागमन का झगड़ा तो रहता ही नहीं। मुक्ति वहाँ पर तुम्हारी चेरी रहती है। वह तो सदैव हाथ बाँधे खड़ी रहती है। चरणदास कहते हैं कि भक्तिरस का यह पागलपन गुरु से भेंट करने के पश्चात् ही आया है।"[1] चरणदास तो प्रेम के रंग में रंग चुके थे। इसलिए भला उनको संसार की सुधि क्यों रहने लगी? प्रेमनगर में होली खेली जा रही है। जब से अपना चित देकर यह होली खेली है तब से अपने आपको खो दिया है। कुल आदि की लाज तो गँवा दी है। अब कोई काम ही नहीं रह गया है। कभी नाच उठती हूँ कभी गाने लगती हूँ। तन, धन और घर की सुधि तो बिल्कुल ही भूल गई है। मेरी ही नहीं बल्कि जिन-जिन को यह प्रेम का रंग लग गया है उन सबकी बुद्धि रंगी गई है। बहुतों को तो अपनी सुधि नहीं रही है। फिर नियम आदि की चिन्ता भला कौन करे? बहुतों की वाणी गद्‌गद हो चुकी है और आँखों से पानी बह रहा है। बहुतों को तो पागलपन हो लग गया है। प्रेम की गति तो प्रेमी ही समझ सकता है।[2]

---

१. टुक निर्गुन छैला सूँ, कि नेह लगाव री।
जाको अजर अमर है देस, महल बेगमपुर री।
जहाँ सदा सोहागिन होय, पिया सूँ मिली रहु री।
जहँ आवागमन न होय, मुक्ति चेरी तेरी।
कहै चरनदास गुरु मिले, सोई ह्वाँ रहु बोरी।
सब सुखसागर के बीच, कलहरी ह्वै रहु री।

सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० १५२।

२. प्रेमनगर के माँहि होरी होय रही।
जबसों खेलो हमहूँ चित दै, आपन हूँ को खोय रही।
बहुतन कुल अरु लाज गँवाई, रहो न कोई काम।
नाच उठैं कभी गावन लागैं, भूलैं तन धन धाम।
बहुतन की मति रंग रंगी है, जिनको लागो प्रेम।
बहुतन को अपनी सुधि नाँहि, कौन करे अस नेम।
बहुतन की गद्‌गद अस बानी, नैनन नीर ढराय।

मीरा ने भी कहा है कि घायल की गति घायल ही जानता है। चरणदास द्वारा उल्लिखित भक्ति ज्ञान-शून्य नहीं है। वहाँ पर ज्ञान विवेक के फल-फूल आदि हैं। इस भक्ति के लिए चरणदास ने गुरु और ईश्वर के ही महत्त्व को स्वीकार किया है। भक्ति का चरम उद्देश्य ही ईश्वर की प्राप्ति है। उसका माध्यम गुरु ही है। "जगत में मुक्ति के लिए दो ही बातों को ध्यान में रखना चाहिए। एक तो गुरु का ध्यान रखना चाहिए, दूसरा ईश्वर का नाम लेना चाहिए। कोटि प्रकार के निश्चय करके देख लिए अब इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। यदि शास्त्र, वेद, पुराण आदि टटोलें उनका साध्य ईश्वर ही है। योग, तप, दान आदि का भी साध्य ईश्वर ही है। नवधा भक्ति, भक्ति-भाव और ज्ञान का चरम साध्य ईश्वर ही तो है। जिसमें उपरोक्त दो मत नहीं हैं, वह मत ऐसा ही है जैसे अन्न के बिना भूसा। इस तरह के भूसे को चाहे कितना भी कूटो उससे भूख नहीं मिटने की। उपरोक्त दोनों बातों से हीन कोई भी मत थोथा ही कहा जाएगा। चरणदास से सुखदेव कहते हैं कि "भले इनको मन में समझकर देख लो।"[1]

ईश्वर के लिए इन्होंने धनी, पीव आदि शब्दों का व्यवहार किया है। सुखदेव का स्मरण प्रीतम के रूप में भी किया है। इन प्रतीकों को लेकर इनके पदों में प्रेम के सरल और मनोहर रूप पाए जाते हैं। खंडन-मंडन की ओर इनका ध्यान नहीं गया। सन्त विचारधारा के पोषक होते हुए भी इनके पदों में सगुण भक्ति की छटा देखी जा सकती है।

चरणदास का भक्त इसी शरीर को भक्ति का सोपान मानता है। वे कहते हैं कि

बहुतन को बौरापन लागो, [ह्वाँ] की कही न जाय।
प्रेमी की गति प्रेमी जानै, जाके लागी होय।
चरनदास उस नेह नगर की, सुकदेवा कहि सोय।

सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० १५४।

१. जग में दो तारन कूँ नौका।
एक तो ध्यान गुरु का कीजे, दूजे नाम धनी का।
कोटि भाँति करि निस्चै कीयो, संयम रहा न कोई।
सास्तर वेद पुरान टटोले, जिनमें निकसा सोई।
इनही के पीछे सब जानो, जोग जग्य तप दाना।
नौविधि नौधा नेम प्रेम सब, भक्तिभाव अरु ध्याना।
और सबै मत ऐसे मानो, अन्न बिना भुस जैसे।
कुटत-कुटत बहुतै कुटा, भूख गई नहिं तैसे।
थोथा धर्म वही पहिचानो जामें वे दो नाहिं।
चरनदास सुकदेव कहत हैं समझि देख मन माँहि।

सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० १५५।

इसी शरीर में तीर्थ क्यों न नहाया जाए ? इधर-उधर घूमते हो और व्यर्थ ही भ्रम में अपना जीवन खोते हो। गोमती का पुण्य तो वैसे ही अच्छे कार्य करने से मिल जाता है। अधर्म रूपी मैल अपने शरीर से छुड़ा लो। क्षमा ही में नर्मदा का पुण्य जानो। शील-रूपी सरोवर में स्नान करो। कामाग्नि का तपन अपने शरीर से बुझा लो। ऐसी पूजा इस शरीर में करो कि क्रोध बिल्कुल ही न रह जाए। सत्य में ही यमुना, सन्तोष में सरस्वती और गंगा में ही धैर्य का ही पुण्य जानो। निर्लोभी बनो। लोभ का बोझा ही सिर से उतार फेंको। दया-रूपी तीर्थों से ही बुरे कर्मों का नाश समझो। सुखदेव चरणदास से कहते हैं कि ऐसा करने से मनुष्य ८४ लाख योनियों में नहीं आता।"[1]

चरणदास की वाणी में भगवत् भक्ति, परमार्थ, ज्ञान और शब्दयोग का समन्वयात्मक निरूपण हुआ है। इनकी बानी में सरल और सरस भाषण का व्यवहार हुआ है। पदों में कई स्थलों पर सुन्दर काव्यात्मक छटा देखने को मिलती है।

मलूकदास

इनका जन्म इलाहबाद जिले में कड़ा में सं० १६३१ को हुआ था। ये जाति के कक्कड़ खत्री थे। इनके पिता का नाम सुन्दरदास था। इनके भानजे और शिष्य सुथरादास ने इनकी परिचयी लिखी है। उसके अनुसार इनके पितामह का नाम जठरमल था और प्रपितामह का नाम वेणीराम था। इस परिचयी के लेखक के रूप में सुथरादास को स्वीकार किया है।[2] उन्हें मुल्लू नाम से पुकारा जाता था। बचपन से ही ये कोमल हृदय के थे। सड़क या गली में ये कोई कंकड़ या काँटा पाते तो उसे दूर कर देते थे। इनकी मनोवृत्ति देखकर किसी महात्मा ने इनका भविष्य काफी उज्ज्वल बताया था। यह साधु कोई दक्षिण का बताया जाता है।

---

१. घट में तीरथ क्यों न न्हावो।
इत उत डोलो पथिक बने ही, भरमि भरमि क्यों जन्म गँवायो।
गोमती कर्म सुकारथ कीजे अधरम मैल छुटावो।
सील सरोवर हितकरि न्हैये, काम अगिन की तपन बुझावो।
रेवा सोई छिमा को जाने, तामें गोता लीजै।
तन में क्रोध रहन नहिं पावै, ऐसी पूजा कीजै।
सत जमुना सन्तोष सरस्वती, गंगा धीरज धारो।
झूँठ पटकि निर्लोभ होयकरि, सबहिं बोझा सिर सूँ डारो।
दया तीर्थ कर्मनासा कहिए, परसै बदला जावै।
चरनदास सुकदेव कहत हैं, चौरासी में फिर न आवै।
सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० १६०।

२. मिडिवियल मिस्टीसिज्म; क्षितिमोहन सेन; पृ० १५३।

साधु सेवा से इन्हें बहुत ही प्रेम था। ये घर का सब कुछ साधु सेवा में लगा देते थे। उसके लिए इन्हें चोरी भी करनी पड़े तो ये चिन्ता नहीं करते थे। बचपन में ये शिक्षा में किसी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं कर सके। जब इनकी अवस्था ११ वर्ष की थी उस समय इनके पिता ने साप्ताहिक बाजार में इन्हें कम्बल बेचने का काम सौंपा। संयोगवश उस दिन न तो कोई कंबल ही बिका और न इन्हें कोई भिखारी ही मिला। ये सारा-का-सारा गट्ठर लादे चले आ रहे थे। थककर ये एक झाड़ के नीचे बैठ गए। संयोग से यहाँ से एक मजदूर निकला, वह गट्ठर उन्होंने उसके सिर पर लदा दिया और उसके पीछे-पीछे चलने लगे। मजदूर तेज चलने के कारण इनके पहले ही घर पहुँच गया। उनकी माँ को यह सन्देह होने के कारण कि मजदूर ने कहीं कोई कंबल न निकाल लिया हो खाने के बहाने उसने मजदूर को एक कमरे में बन्द कर दिया और वह मलूकदास के आने की प्रतीक्षा करने लगी। मलूकदास जब घर पहुँचे तो उन्हें पता लगा कि मजदूर चंपत हो चुका है और उसकी रोटी ऐसे ही पड़ी है। इस बात का मलूकदास पर बहुत प्रभाव पड़ा और रोटी को प्रसाद समझकर ये खा गए। साधुओं का सत्संग करने का मलूकदास को चस्का लग गया था। इसी उद्देश्य को लेकर इन्होंने देश भ्रमण किया। भ्रमण करने के पश्चात् कड़ा ही में रहकर इन्होंने अपना गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। इनकी मृत्यु सं० १७३६ को १०८ वर्ष की अवस्था में हुई थी। इनकी पत्नी का देहान्त एक कन्या को जन्म देने के पश्चात् ही प्रसव पीड़ा के कारण हो गया। कोई पुत्र न रहने के कारण इनके पश्चात् इनके भतीजे रामसनेही इनके बाद गद्दी पर बैठे थे। इनकी शिष्य परंपरा इस प्रकार है —

मुरार स्वामी

|

गोमती | सुथरादास | रामसनेही | पूरनदास | दयालदास | मोरमाधव | मोहनदास | हृदयराम

रामसनेही
|
कृष्ण सनेही
|
कान्हग्वाल ठाकुरदास
|
गोपालदास
|
कुंजबिहारी
|
रामसेवक
|

शिवप्रसाद
|
गंगाप्रसाद
|
अयोध्याप्रसाद

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने परिचयी से सुथरादास का एक पद उद्धृत किया है जो इस प्रकार है।

मलूक को भगिन सुत जोई।
मलूक को शिष्य है पुनि सोई।
सुथरा नाम प्रगट जग होई।
तिन हित सहित परिचयी भाखी।
बसै प्रयाग जगत सब साखी।[1]

गुरु—कहा जाता है कि किसी विट्ठलदास नामक द्राविड़ महात्मा से ये दीक्षित हुए थे।[2] परशुराम चतुर्वेदी ने उक्त मत का खण्डन करते हुए किसी देवनाथ नामक व्यक्ति का नाम लिया है।[3] उनके कथनानुसार देवनाथ से भी मलूकदास को नाम मात्र को ही दीक्षा प्राप्त हुई थी। आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कराने वाले तो मुरारि स्वामी नामक कोई व्यक्ति थे।[4] सम्भवतः ये मुरार स्वामी के साथ गोस्वामी तुलसीदास के पास भी गए थे। विट्ठलदास उक्त देवनाथ के गुरु भाऊनाथ के भी गुरु थे। इस बात का उल्लेख परिचयी में आया है। क्रुक्स के मतानुसार इनके गुरु कोल्ह थे।[5]

रचनाएँ—मलूकदास ने कुछ कवित्त, साखी और सबद कहे हैं। बाबा मलूकदास की बानी नाम से एक पुस्तक बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुई है। स्वामीबाग आगरा से प्रकाशित "साध संग्रह" में भी मलूकदास के पद हैं। इनकी रचनाएँ निम्नानुसार बताई जाती हैं। यथा—

१. ज्ञान बोध।
२. रतनखान।
३. भक्त वच्छावली।
४. भक्त बिरुदावली।

---

१. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय; पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा अनुवादित, पृ० ७७।
२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा; परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ५०७।
३. मिडिवियल मिस्टीसिज्म; क्षितिमोहन सेन; पृ० १५३।
४. उत्तर भारत की सन्त परम्परा; परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५०७।
५. ट्राइब्स् एण्ड कास्ट्स; क्रुक्स; भाग ३, पृ० ४७२।

५. पुरुष विलास।
६. दस रत्न ग्रन्थ।
७. गुरु प्रताप।
८. अलखबानी।
९. रामावतार लीला।

क्षितिमोहन सेन ने इनकी रचनाओं में भक्त वत्सल, रतनखान और दस रत्न-ग्रन्थ का उल्लेख किया है। भक्त वच्छावली इनकी रचनाओं में श्रेष्ठ समझी जाती है। "अजगर करे न चाकरी और पंछी करे न काम। दास मलूका यों कहैं सबके दाता-राम।" भाग्यवादी दोहे के रचयिता ये मलूकदास नहीं थे। यह रचना "मलूकशतम्" की है जिसके रचयिता कोई और ही मलूकदास हैं। इसमें १०१ दोहे संग्रहीत हैं।

कहा जाता है कि कड़ा में गुरु तेगबहादुर ने इनसे भेंट की थी। औरंगजेब कट्टर होते हुए भी मलूकदास का सम्मान करता था। मलूकदास के कहने से बादशाह ने कड़ा से जजिया कर हटा दिया था।

सतगुरु की महानता और अपनी लघुता को प्रगट करते हुए उन्होंने कहा है सतगुरु तुम निरमोलक निर्मल हीरे हो। तुम ही साहब समर्थ हो। हम तो मलमूत्र के कीड़े-मात्र हैं। तुम्हारा सुमरन करने से इस देह में कोई भी पाप नहीं रह जाता। तुम्हारे एक उच्चारण-मात्र से मनुष्य भवसागर के पार जा सकता है। तुम्हारी स्तुति सब गाते हैं। तेरी शरण में जो भी आया तूने उसे पार लगा दिया। तू महान है। तेरी बड़ी ही सामर्थ्य है। लक्षागृह से पांडवों को तूने ही बचाया था। उन्हें गर्म हवा तक नहीं लगी। भक्त में कितने भी अवगुण क्यों न हों, तो भी ईश्वर उनको भुला नहीं देता है। मलूकदास कहते हैं कि हे ईश्वर तुम मुझे अपना ही जानो।[1]

इनका सतगुरु ही रामराय है और ईश्वर है। इन्होंने अपने पदों में प्रेम की पीर का मनोहर रूप भी उपस्थित किया है। "ईश्वर से आखिर कौन मिलावे ? उसके बिना रहा भी तो नहीं जाता। मैं तो पिया के नाम की प्यासी हूं। पिया-पिया ही रट रही हूँ। यदि ईश्वर न मिला तो मैं अपने प्राण दे देने को तैयार हूं। गुरु अहेरी है तो मैं हिरणी हूं। उन्होंने प्रेम का बाण मारा है। जिसे वह लगता है वही उसकी पीर को जानता है और कोई उसके दर्द को नहीं समझ सकता। मलूकदास कहते हैं कि हे प्रेमयोगिनी, तेरे प्रेम के कारण मुझे सहज ही में ईश्वर मिला है।"[2]

---

१. सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० ३६।
२. कौन मिलाए जोगिया हो, जोगिया बिन रहा न जाई।
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं, पीव-पीव।
जो जोगिया नहिं मिलिहै हो, तो तुरत निकासूं जीव।
गुरु जी अहेरी मैं जो हिरनी, गुरु मारै प्रेम का बान।

ईश्वर के प्रति उन्हें जो आस्था थी उसके व्यक्तिकरण के लिए वे बाहरी साधनों की आवश्यकता नहीं समझते। ईश्वर से वे कहते हैं "यदि तूने मुझपर अनुग्रह नहीं दिखाया तो लोग तुझ पर ही हँसेंगे। तेरे वात्सल्य-भाव पर तो मुझे इतना भरोसा है कि मैं तो नामस्मरण की आवश्यकता ही नहीं समझता।"[1] तुझे तो मैंने पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण ही कर दिया। मलूक को तो तेरा ही भरोसा है। न तो मैं माला ही जपता हूँ और न ही राम का नाम लेता हूँ। स्मरण तो ऐसा करो कि दूसरा देख हो न सके। ओंठ भी फड़कते न दिखें प्रेम छिपा ही रहे।[2] संत मलूकदास उच्चकोटि के महात्मा थे। इन्हें काफी सांसारिक अनुभव था। ये दयालु और निर्भीक थे। संसार में जो भी सुख-दुःख इनके सामने आता उसे ये आनन्द पूर्वक स्वीकार करते थे। इनके जीवन-काल ही में इनकी ख्याति काफी दूर-दूर तक फैल गई थी।

सहजोबाई

इनका जीवन काल अनुमानतः सं० १७४० से १८२० विक्रमी तक माना जाता है। इनका जन्म डेहरा ग्राम मेवात राजस्थान में हुआ था। ये जाति की ढूसर बनिया थीं। इनके पिता का नाम हरिप्रसाद था। इनके गुरु चरणदास थे। इनके जीवन के बारे में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं होते। अपने गुरु का इन्होंने जन्म, वंश आदि का तो विवरण दिया है किन्तु अपने बारे में कुछ नहीं लिखा। ये आजीवन कुमारी रही थीं। दयाबाई इनकी गुरु बहिन थीं।

कुछ फुटकर पदों के अतिरिक्त इनकी रचना सहज प्रकाश है। इसकी रचना सं० १८०० में हुई थी। यह पोथी गुरु के गुणगान से ही भरी पड़ी है।

उन्होंने कहा है—

फाग महीना अष्टमी, सुक्ल पाख बुधवार।
सम्वत अठारह सै हुते, सहजो किया विचार।

जेहि लागै सोई जानई हो, और दरद नहिं जान।
कहैं मलूक सुन जोगिनी रे, तनहिं में मनहिं समाय।
तेरे प्रेम के कारने जोगी, सहज मिला मोहि आय।
सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० २९।

१. दीन दयाल सुनी जबते, हिया में कुछ ऐसी बसी है।
तेरो कहान के जाऊँ कहाँ ? मैं तेरे हित की पट खैंच तनी है।
तेरोई एक भरोस मलूक को, तेरो समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है।
सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० ३२।

२. माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहौ न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम।

गुरु प्रस्तुति के करन कूं, बाढ्यो अधिक हुलास ।
होते-होते हो गई, पोथी सहज प्रकाश ।[1]

कई स्थलों पर ईश्वर से अधिक महत्त्व इन्होंने गुरु को प्रदान किया है ।

राम तजूं पै गुरु न बिसारूँ, ।
गुरु के सम हरि को न निहारूँ ।

इनके पद अधिकतर गुरु भक्ति, वैराग्य, प्रेम नाम, साधु महिमा के प्रसंगों से ही भरे पड़े हैं । इन्होंने गुरु भक्ति की महिमा तो बहुत ही गाई है । कृष्ण भक्ति पर इनके जो पद हैं उनमें मीरा की वेदना और विह्वलता उपलब्ध होती है ।

दयाबाई

इनका जीवनकाल अनुमानतः सं० १७५० से १८३० माना जाता है । इनका जन्म स्थान डेहरा ग्राम, मेवात राजस्थान है । जाति की ये दूसर बनिया थीं । चरणदास इनके गुरु थे । दिल्ली में रहकर ये चरणदास की सेवा किया करती थीं । दयाबोध नामक ग्रंथ की रचना उन्होंने चैत सुदी ७ सं० १८१८ में की थी । इनकी रचनाओं में गुरु महिमा, सुमिरन, नामस्मरण, सूरमा प्रेम, वैराग साध आदि अंगों पर इनके पद मिलते हैं । इनकी रचनाओं में एक भक्त की तन्मयता का प्रभाव ही पाया जाता है । दयानदास नाम से भी "विनयमालिका" में इनके दोहे आए हैं । ये इन्हीं के कहे जाते हैं । शैली और भाषा की दृष्टि से और दोहों से इनमें अन्तर नहीं हैं । सगुण भक्ति पर भी इनके पद उपलब्ध हैं । "दयाबाई की बान" नाम से बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से इनकी एक पुस्तक छपी है । चरणदास का गुरु के रूप में जगह-जगह पर आदर से इन्होंने नाम लिया है ।

चरणदास गुरु कृपा ते मनुवा भयो अपंग ।
सुनत नाद अनहद दया आठो जाम अभंग ।।[2]

\+ \+ \+

चरणदास की कृपा तें मन में उपज्यो चेत ।
"दयाबोध" बरनन कियो परमारथ के हेत ।।
चरनदास की कृपा तें मन में उठी तरंग ।
दयाबोध बरनन कियो सुख की उठत तरंग ।।

सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय ।
ओठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय ।

सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० ३६ ।

१. सहज प्रकाश; वेलवेडियर प्रेस प्रयाग; पृ० ३ ।
२. सन्त सुधासार; वियोगी हरि; खण्ड दो, पृ० २०५-६ ।

फुटकर सन्त

जगजीवन साहब—इनका जन्म सं० १७२७ वि० में सरदहा गाँव, जिला बाराबंकी में हुआ था। ये जाति के चन्देल क्षत्रिय थे। बचपन में ये बैलों को चराने के लिए ले जाते थे। उसी समय से इनके मन में सत्संग का चाव था। कहा जाता है कि जगजीवन साहब के गुरु बावरी पंथ के प्रसिद्ध बुल्ला साहब थे। किन्तु ये बुल्ला साहब दूसरे थे। गाय चराते समय इनकी भेंट बुल्ला साहब और गोविन्द साहब से हुई। बुल्ला साहब से प्रभावित होकर उन्होंने बुल्ला साहब से उनका शिष्यत्व स्वीकार करने की प्रार्थना की। बुल्ला साहब इन्हें दीक्षा दे गए। चलते-चलते दोनों साधुओं ने इन्हें अपना निशान भी दे दिया। बुल्ला साहब ने हुक्के से तोड़कर काला धागा और गोविन्द साहब ने सफेद धागा इनकी कलाई पर बाँध दिया। जगजीवन साहब के सतनामी अनुयायी दो रंगे धागे अपनी कलाई पर बाँधते हैं। इसे वे ओदू कहते हैं।

गृहस्थ जीवन का पालन कर इन्होंने हजारों को परमार्थ का उपदेश दिया। इनकी बढ़ती हुई कीर्ति को देखकर सरदहा वालों के मन में ईर्ष्या होने लगी। वे कोटवा आ बसे। कोटवा में ही इन्होंने सं० १८१८ में चोला छोड़ा। कोटवा में इनकी समाधि और गद्दी है। कोटवा शाखा सतनामियों का भारी स्थान है।

कहा जाता है कि इन्होंने ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय, शब्दसागर, अघविनाश, अगमपद्धति, प्रथम ग्रंथ, प्रेम ग्रंथ लिखे हैं। प्रकाश मे केवल शब्दसागर ही आया है। दो भागों में वेलवेडियर प्रेस प्रयाग से इसका प्रकाशन हुआ है। प्रेम, विरह तथा विनय का निरूपण कई पदों में सुन्दर ढंग से हुआ है।

दरिया द्वय—दरिया नाम से दो संत हो गए हैं। एक मारवाड़ और दूसरे बिहार के।

मारवाड़ वाले दरिया—इनका जन्म सं० १७३३ को हुआ था। इनका जन्म-स्थान जैतारण (मारवाड़) है। ये जाति के धुनियां थे, ये मुसलमान थे। इन्होंने स्वयं कहा है—

> जो धुनियां तो भी मैं राम तुम्हारा।
> अगम कमीन जाति मति हीना।
> तुम तो हो सिरताज हमारा।

इनके पिता की मृत्यु इनकी सात वर्ष की ही अवस्था में हो गई। इनके नाना-नानी ने इन्हें पाला-पोसा। अपनी ज्ञान-पिपासा की शान्ति के लिए ये प्रेम महाराज के दरवाजे पर पहुँचे। ये बीकानेर रहा करते थे। ये दादू के शिष्य थे। कई दरिया-पंथियों का अनुमान है कि ये दादू के अवतार ही थे। वेलवेडियर प्रेस से दरिया साहब मारवाड़ की बानी और जीवन चरित्र प्रकाशित हुए हैं। इन्होंने स० १८१५ में चोला त्याग किया।

बिहार वाले—इनका जन्म सं० १७३१ में धरकंधा (जिला आरा) में माना जाता है। ये मुसलमान थे। इनके पिता का नाम पीरशाह था। इनके पूर्वज उज्जैन के क्षत्रिय थे। ये बिहार के जिला शाहाबाद में जगदीशपुर में रहते थे। इनका विवाह ९ वर्ष की आयु में ही हो गया था। इनकी स्त्री का नाम राममती था। विरक्त होने पर इन्होंने स्त्री का परित्याग कर दिया। सहज साधना करते-करते ज्ञान और भक्ति का पूरा प्रसाद इन्होंने बीस वर्ष की अवस्था में ही पा लिया था। तीस वर्ष की अवस्था में ये गद्दी पर बैठे। इन्होंने अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जाति-पाँति आदि का खंडन किया है। इन पर कबीर के मत और तत्वज्ञान का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। इन्हें कबीर का अवतार भी कहा जाता है। इनकी पाँच गद्दियाँ हैं। मुख्य केन्द्र धरकंधा ही है। डुमरांव से यह १४ मील दूर है। इनके शिष्यों में दूलनदास प्रमुख थे।

इनके कई रिवाज मुसलमानों से मिलते-जुलते हैं। प्रार्थना ये खड़े-खड़े झुककर ही करते है। प्रार्थना को ये कोरनिश कहते हैं। बन्दना को सिरदा या सिजदा कहते हैं। इनका मूल मन्त्र है "ये यह है" है। हर साधु के पास मिट्टी का हुक्का होता है।

इनकी रची हुई २० पुस्तकें कही जाती हैं। प्रकाश में केवल दरिया सागर, ज्ञान दीपक ही आए हैं। बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से दरिया साहब (बिहार वाले) के चुने हुए पद और साखियों का सुन्दर संग्रह निकला है।

गुलाल साहब—इनके जन्म का ठीक-ठीक पता नहीं है। सम्भवतः इनका जन्म सं० १७५० में हुआ था। इनका जन्म स्थान जिला गाजीपुर माना जाता है। ये जाति के क्षत्रिय थे। इनके गुरु बुल्ला साहब थे। ये पढ़े-लिखे नहीं थे। फिर भी ये अच्छे संस्कारी थे। इनके घर की साधारण-सी जमींदारी थी। ये बुलाकी राम के हलवाहे थे। इनकी मृत्यु सं० १८५० में हुई थी।

भीखा—इनका घरेलू नाम भीखानन्द था। इनका जन्म सं १७७७ में हुआ था इनका जन्म स्थान खानपुर बोहना गाँव है। यह जिला आजमगढ़ में है। इन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में ही घर त्याग किया था। ये काशी गए किन्तु वहाँ इन्हें कुछ हासिल नहीं हुआ। इन्होंने गुलाल साहब से भेंट की थी और वहीं ये इनके शिष्य हो गए। इनका देहान्त ५० वर्ष की अवस्था में हुआ था।

इनकी बानी में साखी, पद, रेखते कवित्व और कुण्डलियाँ आदि विभिन्न अंगों पर उपलब्ध होती हैं। राम जहाज नामक उनका बड़ा ग्रन्थ कहा जाता है। बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से 'भीखा साहब की बानी' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है।

दूलनदास—इनका जन्म सं० १७१७ में समेसी ग्राम में हुआ था। ये जाति के क्षत्रिय थे। इनके गुरु जगजीवन साहब थे। इन्होंने सत्संग कोखा में किया था। इनकी मृत्यु सं० १८३५ में हुई थी। इनके जीवन के बारे में अधिक सामग्री प्राप्त नहीं हुई। ये जगजीवन साहब के पट्ट शिष्य थे। बेलवेडियर प्रेस से इनकी बानी प्रकाशित हुई है। इनके झूलने मस्ती से भरे हैं। चेतावनी, विनय, उपदेश और प्रेम आदि पर इन्होंने

बहुत-ही मार्मिक रूप में लिखा है। इनकी भाषा अवधी और भोजपुरी है जिसमें फारसी का भी कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है।

धरनीदास—सं० १७१३ में इनका जन्म छपरा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम परसरामदास और माता का नाम बिरमा था। जाति के ये कायस्थ थे। इनके गुरु का नाम स्वामी विनोदानन्द था। इनकी मृत्यु संवत् का ठीक-ठीक पता नहीं है। इन्होंने वैष्णव कुल में जन्म लिया था। इनके दादा टिकेतदास का इन पर काफी प्रभाव पड़ा था। ये मांझी के राजा के यहाँ दीवान पद पर आरोहित थे। सं० १७१३ में पिता की मृत्यु पर इनका मन खिन्न हो गया। सत्य प्रकाश और प्रेम प्रकाश इनके दो ग्रन्थ कहे जाते हैं।

रज्जब—इनका जन्म साँगानेर में सं० १६२४ में हुआ था। ये जाति के पठान थे। इनके गुरु स्वामी दादू दयाल थे। इनके जीवन के बारे में अधिक उपलब्ध नहीं होता। ये दादू के श्रेष्ठतम शिष्यों में से थे। इनकी गुरु-भक्ति गहरी थी। इनका देहान्त साँगानेर में ही सं० १७४० को हुआ था।

वाणी और सर्वंगी नाम से इन्होंने दो ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी साखियों की संख्या ५४२८ है। इतनी बड़ी संख्या में अन्य संतों की साखियाँ उपलब्ध नहीं होती हैं। इनके पदों की संख्या २१२ है। कवित्त, अरिल्ल, सवैये आदि अनेक छन्दों में इन्होंने रचना की है। भाषा इनकी राजस्थानी है। इन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था।

बषनाजी—इनके जन्म संवत् का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। आपके गुरु दादू थे। इनका देहान्त नराना में ही हुआ था। इनकी गणना दादू के श्रेष्ठतम शिष्यों में की जाती है। ये कवि या साहित्यकार की अपेक्षा उच्चकोटि के साधक थे। रज्जब ने इनकी वाणी को सर्वंगी में लिया है। जयपुर के दादू महाविद्यालय के स्वामी मंगलदासजी ने बषनाजी की वाणी एवं साखियों को सटिप्पण संकलित किया है।

वाजिद—इनके बारे में इतना ही प्रसिद्ध है कि ये एक पठान थे। स्वामी दादू दयाल के १५२ शिष्यों में इनकी गणना होती है। इनके जन्म और देहान्त का पता नहीं लगता। अरिल्ल छन्द में इन्होंने अनेक अंगों पर रचना की है। १४ छोटे-छोटे ग्रन्थों में इनकी बानी संग्रहीत है।

शिवनारायण—ये गाजीपुर के रहने वाले थे। ये मोहम्मदशाह के समकालीन थे। इनका प्रभाव सैनिकों पर था। राजपूत सैनिक इनके अनुयायी थे। ये जाति-पाँति के भेदों को स्वीकार नहीं करते थे। इनकी समाधि बिलसंडा में है। ग्रन्थों में सन्त विलास, भजन ग्रन्थ, शांत सुन्दर, गुरुन्यास, सन्त आचारी, सन्त उपदेश, शब्दावली, सन्त पर्वन, सन्त महिमा, सन्त सागर आदि उल्लेखनीय हैं।

दशम अध्याय

हिन्दी व पंजाबी सन्तों की विचार एवं दर्शन प्रणाली

हिन्दी और पंजाबी सन्तों ने जो भी वाणियाँ प्रस्तुत की हैं उनमें अधिकतर विषयसाम्य ही है। निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत हम इस पर विचार प्रगट करेंगे।

गुरु माहात्म्य—सन्तों ने गुरु की बहुत-ही महिमा गाई है। गुरु का ठीक-ठीक पर्याय तो अंग्रेजी में मिलता ही नहीं। उसे Spritual Teacher अवश्य कहा गया है किन्तु उसका आशय आध्यात्मिक शिक्षक ही होता है। गुरु के अभाव में तो गोविन्द की कल्पना ही व्यर्थ समझी गई है। इसलिए गुरु को ईश्वर के समकक्ष तक रखा गया है। कबीर कहते हैं कि वह तो गुरु की ही बलिहारी थी जिसने ईश्वर की ओर संकेत कर दिया अन्यथा गोविन्द का पता लगाना तो मुश्किल ही था।[1] पीताम्बर दास बड़थ्वाल के मतानुसार सन्त साहित्य में गुरु के पर्याय के रूप में सिकलीगर, साह, सुनार, चन्दन, चिन्तामणि, भृंगी, वैद्य, हंस और पारिख आदि शब्दों का व्यवहार किया है।[2] नानक के लिए यद्यपि यह कहा जाता है कि "धन बाबा नानक आए गुरु चेला।" किन्तु नानक ने अपने पदों में स्थान-स्थान पर गुरु महिमा गाई है। कबीर के विषय में भी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि उनका गुरु कौन था किन्तु कबीर ने भी जगह-जगह पर गुरु-महिमा गाई है। नानक कहते हैं कि गुरु की बलहारी जाता हूँ जिसने कि मुझे एक क्षण के लिए देव-सा बना दिया।[3] कबीर कहते हैं कि उस सतगुरु की महिमा अनन्त है।

---

१. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाऊँ।
बलिहारी गुरु आपनी, जिन गोविन्द दियो बताय। कबीर

२. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय; अनु० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; पृ० ३७८।

३. बलिहारि गुर आपणों घोहाड़ी के वार।
जिनि मानिष तें देवता, करत न लागी वार, गुरु ग्रन्थ साहिब; म० १, आसा दी वार; प० १, यह पद गुरु नानक का है। आसा दी वार का यह प्रथम ही पद है। ग्रन्थावली से श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में'

उसने ईश्वर के दर्शन करने के लिए मेरे नेत्र खोल दिए हैं। उसने मुझ पर अनन्त उपकार किया है। गुरु की महिमा इन सन्तों ने दो रूपों में गाई है। एक तो सामान्य रूप से गुरु के व्यक्तित्व के महत्त्व को लेकर, दूसरे उसके व्यक्तिगत रूप को लेकर। किसी विशिष्ट मानव गुरु का दूसरा रूप सहजोबाई की वाणियों के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ उसने चरणदास की महिमा गाई है। नानक और कबीर ने गुरु महिमा अवश्य गाई है किन्तु किसी मानव गुरु विशेष की नहीं। जबकि अन्य सन्तों ने गुरु महिमा के साथ-ही-साथ अपने मानव गुरु की महिमा गाई है।

कबीर कहते हैं कि गुरु ने मुझ पर जो उपकार किए हैं भला उनके बदले में क्या दूं ? मेरे पास तो देने के लिए कुछ भी नहीं है। समझ नहीं आता कि उसे कौन-सी वस्तु अर्पण करूँ ?[1]

नानक ने तो गुरु के चरणों में सिर झुकाकर जीव और जगत के नाश का रहस्य समझने की चेष्टा की।

> गुर चरण लागि हम बिनवता पूछत कह जीऊ पाइआ।
> कवन काज जग उपजै बिनसै कहु मोहि समझाइआ।[2]

ईश्वर तभी उन्हें ठीक तरह से भाया जब कि गुरु ने मार्ग दिखाकर ईश्वर के ठीक-ठीक दर्शन उन्हें करा दिए—

> सतिगुर मिलिआ मारगु दिखाइआ।
> जगतपिता मेरे मन भाइया।।[3]

कबीर किसी विशिष्ट व्यक्ति से ही प्रभावित नहीं थे। सत्संग का उन पर बराबर प्रभाव पड़ा था अतएव शेख तकी, रामानन्द आदि को उन्होंने एक-सा ही आदर प्रदान किया है। सुन्दरदास गुरु महिमा का बखान करते हुए कहते हैं कि—

> गुरुदेव बिना नहीं मारग सूझय।
> गुरु बिन भक्ति न जाने।
> गुरुदेव बिना नहीं संशय भागय।
> गुरु बिन लहै न ज्ञानै।
> गुरुदेव बिना नहि कारज होई।
> लोक वेद यों गावैं।

यह पद उद्धृत किया है। नानक का यह पद कबीर के नाम से प्रचलित नहीं किया जा सकता।

१. सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार।
लोचन अनन्त उघाड़िया, अनंत दिखावन हार। कबीर ग्रन्थावली; पृ० ६३।

२. गुरु ग्रन्थ साहिब; महला १, रागु आसा, पद १।

३. वही; पद २।

गुरुदेव बिना नहिं सद्‌गति होई।
गुरु गोविन्द बतावें।[1]

सुन्दरदास ने गुरु महिमा का बखान करते हुए कहा है कि गुरु ने ही गोविन्द बताया है। कबीर ने भी गोविन्द के पता बताने का श्रेय गुरु को ही दिया है। गुरु प्रसादि की महिमा वताते हुए सुन्दरदास कहते हैं कि—

गुरु के प्रसादि बुद्धि उत्तम दशा को ग्रहै।
गुरु के प्रसाद भवदुख बिसराइये।
गुरु के प्रसादि प्रेम प्रीतिहू अधिक बाढ़े।
गुरु के प्रसाद रामनाम गुन गाइये।
गुरु के प्रसाद सब योग युगति जाने।
गुरु के प्रसाद शून्य में समाधि लाइये।
तिनके प्रसाद तत्त्वज्ञान मुनि पाइये।[2]

गुरु की ही कृपा से बुद्धियोग, जपयोग, राजयोग, हठयोग आदि में सफलता प्राप्त होती है।

नामदेव ने भी कहा—

सुकिरत मनसा गुर उपदेशे, जागत ही मन मान्या।[3]

नानक कहते हैं कि गुरु की वाणी ही आदि शब्द है, नाद है और वही वेद है। गुरु के मुख में ईश्वर का वास होता है। गुरु ही शिव है, गुरु ही विष्णु है। जो गो और पृथ्वी का रक्षक है, गुरु ही ब्रह्मा है। पार्वती और माता लक्ष्मी भी गुरु ही है। यदि मैं उसे जान लूँ तो उसका वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि गुरु तो कथनी से परे हैं। गुरु ने मुझे इस बात का ज्ञान करा दिया है कि जीव को देने वाला एक मात्र ईश्वर ही है।[4] गुरु अंगद कहते हैं कि चाहे सौ चन्द्र ही क्यों न उदित हो जाएँ और सहस्रों सूर्यों का उदय हो, फिर भी इतने प्रकाश के अतिरिक्त भी गुरु के बिना अँधेरा ही रहेगा।[5]

---

१. सुन्दरदास ग्रन्थावली; प्रथम खण्ड, पुरोहित हरनारायण, पृ० ८; प्रथम संस्करण; सं० १९९३।

२. वही; पृ० ९।

३. सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० ४५।

४. गुरमुख नाद, गुरमुख वेद, गुरमुख रहिया समाई।
गुरु ईसरू गोरखु बरमा गुरु पारवती माई।
जे हउ जाणा आखा नाही कहणा कथन न जाई।
गुरा एक देहि बुझाई। गु० ग्र० सा०; गुरु नानक।

५. जे सउ चन्दा उगवहि सूरज चढ़हि हजार।
एते चानण होदिआं गुरु बिन घोर अंधार। गुरु अंगद।

अमरदास का साधक गुरु की प्राप्ति से आनन्द विभोर हो जाता है और कहता है "मुझे तो आनन्द की प्राप्ति हो गई है क्योंकि मुझे गुरु की प्राप्ति हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे मानस में सहज रूप से ही बधाइयाँ बज उठी हैं। मैंने मन में सतगुरु को बसा लिया है। स्वर्ग की अप्सराएँ उत्तम गान के लिए आई हैं।"[1] आगे गुरु अमरदास कहते हैं कि "गुरु के शब्द तो हीरे की तरह होते हैं। उस शब्द रूपी रत्न को जिसने हृदय में जड़ लिया है वह तो ईश्वर में ही लीन हो जाएगा। जिस समय मानस में उस शब्द का वास हो जाता है उस समय वह सत्य रूप ईश्वर की ही भक्ति करता है। वही हीरा है, वही रत्न है और अपने सच्चे मोल का ज्ञान करा देता है।"[2]

भक्त चाहे कितना भी सत्संग करे या स्वतन्त्र साधना करे, उसे फिर भी ऐसे माध्यम की आवश्यकता है जो अनवरत रूप से ईश्वर का मार्ग बता उसमें बार-बार प्राण फूंकता रहे। बिना गुरु के साधक का पथ ऐसे विशाल मैदान के समान है जहाँ पर मनुष्य कहीं भी जा सकता है लेकिन जाता नहीं क्योंकि वहाँ दिशा-भ्रम हो जाता है। खुला मैदान हो तथा रात्रि का समय हो तो दिशा के ज्ञान का प्रश्न नहीं उठता तो अपने निश्चित मार्ग की बात दूर ही रही। सत्संग गुरु ही की खोज में किया जाता है। "यदि एक वस्तु किसी स्थान पर पड़ी हो और उसे अन्यत्र खोजा जाए तो उसका पता नहीं लग सकता। उसका पता तभी लगाया जा सकता है जबकि तुम्हारे साथ ऐसा मनुष्य हो जो कि उसके रहस्य से ठीक-ठीक परिचित हो।"[3] इसी कारण ईश्वर प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है। गुरु ही ऐसा माध्यम है जो कि भक्त को ईश्वर का साक्षात्कार कराता है। सिख धर्म में गुरुओं ने गुरु वाणी का रहस्य ठीक-ठीक समझ-कर ही अनुयायियों के समक्ष रखा। नानक का साधक कहता है "गुरु ने विनय कर ईश्वर से साक्षात्कार करा दिया है। ईश्वर का आभास पाकर मेरा मन उसकी प्रीति

---

१. अनन्दु भइया मेरी माए, सतगुरु मैं पाईआ।
सतगुरु त पाईआ सहज सेती मन वजिआ वधाईआ।
राग रतन परवार परीआ सबद गावण आईया।
सबदों त गावहु हरि केरा मनि जिन वसाईआ।
कहै नानक अनन्दु होआ सतगुरु मैं पाईआ। गुरु अमरदास।

२. गुरु का सबदु रतन है हीरे जितु जड़ाउ।
सबदु रतनज जितु मन लागा एह होआ समाइ।
सबदु सेती मनु मिलिआ सचै लाइआ भाउ।
आपे हीरा रतन आपे जिसनो देइ बुझाइ।
कहै नानक सबदु रतन है हीरा जितु जड़ाइ। गुरु अमरदास।

३. वस्तु कहीं ढूंढे कहीं, केहि विधि आवे हाथ।
कहु कबीर तब पाइए, भेदी लीजे साथ। कबीर बानी; पृ० ३२।

का गुणगान कर रहा है। मेरा मानस तो उस आन्तरिक वर्षा से भीना हो चुका है। हृदय में सुहानी अमृत बूंद पड़ गई है और गुरु ने हरि-रस प्राप्त करवा दिया है। जिस प्रकार वर को प्राप्तकर स्त्री सहज रूप में ही प्रसन्न हो जाती है उसी प्रकार ईश्वर रूपी वर को प्राप्त कर मेरा मानस प्रसन्न हो गया है। यह गुरु वचनों का ही प्रसाद है।"[1]

इतना ही नहीं नाम प्राप्ति का रहस्य समझने के लिए भी गुरु की आवश्यकता मानी गई है। "गुरु की कृपा से नाम-रूपी धन हृदय में आ जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सर्वस्व प्राप्त हो गया हो।"[2] "गुरु के अभाव में मुक्ति तक नहीं मिलती। साधक अंधेरे में ही हाथ मारता रहता है। उसे ठीक-ठीक कुछ नहीं सूझता।"[3]

गुरु की महिमा इन सन्तों ने एक स्वर से गाई तो है किन्तु गुरु से भी कुछ विशेष प्रकार के गुण अपेक्षित हैं। गुरु को चुनते समय सावधान रहने की आवश्यकता है। गुरु को समस्त गुणों से संपन्न होना चाहिए। जो मनुष्य इसलिए गुरु बनना चाहता कि वह सिर्फ गुरु कहलाए या चेलों की फौज को देखकर गर्व करे वह गुरु होने योग्य नहीं है। ऐसे मनुष्य को सच्चा अनुभव तो होता ही नहीं और आध्यात्मिक मार्ग दर्शन तो वह कभी नहीं कर सकता। नानक कहते हैं कि "भूलकर भी उनके पैर नहीं छूना चाहिए जो अपने आपको गुरु बतलाकर दर-दर की भीख मांगते फिरते हैं।"[4] गुरु का यह कार्य है कि शिष्य को मार्ग में आने वाली कठिनाइयों से परिचित करवा दे। यदि गुरु बनावटी होगा तो उसे पथ का कुछ भी ज्ञान न होगा और वही हाल होगा "आप डूबे पांड्या, ले डूबे जजमान" गुरु और अनुयायी दोनों ही कुएं में पड़ेंगे। "अंधा अंध को ठेलिए, दोनों कूप पड़ंत।" गुरु को अपने पर दृढ़ विश्वास होना चाहिए ताकि वह सच्ची आध्यात्मिक प्रगति वाला पुरुष बन सके। जब गुरुओं ने अपनी योग्यताओं को खोना प्रारंभ किया उस समय उन्होंने अनुयायियों से ग़लत फायदा उठाकर गुरु शब्द को ही बदनाम करना शुरु कर दिया।

गुरु को भी किसी को शिष्य रूप में स्वीकार करने से पहले काफी सावधान रहने

---

१. करऊ बिनउ गुर अपने प्रीतम हरि घर आणि मिलाये।
सुनि घनघोर सीतल मन मोरा लाल रती गुण गावे।
बरस घना मेरा मन भीना।
अमृत बूंद सुहानी हियरे गुर मोहि मनु हरि रस लीना।
सहजि सुखी वर कामणि पिआरी जिसु गुर बचनी मनु मानिआ। गुरु नानक।
२. हिरदे नाम सरब धनु धारणि गुर परसादि पाइए।
३. बिन गुर सबद मुकति नहीं कबहीं अंधुले धंधु पसारा। गुरु नानक।
४. गुरु के सदाए मंगण जाइ, ताके मूलि न लगीए पाइ। गुरु नानक।

की आवश्यकता है। जिस व्यक्ति के समक्ष वह अपना रहस्य प्रकट करने जा रहा है वह योग्य है या अयोग्य, यह देख लेना गुरु का पूरा-पूरा कार्य है। कई शिष्य गृहस्थी के झंझट से बचने का बहाना मात्र ढूंढते हैं। साधु बनकर वे आराम की जिन्दगी बिताना चाहते हैं। या कोई पलायनवादी तो नहीं है, जो कि संसार से भागने का बहाना ढूंढ़ रहा है। अयोग्य शिष्य को उपदेश देना "भैंस के आगे बीन बजाने" वाला ही कार्य होगा।

योग्य शिष्य को एक बार योग्य गुरु की प्राप्ति हो गई फिर सारी समस्याएँ ही हल हो जाती हैं। सेवक का आज्ञाकारी होना आवश्यक है। गुरु अर्जुन देव कहते हैं कि "जो सेवक गुरु के घर रहता है वह गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करता है। वह सदैव अपने हृदय में हरिनाम को स्थान देता है। वह तो सत्गुरु के पास अपना मन बेच देता है। सेवक बनकर वह वहीं पर निवास करता है। निष्काम होकर वह सेवा करता है। तब उसे अपने स्वामी की प्राप्ति होती है। ऐसा ही सेवक गुरु के उपदेश ग्रहण कर सकता है।"[1]

गुरु का उपदेश सुनकर मनुष्य परब्रह्म को पास से देख सकता है। साथ ही मन की चिन्ता भी मिट जाती है।[2] जिस मनुष्य पर गुरु कृपा करता है वही इस मुक्ति को पहचानता है कि काम, क्रोध के नाश से ही घट में ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[3] रज्जब भी कहते हैं कि मनुष्य गुरु के बिना निगुरा कहलाता है और उसमें ऊँच-नीच का भाव बना रहता है। उसमें समता का भाव नहीं आता। पवन भी एक ही और पानी भी एक ही है परन्तु उनके अन्तर को बुद्धि ही पहिचान सकती है। शरीर और आत्मा एक ही होती है किन्तु बिना समझ के दोनों में बहुत अन्तर होता है। गुरु के ज्ञानदान से ही सब ठीक-ठीक तरह से देख सकते हैं। मारवाड़ वाले दरिया साहब कहते हैं कि "हरि भक्ति की राह गुरु ने बतला दी है। संसार में मैं तो भूला हुआ आया था। गुरु के शब्द से यह व्यर्थ की खींचातान मिट गई। भ्रम का अन्धकार तो सर्वथा मिट ही गया। मुझ अनजान को राम या रहीम का कुछ भी ज्ञान नहीं था।

---

१. गुरु के ग्रिहि सेवक जो रहै गुरु आगिया मन महि सहै।
आपस कउ करि कछु न जनावै हरि हरिनाम रिदै सद धिआवै।
मनु बेचै सतगुरु के पास, तिसु सेवक के कारज रासि।
सेवा करत होइ निहकामी तिस कउ होत परापति सुआमी।
अपनी किरपा जिसु आपि करेइ, सो सेवक गुरु की मति लेइ। गुरु नानक।

२. पूरे गुर का सुनि उपदेसु, पारब्रह्म निकटि करि पेखु।—गुरु अर्जुन देव

३. काम क्रोध बिह परसै ना दिन, तिह घट ब्रह्मु निवासा।
गुर किरपा जिह नर कऊ कीनी तिह इह जुगति पछानी।
गुरु ग्रन्थ साहिब, गुरु तेगबहादुर।

गुरु ने ज्ञान देकर ही सुधि-बुधि दी। मैं तो बहुत जन्मों का सोया हुआ था। गुरु ने जगा दिया। गुरु के शब्द से तो मेरे समस्त दुखों का नाश हो गया।"[१]

सन्त सम्प्रदायों में गुरु को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। चरणदास तो कहते हैं कि "यदि कहीं गुरु का वस्त्र भी प्राप्त हो जाए तो उसे चूमकर सिर माथे लगाना चाहिए। यदि गुरु के देश का कोई मनुष्य भी आता है तो उसे शीश नवाकर उसकी परिक्रमा कर उसे शीश नवाना चाहिए। गुरु ने तो कृपा कर दर्शन दिए हैं और मेरे तो पाप धुल गए हैं। यदि मैं गुरु के द्वार पर जाऊँ तो उसे देखकर बहुत ही प्रसन्न होऊँगा। वहीं से मैं तो उन्हें दण्डवत करूँगा और दर्शन करके ही अपना सर्वस्व निछावर कर दूँगा। फिर दोनों हाथ जोड़कर खड़ा रहूँगा। जो वे कहेंगे तभी मैं अपना स्थान ग्रहण करूँगा। जो बातें वे मेरे प्रति कहेंगे उनको मैं मन में ही रखूँगा। चरण दास को सुकदेव बतलाते हैं कि ऐसा जो गुरुमुख होता है वह राम को रिझा लेता है।"[२]

सहजोबाई ने तो गुरु को ईश्वर से भी बढ़कर माना है। वह कहती हैं कि राम को भले ही मैं बिसार दूँ किन्तु गुरु को कभी नहीं तजूँगी। मैं तो गुरु के बराबर हरि को भी नहीं समझती। गुरु हरि से ऊँचा है। हरि ने जग में जन्म दिया। गुरु ने

---

१. जन दरिया हरि भक्ति को गुरां बताई बाट।
भूला ऊजड़ आया था नरक पड़न के घाट।
दरिया सतगुर सबद सो मिट गई खेंचातान।
भरम अन्धेरा मिट गया, परसा पद निरबान।
नहिं था राम रहीम का मैं मतिहीन अजान।
दरिया सुध बुध ग्यान दे, सतगुर किया सुजान।
सोता था बहु जन्म का सतगुर दिया जगाय।
जन दरियाउ गुर सबद सो सब दुख गइ बिलाय।

सन्त सुधासार; दरिया साहब मारवाड़ वाले; पृ० १०३, दूसरा भाग।

२. जो कहूँ गुर का बसतर पावे, हिये लगाय चूमि दृग छ्वावे।
गुर देस का मानव आये, दै परिकरमा सीस नवावे।
कही दया करि दर्शन दीने, मेरे पाप भये छीने।
जो अपने गुर द्वारे जैये, देखत पौरि बहुत हरसैये।
ह्वाईं सूँ दण्डौत जू कीजै, दरसत करि-करि सरबस दीजै।
फिरि ठाँढो रह जोरे हाथा, बैठे अब आज्ञा दे नाथा।
जो बोले सो मन में धरिये, अपने अवगुन सबही हरिये।
चरनदास सुकदेव बतावे, ऐसा गुरमुख राम रिझावे।

सन्त सुधासार, दूसरा भाग; चरणदास; पृ० १६७– ८।

ही आवागमन का मार्ग छुड़ाया। हरि ने तो पाँच चोर साथ लगा दिए। उनसे पीछा तो गुरु ने ही छुड़ाया। ईश्वर ने कुटुम्ब रूपी जाल चारों ओर लगाकर फँसा दिया। उस ममता की बेड़ी को आखिर गुरु ने ही काटा। ईश्वर ने तो रोग-भोग इत्यादि लगा दिए किन्तु गुरु ने योग मार्ग द्वारा उन सबको छुड़ा दिया। हरि ने तो संसार में कर्मों का लेखा-जोखा लगा दिया है। आत्मस्वरूप के दर्शन तो गुरु ने ही कराए हैं। हरि ने तो अपने आप को मुझसे छिपा रखा था। गुरु ने ही दीपक लेकर उसके दर्शन कराए। मैं तो अपना तन वारती हूँ। हरि को छोड़ सकती हूँ किन्तु गुरु को नहीं।"[1]

स्पष्ट देखा जा सकता है कि सन्त मत और सम्प्रदायों में गुरु को कितना महत्त्व रहा है। क्या हिन्दी और क्या पंजाबी दोनों ही वर्ग के सन्तों ने बढ़-बढ़कर ही गुरु महिमा गाई है।

सिख गुरुओं में एक के बाद एक इस तरह दस गुरुओं की योग्यतम परम्परा चली। हिन्दी सन्तों में कोई भी ऐसा सन्त नहीं है जिसकी गुरु गद्दी सुचारु रूप से चार या पाँच पीढ़ी भी चली हो। दस गुरुओं के पश्चात भी आदि ग्रंथ में संग्रहीत बानी को गुरुवत् ही माना जाता है। वह प्रतीक मात्र न होकर एक प्रकार से गुरु तुल्य ही है। इसीलिए कहा गया है।

"गुरु ग्रन्थ जी मान्यो प्रकट गुरों की देह।"

नामस्मरण—सन्त साहित्य में नाम का प्रयोग साधारण अर्थों में नहीं होता। ईश्वर के विभिन्न गुणों के कारण उसके विभिन्न नाम रखे गए हैं। नामस्मरण ईश्वर-स्मरण ही है। सभी धर्मों में इस नामस्मरण को एक विशेष स्थान प्राप्त है। सूफ़ियों की साधना "जिक्र" कहलाती है। नामस्मरण की प्रथा निर्गुण पंथियों की है। सन्तों ने नामस्मरण को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। हिन्दी सन्तों की अपेक्षा नाम गुण-गान सिख गुरुओं में स्थान-स्थान पर अधिक पाया जाता है। नानक ने ईश्वर को "सतनाम" भी कहा है। सिख किसी कार्य को प्रारम्भ करते समय सतनाम का उसी-

---

१. राम तजूं पर गुरु न विसारूं गुरु के सम हरि को नहीं निहारूं।
हरि ने जन्म दियो जग मोहि गुरु ने आवागमन छुटाहीं।
हरि ने पाँच चोर दिये साथा, गुरु ने लई छुटाय अनाथा।
हरि ने कुटम्ब जाल में गेरी, गुरु ने काटी ममता बेरी।
हरि ने रोग-भोग उरझायो, गुरु जोगी कर सबै छुटायो।
हरि ने कर्म भर्म भरमायो, गुरु ने आतम रूप लखायो।
हरि ने मोसू आप छिपायो, गुरु दीपक दै ताहि दिखायो।
फिरि हरि बन्ध मुक्ति गति लाये गुरु ने सबही भर्म मिटाये।
चरनदास पर तन वारूं गुरु ने तजूं हरि कूं न विसारूं।
सन्त सुधासार; दूसरा भाग; सहजोबाई; पृ० १८१।

रूप में उच्चारण करते हैं जिस रूप में हिन्दू श्री गणेशाय नमः का प्रयोग करते हैं। नानक ने कहा है कि "स्वामी सत्य है, उसका नाम सत्य है।"[1] ईश्वर के असंख्य नाम होने के कारण उसे असंख्य भी कहा जाता है।

नामों की विभिन्नता से जो भेद पैदा होता है उसे दूर करने के लिए नानक का कथन है कि "तेरे नाम असंख्य हैं, तेरे स्थान भी असंख्य हैं, तेरे अगम्य लोक भी असंख्य हैं, असंख्य कहते हुए भी मानो ऐसा प्रतीत होता है कि सिर पर भार पड़ रहा हो। अक्षरों के सहारे ही हम तेरा नाम लेते हैं। अक्षरों के सहारे ही हम तत्त्वविचार करते है। अक्षरों से ही तेरा हम गुणगान करते हैं। अक्षरों से ही हम वाणी बोलते और लिखते हैं। तेरे साथ हमारा जो सम्बन्ध है उसे हम अक्षरों से ही व्यक्त करते हैं। उन्हीं से तेरे नाम का हिसाब लगाते हैं। किन्तु जिसने उन अक्षरों को लिखा है वह तो उन अक्षरों की सीमा से भी परे है—तेरी सृष्टि के समान ही तेरा नाम भी महान है। ऐसा कौन-सा स्थान है जहाँ तेरा नाम नहीं है, तेरे नाम की महिमा गान करने की भला मेरी क्या बिसात है?"[2]

उनके जीवन को धिक्कार है जो धर्म के नाम से रोटी कमाते हैं या प्रभु का नाम लिखकर बेचते है।[3] नाम के विषय में तो कोई अन्तिम शब्द नहीं कहा जा सकता। नाम को कल्पनाओं से भी रहित माना गया है। कई नाम के लिए "ओंकार" का भी व्यवहार करते हैं। सन्तों में ईश्वर के लिए वैष्णव नाम हरि, गोविन्द, राम, नारायण आदि नामों का भी व्यवहार किया है। कबीर ने राम को निर्गुण ब्रह्म का ही पर्याय माना है। कबीर ने कहा है कि "नाम का नशा उतरता नहीं। और नशे तो क्षण-क्षण में उतरते ही जाते है किन्तु नाम रूपी यह नशा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। देखने मात्र से यह चढ़ता है और सुनते ही हृदय में चोट करता है। सीधा यह सुरति में ही ले जाता है। इसका प्याला जो भी पीता है वह मतवाला हो जाता है। गणिका, सदना कसाई नाम-रस को चखकर ही मुक्ति पा गए थे। नाम तो गूंगे के गुड़ के समान

---

१. साचा साहिबु, साचा नाइ; जपुजी साहब; पद ४।

२. असंख नाँव, असंख थाँव।
अगंम अगंम असंख लोअ, असंख कहहि सिरि भारू होइ।
अखरी नामु अखरी सलाह, अखरी गिआनु गीत गुण गाह।
अखरी लिखणु बोलणु बाणी, अखरा सिरि संजोग बखान।
जिनि लिखे तिस सिरि नाहि जिव फुरमाए तिव तिव पाहि।
जेता कीता तेता नाउ, विणु नावै नाही को थाउ।
कुदरति कवण कहा बीचारू, वरिआ न जावा एक बार।
जो तुधु भावै साई भलीकार तू सदा सलामत निरंकार। गु० ग्र० सा०।

३. मृग तिन्हा का जीविआ जि लिखि वेचहि नाउ। नानक।

ही है जिसे खाने वाला ही समझ सकता है किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकता।[1]

सिखों में प्रार्थना को बहुत ही महत्व प्रदान किया गया है। प्रार्थना का आधार नामस्मरण ही है। गुरु ग्रंथ साहिब तो ईश्वर की नाम महिमा से भरा पड़ा है। प्रत्येक सिख से यह अपेक्षा की जाती है कि प्रातःकाल वह जपुजी साहिब का पाठ करे। उसका आशय केवल ईश्वर की धारणा को अपने मन में बनाए रखना ही है। जपुजी साहिब के साथ-ही-साथ कई लोग आसा दी वार का पाठ कर लेते हैं। संध्या को रहिरास और निद्रा से पहले सोहिला का पाठ किया जाता है। सोहिला में ईश्वर एवं संसार के प्रति अपेक्षित कर्तव्यों का निर्देश है। गुरु गोविन्दसिंह के समय तक तो इस नामस्मरण और प्रार्थना की प्रणाली ने निश्चित रूप धारण कर लिया था।

अमरदास का साधक कहता है कि तेरे नाम को ही मन में बसाना चाहिए। जिनके मन में नाम का वास हो गया है उन्होंने नाम को प्राप्त कर लिया है। मेरा आधार तो सच्चा नाम ही है। उसी ने मेरी सारी भूल को हर लिया है। नाम ही से गर्व का नाश होता है। नाम से दुःखों का नाश हो जाता है और ईश्वर को समझने की सद्बुद्धि प्राप्त होती है। मन तो चंचल होता है इसमें स्थिरता नाम ही से आती है।[2]

नामस्मरण का तात्पर्य कोई बाहरी साधना से नहीं है और न ही किसी पवित्र शब्द को मंत्रवत् दोहराना ही है। किसी शब्द को दुहराने मात्र से भला क्या होता है? किसी वस्तु के रटने मात्र से वह वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती। "राम कहने मात्र से संसार को मुक्ति मिल जाए तो खांड शब्द कहने मात्र से ही हमारा मुँह मीठा हो सकता है। यदि आग कहने मात्र से पाँव जलने लगे या पानी कहने मात्र से ही प्यास बुझ जाए तो संसार में भी मुक्ति के भागी हो जाएँगे।"[3] बार-बार किसी वस्तु के नाम को दोहराने से भला क्या होता है? मनुष्य के साथ-साथ तोता भी तो हरि का

---

१. नाम अमल उतरे न भाई।
और अमल छिन-छिन ददरे, वाढ़ि उतरे, नाम अमल दिन बढ़े सवाई।
देखत चढ़े, सुनत हिय लागे, सुरत तन देत घुनाई।
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटि दुचिताई।
जो जन नाम अमल रस चाखा तर गई गनिका सदन कसाई।
कहै कबीर गूंगे गुड़ खाया, बिन रसना करे बड़ाई।
सन्त सुधासार; कबीर; प्र० भा०, पृ० १०६।

२. गुरु ग्रन्थ साहिब; राग आसा; महला ३।

३. पण्डित वाद बदंते झूठा।
राम कहयो दुनिया गति पावे, खांड कहयां मुख मीठा।
पावक कहयां पाँव दे दाझे, जल कहि त्रिषा बुझाई।

नाम लेता है किन्तु उसको भला क्यों मुक्ति नहीं मिलती ?[१] राम नाम जपता हुआ मनुष्य तो अपने को काल से भी बचा सकता।

फिर यह प्रश्न होता है कि यदि ऐसी बात नहीं है तो नाम-साधना का क्या स्वरूप या ढंग है ? कोई भी साधना प्रथमावस्था में बाह्य साधना ही होती है। यहाँ मन का सत्य रूप होना आवश्यक है। सुमिरन से धीरे-धीरे बाहरी तत्त्व परे हो जाते हैं और प्रार्थनात्मक मनोवृति की चरम सीमा पर ओठों का जाप छूट जाता है और अजपा जाप प्रारम्भ होता है। अजपा जाप में जीभ या माला की साधना का महत्त्व नहीं रह जाता इसलिए ही उसे अजपा नाम दिया गया है। इस स्थिति में आत्मा भीतर-ही-भीतर ईश्वरीय भावना के समक्ष समर्पित कर देती है। फिर शब्दोच्चारण की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रत्येक छिद्र उस समय ईश्वर का गुण-गान करने लगता है। जब यह दशा स्थिर हो जाती है तो अनाहद शब्द सुनाई देने लग पड़ता है। उस समय मनुष्य का ध्यान अनाहद की ओर ही रहता है। इसी अवस्था को निर्गुणियों ने लौ कहा है। इसके लिए "पद्मासन की अवस्था में दृष्टि को अन्तर्मुख करना पड़ता है। उसके बाद अजपा-जाप प्रारम्भ होता है और श्वास में सुरति को लगा दिया जाता है। समस्त इन्द्रियों को वश में करके सुरति को श्वास में लगा देना होता। उस समय बिना माला या जीभ के अन्तर् में नामस्मरण होता।"[२]

हृदय कमल में सुरति को धारण कर जो अजपा जाप करता है तब विमल ज्ञान का उदय होता है।[३] किन्तु इस नामस्मरण की प्रथम अवस्था माला और हृदय से ही प्रारम्भ होती है। सुन्दर दास कहते हैं कि सुमिरन दो प्रकार का होता है। एक तो जिसका उच्चारण जीभ द्वारा होता है दूसरा जिसका कि स्वरूप माला द्वारा होता है।[४]

नामस्मरण तीन प्रकार का माना गया है (१) जाप (२) अजपा जाप (३) अनाहद। जाप माला या रसना के आधार से किया जाता है। अजपा की अवस्था में साधक बाह्य अवस्था का त्याग कर आंतरिक अवस्था में पहुँच जाता है। अनाहद के द्वारा

---

१. नर के साथ सुआ हरि बोले, हरि परताप न जाने।

कबीर ग्रन्थावली पृ० १०१।

२. पद्मासन सूँ बैठिकरि अन्तर दृष्टि लाव।
दया जाप अजपा जपो, सरत्ति स्वाँस में लाव।
दया कह्यों गुरुदेव ने कूरम के व्रत लेहि।
सब इन्द्रिनकूँ रोकि करि सुरत स्वाँस में देहि।
बिन रसना बिन माल कर अन्तर सुमिरन होय।

३. हृदय कमल में सुरति धरि, अजपा जपे जो होय।

सन्त सुधासार; द्वि० सं०, पृ० २०४।

४. सुन्दर ग्रंथावली; पुरोहित हरनारायण; ज्ञान समुद्र, पृ० १९।

साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम प्रदेश में प्रवेश करता है। सभी स्थितियों से परे वह अनाहद में कारणातीत हो जाता है। उनके बाद की अवस्था जाप, अजपा, अनाहद आदि के भी ऊपर है। यहाँ सुरति शब्द में ही लीन हो जाती है।

इसी नामस्मरण की महिमा क्या पंजाबी और क्या हिन्दी सभी सन्तों ने गाई है। नाम तो निर्गुण और सगुण के ऊपर है। नाम तो मूल है उसी से निगुण रूपी बीज और सगुण रूपी फल और फूल पल्लावित होते हैं।[1] नाम रस तो भाई ऐसा है कि आगे-आगे तो वह जलता हुआ चलता है और पीछे-पीछे हरियाली होती है। ऐसे वृक्ष को बलिहारी है जिसके मूल के न रहने पर भी फल लगते हैं। हे भाई उसका रस तो अत्यन्त कड़वा और खट्टा है। साधते-साधते उसे साध लिया है। जो नशा करना जानता है वही उसी नाम रूपी नशे को समझ सकता है। उसे सूंघते ही पागल हो जाते हैं और पीते ही मर जाते हैं। जो जन राम रस पीता है उसके सिर पर तो धड़ होता ही नहीं। धरमदास ने तो उस रस को पिया है।[2] नाम की महिमा तो ऐसी है कि नामस्मरण से "मैं ईश्वर का नाम लेता हुआ ईश्वर मय हो गया हूँ। मैं तेरे नाम पर अपने आपको न्योछावर करता हूँ जिसके कारण तुझे देखने में मैं सफल हो सका हूँ।"[3]

सच्चे नाम की कीमत कही ही नहीं जा सकती। कथनी में उस नाम की कीमत को आँकने का प्रयास करना ही मूर्खता है।[4] सारी सृष्टि का राजा भी आखिर दुःखी हा रहता है। जो हरि का नाम जपता है वही सुखी हो सकता है। लाखों-करोड़ों ही बन्धन क्यों न पड़ें, किन्तु हरि का नाम लेते ही मनुष्य तर जाता है। गुरु अर्जुन देव कहते हैं कि माया से प्यास नहीं बुझती किन्तु हरि का नाम लेते ही प्यास बुझ जाती है। जिस मार्ग पर तू अकेला चल रहा है वहाँ पर साथ-साथ हरि का नाम लेता चल।

---

१. सत्त नाम सबतें न्यारा, निर्गुन सर्गुन मब्द संसार।
निर्गुण बीज फल फूला साखा ग्यान आप है मूला। संतसुधासार; कबीर; पृ० १००।

२. नाम रस ऐसा है भाई।
आगे-आगे दाहि चले पाछे हरियर होई।
बलिहारी जा वृक्ष की जड़ काटे फल होइ।
अति कड़वा खट्टा घना रे, वाको रस है भाई।
साधत-साधत साध गयो है अमली हो सो खाई।
सूंघत बौरा भयो हो पीयन के मरि जाई।
नाम रस जो जन पीए धड़ पर सीस न होइ।
धरमदास पी छकित भये हैं और पिये कोई दासा।
संत सुधासार; धरमदास; द्वि० स०, पृ० ५।

३. सन्त सुधासार; कबीर; पृ० १२२।

४. रहिरास।

ऐसा नाम क्यों न लिया जाए जिसके स्मरण से परम गति प्राप्त होती है।[1] सन्तों ने तो विचार कर यही कहा है कि एक नाम का ही स्मरण करो। किन्तु जाप अजपा या अनाहद ही तक नाम नहीं रहता वह तो इनसे भी आगे जाता है। कबीर कहते हैं कि जाप करने वाले की मृत्यु होगी। अजपा और अनाहद तक कि स्थिति तक भी जो पहुँचेगा उसकी मृत्यु होगी किन्तु जिसने सुरति को सबद में मिला लिया है वही काल के बन्धनों से मुक्त हो सका है।

रज्जब कहते हैं कि नाम बिना किसी का उद्धार नहीं हुआ है। नाम के अभाव में तो सब पाखंड मात्र है। भेष, तीर्थ, व्रत, दान, पुण्य आदि सब झूठ हैं। जप-तप आदि समस्त संकट के मार्ग ही हैं। लौ नहीं है तो इनका कोई मूल्य नहीं। पान, फल-फूल आदि से कोई लाभ नहीं। नाना विधि, धर्म आदि हरि स्मरण के बिना व्यर्थ हैं। नाम रूपी नाव पर चढ़ के भव सागर के पार जा सकते हैं।[2]

इस नामस्मरण का उद्देश्य ईश्वर से कुछ माँगना नहीं होता। प्रार्थना केवल शारीरिक सुख या संपत्ति प्राप्त करने के लिए नहीं की जाती। यह तो एक प्रकार की साधना है, तपस्या है। उसका ध्येय ईश्वर से भीख माँगना नहीं होता। पहली बात तो यह है कि साधक को कुछ माँगने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वह तो भौतिक सुखों से परे हो जाता है। दोनों भाषाओं के सन्तों ने नामस्मरण को एक ही सी मान्यता प्रदान की है।

ब्रह्म की सत्ता और एकता में विश्वास—इन सन्त कवियों में विचार और दर्शन की समानता तो है किन्तु उनकी साधना पद्धति में यत्र-तत्र विभिन्नता भी है। उन्होंने ब्रह्म की सत्ता और एकता में तो विश्वास किया ही है। उन्होंने माना है कि संसार को

---

१. सगल सृष्टि का राजा दुखिया, हरि का नामु जपतु होइ सुखिआ।
लाख करोरी बंधन परै, हरि कानाम जपत निसतरै।
अनिक माया रंग तिख न बुझावै, हरि का नाम जपत अघावै।
जिहि मारग इहु जात अकेला, तह हरि नामु संगि होत सुहेला।
ऐसा नाम मन सदा धिआइए नानक गुरुमुखि परम गति पाइए।
सुखमनी; गुरु अर्जुनदेव; पृ० ४।

२. नाम बिना नांही निसतारा और सबै पाखंड पसारा।
भरम भेष तीरथ व्रत आसा, दान पुण्य सब जल के पासा।
जप तप संकट सूना, लौ बिन लागत सबै अलूना।
पान फूल फल दूधाधारी, मन मनसा बिगरे सब ख्वारी।
नाना विधि धारे बहुधर्मा हरि सुमिरिण बिन कटत न कर्मा।
जन रज्जब रत मत रंकारा, नाम नाव चढि उतरे पारा।
सन्त सुधासार; रज्जब; पृ० ५१७।

चलाने वाला ईश्वर ही है। उसी को हिन्दू और मुसलमान मान रहे हैं।

बड़थ्वाल के मतानुसार हिन्दुओं ने हर एक देवता के दो रूप लिए हैं। व्यावहारिक और पारमार्थिक। संसार में ये ईश्वर के किसी पक्ष का समर्थन करते हैं। ब्रह्मा और महेश तो केवल व्यावहारिक रूप ही हैं।[1] पारमार्थिक रूप में उनकी एकता को स्वीकार किया गया है। और यह माना है कि ईश्वर एक है। व्यावहारिक रूप में उसके जितने भी रूप हैं वे उसी पारमार्थिक रूप के अधीन हैं। मैक्समूलर ने हिन्दुओं के बहुदेववाद के मूल में एकेश्वरवाद की भावना को ही स्वीकार किया है। इसे मैक्स-मूलर ने ऐलोथिज्म (बहुदेववाद) कहा है। हिन्दुओं के धर्म का स्वरूप आर्यों के उसी रूप से प्रारम्भ हुआ जहां से प्रकृति की पूजा प्रारम्भ हो गई थी। कालांतर उसमें शक और हूण सभ्यताओं का मिश्रण होता गया।

बौद्धों का एक धर्मगुरु है, ईसाइयों का एक ईसा मसीह है, मुसलमानों का एक पैगम्बर है जो उनका सर्वश्रेष्ठ धार्मिक पुरुष है किन्तु हिन्दुओं का कोई एक धर्मगुरु या पैगम्बर नहीं है। इस धर्म में तो भारतीय इतिहास में समय-समय पर आने वाली विभिन्न सभ्यताओं का एक प्रकार से सम्मिलन ही होता रहा। कितनी ही सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ इसमें आत्मसात हो गईं। "हिन्दु" शब्द ही विदेशी है।

भारतीय विचारधारा में ब्रह्म को लेकर काफी लिखा जा चुका है। इन सन्तों ने अपने आपको ईश्वर का अनुचर मानकर अपने ईश्वर सम्बन्धी विचारों को महान बनाया है। इस्लाम का अल्लाह निर्गुण ब्रह्म से भिन्न है। इस्लाम का अल्लाह तो एक प्रकार का शहंशाह है जो सातवें आसमान पर रहता है। वह न्यायकर्ता है। उसके ऊपर कोई नहीं है। कुरान का अल्लाह भय का भगवान है। ईश्वर की दया का उल्लेख कुरान में बार-बार आया है किन्तु फिर भी बाइबिल का भगवान जहां प्रेम पर जोर देता है वहां पर कुरान का अल्लाह भय पर अपना आधार स्तम्भ खड़ा करता है। ईश्वर का उक्त स्वरूप निर्गुणियों को मान्य नहीं है। उनका ईश्वर तो घट-घट में व्याप्त है। कबीर कहते हैं कि—

मुसलमान का एक खुदाई।
कबीर का स्वामी रह्या समाई।

सन्तों का आधार भय की अपेक्षा प्रेम रहा है। सन्तों ने मन्दिर या मस्जिद को ही ईश्वर के स्थान नहीं माने हैं। उनका ईश्वर तो हर जगह व्याप्त है। उस पर तो लाख सोचो फिर भी सोचते नहीं बनता।[2] इसलिए निर्गुणियों ने नकारात्मक प्रणाली का अनुसरण किया है।

---

१. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अनु० प० रा० च०; पृ० ९५।

२. सोचे सोच न होवई जो सोचे लखवार। नानक; जपुजी साहिब।

निर्गुणियों ने ब्रह्म की सत्ता में विश्वास कर यह माना है कि वह चराचर में व्याप्त है। कबीर ने तो सत्य के निर्गुण स्वरूप को ही ब्रह्म की संज्ञा प्रदान की है। कबीर ने ब्रह्म की सत्ता को व्यक्त करने के लिए कई नाम और भी दिए हैं।[1] सुन्दरदास ने जगत और ब्रह्म को अभिन्न ही माना है।

सुन्दर जाने ब्रह्म में, ब्रह्मजगत है नांहि।[2]

ये संत अद्वैत के द्वारा वहां पहुँच सके हैं जहाँ पर सब ब्रह्ममय हैं। ब्रह्म निरीह, निरामय, निर्गुण है। वह बाहर और भीतर व्याप्त है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है।[3] कबीर ने व्यावहारिक रूप में ही दृश्य जगत को सत्य माना है। नामदेव ने इस प्रपंच को ब्रह्म की लीला ही कहा है।[4]

इहु प्रपंच ब्रह्म की लीला, बिचरत आन न होइ।

छन्दोग्य उपनिषद् भी कहता है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" किन्तु ईश्वर उस रूप में नहीं है जिस रूप में वह दिखाई देता है। कबीर ने तो ब्रह्म की माया को खलक में ही माना है।

खालिक खलक-खलक में खालिक, सब घट रह्यो समाई।[5]

कबीर ने तो ब्राह्मण उसे ही कहा है जिसमें ब्रह्म का निवास है। कबीर कहते हैं कि ब्रह्म तो निर्गुण और सगुण से परे है। वेद कहते हैं कि सगुण से आगे निर्गुण है किन्तु निर्गुण और सगुण दोनों ही विचारों को अलग रखकर देखो तो प्रतीत होगा कि वह तो समस्त धामों में व्याप्त है।[6] जैसे जल को जीवन के राग-द्वेष नहीं लग सकते उसी प्रकार यह समस्त जगत ही ब्रह्म में है किन्तु फिर भी ब्रह्म को जगत के विकार नहीं लगते।[7] सभी की उत्पत्ति तो ब्रह्म बिन्दु से ही हुई है। सारे संसार में कितनी ही विभिन्नता क्यों न रहे किन्तु माटी तो आखिर एक ही है। कुम्हार कितने ही अलग-

---

१. कबीर ग्रंथावली।

२. सन्तवानी संग्रह; पृ० १०८।

३. ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुण, नीति निरंजन और न भासे।
ब्रह्म अखण्डित, अधऊरध लग ब्रह्महि खह ब्रह्महि दासे।
सुन्दर और कछु मति जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासे। सुन्दरविलास।

४. सन्त सुधासार; पृ० ४५।

५. सन्त सुधासार; कबीर; पृ० ६६ प्रथम खण्ड।

६. वेद कहे सरगुन के आगे, निर्गुण का बिसराम।
सरगुन निरगुन तजहु सोहागिन देख सबहि निज धाम। कबीर।

७. जल को न लागे कछु जीवन के राग-द्वेष, उन्हीं के किया कर्म उन ही के तार हैं।
तैसों ही सुन्दर यह ब्रह्म में जगत सब, ब्रह्म को न लागे कछु जगत विकार।
सन्त सुधासार; सुन्दरदास; पृ० ६१४।

अलग तरह के बर्तन बनाता है किन्तु मिट्टी तो आखिर एक ही होती है।[1]

किन्तु ब्रह्म के ठीक-ठीक स्वरूप का पता हर कोई नहीं लगा सकता। यारी साहब कहते हैं कि यह तो अन्धे के हाथी के समान ही है जिसके हाथ उसका जो भाग आया उसने उसका वैसा ही वर्णन कर दिया। जिसने जैसा अनुभव किया वैसा ही उसे बता दिया। उसका वास तो हृदय में ही होता है किन्तु अन्धे को भला आरसी में अपना प्रतिबिम्ब भी कैसे दिखाई दे? मूल ही का पता उसको नहीं लगता तो भला और अन्य भागों की बात ही क्या? अपने ही स्वरूप को ठीक तरह से नहीं देख सकता है। वह तो सामने ही है।[2] यारी साहब मारवाड़ वाले तो कहते हैं कि हमारी जाति ही ब्रह्म की है। माता-पिता राम ही हैं। हमारा गृह सुन्न में है और अनहद में हमारा विश्राम है।[3]

ब्रह्म एक है इसलिए ब्रह्मज्ञानी का भी एक ही स्वरूप होता है। ब्रह्मज्ञानी के साथ प्रभु का वास होता है। ब्रह्मज्ञानी को नाम ही का आधार होता है। उसका पारावार नाम में ही होता है। ब्रह्मज्ञानी अहं का त्याग कर देता है। उसकी मति में परमानन्द का वास होता है। उसके घर सदानन्द विराजता है[4] जैसे आकाश में शीत,

---

१. चारे वरन आसे सभु कोई, ब्रह्म बिन्दु ते सभ ओपति होई।
माटी एक सगल संसारा, बहु विधि भांडे घड़े कुम्हारा।
गुरु ग्रन्थ साहिब; गुरु अमरदास; राग भैरउ; म० ३; प० २-३, पृ० ११२२।

२. आंधरे को हाथी हरि, हाथ जाको जैसो आयो।
बूझो तिन तैसो तैसोई बनायो है।
टकाटोरी देनरैन हिये हू के फूटे नैन।
आंधरे को आरसी में कहा दरसायो है।
पल की खबर नांहि जासो यह भय मुलंक।
वाको विसरि ओदूँ उरने उरझायो है।
आपनो सरूप रूप आपु मांहि देखै नांहि।
कहो यारी आंधरे ने हाथी कैसो पायो है।
सन्त सुधासार; यारी साहब; द्० भा०, पृ० ७४-७५।

३. जात हमारी ब्रह्म है, मात-पिता हैं राम।
गिरह हमारा सुन्न है, अनहद है विसराम। स० सु० सा०; मारवाड़ वाले यारी साहब; द्० भा० पृ० १०६।

४. ब्रह्मज्ञानी के एकै रंग, ब्रह्मज्ञानी के संगे प्रभु जंग।
ब्रह्मज्ञानी के नामु आधारु, ब्रह्मज्ञानी के नामु परिवारु।
ब्रह्म गिआनी सदा सद जागत, ब्रह्म गिआनी अहं बुधि तिआगत।
ब्रह्म गिआनी के मति परमानन्द, ब्रह्म गिआनी के घर सदानन्द।

घाम, पवन आदि-आदि रहते हैं, मेघ भी आते हैं किन्तु उनसे फिर भी आकाश अलिप्त-सा रहता है। उसी प्रकार यह सृष्टि ब्रह्म में है। ब्रह्म तो निष्कलंक रहता है। सृष्टि के राग-द्वेषों का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।[1]

पूर्ण ब्रह्म—जो व्यक्ति ब्रह्म को परिमित और परिमाण में जानता है वह तो केवल बातों में ही बैकुंठ की प्रशंसा करता है। वह वास्तव में नहीं जानता कि बैकुण्ठ कहाँ पर है ? वे लोग कहते हैं कि "जानते हैं, जानते हैं, हम ब्रह्म के पास हैं।" ऐसे व्यक्ति सच्चे मन और उपदेश पर कभी नहीं विश्वास करेंगे। वे कथन को तो तभी सत्य मानेंगे जब उनके अहं का विनाश होगा। जब तक उसके मन में बैकुंठ की आशा है वह प्रभु के चरणों के पास नहीं जा सकता।[2] पूर्ण ब्रह्मानुभूति होने पर मनुष्य ऐसी बातें नहीं करेगा। निर्गुणियों ने ईश्वर यह है न कहकर ईश्वर यह नहीं है, इस प्रणाली का अनुसरण किया। इस प्रणाली का अनुगमन उपनिषदों ने "स एष नेति-नेति आत्मा" कहकर किया है। कबीर ने कहा कि वह अवर्ण है।[3]

ब्रह्म की पूर्णता तो उसके नामों में कतई नहीं है। उसके पूर्ण रूप का तो विचार किया ही नहीं जा सकता। उसके अस्तित्व या अनस्तित्व के लिए सोचकर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तार्किक रूप से न तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि वह है और न यह कि वह नहीं है। बुद्धि तो केवल इन्द्रिय गोचर पदार्थों की ही थाह पा सकती है। इन्द्रियातीत पदार्थों की नहीं। इसलिए ही नानक ने कहा है कि तेरे असंख्य नाम हैं और असंख्य स्थान हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ तेरा वास न हो।[4] वह सत्य और सुन्दर है, आनन्द रूप है, माया और वाणी से परे है।

चारों वेदों ने उसे नेति-नेति कहकर पीछे छोड़ दिया है। नानक के कथना-

---

ब्रह्म गिआनी सुख सहज निवास, नानक ब्रह्म गिआनी का नहीं विनास।

गुरु ग्रन्थ साहिब; सुखमनी; गुरु अर्जुनदेव; पद १४।

१. शीत धाम पवन गगन में चलत आइ, गगन अलिप्त जामें मेघ हू अंजन है।
तैसे ही सुन्दर यह सृष्टि एक ब्रह्म माँहि, ब्रह्म निःकलंक सदा जानत महन्त है।
सुन्दर ग्रन्थावली; सुन्दर दास; पृ० ६१५।

२. जो जन परमित परमनु जाना, बातन ही बैकुंठ समाना।
ना जाना बैकुंठ कहा ही जानु, जानु सभि कहहि तहा ही।
कहन कहावन नह पत्तिअई, हे तउ मनु माने जा ते हउमै जई है।
जब लगु मन बैकुंठ की आस, तब लगु होई नहीं चरन निवास।
कह कबीर यह कही मैं काहि, साध संगति बैकुण्ठ आहि।
सन्त कबीर; रामकुमार वर्मा; पृ० १२।

३. अरूप बरण आके कुछ नाहि। कबीर सन्त बानी संग्रह; पृ० १६।

४. असंख नाव, असंख थाव—नानक; जपुजी।

नुसार "जब सबसे पहले कोई नहीं था उस समय सत्य रूप ईश्वर ही था। जब युगों का विभाग होने लगा उस समय भी वह सत्य था। वह सत्य है और भविष्य में भी सत्य ही रहेगा।"[1] नानक के साधक ने सत्य को ब्रह्म का पर्याय ही माना है। ब्रह्म के विषय में जितना भी कहो फिर भी कहने को रह ही जाता है। सुन्दरदास कहते हैं "वह है भी और नहीं भी। उसको दोनों के बीच देखना चाहिए।"[2] उसकी अवस्था तो मोक्ष और मुक्ति से भी परे है। नानक ने उसे अबोल और बोल के मध्य माना है। इसलिए सन्तों ने उसको विशेषणों से परे माना है।

ब्रह्म के स्वरूप और सत्ता के विषय में इन सन्तों के विचार प्रायः एक से रहे हैं किन्तु ब्रह्म को लेकर उसकी साधना-पद्धति में विभिन्नता है। व्यावहारिक रूप से हिन्दू पुराणों में तीन लोकों की ही कल्पना की जाती है। कबीर पन्थियों ने निर्गुण को दो लोक से ऊपर माना है। बीच के दो लोक सुन्न और भुंवर गुहा कहे जाते हैं। सुन्न तो बौद्धों के शून्यवाद का ही दूसरा स्वरूप है। दरिया का अभय सत्य लोक इन तीनों लोकों से ऊपर है। नानक ने सचखण्ड को सर्वोच्च लोक माना है। वहीं निरकार का वास है। वह सृष्टि की रचना कर उसे अपनी दृष्टि से निहाल कर रहा है। साधक वहाँ पहुँचकर देखता है कि वहाँ अनेक खण्ड हैं, अनेक लोक हैं, अनेक ब्रह्मांड हैं। कथनी से तो उसका अन्त प्राप्त ही नहीं किया जा सकता।[3] किन्तु इसका यह आशय नहीं कि इन सन्तों ने ब्रह्म का निवास किसी लोक विशेष में माना है। उसकी माया तो चारों ओर व्याप्त है। जहाँ देखो तो वही-वही दृष्टिगत होता है।[4] चारों ओर तो वही है, ईश्वर ही है। ईश्वर के बिना कोई नहीं है। जैसे एक सूत होता है और उसमें मोती ओतप्रोत रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में सृष्टि रूप है।[5] बार-बार सन्तों ने एक स्वर से यही कहा है कि ब्रह्म तो घट-घट में व्याप्त है।

ईश्वर के लिए सन्त साहित्य में अलख, अगम, अविनाशी, सत्य, निरंजन आदि विशेषण उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अविहड़, अनाहद, दरिया, सागर, रमैया, प्रीतम, सम्पत्ति, कारीगर, कुम्हार आदि अनेक नामों का व्यवहार हुआ है। ईश्वर के वैष्णव नाम हरि, गोविन्द आदि का प्रयोग भी ईश्वर के नाम के लिए ही हुआ है।

---

१. आदि सचु जुगादि सचु, नानक होसी भी सचु। गुरु नानक; जपुजी।

२. सुन्दर ग्रन्थावली; ज्ञान समुद्र; पृ० ४४।

३. सच खण्ड, वसे निरंकारु, करि-करि वेसे नदरि निहाल।
तिथे खण्ड मण्डल वरमण्ड, जो को कथे त अन्त न अन्त।
गुरु नानक देव; जपुजी साहब; प० ३७।

४. तीन लोक के ऊपरे अभयलोक विस्तार।
सत्त सुकृत परवाना पावइ पहुँचे जाय करार। सन्तबानी; भाग १, पृ० १२३।

५. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय; पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल; पृ० ११५।

साधना पद्धति—ब्रह्म की उपासना में हिन्दी और पंजाबी सन्तों की साधना-पद्धति में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य रहा है। सर्वात्मवादी तो थे किन्तु निकट से देखने पर सबके अपने-अपने मार्ग स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। वेदांत की भाषा में इनकी साधना में तीन प्रकार की साधना के दर्शन होते हैं—१. अद्वैत २. भेदाभेद और ३. विशिष्टाद्वैत। कबीर को बड़थ्वाल ने अद्वैतवादी माना है। दादू, भीखा, जगजीवनराम आदि को उनका अनुगामी माना है। नानक को उन्होंने भेदाभेदी कहा है। शिवदयाल और उनके अनुयायियों को विशिष्टाद्वैती कहा है। प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीन, दरवेश, बुल्लेशाह आदि शिवदयाल की श्रेणी के हैं।

कबीर के मतानुसार परमतत्त्व तो वर्तमान है किन्तु मनुष्य उससे एक प्रकार से अबोध ही रहता है। ब्रह्म का अनुभव मन और सामान्य बुद्धि से ऊपर उठने पर ही होता है। कबीर का आत्मा और परमात्मा की एकता पर अटल विश्वास था। दोनों मे ही उन्होंने किसी प्रकार का भेद नहीं माना है। न ही दोनों को उन्होंने विभिन्न नामों से अभिहित ही किया है। कबीर ने पूर्ण ब्रह्म का विवेचन समस्त दृष्टिकोणों से किया है। कहीं भी उसमें उन्होंने द्वैतभाव उपस्थित नहीं किया है। मंडर हिल ने कबीर को रामानुज के विशिष्टाद्वैत का समर्थक माना है। फर्कुहर ने कबीर को निम्बार्क का अनुयायी माना है। आत्मा और परमात्मा की एकता का उपदेश तो नानक ने भी दिया है—

आतमा परमातमा एको करी, अंतरि की दुबिधा अंतरि मरै।[1]

हमारे शरीर के अतिरिक्त यह नश्वर शरीर भी एक प्रकार से आत्मा के आवरण का ही काम दे रहा है। कबीर आदि सन्त उसमें विवर्तवाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार मूल जगत में भी ब्रह्म का वास है। उसके ऊपर नाम और रूप का आरोप किया जाता है। लक्ष्य जगत के रूप में माया में फंसे लोगों को ही अलक्ष्य ब्रह्म के रूप में दिखाई देता है। विशिष्ट अर्थ में जगत सत्य और मिथ्या दोनों ही है। दृश्य जगत को व्यावहारिक रूप में ही सत्य माना गया है। नानक के मतानुसार सृष्टि की रचना ईश्वर ने आप ही की है। सृष्टि के पदार्थों का नामकरण भी उसने आप ही किया है। अपनी माया से ही सृष्टि का निर्माण कर वह उसे देखने लगा।[2] ईश्वर ने सृष्टि की रचना अपने ही आनन्द के लिए की। मिथ्या कहकर भी नानक ने जगत को सत्य माना है। नानक के मतानुसार ईश्वर सृष्टि का कर्ता और उपादान-दोनों ही है। उनके मतानुसार ईश्वर स्वयं ही सृष्टि का निर्माण करता है और स्वयं वह ही उसमें लीन हो जाता है। सारे सन्त इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता धर्ता

१. गुरु ग्रन्थ साहिब; महला १।

२. अपिनै आपि साजिओ, आपिनै रचिओ नाउ।
दुइ कुदरति साजिऐ, करि आसन डिठो चाउ। गुरु ग्रन्थ साहिब; महला १।

है और सारी सृष्टि उससे ही निकल उसमें ही लीन हो जाएगी।

इन उपरोक्त विचारों के आधार पर बड़थ्वाल के मतानुसार "कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि उनके शिष्य मलूकदास, यारी साहब और उनकी परम्परा जगजीवन, भीखा, पलटू ये सब अद्वैतवादी और विवर्तवादी हैं। नानक और उनके शिष्य भेदाभेदी और सर्वात्म विकासवादी हैं। शिवदयाल, तुलसी साहब, शिवनारायण, चरणदास, बुल्लेशाह, बाबालाल और दोनों दरिया, प्राणनाथ, दीन, दरवेश विशिष्टाद्वैतवादी जान पड़ते हैं।"[1] ब्रह्म को इसलिए वन में खोजने की क्या आवश्यकता है? सर्व स्थानों में निवास करने वाला अन्तर्यामी तेरे ही साथ तो निवास करता है फिर उसे अन्यत्र खोजने की क्या आवश्यकता है? जिस प्रकार फूल में सुगंध होती है, जिसका अनुभव किया जा सकता है, उसे देखा नहीं जा सकता। दर्पण में जिस प्रकार प्रतिबिंब होता है जिसे देखा जा सकता है किन्तु पकड़ा नहीं जा सकता। उसी प्रकार हमारे शरीर में ही हरि का वास है। गुरु ज्ञान ने यह बता दिया है कि बाहर भीतर वह एक ही है। ज तक उसका पता स्वयं नहीं लगाओगे तब तक भ्रम मिटेगा नहीं।[2]

कई संतों ने निरंजन को भी कहीं-कहीं पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक माना है किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। सुन्दर ने पूर्ण ब्रह्म को निरंजन भी कहा है—

पूरण ब्रह्म निरंजन राया, जिनि यहु नख सिख साज लजाया।[3]

पूर्ण ब्रह्म का आभास ५२ अक्षरों में भी नहीं हो सकता। जहाँ ध्वनि है वहीं अक्षर है। जहाँ ध्वनि नहीं है वहाँ भी मन की स्थिरता नहीं है। किन्तु ब्रह्म तो ध्वनि और अध्वनि के मध्य है। वह जिस रूप में भी है उसे कोई देखता नहीं। यदि ईश्वर को पा लिया तो क्या कहोगे? उस प्राप्तकर्ता को तो ब्रह्मानन्द में भी मौन रहना होगा।[4]

घट में ही ब्रह्म— संतों ने यह तो एक स्वर से ही कहा कि ईश्वर सर्वव्यापी है किन्तु दोनों भाषाओं के सन्तों ने ये भी कहा है कि उसकी प्राप्ति घट ही में हो सकती हैं। वैष्णव आचार्यों ने परम पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है वे हैं १.ब्रह्म, २.परमात्मा और ३.भगवान। जो विशुद्ध ज्ञानमय है, उसे तो ब्रह्म की संज्ञा प्रदान की है। ज्ञानमार्ग के उपासक उसके इस रूप की उपासना करते हैं। उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रह जाता। भगवान के नाना शक्तिमय रूप ज्ञानमय भी दिखाई देते

---

१. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय; पीतांबर दत्त बड़थ्वाल; पृ० १४७।

२. गुरु तेग बहादुर; गुरु ग्रन्थ साहिब; म० ६।

३. सन्त सुधासार; सुन्दरदास; पृ० ६२८।

४. ए आखर खिरि जाहिंगे ओइ अखर इन महि नाहि।
जहाँ बोल तहाँ अक्षर आधा, जह अबोल तह मन न रहाआ।
बोल अबोल मधि है सोइ, जस ओहु मैं तस लखे न कोई।
बावन अखरी सन्त कबीर; कबीर; रामकुमार वर्मा; पृ० ७८।

हैं। यह ज्ञानमय ब्रह्म निर्गुणियों के मतानुसार इसी घट में है। "घट के फूटने पर भी वह घटता नहीं है। जब उसी घट में वह है तो औघट की ओर दौड़ने की भला क्या आवश्यकता?"[1]

ब्रह्म अमर है, वह किसी प्रकार भी तरा नहीं जा सकता। उसका स्वरूप तो त्रिभुवन में समाया हुआ है। यदि समस्त त्रिभुवन मन में समा जाए तो तत्त्व-से-तत्त्व मिलकर सुख प्राप्त होगा।[2] उस अपार ब्रह्म का पार नहीं पाया जा सकता। उसे परम ज्योति से ही प्राप्त कर पाँचों इन्द्रियों पर निग्रह कर लिया जाता है तो पाप-पुण्य का निस्तार हो जाता है।[3]

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म ने अपने निवास के लिए अगम और दुर्गम गढ़ की रचना की है। अगम और दुर्गम गढ़ से आशय सहस्रदल कमल से है। उस स्थल पर ब्रह्म ज्योति का प्रकाश होता है। जहाँ कुण्डलिनी रूपी बिजली चमकती है वहाँ नित्य आनन्द ही होता है।[4] चारों ओर कबीर को ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं। उनके ब्रह्म की महिमा तो चारों ओर है; उसे देखने जब वे गए तो वे भी ब्रह्ममय हो गए।[5]

हठयोग द्वारा ब्रह्मसाधना—निर्गुण सन्तों ने जैसे बौद्ध और वेदान्त से कुछ ग्रहण किया है वैसे ही उन्हें कुछ योगियों से भी विरासत के रूप में मिला है। दोनों ही भाषाओं के सन्तों ने योगियों से कुछ-न-कुछ किसी-न-किसी रूप में तो लिया है। उन्होंने योगियों की क्रियाओं, हठयोग की साधनाओं की निस्सारता पर जोर भी दिया है किन्तु उनकी शब्दावली अनाहद, सुरत आदि को ग्रहण कर अपनी साधना में उसे बराबर स्थान दिया है। योगियों के व्रत, उपवास, शरीर को पीड़ित करने की क्रियाओं का इन्होंने विरोध तो किया है किन्तु गोरख के योगमार्ग से ये सन्त अछूते नहीं रह सके।

योग के आसन और बाह्य उपादानों को छोड़ दिया जाए तो योगियों की शब्दावली एवं सन्तों की योग-सम्बन्धी शब्दावली में अद्भुत साम्य मिलेगा। योगियों की भाँति अधिकतर ये सन्त मानते हैं कि शरीर रचना ६ कमलों से हुई है। ये शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में हैं। ऊपर शीर्षकमल की प्रधानता है। मेरुदण्ड के समानान्तर सुषुम्ना

१. सन्त कबीर, बावन अखरी; रामकुमार वर्मा।

२. वही।

३. वही पृ० ८१।

४. अगम दुर्गम गढ़ि रचिओ वास, जा महि जोति करे परगास।
बिजुली चमके होइ अनन्दु, जिह पउड़े प्रभ बाल गोविन्दु।
सन्त कबीर; राम कुमार वर्मा; पृ० २२६।

५. लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥ कबीर।

नाड़ी के साथ-साथ नीचे से उपर तक ६ चक्र हैं। क्रमशः वे इस प्रकार हैं —१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणि पूरक, ४ अनाहद, ५ विशुद्ध, और ६ आज्ञा। प्राणायाम की स्थिति इन चक्रों की सिद्धि दिव्यानुभूति में बदल जाती है। वह जागृत होकर सहस्र-दल कमल में पहुँचती है।

मूलाधार चक्र गु स्थान के पास होता है। इस चक्र के सिद्ध होने से प्रत्येक दल से क्रमशः व, श, ष, स का नाद निकलता है। यह गुदा स्थान में रहता है। निर्गुणी इसे केवल मूल के नाम से ही पुकारते हैं। स्वाधिष्ठान चक्र मूल के पास रहता है। यह ६ दलों का कमल होता है। इस चक्र के सिद्ध होने से क्रमशः ब, भ, म, य, र, ल का नाद निकलता है। मणिपुर या नाभिचक्र दस दलों का होता है। यह नाभि के समीप स्थित होता है। इस चक्र के सिद्ध होने से प्रत्येक दल से क्रमशः ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, थ के स्वर झंकृत होते हैं। बारह दलों का आवाहन चक्र अनाहद चक्र भी कहलाता है। इसके सिद्ध होने से प्रत्येक दल से क, ख, ग, घ, ङ, च, ज स्वर निकलते हैं। सोलह दलों का विशुद्ध चक्र कण्ठ के समीप होता है। इस चक्र के सिद्ध होने से प्रत्येक दल से अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः नाद निकलता है।

आज्ञा चक्र त्रिकुटी (भौहों के मध्यस्थान) में स्थित है। इसके दो दल होते हैं। इसके सिद्ध होने पर प्रत्येक दल से क्ष और ह का नाद झंकृत होता है। मस्तिष्क में शीर्ष कमल है। वह सहस्त्रार कहलाता है। उसके सहस्र दल होते हैं। सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग पर मूलाधार चक्र में एक सर्पाकार दिव्य शक्ति का निवास होता है। इसका नाम कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी जाग्रत होने पर षट् चक्रों में प्रवेश कर सुषुम्ना नाड़ी के सहारे सहस्रदल कमल के ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करती है।

निर्गुणियों का इन चक्रों में विश्वास नहीं है। इनकी संख्या के विषय में भी वे एक मत नहीं हैं। मेरुदण्ड के भीतरी भाग को जहाँ से होकर कुण्डलिनी ऊपर बढ़ती है, उसे सुषुम्ना नाड़ी कहा जाता है। इसके दाएँ या बाएँ पिंगला व इड़ा नामक दो अन्य नाड़ियाँ भी लगी हुई होती हैं। उनका सन्धि स्थान आज्ञाचक्र के निकट होता है। इसे ही कबीर ने त्रिकुटी रहा है। कुण्डलिनी के लय हो जाने की स्थिति का वर्णन सूर्य व चन्द्र के संयोग द्वारा भी किया जाता है।[1] उसी के परिणामस्वरूप केन्द्र से ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होती है। चन्द्र की ओर अमृत स्थान होकर शून्य में अनाहद नाद होने लगता है। कबीरदास ने कहा है "प्राणायाम द्वारा पवन को उलटकर षट्चक्रों को पार करते हुए सुषुम्ना को भर दिया। सूर्य और चन्द्र के संयोग होते ही सद्गुरु के कथनानुसार ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो गई। सारी कामनाएँ, वासनाएं और अहम् भस्म हो गया।

१. रवि शशि दोऊ एक मिलावैं, याही ते हठयोग कहावै।
सुन्दर ग्रन्थावली; पृ० १०३।

सुन्दरदास ने इसकी रीति इस प्रकार बताई है—

इड़ा नाड़ि करि पूरं वाँई, रेचक करे पिंगला जाई।
रि पिंगला इड़ा निकारं, द्वादशवार मन्त्र विधि धारे।
द्विगुण त्रिगुण करि प्राणायामं उत्तम मध्य कनिष्ट नामं।[1]

हठयोग की इन साधनाओं का पंजाबी भाषा के सन्तों की अपेक्षा हिन्दी सन्तों में अधिक प्रयोग पाया जाता है। सुन्दरदास ने आदिनाथ, महादेव आदि की भी वन्दना की है—

अबहूँ कहूँ हठयोग सुनाई, आदिनाथ को वन्दों पाई।[2]

सुन्दरदास ने तो यहाँ तक कहा है कि हठयोग से ही आनन्द की प्राप्ति होती है।[3] उनके कथनानुसार आत्म और अनात्म का विवेक होने पर ज्ञानयोग का उदय होता है। ज्ञानयोग में दृढ़ हो जाने पर ब्रह्मयोग की भूमिका प्राप्त होती है उसमें भली भाँति स्थिर हो जाने पर अद्वैत योग की सिद्धि होती है। उस अवस्था में तुरियातीत अवस्था को मनुष्य प्राप्त होता है।

ये सन्त योग से प्रभावित तो अवश्य हुए हैं किन्तु इनका आदर्श योग नहीं था। हमने पहले ही कहा है कि हठयोगियों के मन्त्रों, श्मशान आदि की साधना एवं शरीर को कष्ट देने की उन्होंने निंदा की है। किन्तु योग की शब्दावली को ग्रहण कर योग की सफलता को अपने ही शरीर के अन्दर प्राप्त करने के लिए ही उपदेश दिया है। सन्तों ने सच्चा जोगी उसे ही कहा है जो योग के बाहरी साधनों को त्याग के उन साधनों की प्राप्ति शरीर में ही करता है। कबीर कहते हैं कि "हे जोगी डंडा, मुद्रा, गूदड़ी, आधारी (बाँह टेकने की लकड़ी) लिए हुए जोगी तू तो भ्रम के भावों में घूम रहा है। तू आसन प्राणायाम तथा कपट को छोड़कर हरि का भजन कर। जिससे तू याचना करेगा वह तीनों भवनों का स्वामी है। वही केशव संसार में सच्चा जोगी है।[4]

योग की शब्दावली का प्रयोग सबसे अधिक कबीर ने किया है। सिख गुरुओं ने आसन, प्राणायाम के बारे में तो कुछ नहीं कहा किन्तु योग में प्रयुक्त बाहरी साधनों का शरीर में स्थित होना स्वीकार किया है। "वास्तविक जोगी तो योग को शरीर में ही धारण करता है।" परमानन्द अवस्था को तो नानक ने अनहद कहा है। उसी समय ह्मानन्द साक्षात्कार होता है।

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली; पृ० १०४।
२. सुन्दर ग्रन्थावली; सुन्दर विलास; पृ० १०२।
३. हठयोग प्रभाव ते, प्रगट होइ आनन्द। सुन्दर ग्रन्थावली; पृ० १०३।
४. सन्त कबीर; रामकुमार वर्मा; राग बिलावलु; पृ० १५९।

कहु नानक सुख होआ, तितु घरि अनहद वाजे ।[1]

गुरु अमरदास कहते हैं कि ब्रह्मानन्द साक्षात्कार से वैसा ही आनन्द होता है जैसा कि योगी निर्विकल्प समाधि की शून्यावस्था में सुना करते हैं ।[2] सुख, समाधि और अनहद अवस्था का कुछ कहा नहीं जा सकता । उन्हें शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता ।[3] अनहद को उन्होंने अन्तिम अवस्था ही माना है । प्रार्थनात्मक मनोवृत्ति की वह चरम सीमा है ।

कबीर ने ब्रह्म प्राप्ति के लिए योगी को कहा है कि "हे बैरागी पवन को उलट-कर शरीर के अन्दर ६ चक्रों को भेदकर अपनी सुरति में शून्य के प्रति अनुराग उत्पन्न कर, जो आता है न जाता है, मरता है न जीता है, तू उसे ही खोज । मेरे मन तू उलट कर उसमें समा जा । गुरु की कृपा से दूसरी ही बुद्धि हो गई थी नहीं तो अभी तक तू बेगाना ही था । जो जैसा मानते हैं उन्हें उसके अनुसार दूर रहने वाला ब्रह्म पास और पास रहने वाला ब्रह्म दूर दिखाई पड़ता है । जिन्होंने ब्रह्म रस का पान कर लिया है वे ही इसे जानते हैं । उस समय बाह्य इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं ।[4]

ब्रह्मानन्द साक्षात्कार का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि "सहस्रदल कमल में कुंडली किरण का प्रवेश हुआ और सहस्रार से चन्द्र का उदय होने पर संपुटित नहीं हुई और यहाँ जो सहस्रदल कमल का रस प्राप्त हुआ उसका आनन्द अकथनीय है । उसे क्या कहकर समझाया जाए ? षट चक्रों की अनुभूति होने पर षट चक्र को छोड़कर दसों दिशाओं में दौड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती । जब जीव स्वामी को पहिचान कर क्षमा धारण कर लेता है उस समय वह मुक्त होकर स्वतन्त्र हो अक्षय पद प्राप्त करता है ।[5]

---

१. गुरु ग्रन्थ साहिब; अनन्दु, म० ३; पद ५ ।

२. वही; पद ४० ।

३. वही; पद ४२ ।

४. उलटत पवन चक्र खटु भेदे सुरत सुं अनुरागी ।
आवै न जाइ मरै न जीवै तासु खोजु बैरागी ।
मेरे मन-मन ही उलटि समाना ।
गुरु परसादि अकल भई अवरै नतरु था बेगाना ।
निवरै दूरि-दूरि फुनि निवरै जिनि जैसा करि मानिया ।
अलउनी के जैसे भइवा बरेड़ा जिनि पीआ तिनि जानिआ ।
सन्त कबीर; पद ४७; पृ० ५० ।

५. कका किरण कमल महिं पावा, ससि बिगास संपा नहिं आवा ।
अरू जे तहां कुसुम रस पावा, अकह कहा कहि का समझावा ।
खखा इहै छांड़ि मन आवा, खोड़े छांड़ि न दह दिसि धावा ।

इन सन्तों ने जोगियों को ही संबोधित कर योग की बाहरी साधनाओं की ओर इशारा किया है। नानक कहते हैं कि "अपनी देह कुमारी कन्या की तरह पवित्र रख और श्रद्धा का दण्ड बना। सबको तू अपनी जमात का समझ। ऐसा समझ कि मानो सारे मनुष्य तेरे आई पंथ के हों। (जोगियों के बारह पंथों में से आई पंथ भी एक है) यह मान कि मन को जीत लिया तो जगत को जीत लिया। आदि ईश को प्रणाम कर और उसे ही आदेश कर (नाथ पंथ आपस में एक-दूसरे को आदेश कहकर प्रणाम करते हैं) जो आदि है, अनादि है, उसका अन्त नहीं है। युग-युग से जो घट-घट में नाद बज रहा है वही तेरी शृंगी है। तेरा नाथ वही है जिसने सबको अपनी डोरी से नाथ रखा है। सिद्धों की तुच्छ करामात तेरे लिए नहीं, वे तो प्रभु के रास्ते पर से भटका ले जाती हैं।[1] गुरु अमरदास भी कहते हैं कि "मानव रूपी गुफा में ही हरि का ध्यान रख पवन का बाजा बजाओ, तभी दसवाँ द्वार गुप्त द्वार दिखाई देगा।"[2]

हालांकि योगियों के प्राणायाम को संतों ने विशिष्ट स्थान नहीं दिया है फिर भी दादू ने प्राणायाम को सहायक साधना के रूप में स्थान दिया है। सन्तों ने केवल उन्हीं यौगिक साधनाओं को अपनाया है जिससे उनको अपने वहिर्मुख हो जाने का भय नहीं रहा। यह कहना तो व्यर्थ ही होगा कि सन्तों ने योग की बिलकुल उपेक्षा की। वे उनसे प्रभावित अवश्य हुए हैं। उन्होंने योग के केवल उसी रूप को अपनाया जिससे उन्हें अपने मन को विषयों से हटा लेने में सहायता मिले। उनका मुख्य उद्देश्य तो ब्रह्म की खोज थी। योग से ईश्वर का सही-सही पता नहीं लगता।[3] सन्तों में सुन्दर की रच-

---

ससमाँहि जाणि खिमा करि रहे, तऊ होइ निसि मड मसं पहु लहै।

सन्त कबीर; रामकुमार वर्मा; पृ० ७९।

१. मुन्दा संतोख सरमु दतु झोली गियान की करहु विभूति।
सिधा कालु कुमारी काइका जुगति डंडा परतीति।
आई पंथी सगल जमाती मनि जीते जगु जीतु।
आदेसु तिसै आदेसु
आदि अनालि अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेस।
भुगति गिआन दइआ मंडारणि घटि घटि वाजहि नाए।
आपु नाथि नाथी सभजा रिद्धि सिद्धि अवरा साव।

गुरु नानक; जपुजीसाहब; पद २९।

२. हरि जोऊ गुफा अंदरि रसके बाजा पवणु बजाइआ।
बजाइआ बाजा पउण नऊ दुआरे परगटु कीए दसवा गुपत रसाइआ।

गुरु अमरदास; सूरजप्रकाश; अ० १, पऊड़ी ३८।

३. सगल जोग गियान-धियान इक निमख न कीमत जाना।

गुरु ग्रन्थ साहिब; गुरु अर्जुनदेव; म० ५; रागु सारंग।

नाम्रों पर हठयोग का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

सहज मार्ग

कोरे सिद्धान्तों से या केवल बुद्धि से ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार करते-करते एक अवस्था के बाद बुद्धिवाद कुंठित हो जाता है। दर्शन ने जहाँ कहीं भी ब्रह्म का सान्निध्य पाने का प्रयास किया है वहाँ उसे असफलता ही मिली है। तर्क का परिणाम तर्क ही होता है। तर्क या दर्शन की कोई ऐसी प्रणाली ही निकली है जो अपने आप में पूर्ण हो।

हमारे चेतन और अचेतन मन एवं बुद्धि के परे भी ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। बौद्धों के अतिरिक्त समस्त धार्मिक ग्रंथ ब्रह्म के अस्तित्व का ही पता लगाते हैं। बुद्ध ने धार्मिकता से अति को दूर करने के लिए मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था। भगवत् प्राप्ति के लिए अनेक सम्प्रदायों में विषम साधनों की व्यवस्था की है। मनोमारण के लिए सांसारिक प्रलोभनों से विरक्त हो वन-गमन आदि का आश्रय लिया गया है। मध्य युगीन ईसाई सन्त तो इसके लिए अपने को निर्दयतापूर्वक पीड़ित करते थे। इसके विपरीत ऐसे सम्प्रदाय भी हैं जिनमें भोग-वादी इन्द्रियपरक जीवन की भी व्यवस्था है। सत्य की अनुभूति अति से कभी नहीं होती। इसलिए बुद्ध ने मध्यम मार्ग की योजना की थी। उन्होंने कहा था कि वीणा के तारों को कस दिया जाय तो वे टूट जाएँगे और ढीला रखने से उनमें कोई स्वर नहीं निकलेगा। निर्गुणियों का बौद्ध के इस मध्यम मार्ग से मतैक्य है। किन्तु बौद्ध धर्म में जो संन्यास की व्यवस्था हो गई वह सन्तों में नहीं पाई जाती। उस संन्यास से समाज के हट्टे-कट्टे जवान अपने व्यावहारिक जीवन को छोड़कर संन्यास लेने लगे। मठ और विहार युवा संन्यासियों तथा अन्य तरह के भिक्षुओं से भर गए। हिन्दू संन्यास में कम-से-कम एक बात अच्छी थी कि संन्यास की योजना वानप्रस्थ आश्रम में की गई थी। मनुष्य कम-से-कम ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ आश्रम का उत्तरदायित्व निभाता था। उससे समाज का कोई अहित नहीं होता था। बौद्धों के संन्यास से संसार की घोर उपेक्षा होने लगी। ब्रह्मचर्य के कारण जीवन भी अप्राकृतिक हो उठा। यह भी एक प्रकार की अति ही थी।

यह अति बौद्ध सिद्धान्त के परिणामों के ही कारण थी। बाद को इसी से ही व्यभिचार फैला जो कि बौद्धधर्म के पतन में सहायक हुआ। भगवान बुद्ध ने अपनी साधना पद्धति के लिए जिस मध्यम मार्ग का आयोजन किया था वह एक प्रकार की कड़ी साधना पद्धति ही थी। यहाँ तक कि सामान्य लोगों के पहुँच के भी बाहर। बुद्ध द्वारा निर्देशित मध्यम मार्ग व्यवहार में अप्राकृतिक तो था ही पर साथ ही अनुयायियों को एक प्रकार से कृत्रिम जीवन-यापन करने के लिए प्रेरित करता था। बाद को होने वाले उसके हानिकर परिणामों का इतिहास भी साक्षी है।

सन्तों का मार्ग मध्यम मार्ग की अपेक्षा सहज मार्ग था। उन्होंने गृहस्थ जीवन की उपयोगिता स्वीकार कर बौद्धों द्वारा अपनाए गए अप्राकृतिक जीवन का अन्त कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि मध्यम मार्ग की भावना इन निर्गुणियों में बौद्धों से आई किन्तु अपनी साधना पद्धति में संन्यास को तो उन्होंने बिलकुल ही स्थान नहीं दिया। इन सन्तों में अधिकतर सन्तों का व्यक्तिगत गृहस्थ जीवन कोई आदर्श नहीं था किन्तु फिर भी गृहस्थ जीवन की उपयोगिता को दोनों ही भाषाओं के सन्तों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। संसार में रहकर संसारी होना सरल है। संसार से संन्यास लेकर वन-गमन भी हो सकता है किन्तु संसार में रहकर संसार से निर्लिप्त रहना ही कठिन है। यह एक प्रकार का कठिन मार्ग ही है।

दादू कहते हैं कि "हमारा मध्यम मार्ग तो ऐसा है कि न तो हम सांसारिक बातों को ही ग्रहण करते हैं और न ही उनका परित्याग करते हैं। ऐसे मार्ग को पकड़कर ही हम शान्ति के द्वार पर पहुंचते हैं।"[1] बुद्धि को छोड़कर अनुभूति के क्षेत्र में ये निर्गुणी घुसते हैं। वहाँ एक मात्र ब्रह्म का ही उन्हें साक्षात्कार होता है। स्थूल बुद्धि से उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में प्रवेश होता है। उस समय ही ब्रह्म से साक्षात्कार हो सकता है। हमारे भीतर ही ब्रह्म की सत्ता है। निर्गुणियों का सहज-ज्ञान यही है। उसकी ऊँचाई में चढ़ना उनका उद्देश्य है। सहज-सहज सब कहते तो हैं किन्तु सहज को पहिचानता कोई नहीं। जिसने सहज ही में संसार के विषयों का त्याग कर दिया है वही सहज को समझ सकता है, इसी सहज से जिसे हरि की प्राप्ति हो गई है उसे ही सहज का पता लग सकता है।[2]

सहज में सांसारिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय है। सहज मार्ग में कृच्छ्रता नहीं है। वहाँ संसार को त्याग कर वन में जाकर हठयोग की क्रियाओं से शरीर को सुखाना नहीं पड़ता। मनुष्य संसार में रहकर भी आध्यात्मिक प्रगति करता है।

इन अर्थों में कबीर और नानक सच्चे सहजमार्गी थे। आडम्बर, बाह्याचार आदि का उन्होंने आश्रय नहीं लिया। गृहस्थाश्रम को निभाते हुए मानवता के ऊँचे आदर्शों को उन्होंने पूरा किया। कबीर ने सहज समाधि की अवस्था को सहजशील की संज्ञा प्रदान की है। यह सहजशील सतत अभ्यास करने से ही प्राप्त होता है। उसमें सारे गुण आप-से-आप प्रगट हो जाते हैं। सहजावस्था में हृदय स्वच्छ हो जाता है।

---

१. ना हम छांड़े ना ग्रहे, ऐसा ज्ञान विचार।
मद्धि भाव सेवे सदा, दादू मुकति दुवार। दादूबानी; भाग १, पृ० १६०।

२. सहज-सहज सब कोइ कहे, सहज न चीन्हे कोइ।
जिन सहजे विषया तजी, सहज कहावे सोइ।
सहज-सहज सब कोइ कहे, सहज न चीन्हे कोइ।
जिन सहजे हरिजी मिले सहज कहीजे सोइ। कबीर।

कबीर ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करने के लिए कहा है। "पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र की ज्योत्स्ना का प्रकाश सहज रूप में ही फैलता है। उसी तरह मनुष्य को आदि और अन्त के मध्य रहना चाहिए। तभी साधक को सुख प्राप्त हो सकता है।"[1] तिल्लोपाद ने भी कहा है कि "तू सहज की साधना से चित्त को विशुद्ध कर ले। इसी से तुझे सिद्धि प्राप्त होगी और मोक्ष की प्राप्ति भी इसी से होगी।"[2] सहजावस्था में शरीर को कष्ट नहीं देना पड़ता। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि सहज साधना एक सरल-सा और सीधा-सादा रास्ता है। यह तो तलवार की धार है जिस पर चलने के लिए एक विशिष्ट मानवीय आचरण की आवश्यकता है।

सहज समाधि की अवस्था में कोई बाह्याडंबर नहीं रह जाता। कबीर कहते हैं कि "वह समाधि भली है जो सहज है। उस समाधि के पश्चात् तो ईश्वर से ही मिलन हो गया। न तो आँख मूंदने की आवश्यकता है और न ही कान रूँधने की, इस शरीर को कष्ट देने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई। आँखें बन्द करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। खुले नैनों से ही मैंने हँस-हँसकर उसका स्वरूप निहारा है। उसी से मैं उसका सुन्दर रूप निहारता हूँ, जो कहता हूँ वही उसका नाम होता है, अलग से मुझे राम-राम रटने की आवश्यकता नहीं रह गई। मैं जो कुछ भी सुनता हूँ उसका स्मरण ही है और जो कुछ करता हूँ वही उसकी पूजा है। उसकी पूजा के लिए मुझे कहीं अलग जाने की न तो आवश्यकता है और न किसी बाहरी आचार-विचार की आवश्यकता ही दृष्टिगत होती है। गृह और उद्यान मेरे लिए एक ही हो गए हैं। मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वही ईश्वर की परिक्रमा है और जो कुछ करता हूँ वही उसकी सेवा है। जब शयन करता हूँ वही ईश्वर के लिए दण्डवत् हो जाता है। और किसी देव की पूजा में नहीं करता। अप्रिय वचनों का मैंने त्याग कर दिया है ईश्वर से ऐसी लौ लगी है कि उठते-बैठते कभी उसे मैं नहीं विसारता।

यह एक प्रकार का उन्माद है। यह स्थिति तो सुख-दुःख के परे है। इसमें प्राप्त परम सुख तो ब्रह्ममय होकर ही रहने में है।[3] नामदेव ने भी यही कहा है कि नारायण

---

१. पूनिउ पूरा चन्द आकास। पसरहि कला सहज परगास।
आदि अन्त मधि होइ रहिआ थोर।
सन्त कबीर; राम कुमार वर्मा; पृ० ८६।

२. सहजे चित्त बिसोहहु अंग।
इह जम्महि सिद्धि मोक्ष भंग। सन्त सुधासार; तिल्लोपाद; पद ६, पृ० १।

३. सन्तो सहज समाधि भली।
साँई ते मिलन भयो, जा दिन ते सुरत न अन्त चली।
आँख न मूंदूं, कान न रूँधूं, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस-हँस देखूं, सुन्दर रूप निहारूँ।

से प्रीति लगने पर वे सहज सुभाव के हो गए हैं।[१]

मध्यम मार्ग से मिलता-जुलता होने पर भी सहज मार्ग उससे पृथक् है। सहजावस्था इन्द्रियगोचर नहीं है और इन्द्रियातीत भी है। उसकी जाग्रति के लिए मनुष्य को संस्कारी होना आवश्यक है। वह स्थिति उपाधि रहित है।[२] इतना ही नहीं बल्कि ईश्वर की सृष्टि का कार्य भी सहज भाव से ही हो रहा है।[३]

पंजाबी भाषी सन्तों ने भी सहज की अवस्था को प्राप्त करने की चेष्टा की है। गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि "जब ब्रह्म से मेरा विवाह हो रहा था तो चौथे फेरे[४] में ईश्वर ने सहज-ज्ञान मेरे मन में प्रकाशित कर दिया और मैंने हरि को पा लिया।[५] ज्ञान को सहजानुभूति पर्याय के रूप में भी लिया गया है। अपनी बैकुंठ यात्रा के लिए कबीर सहज की रकाब पर ही पैर रख कर विचार तरंग पर सवार होता है। सहज मार्ग के कारण ही निर्गुणियों को सहजिया तथा उनके मत को सहज सम्प्रदाय भी कहा जाता है।

सहजावस्था ऐसी अवस्था है जहाँ न तो वर्षा है, न सागर, न प्रलय, न धूप, न छाया, न उत्पत्ति और जीवन और मृत्यु है; वहाँ न तो दुःख का अनुभव होता है और

कहूँ सो नाम, सुनूँ सो सुमिरन जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाएँ दूजा।
जहँ-जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा।
सबद निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचन को त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहूँ न बिसरे, ऐसी तारी लागी।
कहै कबी यह उन्मनि रहनी सो परगट करि गाई।
सुख दुःख के इक परे परमसुख तोहि में रहा समाई।

सन्त सुधासार; कबीर; पृ० ६६, पद ६१।

१. नामे प्रीति नारायण लागी, सहज सुभाय भयो बैरागी।

सन्त सुधासार; पृ० ४१।

२. सहज समाधि रहित होइ बड़े भागि लिव लागी।

सन्त सुधासार; रविदास; पृ० १८४।

३. दादू सहजें-सहजें होइगा जो कुछ रचिया राम।
काहे को कलपे मरे, दुःखी होत बेकाम। सन्त सुधासार; दादू; प० ३।

४. चौथे फेरे—सिक्खों में विवाह के समय चौथी परिक्रमा ही अन्तिम परिक्रमा होती है।

५. सहजि सेती मन बजिआ बयाहआ।

गुरु ग्रन्थ साहिब; गुरु रामदास; राग सूही; म० ४।

न ही सुख का। वहाँ शून्य की जागृति और समाधि की निद्रा नहीं है। न तो उसे तोला ही जा सकता है और न ही छोड़ा जा सकता है। न वह हल्की है, न भारी। उसमें ऊपर नीचे की कोई भावना नहीं है। वहाँ रात और दिवस की स्थिति भी नहीं है। वहाँ न जल है, न पवन और न ही अग्नि। वहाँ सत्गुरु का साम्राज्य है। वह जगह इंद्रियातीत है। उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा से ही हो सकती है।[1]

नानक की उपासना के पाँच खण्ड—नानक ने अपनी उपासना के पाँच खण्डों का वर्णन किया है। कबीर ने भी सत्यलोक का उल्लेख किया है। नानक के ये पाँच खण्ड—धर्मखण्ड, ज्ञानखण्ड, करमखण्ड, सरनखण्ड और सचखण्ड, ये सूफ़ियों की उपासना पद्धति से प्रभावित नहीं हैं। धर्मखण्ड में कर्म के पद का वर्णन है। इसके बाद ज्ञानखण्ड आता है। वहाँ प्रचण्ड ज्ञान की अवस्था होती है। वह आनन्दावस्था है। आत्मविचार की दशा में वहाँ पर ज्ञान-ही-ज्ञान प्रचलित रहता है। जिसके कारण आनन्द की करोड़ों वृत्तियाँ प्रचलित होती हैं। करमखण्ड में अमली अवस्था में पहुँचे हुए साधक के कार्य-कलाप सबल होते हैं।[2] दिनकर ने केवल चार खण्डों का ही उल्लेख किया है। वे हैं सरनखण्ड, ज्ञानखण्ड, करमखण्ड और सचखण्ड।[3] ये चार नहीं पाँच हैं, उन्होंने धरमखण्ड का नाम नहीं दिया। धरमखण्ड को भी सरनखण्ड ही लिखा है। सूफ़ियों की उपासना के तो चार अंग हैं शरीअ़त, मारफत, अकबा, लाहूत।

---

१. नहीं पावस सिंधु धूप नही छहीमा तह उतपति परउ नाही।
जीवन मिरतु न दुखु सुखु बिआपै सुनै समाधि दोउ तह नाही।
सहज की अकथ कथा है निरारी।
तुलि नहीं चढै जाइ न मुकाती हलकु लगै न भारी।
अरध ऊरध दोऊ नाही राति दिनसु तह नाही।
जलु नही पवनु पवकु फुनि नाही सतिगुर तहा स माही।
अगम अगोचरू रहै निरन्तर गुर किरपा ते लहिये।
कहु कबीर बलि जाऊ गुर अपुने संत संगति मिलि रहीये।
संत कबीर; राम कुमार वर्मा; पृ० ५१, पद ४८।

२. धरम खण्ड का एहो धरमु, गिआन खण्ड का आखहु करमु।
\+ \+ \+
गिआनु खण्डहि ज्ञान परचहुँ, तियैं नाद विनोद कोड अनन्दु।
सरम खंडु की वाणी रूपु, तिये घाड़ति घड़िए बहुतु अनूपु।
\+ \+ \+
करम खण्ड की बानी जोरू, तिये होउ न कोइ होरू।
गुरु नानक; जपुजी साहब।

३. दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय; पृ० ३१३।

नानक की उपासना के पांचों अंगों को सूफ़ियों से प्रभावित नहीं बताया जा सकता। दिनकर ने इसके लिए शेख फरीद और नानक की मित्रता का उदाहरण प्रस्तुत किया है। दोनों की मित्रता का प्रमाण इस बात के लिए नहीं लिया जा सकता।

सत्संग का महत्त्व—सन्तों ने जो भी ज्ञान प्राप्त किया वह केवल योगियों या शास्त्रों से प्राप्त नहीं किया था, वह उन्होंने सत्संग से ही प्राप्त किया था। ये भ्रमण-शील होते थे। नाना प्रकार के विद्वानों से उनका संसर्ग होता था। उन्होंने जो भी कहा वह इस सत्संग का ही परिणाम था। कबीर और नानक ने वेदों और शास्त्रों के बारे में जो कुछ भी कहा और उसका ज्ञान प्राप्त किया है वह सत्संग का ही परि-णाम है। सत्संग की महिमा दोनों ही भाषाओं के सन्तों ने गाई है। सत्संग से ही सन्तों ने अपने ज्ञान का प्रसार किया। कबीर ने साध संगत के लिए कहा है कि—

कबीर संगत साधु की, जौ की भूसी खाई।
खीर खांड भोजन मिलै, साकट संग न जाइ।[1]

सत्संग तो गंगा के पानी के समान है। कोट की खाई का पानी कोई नहीं पीता क्योंकि एक ही जगह रहने के कारण वह सड़ता है किन्तु वही जब गंगा में मिल जाता है तो गंगोदक हो जाता है।[2] उसी प्रकार साधारण आदमी भी साधु-संगति से उस पद को प्राप्त करता है। यदि एक घड़ी, उससे भी आधी या उसकी भी आधी भक्तो की सगति में व्यतीत होती है तो अत्युत्तम है।[3] यह तन तो पंछी के समान हो गया है जहाँ मन जाएगा वहीं उसके साथ चला जाएगा। जो जैसी संगति करेगा वैसा ही फल खाएगा।

संत-मत का व्यावहारिक पक्ष—सन्तों के हृदय में असीम साहस और अदम्य उत्साह था। जिस वस्तु में उन्हें अन्याय के दर्शन हुए उसका ही उन्होंने विरोध किया। उन्हें यह सुनने की फ़ुरसत नहीं थी कि संसार क्या कहता है। मुल्ला या पण्डित किसी को उन्होंने नहीं छोड़ा। धर्म के नाम से ये जो रोटी कमा रहे थे और भोली-भाली जनता को ठग रहे थे। उनके विरुद्ध उन्होंने अपने स्वर बुलन्द किए। भारतीय इतिहास के इस युग में दसवीं सदी के पश्चात् और हिन्दी एवं पंजाबी साहित्य में क्रांतिकारियों के दर्शन प्रथम बार होते हैं। पण्डे और मुल्ले उनकी "नादानी" पर हँसे किन्तु कबीर का कथन था कि "हमन है इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या।" इन सन्तों के लिए यह असम्भव था कि आँखों के सामने धर्म के नाम पर अन्याय और अत्याचार

---

१. संत सुधासार; पृ० १४६।
२. कबिरा खाइ कोट की, जौ की भूसी खाइ।
खीर खांड भोजन मिले, साकट संग न जाइ। संत सुधासार; पृ० १४६।
३. कबीर एक घड़ी आधी घड़ी आधी हू से आध।
भगतन सेती गोसटे जो कीने सो लाध। संत सुधासार।

फैले और ये उन्हें देखते रहे। जनता के साथ धोखा हो और ये देखते ही रहे। छूआ-छूत, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, कुरान और पुरान आदि किसी को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। एक ओर पण्डित भगवान के सेक्रेटरी बने मन्दिर से उसकी आड़ में मनमानी रकम ले रहे थे, दूसरी ओर मुल्ले मजहब के फरिश्ते बने बैठे थे। योगी दूसरी ओर मूढ़ जनता को चमत्कार आदि में फँसाकर लूट रहे थे। सन्तों से यह देखा नहीं गया। उनकी आत्मा तिलमिला उठी।

वह समय आज के समान तो था नहीं जबकि अनेकों समाज-सुधारक चल पड़े हों। उस समय हिन्दू और मुसलमानों के बीच में पड़ना कोई आसान काम नहीं था। कबीर सरीखे स्पष्ट वक्ताओं की बातों ने खुली तौर से उनका भंडाफोड़ करना प्रारम्भ किया। इन्होंने एक ओर से आक्रमण नहीं किया। सभी मोर्चों पर एक साथ चारों ओर से आक्रमण किया। समाज की कितनी चोटें इन्हें सहनी पड़ी होंगी इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। न तो उन्हें किसी का भय था और न ही डर। उनमें धार्मिक दृढ़ता थी। सत्य के जिस मार्ग पर वे बढ़ रहे थे उसका इन्हें पूरा-पूरा विश्वास था। राह भूलने वालों को रास्ता बताकर इन्होंने गिरने से बचा लिया। इन सब में तीव्र स्वर कबीर का था उनसे बढ़कर खड़ी चोट किसी ने नहीं की है। कबीर का साधक अन्यायी से समन्वय या सन्धि जानता ही न था। दादू और नानक ने भी बाह्याचारों आदि का निन्दा की है किन्तु उसमें कबीर की तेजी नहीं है। कबीर के साथ वही शामिल हो सकता है जिसने अपना घर फूँक दिया है। कबीर का क्रांतिकारी तो सिंहनाद करता है कि—

कबिरा खड़ा बजार में, लिए लुकाठी हाथ,
जो घर फूँके आपनो, चले हमारे साथ।

अवतारवाद का विरोध—इन निर्गुण सन्तों ने हिन्दू पुराणों में वर्णित अवतारों को स्वीकार नहीं किया है। पैगम्बर हो या अवतार, कोई भी निर्गुणियों का ग्राह्य नहीं है। उनका राम दशरथ सुत नहीं था। कबीर कहते हैं कि राम ने न तो दशरथ के घर अवतार ही लिया था, न उसे किसी रावण ही ने सताया था। न तो यशोदा ने उन्हें गोद लेकर ही खिलाया। न तो वे गोपियों के संग घूमे। न तो उन्होंने गोवर्धन ही को उठाया। बावन अंगुल का रूप धारण कर न तो उन्होंने बलि को ही छला। न तो मच्छ-कच्छ का उन्होंने अवतार ही लिया। न तो बद्रीनारायण में बैठकर उन्होंने ध्यान ही लगाया। परशुराम का अवतार ग्रहण कर न तो उन्होंने क्षत्रियों का ही संहार किया। न तो द्वारका में उन्होंने शरीर ही छोड़ा।[1]

---

१. कबीर न दशरथि घर औतरि आवा, न लंका का राव सतावा।
देवे पूस कूँडस न औतरि आवा, न जसवे ले गोद खिलावा।
न ग्वालन के संग फिरिया, गोवरधन ले न कर धरिया।
बावन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद ले न उधारिया।

राम का अभिप्राय सन्तों ने वैष्णवों के अवतारों से भिन्न लिया है। उनका मत है कि ईश्वर को किसी मनुष्य का रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होने की आवश्यकता नहीं है। राम ब्रह्म का पर्याय है। ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा सन्त-साहित्य में हमने कर ली है। राम और परशुराम को भगवान का अवतार माना जाता है। दोनों ही एक समय में हुए थे किन्तु दोनों ही एक-दूसरे के द्वेषी थे। रज्जब कहते हैं कि आखिर किसको कहा जाए?

हिन्दी और पंजाबी भाषा के सन्त दोनों ही अवतार विरोधी थे। जिस पूजा का सम्बन्ध दृश्य जगत से है उनके मत में व्यर्थ है। उनकी दृष्टि में मनुष्य को ईश्वर नहीं माना जा सकता। दशावतारों को भी ईश्वर मानने का कोई कारण नहीं है। ईश्वर की मनुष्य रूप में कल्पना करना तर्क और ज्ञान का विरोध करना है। स्पष्ट शब्दों में अवतारवाद[1] का उन्होंने विरोध किया है। पलटू साहब के अनुसार २४ अवतार भी काल के आधीन हैं। राम, कृष्ण और परशुराम को भी मरना पड़ा।[2]

राम को भी यह मानना पड़ा है कि विधाता के लेख को कोई नहीं मिटा सकता—

हँसि बोले रघुवंश कुमारा। विधि का लिखा कुमेटन हारा।

नानक ने भी इसी अभिप्राय से कहा है कि राम स्वयं भाग्य के आधीन थे। राम ने सीता और लक्ष्मण के लिए विलाप किया और हनुमान से उन्हें सहायता लेनी पड़ी। मूर्ख रावण को यह नहीं ज्ञात था कि उसकी मृत्यु का कारण राम नहीं ईश्वर है। ईश्वर तो स्वतन्त्र है किन्तु राम तो भाग्य के लेख को भी नहीं मिटा सकता।[3] नानक का यह उपरोक्त पद गुरु ग्रन्थ साहिब में नहीं है किन्तु मेकालिफ ने अनुवादित करके दिया है।

त्रिदेवों को नानक ने माया में ही माना है—

एका माई जुगत वियाई तिन चेले परवाए।
इक संसारी, इक भण्डारी, इक लाय दीवाए।[4]

निरुपाधिक ब्रह्म इन त्रिदेवों से ऊपर है। अवतार विरोध का कारण देते हुए

गण्डक सालिगराम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला।
बद्दीर बैस ध्यान नहीं लावा, परसराम ह्वै खतरी न संतावा।
द्वारमती शरीर न छोड़ा, अमरनाथ लै प्यंड न गोड़ा।

कबीर ग्रन्थावली; पृ० २४२-२४३।

१. सर्वंगी; ४२, २६ साखी।

२. बानी महला १; पृ० ५४, ११७।

३. सिख रिलीजन, भाग १; मेकालिफ; पृ० ३८२।

४. जपुजी।

बड़थ्वाल ने कहा है कि "उसके द्वारा नर पूजा का विधान हो जाने के कारण धर्म में पाखण्ड को घुसने का मार्ग मिल जाता है।[1]

अवतारों की कल्पना लोगों में स्थूल रूप में ही समझी जाती रही है। यह माना गया है कि ईश्वर स्थूल रूप या शरीर धारण कर इन अवतारों में शामिल हुआ है। सन्तों को यह अस्वाभाविक प्रतीत हुआ और उन्होंने कहा कि भला ईश्वर को नरदेह धारण करने की क्या आवश्यकता ?

हरि के अतिरिक्त अवतारों सहित ईश्वर के बनाए अन्य उपादन मैले ही हैं। ब्रह्मा मैला है, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र भी मैले हैं। रात्रि और माह के तीस दिन भी मैले हैं। मोती मैला है। हीरा और अग्नि, पानी तथा पवन भी मैले हैं। शिव, शंकर और महेश भी मैले हैं। सिद्ध साधक और वेषधारी भी मैले हैं। जीवात्मा सहित शरीर भी मैला है। कबीर कहता है कि सच्चा सेवक तो वह है जो राम को जानता है।[2] हरि-सा हीरा छोड़कर लोग अन्य देवी देवताओं से आशा करते हैं। ऐसे लोग अवश्य ही नरक जाएँगे।[3] सन्तों का उद्देश्य अवतारों या पैगम्बरों की निन्दा करना नहीं था। उनका उद्देश्य था सत्य का प्रचार करना। असत्य का निवारण करने के लिए ही अवतारों के विरुद्ध उन्हें कहना या लिखना पड़ा। गुरु अर्जुनदेव से जब जहाँगीर ने गुरु ग्रन्थ साहिब

---

१. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय; पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल; पृ० १७०।

२. मैला ब्रहमा मैला इन्दु।
रवि मैला है, मैला है चन्दु।
मैला मलता इहु संसारु।
इकु हरि निरमलु जा का अन्त न पारु।
मैले बंहमंडाइ के ईस।
मैले निसी बासर दिन तीस।
मैला मोती मैला हीरु।
मैला पवनु पावकु अरू नीरु।
मैले सिव संकरा महेस।
मैले सिध साधक अरू भेस।
मैले जोगि जंगम जटा सहेति।
मैली काइआ हंस समेति।
कहि कबीर ते जन परवान।
निरमल ते जो रामहि जान।

सन्त कबीर; रामकुमार वर्मा; पृ० २०८।

३. हरि-सा हीरा छांड़ि के करहि आन की आस।
ते नर दोजक जाहिंगे सतिभासे रविदास। सन्त सुधासार; पृ० २८३।

से आपत्तिजनक पदों को निकालने के लिए कहा तो गुरु अर्जुनदेव ने स्पष्ट कहा था "गुरु ग्रन्थ साहिब में ऐसी कोई पंक्ति नहीं है जिससे हिन्दू अवतारों और मुस्लिम पैगम्बरों की निन्दा की गई हो। हाँ यह अवश्य कहा गया है कि पैगम्बर और पीर तथा अवतार उसी अकाल पुरुष परमात्मा के बनाए हुए हैं जिसका अन्त आज तक किसी को नहीं मिला है। मेरा उद्देश्य सत्य का प्रचार और असत्य का निवारण है। इसमें मेरा नाशवान शरीर भी चला जाए तो मैं अपना अहोभाग्य ही समझूंगा।"

ईश्वर तो मृत्यु से परे है। वह अकाल है। किन्तु त्रिदेवों को तो काल लगा हुआ है। गुरु गोविन्दसिंह कहते हैं कि "ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चन्द्रमा आदि में तो मृत्यु वास करती है। ये नश्वर हैं। ईश्वर तो अनित्य है। वेदों और पुराणों एवं कुरान ने उसका अन्त नहीं पाया। इन्द्र एवं महान ऋषियों-मुनियों ने तप कर-कर अपना जीवन खपा दिया है। जिसका रूप रंग ही नहीं जानते उसको क्यों कर स्याम कहते हैं। मुक्ति तो हरि के चरणों में ही लिपटने से मिलती है।"[1] सिख गुरुओं में गुरु गोविन्दसिंह ने ही अवतारों के प्रति सर्वाधिक आस्था और अनास्था का भाव व्यक्त किया है।

अवतार-विरोध का एक कारण यह भी था कि सन्तों ने निराकार ब्रह्म की कल्पना की थी और इस बात को स्वीकार किया था कि ब्रह्म निर्लेप, निराकार और अनन्त है। अवतारों में तो ब्रह्म के सगुण रूप का ही वर्णन मिलता है। इसलिए निराकार उपासना में साकारोपासना का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर को जब उन्होंने निर्गुण कहा तो उसके सगुण रूप को भला वे कैसे स्वीकार करते ? उन्होंने राम के निर्गुण रूप को महत्त्व प्रदान किया है। उनके नाम का पर्याय राम ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि सन्तों ने अवतारों का विरोध तो किया है किन्तु अवतारों के रूप में भक्तों पर भगवान ने जो दया की है उसे ये भुला नहीं सके। भगवान की इन बातों का और लीलाओं का स्थान-स्थान पर उन्होंने वर्णन किया है। विष्णु ने अवतार लेकर भक्तों के लिए विभिन्न कार्य किए जो उनकी महिमा गाते-गाते ये सन्त अघाते नहीं। कबीर को कृष्ण का दुर्योधन का राजसी भोजन छोड़कर विदुर के साथ भोजन करना भला लगा—

---

१. ब्रह्मा विष्णु रुद्र सूरज ससि।
ते बसि काल सबै है।
बेद पुरान कुरान सबै मत जाकर नेत कहै है।
इन्द्र फनिन्द्र मुनिन्द्र कलप बहु दिवि धिआवत धिआन न जैहै।
जाकर रूप रंग नहि अनिमत किम स्याम कहै है।
छुटहै काल जाल ते तबही ताहि चरन लपटै है।
शब्द हजारे; गुरु गोविन्दसिंह; पृ० १०।

राजन कौन तुम्हारे आवे।
ऐसो भाव विदुर को देख्यो, वहु गरीब मोहि भावे।
हस्ती देख भरम ते भूल्या, हरि भगवान् न जाना।[1]

अवतारों की महिमा सर्वाधिक सुन्दर-साहित्य में उपलब्ध होती है। सुन्दरदास ने भगवान कृष्ण की लीलाओं का भी वर्णन किया हैं। वषना कहते हैं कि जिस रावण के घर नौ ग्रह खटिया की पाटी से बंधे रहते थे, ऐसे महान रावण का भी गर्व राम ने उसका विनाश कर दूर कर दिया। जगजीवनदास की वाणी में समन्वय की भावना मिलती है। अवतारों के प्रति उनके साहित्य में भी काफी आस्था मिलती है। वे कहते हैं कि—

देही धरि धरि नाच्यो राम, भक्तन केर सवांरयो राम।[2]

जगजीवन की सामंजस्य भावना किसी सन्त में नहीं पाई जाती। सन्तों ने अजामिल की कथा, गणिका, गजेन्द्र, प्रह्लाद आदि के प्रसंगों का आदरभाव से उन्होंने उल्लेख किया है। नामदेव ने कृष्ण की लीलाओं के पदों का यशोगान किया है। वे कहते हैं कि "हे मेरे विट्ठल, श्याम तेरे हाथ पर सुदर्शन चक्र है। तूने स्वर्ग से आकर गजेन्द्र उद्धार किया। जिस समय भरी सभा में दुःशासन द्रौपदी के वस्त्र उतार रहा था उस समय तूने उसे वस्त्र प्रदान कर उसका उद्धार किया। गौतम की पत्नी अहिल्या का तूने उद्धार किया। नीची जाति का नामदेव तेरी शरण आया है।"[3]

किन्तु अवतारों को सन्तों ने किसी रूप में भी स्वीकार नहीं किया। वे इस सिद्धान्त को मानते ही नहीं कि ईश्वर भी नरदेह धारण कर सकता है। गुरु गोविन्द-सिंह ने कहा है कि—

कृस्न मिलन को मैं न ध्याऊँ।
प्रथमे गणेश मैं न मनाऊँ।

आगे वे कहते हैं कि जिसे निन्दा-स्तुति की चिन्ता नहीं है, जिसके शत्रु-मित्र नहीं हैं, उसे भला क्या आवश्यकता कि नरदेह धारण कर वह सारथी का कार्य करे। जिसके न तो माता-पिता ही हैं और न ही पुत्र है उसे देवकी के नन्द होने की भला

१. कबीर ग्रन्थावली; पृ० ३१८।
२. सन्त सुधासार; पृ० ५४२।
३. मेरो बाप तूं घन कैसो सांवलियो।
कर धरे चक्र वैकुण्ठ ते आयो, तू रे गज का प्रान उबारयो।
दुहशासन की सभा द्रौपदी अम्बर लेत उबारयो।
गौतम नारि अहिल्या तारी पापिन केतिक तारयो।
सन्त सुधासार; भाग १ पृ० ५०।

क्या आवश्यकता थी ?[1] अवतारों को तो मृत्यु ने ग्रस लिया था और ईश्वर तो नित्य है।

सन्तों ने अवतारों का विरोध तो किया किन्तु कई सम्प्रदायों में इन्हीं सन्तों को अवतार माना जाने लगा। कबीर पन्थियों ने कबीर को अवतार मान लिया जबकि खुले शब्दों में कबीर ने अवतारवाद का विरोध किया है। इन सन्तों ने साफ और स्पष्ट शब्दों में कहा था कि वे मनुष्य ही हैं। गुरु गोविन्दसिंह ने तो कहा है—

जो हमको परमेश्वर उच्चरहैं।
सो सब नरककुण्ड में परहैं।

विशेषकर सिख गुरुओं का तो इस बात पर जोर रहा कि उन्हें साधारण मनुष्य ही समझकर स्वीकार किया जाए। इन सिख गुरुओं ने न तो अपने को ईश्वर का दूत ही घोषित किया और न ही ईश्वर का एकलौता पुत्र। ईश्वर के वैष्णव नामों को हरि, दामोदर, नारायण, पद्मापति, राम, कृष्ण आदि को सादर संतों ने निराकार ब्रह्म के रूप में ही ग्रहण किया।

सन्तों ने जितने सहज और सरल शब्दों में अपने आपको साधारण मनुष्य बताया है उतना कबीर पन्थ के कई अनुयायियों ने कबीर को अवतार मान उन्हें नीचे लाने का प्रयास किया है।

मूर्तिपूजा—अवतारवाद का जिस तरह सन्तों ने विरोध किया है उसी तरह मूर्तिपूजा का भी एक स्वर से उन्होंने विरोध ही किया है। मूर्तिपूजा का विधान आर्यों में नहीं था। द्राविड़ों में इसका प्रचलन अवश्य था। कालांतर भारत के अन्य लोगों ने विशेषकर आर्यों में प्रतिमा पूजन का समावेश इन्हीं जातियों से हुआ जो भारत में आर्यों के पहले से भारत में बसी हुई थीं। इस्लाम मूर्तिपूजा को शिर्क मानता है। किन्तु फिर भी कई मुसलमान इमाम की दरगाहों में सिर झुकाते पाए जाते हैं। यह भी एक तरह से मूर्तिपूजा से कम नहीं है। सन्तों ने निराकार ब्रह्म की उपासना की है। इस कारण प्रतिमा की साकारता इस विचार में बाधा उपस्थित करती है। कबीर कहते हैं कि "जो पाहन को देवता कहते हैं उनकी सेवाएं तो वृथा ही जाती हैं। पाषाण की प्रतिमा के चरण-स्पर्श भी वृथा ही हैं। हमारा ठाकुर तो सदैव बोलता है, वह पाषाण की तरह मौन नहीं है। पत्थर न तो कुछ देता ही है और न ही कुछ

---

१. स्तुति निंदक उसनीति जोन के सम सत्रु मित्र न कोइ।
कौन बाट परी तिसै पथ सारथी रथ होइ।
तात मात न जाति जाकर पुत्र पौत्र मुकुन्द।
कौन काज कहाहिगे ते आन देवकीनन्द।
सुन्दर गुटका; पादशाही, १०; पृ० ६४।

बोलता ही है। उसकी सेवा ही व्यर्थ है।[1] कहना न होगा कि मूर्तिपूजा पर सन्तों में सबसे तीव्र व्यंग कबीर का ही है। "बुत की पूजा करके हिन्दू मरे और मुसलमान सिर झुकाकर।"

इस्लाम के अनुयायी मूर्तिपूजा के विरोधी तो थे ही किन्तु ये मूर्ति-भंजक भी थे। सन्तों ने प्रतिमा पूजन का विरोध तो किया है किन्तु मूर्ति भंजन का उपदेश कहीं भी नहीं दिया है। सन्तों ने जब यह कहा कि ईश्वर घट-घट में है तो उन्होंने यह भी कहा कि वह देवता मन्दिर और मस्जिद में ही नहीं है वह तो हमारे हृदय में भी है। वह किसी देवता विशेष में नहीं है। वह तो घट-घट में व्याप्त है। लोग एक पत्थर पर तो पांव रखते हैं और दूसरे की पूजा करते हैं। पत्थर यदि पवित्र है तो उसे भला कुचलते क्यों हैं?[2]

कबीर कहते हैं कि—

पाती तोरे मालिनी पाती पाती जीउ।
जिस पाहन को पाती तोरे सो पाहन निरजीउ।
भूली मालिनी है एउ सतिगुरु जागता है देऊ।
ब्रह्म पाती बिसनु डारी फल संकट देव।
तीन दे प्रतख्य तोरहि करहि किसकी सेव?
पखान गढ़ के मूरति कीनी दे कै छाती पाउ।
जे एउ मूरति साची है तो गढ़नहारे को खाउ।
भातु पहिति और लापसी करकरा का सारु।
भोगन हारे भोगिया इस मूरति के मुख छारु।
मालिन भूली, जग भुलाना, हम भुलाने नाहि।
कहि कबीर हम राम रति कृपा करि हरि राई।

---

१. जो पाथर कउ कहते देव।
ताकी बिरथा होवे सेव।
जो पाथर की पांई पाइ।
तिस की घाल अजांई जाइ।
ठाकरु हमरा सद बोलता।
सरब जीआ कउ प्रभु दानु देता।
\+ \+ \+
ना पाथरु बोले न कछु देइ।
फोकट करम निहफल सेव। सन्त सुधासार; पृ० २१८; पद १२।

२. एक पाथर किज्जे भाव।
दूजे पाथर धरिये पाव। सन्त सुधासार; पृ० ५४।

प्रतिमा पूजन के विरोध में तो पंजाबी और हिन्दी दोनों भाषाओं के सन्तों का मतैक्य है।

जातिप्रथा को चुनौती—भारतीय इतिहास के इस मध्य काल में निम्न जातियाँ सामाजिक अत्याचारों से पिसी जा रही थीं। समाज की ओर से ऊँची जातियों ने उनके लिए समस्त मार्ग बन्द कर रखे थे। फिर भी नामदेव, रैदास, सेन आदि नीच जाति के सन्तों ने आध्यात्मिक जगत में ऊँचे उठकर अपने आपको लोगों का श्रद्धाभाजन बना लिया। शूद्रों की तपस्या ने परिस्थितियों को बदलना प्रारम्भ किया। जब सब ईश्वर के ही पुत्र हैं तो ऊँच-नीच के लिए भला कहाँ स्थान ? यह धर्मनिष्ठाजन्य साम्यभावना इन सन्तों ने जातिप्रथा का विरोध कर ही प्रकट की। मनुष्य, मनुष्य हैं उनमें समानता का व्यवहार होना ही चाहिए, न कि घृणा और द्वेष का। नामदेव कहते हैं कि जाति-पाँति को लेकर मैं क्या करूँगा ? मैं तो रात-दिन राम का नाम ही जपता हूँ। कबीर ब्राह्मण उसे ही कहा है जो ब्रह्म पर विचार करता है।

सन्तों ने जब समाज में समानता का अव्यवहारिक रूप देखा तो उन्हें पीड़ा हुई। पण्डितों और मुल्लों से उन्हें कोई बैर नहीं था। इस घोर असामाजिकता के लिए उनके हृदय में गहरी वेदना थी। ब्राह्मणों के प्रति उनके जो भी उद्गार थे उनमें बैर तो लेश-मात्र को नहीं था। जाति प्रथा से ब्राह्मणों ने जो अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर रखी थी उसका सबसे बड़ा कारण यह था कि उससे उनकी रोटी चलती थी। सामाजिक साम्यता के स्वर जब बुद्ध के समय में बुलन्द हुए थे उसी समय में ब्राह्मणों ने उसका विरोध किया था क्योंकि उससे उनकी रोटी को खतरा था। बुद्ध के समय में ही जाति भेद इतना बढ़ गया था कि शूद्रों का समाज में जीना ही कठिन हो गया था। तो कबीर के समय तक आते-आते उसकी क्या परिस्थिति हो गई होगी इसकी कल्पना की जा सकती है।

भारत में इस्लाम के आगमन से इस्लाम की धार्मिक समानता ने भारत में कई समस्याओं और प्रश्नों को जन्म दिया। रामानुज और रामानन्द ने उदारता बताई तो थी किन्तु वे भी कट्टरता से बच नहीं सके थे। मुसलमानों की समाज-व्यवस्था के समक्ष जातिप्रथा की निस्सारता स्पष्ट प्रगट हो गई थी। अतएव वैष्णव आचार्यों पर परिस्थितियों ने अपना प्रभाव डाला था। रामानन्द से पहले ही इस परम्परा का श्री गणेश हो चुका था। नीचवर्ण के लोगों में ईश्वर के प्रति लगन देखकर भक्ति का दरवाजा उन्होंने हर किसी के लिए खोल दिया। भक्ति के क्षेत्र में उनकी भावना थी कि "जाति-पांति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।" रामानन्द ने हिन्दू और मुसलमान दोनों ही को अपना शिष्य बनाया। रामानन्द के एक ओर तो उच्च वर्णीय भक्त थे। दूसरी ओर थे निम्नवर्ण के धन्ना जाट, सेन, रैदास आदि।

ब्राह्मणों के अत्याचारों से पीड़ित होने के कारण सन्तों ने ब्राह्मणों को ही उन्मुख करके ही सम्बोधित किया। मनुष्य मात्र में समानता के समर्थक होने के कारण सभी ने बार-बार जाति-पाँति की निस्सारता पर जोर दिया। कबीर कहते हैं कि "गर्भ-

वस्था में न तो किसी के कुल का चिह्न है, न जातियों का। सबकी उत्पत्ति आखिर एक ही ब्रह्म-बिन्दु से तो हुई है। रे पण्डित, क्या हुआ जो तू ब्राह्मण हुआ है तो ब्राह्मण कह के तू अपना जन्म मत गवाँ। संसार में यदि तू ब्राह्मण है और ब्राह्मणी से जन्मा है तो किसी दूसरे मार्ग से क्यों नहीं आया। तू किस तरह ब्राह्मण है और हम किस तरह शूद्र हैं? हमारा रक्त किस प्रकार से घृणित है और तुम्हारा किस प्रकार से पवित्र है। कबीर कहता है कि वास्तव में ब्राह्मण तो वही है जो ब्रह्म का विचार करता है।"[1] कहना नहीं होगा कि कबीर ने इस पद में बहुत ही तीव्र चोट की है, ऐसी कि दूसरा सुनकर तिलमिला जाए।

मुनि देवसेन ने कहा है कि धर्म को जो भी आचरण करता हो वही धार्मिक है। चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। शूद्र के सिर पर कोई मोती तो नहीं लगा रहता।[2]

"कबीर में वर्ण भेद के विरुद्ध मुसलमानी अरुचि के साथ उच्च वेदांती भावों का समन्वय हुआ तो परम्परागत समाज व्यवस्था का एक ऐसा कट्टर शत्रु उठ खड़ा हुआ जिसने उसके भेद-भाव को पूर्णतया ध्वस्त कर देने का उपक्रम कर दिया।" मनुष्यता की समानता की भावना ही इस बात की माँग करती है कि जाति-पाँति की निस्सारता को स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया जाए। कबीर कहते हैं कि—

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राह्मन, साध छत्तरी, साधे जाती बनियाँ।

---

१. गरभि वास महि कुलु नहीं जाती।
ब्रहमु बिन्दु सब उतपाती।
कहु रे पण्डित बामन कब के होए।
बामन कहि-कहि जनम मत खोए।
जौ तू ब्राह्मणु ब्रह्मणी जाइआ।
तउ आन बाट काहे नहीं आइआ।
तुम कत ब्रह्मण हम कत सूद।
हम कत लोहू तुम कत दूध।
कहु कबीर जो ब्रहमु बीचारै।
सो ब्राह्मणु कही अतु है हमारै।

संत कबीर; राम कुमार वर्मा; परिशिष्ट पृ० ६; प० ७।

२. एहु धम्म जो आयरइ बंभुणु सुदु वि कोइ।
सो सावउ किं सावयह अराण कि सिरिमणि होइ।

स० धु० सा०; मुनि देवसेन; पृ० १४; मा० १।

सायन मा छत्तीस काम है टेढ़ी तौर पुछनियाँ।
साथे नाऊ, साथे धोबी, साथ जाति है बरियाँ।[१]

जाति के गर्व को लेकर करना भी क्या है आखिर सब ही तो नश्वर हैं। मनुष्य मात्र की जाति ही एक बुदबुदे के समान है। मृत्यु के पश्चात् सबका नाश हो जायगा। उनकी ऐसी ही अवस्था होगी जैसे प्रभात के होते ही उसमें तारे लीन हो जाते हैं।[२] जैसे-जैसे हिन्दुओं का पतन होता जाता था वैसे-वैसे ही उनका सुपीरिएरिटी काम्पलैक्स भी बढ़ता जाता था और जाति प्रथा उतनी ही दृढ़ होती जाती थी। दादू कहते हैं कि कबीरदास तो इस बात को समझाकर कह गए हैं, किन्तु दुनिया तो पागल है। कबीर की भला सुनता कौन है ?[३] गुरु अमरदास कहते हैं कि किसी को जाति का गर्व नहीं करना चाहिए। ब्रह्म की वन्दना करने से ही ब्राह्मण कहा जा सकता है। जाति का गर्व तो मूर्ख और गंवार करते हैं। इस गर्व से बहुत से विकारों की उत्पत्ति होती है। सब कहते तो हैं कि वर्ण चार हैं, किन्तु सबकी उत्पत्ति तो ब्रह्मबिन्दु से होती है। एक ही मिट्टी का तो यह समस्त संसार है। जिस तरह कुम्हार भिन्न-भिन्न घड़े और बर्तन बनाता है किन्तु उनकी मिट्टी तो एक ही होती है, उसी प्रकार यह देह तो पंच तत्त्व से ही बनी हुई है।[४]

जाति-प्रथा पर प्रारम्भ से ही बौद्ध काल से प्रहार होते चले आ रहे हैं किन्तु यह समस्या उतनी सरल नहीं की भारत में एक भी ऐसी जाति नहीं है जो अपने आपको किसी दूसरे से नीची मानती हो। इस कृत्रिम तह को नष्ट कर देना कोई आसन काम नहीं था। जाति-प्रथा से विद्रोह करने के लिए अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए किन्तु उनसे यह समस्या सुलझ नहीं सकी। बल्कि जिस सन्त या महात्मा ने जातिप्रथा का ही विरोध

---

१. सन्त सुधासार; वियोगी हरि; पृ० ९३।

२. पांणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जाहिये, तारे ज्यूं परभाति।

सन्त सुधासार; कबीर; पृ० १६६।

३. सन्त सुधासार, पृ० ४८२।

४. जाति का गरब न करयहु कोइ, ब्रह्म वेद सो ब्राह्मण होइ।
जाति का गर्व तें करत मूरख गवारा, इसु गर्व ते चलहि बहुत विकारा।
चारे वरन आखे सब कोई, ब्रहमबिन्दु ते सभ ओपति होइ।
माटी एक सगल संसारा, बहु विधि भांडे घड़े कुम्हारा।
पंच ततु मिलि देही अकारा, घटि विधि को करै विकारा।
कहतु नानक इहु जीउ करम बन्धु होई।
बिन सतिगुर भेटे मुकति न होई।

गुरु ग्रन्थ साहिब; गुरु अमरदास; राग भैरउ; म० ३।

किया उसके बाद ही उसकी नई जाति या सम्प्रदाय बन गया। जैसे कबीर के पश्चात् कबीरपंथी हो गए। जातिप्रथा विरोधी आन्दोलन से जातियों का विकास ही हुआ।

जातिप्रथा के विरुद्ध सबसे तीव्र स्वर कबीर के ही हैं। सिख गुरुओं ने भी इस विषय पर यत्र-तत्र कहा है। किन्तु उनकी वाणी में वह तेजी नहीं जो कबीर में है।

बाह्याचार का विरोध—सन्तों ने बाह्याचार की जो निस्सारता बताई, इसके दो रूप उनकी बानियों में पाए जाते हैं। एक तो हिन्दुओं के बाह्याचारों का विरोध, दूसरा मुसलमानों के बाह्याचारों का विरोध। ब्रह्म की उपासना में सन्तों ने आडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं मानी। इन सन्तों को मुसलमानों या हिन्दुओं से कोई व्यक्तिगत वैर नहीं था। उन्हें केवल दुःख उन्हीं बातों का होता था जहाँ हिन्दू और मुसलमान धर्म के नाम पर मिथ्या बातों को ही बढ़ावा दे रहे थे। ईश्वर या अल्लाह के नाम पर उन्होंने तू-तू-मैं-मैं ही मचा रखी थी। इसलिए एक ओर जहाँ उन्होंने हिन्दुओं के छापा, तिलक, तीर्थ, व्रत, संध्या, गायत्री, वेद, शास्त्र आदि की निन्दा की तो दूसरी ओर वहाँ मुसलमानों के रोज़ा, नमाज़, तसबीह, इबादत, शेख, काज़ी आदि का भी उन्होंने विरोध किया।

सबसे जबरदस्त धक्का इन्होंने कर्मकाण्ड को दिया। कबीर ने कहा कि तीर्थ के जल में स्नान करने से ही मुक्ति नहीं मिलती। उससे तो मनुष्य राक्षस ही हो जाता है।[1] कोई द्वारका दौड़ता है और कोई काशी जाता है किन्तु लोग इस बात को भूल जाते हैं कि साहब घट में ही है।[2] सन्तों ने कहा कि तीर्थों के झमेले में भला पड़ने की क्या आवश्यकता? उनका सिद्धान्त था कि तीरथ करने की अपेक्षा हृदय को विशाल बनाओ। अन्तर् में मैल है तो तीर्थ नहाने से क्या होता है? ईश्वर इन सब बातों को समझता है। यदि स्नान करने से ही मुक्ति मिल जाती तो मेंढकों को पहले ही मुक्ति मिल जाती। मेंढकों के समान मनुष्य भी बार-बार मरते और जन्म ग्रहण करते।[3] कबीरदास खीझकर पूछते हैं कि तीर्थ बड़ा है कि हरि का दास।

गुरु नानक देव कहते हैं कि जो तीर्थाटन, तप, दया आदि करता है उसे भले ही तिल भर पुण्य मिल जाए किन्तु प्रभु नाम का कण भी मिल जाए तो वह इससे कहीं

---

१. तीरथ गएते बहि मुए, जूड़े पानी न्हाये, कह कबीर संतो सुनो राक्षस ह्वै पछिताय।

२. कोई दौड़े द्वारका कोई कासी जाहि।
कोई मथुरा को चले साहिब घट ही माँहि। दादू

३. अंतरि मैल जो तीरथ न्हाये तिसु बैकुण्ठ न जाना।
लोक पतीणे कछु न होये नाही राम अयाना।
जल के मज्जन जे गति होये नित-नित मेंडुक न्हावहि।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिरि-फिरि जोनि आवहि।

भी ज्यादा है ।[१] रज्जब कहते हैं कि सतनाम की आशा करके तीर्थ, व्रत आदि की आशा छोड़ दे ।

पण्डित की ही तरह मुल्ला और काजी भी कबीर के लिए एक साधारण दर्जे का ही प्राणी था जिसके प्रति कबीर ने कहीं आदर से सिर नहीं झुकाया। वे कहते हैं कि "ऐ काजी, तुमसे ठीक तरह से बोलते नहीं बनता। हम तो ईश्वर के सेवक हैं। तुम्हें राजसी बातें भाती हैं। धर्म के स्वामी, धर्म के नाम पर ईश्वर ने तुम्हें अन्याय करने की आज्ञा कभी नहीं दी। तू रोजा रखता है, नमाज पढ़ता है। किन्तु यह समझ ले कि क़लमा पढ़ने से ही जो साधना कर सकता है वह शरीर के भीतर ही सत्तर काबों के दर्शन कर सकता है। नमाज का अर्थ होता है कि न्याय विचार, कलमे का अर्थ होता है कि अक़्ल को पहिचानना। ज्ञान प्राप्त होने से ही पाँचों इन्द्रियाँ वश में होती हैं। अक़्ल को जानकर जो मुसल्ला बिछाता है वही सच्चे धर्म को पहिचानता है। अपने अल्लाह को पहिचान कर तू अपने हृदय में दया का संचार कर। तू स्वयं ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को ज्ञान दे। तभी तुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी। मिट्टी तो आखिर एक ही है, उसने नाना रूप रख छोड़े हैं। उसका रूप प्रत्येक स्थान पर विराजमान है। इसे पहिचानने की आवश्यकता है। तूने स्वर्ग छोड़कर नरक में अपने मन को स्थान दिया है।[२]

वे आगे कहते हैं कि तू रोजा रखता है। अल्लाह को मानता है। फिर भी अपने स्वाद के लिए जीवों का नाश करता है। तू केवल अपना ही स्वार्थ देखता है।

---

१. तीरथ दइआ दतु दातु जे को पावे तिल का मान।
सुणिआ मंणिआ कीता भाउ, अन्तरिगत तीरथि मनि नाउ।

जपुजी; गुरु नानक देव।

२. हम मसकीन खुदाई बन्दे तुम राजसु मनि भावे।
अलह अवलि दीन को साहिबु जोरु नही फुरमावै।
काजी बोलिआ बनि नहीं आवै।
रोजा धरै निवाज गुजारे कलमा भिसति न होई।
सतरि काबा घटहि भीतरि जे करि जाने कोई।
निवाज सोइ जो निआउ विचारे कलमा अकलहि जाने।
पाचहु मुसि मुसला बिछावे तब तउ दीन पिछाने।
खसमु पछानि तरस करि जीअ महि मारि मणि कर फीकी।
आपु जनाइ अवर कउ जाने तब होइ भिसत सरीको।
माटी एक भेख करि नाना तामहि ब्रहमु पिछाना।
कहै कबीर भिसत छोड़ि करि दोजक सिऊ मनमाना।

सन्त कबीर; कबीर; पृ० १०७; पद १७।

इस प्रकार तू व्यर्थ ही क्यों झख मारता है। ऐ काजी ईश्वर तो एक ही है और वह तुझ में भी है। यह सोच-विचार के तू क्यों नहीं देखता। ऐ पागल तू गरीब से सहानुभूति नहीं रखता। इस कारण तेरा जन्म किसी काम का नहीं। कुरान तो स्पष्ट और सत्य कहता है कि अल्लाह न स्त्री है और न पुरुष। ऐ पागल न तो तूने पढ़ा ही है और न ही चिन्तन ही किया है। इसलिए तेरे हृदय में दया और सहानुभूति नहीं है। अल्लाह परोक्ष रहते हुए भी सारे शरीर के भीतर है। कबीर पुकार कर कहता है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही वह है।[1]

सन्तों ने पहले ही से यह स्वीकार किया है कि ब्रह्म साधना के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए कबीर काजी को कहते हैं कि "ऐ मुल्ला, तू बाह्याचार छोड़कर मन का तो मक्का कर और शरीर का किबला कर। तेरा सबसे बड़ा गुरु तो तुझमें ही है। वही बोलने वाला है। ऐ मुल्ला तू इस शरीर रूपी मस्जिद के दसों दरवाजों में बाँग दे और साथ ही नमाज़ पढ़। तामसी वृत्ति, भ्रम तथा मैलेपन को हटा दे। पाँचों इन्द्रियों से ईश्वर का नाम लेने से धैर्य उत्पन्न होगा। हिन्दू और मुसलमानों का स्वामी आखिर एक ही है।"[2]

मुल्ले और काजी को जिस तरह कबीर ने फटकार बताई या उनके बाह्याचारों की निस्सारता सिद्ध की है उसी प्रकार पण्डित और ब्राह्मणों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। बनारस के ढोंगियों का वर्णन कर कबीर कहते हैं कि "ये साढ़े तीन गज धोती

---

१. रोजा धरै मनावै अलहु सुआदति जीअ संघारे।
आपा देखि अवर नहीं देखै काहे कउ झख मारे।
काजी साहिबु एक तोहि महि तेरा सोचि विचार न देखै।
खबरि न करई दीन के बउरे ताते जनम अलेखै।
साचु कतेब बखानै अलहु नाहि पुरखु नहीं कोई।
पढ़े गुने नाहीं कछु बउरे जउ दिल माहि खबरि न होई।
अलहु गैब सगल घट भीतरि हिरदै लेहु विचारी।
हिन्दु तुरक दुहूँ एकै कहै कबीर पुकारी।
सन्त कबीर; राम कुमार वर्मा; पृ० १२६; पद २६।

२. मनु करि मका किबला करि देही।
बोलन हारु परम गुरु एही।
कहु रे मुलां बांग निवाज।
एक मसीति दसै दरवाज।
मिसि मिली तामसु भरमु कदूरी।
भाखि ले पन्चै होई सबूरी।
हिन्दू तुरक का साहिबु एकु। सन्त कबीर; राग भैरउ, पृ० २०६।

पहने पैरों में तिहरे धागे लपेटे, गले में जपमाला डाले और हाथ में लोटे लिए रहते हैं। इन्हें हरि का सन्त नहीं कहना चाहिए, ये बनारस के ठग हैं। टोकरे भर के तो ये पेड़े खा जाते हैं। ऐसे सन्त मुझे अच्छे नहीं लगते। बर्तन माँजकर फिर खाना खाते हैं। लकड़ी धोकर जलाते हैं। पृथ्वी खोदकर चूल्हे बनाते हैं। फिर सब मिलकर खाने बैठते हैं। ये पापी अपराधी बने सदा यहाँ पर घूमते फिरते हैं और मुख से ही एक-दूसरे को अछूत कहते हैं। किसी का मुख देखकर ही ये उसे अस्पृश्य मान लेते हैं और फिर स्नान करते हैं। ये अभिमानी इधर-उधर फिरते हैं और अपने साथ अपने कुटुम्ब को भी डुबाते हैं। ये जहाँ से भी द्रव्य लाते हैं वह तो नष्ट हो जाता है।"[1]

हमने पहले ही लिख दिया है कि जिस पण्डित का कबीर ने उल्लेख किया है या जिसे सम्बोधित कर कहा है वह औसत दर्जे का पण्डित या ब्राह्मण है। जो ढोंगी है। ब्राह्मण को अपनी उच्चता का गर्व है। कबीर कहते हैं कि "जब तू उच्च है तो नीच के घर क्यों भोजन करता है। तू निकृष्ट कार्य करके अपना पेट भर रहा है। तू चौदस और अमावस का ढोंग रचकर दान माँगता फिरता है। हाथ में दीपक लेकर कुएँ में गिर रहा है। तू ब्राह्मण है और मैं काशी का जुलाहा हूँ। मेरी तेरी बराबरी कैसे हो सकती है? हमारे संगी तो राम नाम पाकर उद्धार पा गए और तेरे साथी वेद पढ़-पढ़कर मर गए।"[2]

---

१. गज साढ़े तै तै धोतिया तिहरे पाइन पग।
गली जिन्हा जप मालिआ लोटे हत निबग।
ओई हरि के सन्त आसी आहि बानारसि के ठग।
ऐसे सन्त न मोकउ भावहि।
डाला पेड़ा गटकावहि।
बासन माजि धरावहि ऊपरि काठी धोई जलावहि।
वसुधा खोदि करहि दुई चूल्हे सार माएस खावहि।
ओई पापी फिरहि सदा अपराधी मुखहु अपरस।
सदा सदा फिरही अभिमानी सगल कुटुम्ब डुबावहि।
जितु को लहिआ तिति ही लागा तैसे करम कमावै।
कहु कबीर जिस सतिगुर, भेटै पुनरपि जनमि न आवै।

सन्त कबीर; पृ ६१, पद २।

२. आपन ऊनीच घरि भोजनु हठे, करम करे उदरू भरहि।
चउदस अमावस रचि रचि माँगहि कर दीपकु लै कूप परहि।
तूँ बमहन मैं कासी का जुलहा मुहि तोहि बराबरी कैसे के बनहि।
हमरे राम नाम कहि ऊबरे बेद भरोसे पांडे डूबि मरहि।

सन्त कबीर; पृ० १८०।

इन सन्तों ने पण्डित और मुल्लों के बाह्याचारों का खण्डन तो किया है इससे प्रतीत होता है कि सन्तों के हृदय में उनके लिए एक टीस थी, एक तड़फ थी इसीलिए उन्होंने दोनों को सम्बोधित कर दोनों की भलाई के लिए उपदेश दिया है। दादू कहते हैं कि हिन्दू कहता है कि रास्ता मेरा है। तुरक कहता है कि नहीं यह मेरा है। दोनों अपनी-अपनी ही चलाते हैं। हम तो न मुसलमान ही बनेंगे और न ही हिन्दू। हिन्दू और मुसलमान दोनों की करनी अपनी-अपनी जगह है। साधु का मार्ग तो दोनों के बीच का है। सन्तों की यही राह है। वहाँ पर न तो हिन्दुओं का मन्दिर ही है और न मुसलमानों की मस्जिद ही है।[1] आगे वे कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही यह नहीं जानते कि उनका ईश्वर तो आखिर एक ही है। सब कीट पतंगों में, ८४ लाख योनियों में, जल थल में वही है चाहे उसे पीर, पैग़म्बर, देव, दानव, पीर, मुनि आदि सब ही भजते हैं।[2]

सुन्दरदास कहते हैं कि "संसार में तो सब एक ही-से बिना किसी विशेष चिह्न के आए हैं। यह सब भ्रम तो हिन्दुओं और तुरकों ने ही उठाया है। हमने दोनों का ही धर्म छोड़ दिया है। न तो मैं कृत्रिम कार्यों का बखान करके ही अपनी रोटी कमाता हूँ और न ही मैं रसूल का कलमा पढ़ता हूँ। न तो मैंने जनेऊ ही धारण किया है और न ही मैं सुन्नत करवाकर पागल हुआ फिरता हूँ। न तो मैं माला ही जपता हूँ और न ही तसबी फेरता हूँ। न तो मुझे तीर्थ ही जाने की चिन्ता है और न ही मक्का जाने की। स्नान आदि से निवृत्त होकर मैं किसी आचार-विचार का पालन नहीं करता। न ही मैं वजू करता हूँ। न तो मैं एकादशी का व्रत ही रखता हूँ और न ही रोजा

---

१. दादू हिन्दू मारग कहै हमारा, तुरक कहै राह मेरी।
कहाँ पंथ है कहो अलह का, तुम तो ऐसी हेरी।
दादू न हम हिन्दू होहिंगे न हम मुसलमान।
षट दरसन में हम नहीं हम राते रहिमान।
दादू करणी हिन्दू तुरक अपनी अपनी ठौर।
दुहूँ बीच मारग साध का, यहु सन्तों की राह और।
न तहं हिन्दू देहुरा न तहं तुरक मसीति।
दादू आपे आप है वही तहाँ यहाँ रीति।

संत सुधासार; दादू; पृ० ४७९-८०।

२. हिन्दू तुरक न जाणों दोई।
साँई सबनि का सोई है रे और न दूजो देखो कोई।
कीट पतंग सबै जोनिन में, जल थल संग समाना सोई।
पीर पैगम्बर देवा दानव मीर मलिक मुनि जन को मोहि।

संत सुधासार; दादू दयाल; पृ० ४४५।

रखता हूँ और न ही मुल्ला की तरह बाँग ही देता हूँ। देव पितर या किसी भी पीर को मैं नहीं मनाता। न देह को जलाता हूँ।[१] दोनों काजी और पण्डित के बाह्याचारों की निस्सारता बताने के बाद वे कहते हैं हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ने राह नहीं पाई है। हिन्दू अपनी बड़ाई करते हैं और गागर को हाथ नहीं लगाने देते। वेश्या के पाँवों के पास तो पड़े रहते हैं। यह इनकी हिन्दुताई देखो। मुसलमानों के पीर औलिया मुर्गी-मुर्गा खाते हैं। खाला के घर ही बेटी का विवाह कर देते हैं और वहीं सगाई करते हैं। बाहर से कोई चीज मारकर लाते हैं और उसे धोकर सब खाने बैठते हैं। हिन्दुओं की हिन्दुताई देख ली और मुसलमानों की मुसलमानियत देख ली।[२]

पंजाबी भाषी सन्तों ने मुल्ला और पण्डित को कबीर की तरह तीखेपन से सम्बोधित तो नहीं किया फिर भी बाह्याचार के विरुद्ध तो उनके पद मिलते ही हैं। नानक कहते हैं कि बिना ज्ञान के लोग गीत गाने लगते हैं। भूखा मुल्ला मस्जिद को ही अपना घर बना लेता है। दिन-रात वह मस्जिद में ही पड़ा रहता है। निखट्टू कान फड़वा लेते हैं और योगी बने फिरते हैं। भूल से उनके पैर नहीं छूना जो अपने को गुरु बता कर दर-दर माँगते फिरते हैं। उसी का रास्ता सही है जो पसीने की कमाई

---

१. चिह्न बिना सब कोई आए इहां भए दाइ पन्थ चलाए।
हिन्दू तुरक उठयो सब भरमा, हम दोउ का छाड्य धर्मा।
नां मैं कृत्रिम करम बखानो नां रसूल का कलमा जानो।
नां मैं तीन ताग गलि नाऊँ ना मैं सुन्नत करि बौराऊँ।
माला जपो न तसबी फेरों, तीरथ जाऊँ न मक्का हेरों।
न्हाइ धोइ नहि करूँ विचारा ऊजू ते पुनि हूवा न्यारा।
एकादशी न व्रतहि विचारो, रोजा धरो न वंग पुकारों।
देव पितर नहि पीर मनाऊँ. धरती गड़ो न देह जलाऊँ।
सन्त सुधासार; सुन्दरदास; पृ० ५९७।

२. अरे इन दोहु न राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पांवन तर सोवै यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलया मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घर में करें सगाई।
बाहर से एक मुर्दा लाएँ धोय धोय चढ़वाई।
सब सखियां मिलि जेंवन बैठीं घर भर करें बड़ाई।
हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई।
सन्त सुधासार; कबीर; पृ० १०६।

खाता है।[1]

गुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि कोई तीर्थ जाता है और कोई हज जाता है, कोई पूजा करता है और कोई सिर नवाता है। कोई वेद आदि का अध्ययन करता है। कोई अपने आपको तुरक कहता है और कोई हिन्दू कहता है। कोई स्वर्ग के पीछे पड़ा है। प्रभु का भेद तो वही जानता जो कि वाह्याचारों को छोड़कर उसके हुक्म को पहिचानता है।[2]

वेद कुरान का दुरुपयोग करने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। जगजीवन साहब कहते हैं कि पण्डित अपनी पण्डिताई लेकर भला क्या करेगा। पोथी का बहुत पढ़ना छोड़ दे और नाम जाप में अपना चित्त लगा।[3] दरिया साहब कहते हैं कि बहुत से वेद आदि का ज्ञान रखने वाले पण्डित मिले किन्तु एक भी ऐसा नहीं मिला जो राम नाम में प्रवीन हो।[4] वेद और कुरान से हृदय की चिन्ता नहीं जाती। यदि क्षण भर को भी स्थिरता लाओ तो ईश्वर सम्मुख ही खड़ा मिलेगा।[5]

इन सन्तों का विरोध वेद या कुरान से नहीं था बल्कि उनसे था जो कि वेद

---

१. गिम्रान विहूणा गाये गीत, भूखे मुल्ला घरे मसीत।
मखटू होइ के कान पड़ाऐ, फकरु करे होरु जाति गवाए।
गुरु पीर सदाए मंगण जाइ, ताके मूलि न लगीए पाई।
घालि खाइ किछु हथहु देह, नानक राहु पछाणहि सेइ।
गुरु ग्रंथ साहिब; गुरु नानक; रागु बसन्तु; म० १।

२. कोई नावै तीरथि कोइ हज जाइ।
कोई करै पूजा कोई सिर नाई।
कोई पढ़े वेद कोई कतेब, कोई ओढ़े नील।
कोई कहे तुरकु कोई कहे हिन्दू।
कोई बाछे भिसतु कोई सुरगिदू।
कहु नानक जिनि हुकमु पछाना।
प्रभु का तिन भेदु जाना।
गुरु ग्रन्थ साहिब; गुरु अर्जुनदेव; राग रामकली; म० ५।

३. पण्डित कहा करे पण्डिताई।
तयाग बहुत पढ़ब पोथी का, नाम जपहु चित लाई। जगजीवन साहब।

४. पण्डित ज्ञानी बहु मिले वेद ग्यान परवीन।
दरिया ऐसा न मिला, राम नाम परवीन।
सन्त सुधासार; बिहार वाले दरिया साहब; दूसरा भाग, पृ० ६८।

५. वेद कतेब इक तरफा भाई।
दिल का फिकर न जाई। सन्त कबीर; राग तिलंग; पद १, पृ० १४६

श्रौर कुरान को ही सब-कुछ समझ बैठते हैं। ईश्वर केवल धर्म ग्रन्थों तक ही तो सीमित नहीं है। वेद तो आखिर नेति-नेति कहकर रह गए हैं। कबीर कहते हैं कि वेद श्रौर कुरान को झूठा मत कहो। झूठा तो वह है जो उस पर विचार नहीं करता। जब तुम सब जीवों में ईश्वर का निवास बताते हो तो मुर्गी क्यों मारते हो ? ए मुल्ला, सचमुच तुम ईश्वरीय काम का कथन करो। तुम जीव को पकड़कर तो ले आए। उसकी देह भी तुमने नष्ट कर दी इस प्रकार तुमने मिट्टी को ही बिसमिल कर दिया। उस पर तुमने शस्त्राघात किया किन्तु ज्योति तो स्थिर है। फिर बताश्रो कि तुमने किसे हलाल किया ? तुमने अपने को क्या पवित्र किया ? क्या मुख धोया श्रौर क्या मस्जिद में सिर नवाया जबकि तुम्हारे हृदय में कपट है श्रौर तुम क्या हज गए श्रौर क्या काबे गए जबकि तुम अपवित्र हो श्रौर पवित्र अल्लाह तुम्हें दिखाई नहीं देता। न तो उसका रहस्य ही तुमको ज्ञात हो सका है। कबीर ने हिन्दू श्रौर मुसलमानों के अतिरिक्त योगियों के बाह्याचारों की भी आलोचना की है। यदि नग्न फिरने से ही योगसिद्धि हो जाती तो वन के मृग को यह सिद्धि पहले मिलती; सिर मुंड़ाने से जो मोक्ष मिलता तो पहले भेड़ को मिलता।[1] दूलनदास कहते हैं कि योगी ने योग की युक्ति को तो समझा ही नहीं प्रतीत होता है। गेरू से कपड़ा तो रंग लिया किन्तु गुरु ज्ञान से मन नहीं रंगा। सत्य-नाम का तो पाठ किया नहीं श्रौर जो दो अक्षरों का ज्ञान प्राप्त हो गया है उसी के आधार पर अपने को सयाना कहता फिरता है। सच्ची प्रति के बिना क्या भगवान रीझता है ?[2] कबीर कहते हैं कि जो योगी, यति श्रौर सन्यासी तीर्थ की श्रोर दौड़ते दिखलाई पड़ते है वे भी आखिर मर ही जाते हैं। परम पद उन्हें प्राप्त तो नहीं होता।[3] सिर पर जटा धारणकर श्रौर गुफा में वास करने से क्या लाभ ? योगी ने कपड़ा तो रंगा लिया है किन्तु हरिनाम से मन नही रंगाया है। कान फड़वा लिए हैं श्रौर जटा बढ़ा ली हैं। दाढ़ी बढ़ाकर बकरे के समान रूप बना लिया है। जंगल में जाकर योगी धुनि रमाता है। अपने में से काम को मारकर योगी नपुंसक हो चुका है। सिर मुंड़ाने

१. नगन फिरत जो पाइश्रै जोगु।
बन का मिरगु मुकति सभु होगु।
मूंड मुंड़ाए जो सिधि पाई।
मुक्ती भड न गईश्रा काई। सन्त कबीर; कबीर; राग गउड़ी; पृ० २०९।

२. जोगी जोग जुगत नहीं जाना।
गेरू छोरि रंगे कपरा जोगी, मन न रंगे गुरु ज्ञाना।
पढ़हु न सत्तनाम दोऊ अच्छर सीखहु सो सकल सयाना।
साँची प्रीति बिनु उपजे कहुँ रीझत भगवाना। सन्त सुधासार; दू० भा०; पृ० ८३।

३. जोगी जती तपी संनिआसी बहु तीरथ भ्रमाना।
लुंजित मुंजित मोनी जटाधर अंति तऊ मरना। सन्त कबीर; पृ० ९५।

या कपड़ा रँगाने से भला क्या होता है ?[1] सन्तों ने योग मार्ग में बाह्याचार का इसलिए विरोध किया था क्यों कि भक्ति नाम की उसमें कोई चीज नहीं थी। योग की शुष्कता से भला भक्ति की सरसता का क्या मेल ?

माला और तिलक की निस्सारता पर भी उन्होंने विचार व्यक्त किए है। हाथ में माला लेकर माथे पर तिलक लगाकर इन लोगों ने राम को खिलौना समझ लिया है।[2]

दादू दयाल को माला और तिलक से कोई वास्ता नहीं। उनके अन्दर तो एक परम तत्त्व निवास करता है।[3] नानक के साधक ने भी इस बात को देखकर कहा "ऐ योगी, माला या तिलक या कण्ठी धारण करना वैराग्य का लक्षण नहीं है।" रैदास कहते हैं—

तिलक दिए पर तपनि न जाई।
माला पहिरे घनेरी लाई।

इसलिए दादू इस ढोंग में ही नहीं पड़ना चाहते। वे कहते हैं कि "सतगुरु ने मन में ही ये माला का निर्माण कर दिया है। मन-ही-मन मैं तो हरिनाम जाप करता हूँ। न जीभ की आवश्यकता है और न ही माला की।[4] उस समय कई पाखण्डियों और साधुओं की टोलियाँ बनावटी वेश धारण कर भिक्षाटन करती फिरती थीं।

हिन्दी और पंजाबी सन्तों में अक्खड़ता सबसे अधिक कबीर में थी। कहीं-कहीं तो कबीर एक "बाजारू निंदक" से भी प्रतीत होने लगते हैं। उनका साधक पाखण्डियों के प्रति दया नामक कोई वस्तु जानता ही न था। शास्त्रों में काशी मृत्यु का माहात्म्य कहा गया है। हिन्दू अन्त समय बनारस में जाकर रहते हैं ताकि उनकी मृत्यु बनारस में हो और उन्हें मुक्ति मिल जाए। मगहर में मरना नरक में जाना है। ऐसा कई लोगों का विश्वास है। कबीर तो घर फूंक तमाशा देखते थे। मरना है तो मगहर ही में। यह सोचकर उनका साधक अन्तिम समय काशी से कूँच कर गया।

---

१. मन न रंगाए जोगि कपड़ा, कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ोले।
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गइले बकरा, जंगल में जाय जोगी धुनिया रमोले।
काम जराप जोगी बनि गइले हिजरा, मथवा मुड़ाए कपड़ा रंगोले।
सन्त कबीर

२. सन्त माथे तिलकु, हथि माला बातोगन रामु खिलउना जाना।
सन्त कबीर; पृ० २११।

३. जपा जनेऊ कण्ठी पर छापा तिलक लगाय।
लक्षण ना वैराग के जोली मारग सुहाय।

४. सतगुरु माला मन दिया पवन सुरत सूं पोइ।
बिन हाथों निश दिन जपे परम जाप यूं होय।
दादूदयाल की बानी; भाग १, पृ० १५७-५९।

यदि हमारी भक्ति और कर्म अच्छे होंगे तो मगहर में ही मुक्ति मिलेगी। यदि काशी में मरने से ही राम प्राप्ति होती है तो राम से शुभ कर्म आदि प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है ? उन्हें ऐसा लगा कि मगहर जाने से डरना राम पर से विश्वास खोना है। इसे उन्होंने अपनी कमजोरी समझी। वे कहते हैं कि—

मगहर मरे मरन नहिं पावे, अन्त मरं तो राम लजावै।
मगहर मरं तो गदह होई भल प्रतीत राम सों खोई।
क्या काशी क्या ऊसर मगहर राम हृदय बस मोरा।
क्या काशी तन तजं कबीरा रामं कौन निहोरा।

कर्मकाण्ड का बखेड़ा उस युग में हिन्दू और मुसलमानों दोनों ही को खोखला करे डाल रहा था। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में विश्रृंखलता फैला रहा था। कबीर ने पण्डित को भी समझाया और मुल्ले को भी। कभी-कभी उनकी वाणियों को पढ़कर यह सन्देह होने लगता है कि उनका हिन्दू और मुसलमानों से क्या विरोध है ? यदि नहीं तो भला किसी से आसक्ति भी है ? सन्त विरक्त और निर्लिप्त अवश्य थे किन्तु इस पाखण्डपूर्ण वातावरण से उनकी ज्ञानात्मक चेतना अपने को अलग नहीं रख सकती थी। समाज में ही वैरागी का स्वरूप धारण कर एक प्रकार से वे सुधार का कार्य भी करने लगे। जिस पांड़े को उन्होंने सम्बोधित किया है वह न तो समस्त हिन्दुओं का ही प्रतीक है और न ही ब्राह्मण का। न ही काजी और मुल्ला, मुसलमानों के प्रतिनिधि वास्तविक थे। ये तो एक ऐसा वर्ग था जिसके पास नैतिक शक्ति का बल नहीं था। पांड़े केवल माला तिलक धारण कर पोथी-पत्रा पकड़े धर्म के नाम पर अनैतिक कार्य पाखण्ड ही जानता है। शेख केवल हलाल करना, भोले और सीधे-साधे अनुयायियों को अल्लाह का नाम लेकर हिंसा, बुतपरस्ती और हज की शिक्षा देना और केवल बांग देना ही जानता है। उनमें एक आत्म-विश्वास था। उन्होंने पाखण्डियों को बेरोक-टोक कहा "कागद लेखी" के अपेक्षा वे "आँखों देखी" बात कहते थे। उन्होंने केवल निन्दा और आलोचना ही प्रस्तुत नहीं की। बल्कि उसके उचित सुझाव भी दिए हैं। सिर्फ इतना ही नहीं कहा कि "क्यों करते हो ?" या ऐसा मत करो। बल्कि ऐसा भी कहा है कि "ऐसे करो" गलत मार्ग यदि बताया तो ठीक मार्ग का भी पता उन्होंने सुझाया।

नानक कहते हैं कि ब्राह्मण के लिए सन्तोष, गृहस्थ के लिए अपनी कमाई में से दान और राजा के लिए न्याय ही उचित है।[1] तीर्थ की निस्सारता तो बताई किन्तु यह भी कहा कि यदि तीर्थ के पीछे छिपी भावना पवित्र है तो "इसी घट में तीर्थ क्यों

---

१. ब्राह्मण चुली सन्तोस की, गिरही का सतुपान।
राजे चुली निआव की, की पड़िया सबु धिआनु।
गुरु ग्रन्थ साहिब; गुरु नानक, रागु बसन्त; म० १।

नहीं नहाते। अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता है ? इधर-उधर घूमकर भ्रम में ही जीवन बिता देने से आखिर क्या लाभ ? सुकार्यों के रूप में गोमती के पुण्य को जानो और अपने में से अधरम रूपी मैल छुड़ा लो। शील रूपी सरोवर में स्नान करो और काम की अग्नि को मिटा दो। क्षमा कर नर्मदा स्नान का पुण्य लो उसी में गोता लो।[1]

कबीर कहते हैं कि "ऐ, बन्दे तू उस ब्रह्म को अपने ही हृदय में प्रतिदिन खोज, व्यर्थ की व्याकुलता में मत फिर। यह संसार तो एक मेले की तरह है जिसमें विपत्ति के समय हाथ पकड़ने वाला कोई नहीं। तू झूठ-मूठ पढ़-पढ़कर ही प्रसन्न होता है। निश्चित होकर ईश्वर के अतिरिक्त अन्य बातों पर वाद-विवाद करता फिरता है। सच्चा तो ईश्वर ही है। वह सृष्टि में ही है। वह श्याम रूप नहीं है। उसी का सदैव चिन्तन करो। अपनी अन्तर्दृष्टि से तो देखोगे तो प्रतीत होगा कि वह सर्वत्र ही वर्तमान है। जब वह एक से भिन्न हो तभी उस पर सन्देह किया जा सकता है। अल्लाह पूर्ण पवित्र है। जिस पर ईश्वर कृपा करे वही मनुष्य उसे जान सकता।"[2]

किन्तु इतनी फटकार बताने के बाद इन सन्तों ने अपनी साधना पर गर्व नहीं किया। अपने को निरीह ही माना है। गुरु रामदास कहते हैं कि पण्डित तो शास्त्र पढ़ते हैं। योगी गोरख-गोरख करते फिरते हैं। मुझ मूरख का आधार हरि नाम ही है। हे राम मुझे नहीं मालूम कि मेरी गति क्या है ?[3]

---

१. घट में तीरथ क्यों न नहावो।
इत उत डोलो पथिक बने ही भरमि-भरमि जन्म गवांवो।
गोमती कर्म सुकारथ कीजे, अधरम मैल छुटावो।
सील सरोवर हित करि न्हैये काम अगिनि की तपन बुझावो।
रेवा सोई छिमा को जानो तामें गोते लीजे।
सन्त सुधासार; चरनदास; द्वि० भा०।

२. बन्दे खोजु दिल हर रोज ना फिरु परेसानी माहि।
इहु जु दुनिया सिहरु मेला दसतगीरि नाहि।
दरोग पढ़ि-पढ़ि खुसी होइ बेखबर बादु बकाहि।
हकु सचु खलकु खलक मिश्राने सिश्राम मूरति नाहि।
असमान मियाने लहंग दरिश्रा गुसल करदन बूद।
करि फकरु दाइम लाइ चसमे जहा तहा मऊजूद।
अलाह पाक पाक है सक करऊ जे दूसर होइ।
कबीर करम करीम का उहु करै जाने सोइ। सन्त कबीर; पृ० १४७।

३. पण्डित सासतर सिमृत पढ़िश्रा।
जोगी गोरखु-गोरखु करिश्रा मैं मूरख हरि जपु-जपु पड़िश्रा।

सन्तों ने कहा कि—

सब हम देख्या सोधि करि दूजा नाहीं आन।
सब घर एकै आतमा क्या हिन्दू क्या मुसलमान।
दोनों भाई हाथ पग दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं हिन्दू मुसलमान।

बाह्याचार के खण्डन से सन्तों का तात्पर्य किसी नवीन धर्म की स्थापना से नहीं था। उनका यह उद्देश्य नहीं था कि हिन्दू और मुसलमानों को गाली देकर अपना कोई धर्म स्थापित कर उसकी तारीफ की जाए। बाह्याचार से उनका उद्देश्य असत्य का ही निवारण था। इन्हीं के आधार पर पश्चिमी विद्वानों ने इन सन्तों को समाज सुधारक की संज्ञा प्रदान की है। इतना ही नहीं उन्होंने सन्तों को केवल समाज सुधारकों के रूप में ही स्वीकार किया है। किन्तु यह भ्रामक और गलत दृष्टिकोण है। सन्तों को केवल समाज सुधारक कहकर उनके महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता।

स्त्री सम्बन्धी विचार—निवृत्ति मार्गियों ने हर देश में हर समय स्त्री और धन की निन्दा ही की है। स्त्री जाति का उनसे कोई भला नहीं हो सका है। परन्तु सिख गुरुओं ने कहीं भी नारी निन्दा नहीं की है। उलटे कहा है कि "जिसने राजाओं को जन्म दिया है भला उसे मूर्ख क्यों कहा जाए ?"[1] उन्होने स्त्री और पुरुषों को बराबर अधिकार प्रदान किए थे। इतना ही नहीं वे स्त्रियों में पर्दे के भी खिलाफ थे। कहा जाता है कि जब गुरु हरगोविन्द से नूरजहाँ पर्दे में मिलने आई उस समय गुरु हरगोविंद ने मिलने से अस्वीकार कर दिया। नूरजहाँ को बिना पर्दे के ही भेंट लेनी पड़ी। सिख गुरुओं ने स्त्री जाति के महत्त्व और ऋण को बराबर स्वीकार किया है। गुरु संगत में स्त्री को बराबर के अधिकार ही प्रदान किये गए थे। मारवाड़वाले दरिया साहब भी कहते हैं कि "नारी तो जगत की जननी है, पाल-पोसकर बड़ा करती है। मूर्ख राम को भूलकर भला उसे गाली क्यों देता है।"[2] शिवनारायणी सम्प्रदाय में भी स्त्रियों को पुरुषों के बराबर तक माना गया है और स्त्रियाँ मठाधीश तक बन सकती हैं।

कबीर आदि सन्तों ने तो स्त्री की भरसक निन्दा ही की है। योगियों ने भी स्त्री निन्दा की ही है क्योंकि स्त्री और योग की कल्पना ही व्यर्थ है। योग की कठोरता और शुष्कता में नारी के लिए कोई स्थान नहीं है। वहाँ नारी पतन का कारण मानी

न जाना किया गति राम हमारी।

गुरु ग्रन्थ साहिब; गुरु रामदास, म० ४; रागु गउड़।

१. सो क्यों मन्दा आखिए जिन जन्मे राजान।

२. नारी जननी जगत की पाल पोस दे पोष।
मूरख राम बिसार कर ताहि लगावें दोष।

दरिया साहब की बानी; वे० वे० प्रे०; पृ० ४३।

जाती है। मच्छन्दर नाथ का पतन ही इस कारण हुआ था और बाद को प्रचलित हुआ कि "जाग मच्छन्दर गोरख आया।" हिन्दी सन्तों ने भी नारी को सिद्धि के मार्ग में व्यवधान माना है। कामनि के रूप में उसे बुरा भला कहा है। कबीर कहते हैं कि जिस नर के पास नारी होती है वह भक्ति, मुक्ति और ध्यान से वंचित हो जाता है।

नारी नसाये तीन गुन जा नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठ सके नहीं कोय।

ऐसी बात नहीं कि कबीर का नारी से पाला नहीं पड़ा। नारी प्रेम तो उन्होंने भी किया किन्तु उसे विकार रूप पाकर उसका त्याग कर दिया—

नारी तो हम भी करी जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरि नारी बड़ा विकार।

दरियादास भी कामिनि और कनक के जाल से बचने का उपदेश देते हैं—

कनक कामिनि के फन्द में ललचो मन लपटाय।
कलपि कलपि जीव जाइ है विरथा जनम गंवाय।

दादू ने भी कहा—

काल कनक अरु कामनि परिहरि इनका संग।
दादू सब जग जलि मुवा ज्यों दीपक ज्योति पतंग।

इन सन्तों ने राम और नारी को परस्पर विरोधी ही बताया है। सुन्दरदास कहते हैं कि राम प्यारा है तो नारी से नेह मत करो।[1] स्त्री को माया का पर्याय भी माना गया जो कि एक सघन वन के समान है जो वहां पर जाता है तो मार्ग ही भूल जाता है। सुन्दरदास तो कहते हैं कि नारी के सारे शरीर में नरक ही होता है। उसके उदर में, अधरों में, कुचों में नरक ही होता है। सारी छाती नरक पूर्ण होती है। मुख, जीभ, लार सब में ही नरक होता है। नाक, आंख, कान आदि में नरक ही बहता है। हाथ, पांव, नख-शिख आदि में नरक ही तो दिखाई पड़ता है। सुन्दर कहते हैं कि नारी नरक का कुण्ड ही है जो नरक में जा पड़ता है सो नरक का ही अधिकारी होता है।[2]

---

१. नारी नेह न कीजिए जो तुम राम पियारा। सन्त सुधासार; पृ० ४४२।

२. कामिनी को माने कहिए सघन वन,।
जहँ कोऊ जाइ सु तो भूलि परतु है। वही।
उदर में नरक, नरक अधरनि में।
कुचन में नरक, नरक भरी छाती है।
कंठ में नरक गाल चिबुक नरक बत।
मुख में नरक जीभ लार हू चुचाती है।
नाक में नरक कान में नरक बहै।
हाथ पांव नख-शिख नरक को दिखाती है।

फिर भी इन सन्तों ने स्त्रियों को शिष्या रूप में स्वीकार कर उनके लिए भक्ति का द्वार खोला था। उच्च परिवारों की स्त्रियाँ दादू की शिष्या थीं। चरनदास की सहजोबाई और दयाबाई शिष्या थीं। कबीर की पत्नी ही उनकी शिष्या रूप में कही जाती है। सन्तों ने जहाँ कहीं भी विरहणी के रूप में अपनी व्यथा प्रकट की है वहाँ अत्यन्त सुन्दर काव्यात्मक प्रसंगों की सर्जना हुई है। अधिकतर सन्त-साहित्य से काव्यमय प्रसंग कम ही निकलते हैं किन्तु जहाँ भी विरहणी के रूप में प्रभु मिलन की व्यथा का उन्होंने चित्रण किया है वह अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ा है। वियोगी संसार का पूर्ण परिपाक सन्त-साहित्य में ऐसे ही स्थानों पर मिलता है। वैसे भी हमेशा उन्होंने अपने को ईश्वर के सम्मुख स्त्री रूप ही माना है सिख गुरुग्रों में तो यह भावना सामान्य रूप से पाई जाती है। सिख गुरुग्रों की वाणियाँ विभिन्न महला में आती हैं। महला का अर्थ है 'स्त्री'।

जिस प्रकार पुरुष के लिए स्त्री बन्धन रूप है उसी प्रकार पुरुष भी भक्ति के क्षेत्र में स्त्री के लिए बन्धन स्वरूप है। दादू कहते हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों ही एक दूसरे को नीचे ढकेलते हैं। इसलिए दोनों ही को एक दूसरे से अलग रहना चाहिए।

"नारी पुरुष को ले डूबी और पुरुष नारी के साथ डूबा। दादू कहते हैं कि दोनों ने एक-दूसरे को डुबा दिया परन्तु हाथ कुछ नहीं आया। नारी पुरुष को और पुरुष नारी को डुबाता है।"[1] पतिव्रता के रूप में भी कबीर ने स्त्री की काफी सराहना की है। "यदि पतिव्रता न्यून भी रहे तो उसके ही पति को ही लाज लगती है। पतिव्रता चाहे मैली-कुचैली काली ही क्यों न हो, मैं तो पतिव्रता के रूप पे कोटि सरूप वारता हूँ। पतिव्रता पति को ही भजती है उसे और कोई नहीं सुहाता। पतिव्रता मैली ही भली है चाहे उसके गले में काँच की माला क्यों न हो किन्तु सब सखियों में ऐसी प्रतीत होती है जैसी रवि-शशि की ज्योति होती है।"[2]

सुन्दर कहत नारी नरक को कुण्ड यह।
नरक में जाई परे सो नरक पाती है।

सन्त सुधासार; दूसरा भाग; पृ० ४३८।

१. नारी पुरुष को ले मुई पुरिषा नारी साथ।
दादू दून्यूं पचि मुए कछु न आया हाथ।
नारी खावै पुरुष कूं पुरिष नारी कूं खाइ। दादू

२. पतिव्रता नाँगी रहे उस ही पुरस को लाज।
पतिवरता मैली भली काली कुजिल कुरूप।
पतिवरता के रूप पर वारो कोटि सरूप।
पतिवरता पति को भजे और न आन सुहाय।
सिंह बचा जो लंघना तो भी घास न खाय।

इन उपरोक्त समानताओं और कतिपय अपवाद स्वरूप विभिन्नताओं के अतिरिक्त भी हिन्दी और पंजाबी भाषी सन्तों की परिस्थितियों में विभिन्नता थी। सिख गुरुओं में एक के बाद एक जैसे एक सुयोग्य परम्परा स्थापित हुई वैसी परम्परा के दर्शन हिन्दी सन्तों में नहीं होते। कबीर, दादू आदि के बाद उनकी गद्दियाँ सुचारू रूप से चल नहीं सकीं। सिख गुरुओं को हिन्दी सन्तों की अपेक्षा अधिक अमानुषिक अत्याचारों का सामना करना पड़ा था। इसका ही कारण था कि उनके अनुयायियों को आत्मरक्षा के लिए तलवार भी उठानी पड़ी। तलवार पर हाथ रख उन्होंने भारतीय इतिहास की घटनाओं को नवीन मोड़ दे दिया और जो भाग विदेशी शासन और संस्कृति का गढ़ बन चुका था वहाँ पुनः भारतीय संस्कारों का पुनरुत्थान किया। सिख गुरुओं ने कालान्तर गुरु ग्रन्थ साहिब के रूप में संसार साहित्य को एक अनमोल ग्रन्थ भेंट किया। ऐसा संग्रह हिन्दी भाषी सन्तों में नहीं प्राप्त होता केवल उनकी अमूल्य फुटकल रचनाएँ ही मिलती हैं।

इन सन्तों की विचारधाराओं और प्रणालियों में थोड़ा-बहुत अन्तर था। परम तत्त्व को नानक ने एक ही माना है और कबीर ने उसे निरय की संज्ञा प्रदान की है। कबीर की साधना विचार-प्रधान थी। नानक की साधना निष्ठा-प्रधान थी। इनमें से किसी की भी मनोवृति एकांगी नहीं थी। ये सन्त या तो अशिक्षित या अर्धशिक्षित थे। शास्त्रीय प्रमाणों की अपेक्षा उन्होंने अपने अनुभवों का ही आश्रय लिया। वे एक ही परिणाम पर पहुँचे कि ब्रह्म एक ही है, सर्वव्यापी है, उसकी साधना के लिए बाह्याचारों की आवश्यकता नहीं है।

सिख शब्द और उसके गुण—सिख गुरुओं ने अपने द्वारा निर्धारित गुणों को धारण करने वाले व्यक्ति को सिख की संज्ञा प्रदान की है। जिस शब्द की उत्पत्ति शिष्य शब्द से हुई है। स्पष्ट हो जाता है कि सिख का कार्य हरदम सीखते ही रहना है। उसका उद्देश्य कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण करते ही रहना है। जिस दिन वह कहता है कि उसने सब सीख लिया वह सिख नहीं रह जाता। ज्ञानी या विद्वान का तो यह मूलभूत गुण ही है कि वह अपने अज्ञान को सदैव पहिचानता रहे। वह अपने अज्ञान को पहिचानता हुआ विद्यार्थी ही रहता है। जहाँ तक ज्ञान और विद्वत्ता का प्रश्न है उसमें पूर्णता नहीं प्राप्त की जा सकती। ज्ञान क्षेत्र गम्भीर और गहरा है। उसमें जितना गहरे उतरो उतनी ही गहराई और भी बढ़ती जाती है। जैसे-जैसे वह अपनी पूर्णता की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे उसे अपनी पूर्णता का पता लगता है। ज्ञान की खोज में वह अपने अज्ञान को ही पहिचानता है। यही शोधक, ज्ञानी या विद्वान सिख गुरुओं का

पतिवरता मैली भली गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों छिपे जो रवि शशि की जोति।
सन्त सुधासार; प्र० भा०; पृ० १२३।"

सिख है। सिख केवल बाहरी साम्प्रदायिक आचरण धारण करने वाला ही नहीं होता। वह देश, काल, जाति और वर्ण की सीमाओं से ऊपर है, परे है।

संसार के महान विचारकों ने जिस व्यक्ति में, अपने द्वारा निर्धारित आदर्शों का आरोपण किया है उसे एक विशेष संज्ञा प्रदान की है। साथ ही उसे एक विशेषण से अभिहित भी किया है। उसे हम एक "आदर्श व्यक्ति" कह सकते हैं। कन्फ्यूशस ने इसे एक "श्रेष्ठ पुरुष" की संज्ञा प्रदान की। अंग्रेजी में उसे (Supeiror) कहा गया है। कहीं उसे कन्फ्यूशस ने "विज्ञ पुरुष" (wise man) भी कहा है। अरस्तु ने अपने आदर्श पुरुष को उच्च आत्मिक पुरुष (High souled man) कहा है। स्टोइक ने उसे बुद्धिमान कहा है। मराठी सन्त ज्ञानदेव ने उसे उत्तम पुरुष की संज्ञा दी हैं। नीत्शे का महामानव (Super man) इन सबसे ऊपर है। नीत्शे के आदर्श पुरुष में दैवी गुण भी हैं। अपने आदर्श पुरुष को वह महामानव (Super man) कहता है जिसका अर्थ है असाधारण मानव। नीत्शे का महामानव साधारण मनुष्य से तो बिल्कुल ही भिन्न है। महामानव में तो आसुरी वृत्ति भी है। कन्फ्यूशस अपने श्रेष्ठ पुरुष को साधारण मनुष्य के नैतिक गुणों से ही उनका आधार लेकर ही अलग रहता है। अरस्तु का यह आत्मिक पुरुष समस्त गुणों का आगार है। उसका ब्रह्म जागता है। अपनी प्रतिष्ठा के प्रति भी वह सदैव जागरूक है। ज्ञानदेव के उत्तम पुरुष का गुण उसकी नम्रता है। उनके उत्तम पुरुष में अहं नहीं है। "जैसे सूर्योदय होने से अधंकार चला जाता है वैसे ही आत्म ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने से अविद्या रूपी रात्रि और अहंकार रूपी अन्धकार उसमें समा जाते हैं।"[1] ज्ञान पाकर भी उनका उत्तम पुरुष नम्रता से झुका ही रहता है। जैसे फल प्राप्त करने के पश्चात् डाली झुक जाती है।[2] ज्ञानी नम्र होता है। स्टोइक का बुद्धिमान पुरुष उदारमत-वादी है। वह अपने आपको विश्व का नागरिक समझता है।

वह विश्वबन्धुत्व की भावना से पूर्ण है। उसका मूलाधार व्यक्ति-स्वातंत्र्य, विश्वबन्धुत्व, ममता और मानवता है। वह शरीर भोग को प्रधानता नहीं देता। सिख को आदेश है कि वह मन, वचन और कर्म पर उचित बन्धन रखे। इन्द्रियों को वश में रखकर ही उनसे उत्तम कार्य किए जा सकते हैं। उन्होंने कहा कि आंखें पर पुरुष की भार्या को देखने पर उचित कार्य करना बन्द कर देती हैं। बुरे विचारों का श्रवण करते ही कान अपना वास्तविक कार्य भूल जाते हैं। स्वादिष्ट रस की प्राप्ति होते ही जीभ अपना कार्य बन्द कर देती है। विरले ही ऐसे होते हैं जो कि अपने को वश में रखकर ईश्वर प्रदत्त सम्पत्ति की सुरक्षा करते हैं। गुरु गोविन्दसिंह कहते हैं कि मन्दिर और

---

१. सूर्योदयासरिसी रात्रि पलोनि जाय आपेसी गेली देह महंता तैसो अविद्यसवें। ज्ञानेश्वरी १५-२९७।

२. का फलसिया तरूची शाला सहजे भूमिलीं उतरे देखा। तैसो जीवयाय अशेखं लालावती ते ज्ञानी। वही।

मस्जिद का उद्देश्य एक ही है। ईश्वर के समक्ष हिन्दू का और खुदा के समक्ष मुसलमान का सिर झुकाना एक ही बात है। यद्यपि ये सब विभिन्न दिखाई पड़ते हैं किन्तु सब मनुष्य एक ही हैं। देव, अदेव, तुर्क, हिन्दू आखिर एक ही तो हैं। सिर्फ उन पर अपने अपने देशों का अलग-अलग प्रभाव है। अतएव कृत्रिम बन्धनों के आधार पर किसी में भेद करना सिख का कार्य नहीं है। नानक ने तो सिख को सेवा के लिए सदैव ही तत्पर रहने को कहा है। सेवा करते समय रंग, जाति, धर्म, ऊँच-नीच आदि का भाव उसे अपने मन में नहीं रखना है। सिख के व्यक्तित्व के शिलाधार सेवा और बुद्धि हैं। स्टोईक का आदर्श पुरुष भी बुद्धिमान है। इन महात्माओं और विचारकों द्वारा निर्धारित महापुरुषों को नीत्शे के महामानव के समक्ष नहीं रखा जा सकता। नीत्शे के महामानव में दया सेवा और नम्रता का अभाव है। इसे वह मनुष्य की कमजोरी ही समझता है। इसी के आधार पर ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म की कटु और एकांगी आलोचना की है। उस महामानव का ध्येय है "हर एक मनुष्य को किसी अन्य से नहीं बल्कि अपने आप से ही प्रतिद्वंदिता लेते रहना है।" एक मनुष्य का प्रतिद्वन्द्वी स्वयं उसी मनुष्य का ही व्यक्तित्व है। उसके अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य प्रगति है। केवल प्रगति, प्रगति के अतिरिक्त कुछ नहीं। नीत्शे ने डार्विन के विकासवाद और बिस्मार्क की भौतिकता को लेकर अपने सिद्धान्तों की इमारत की नींव का पत्थर खड़ा करना चाहा। इसी कारण अमेरिकन लेखक विल ड्यूरंट ने नीत्शे को "डार्विन का पुत्र और बिस्मार्क का भाई" कहा है। नीत्शे का महामानव तानाशाह भी है। प्रगति करना बुरा नहीं है किन्तु नीत्शे का महामानव केवल प्रगति के लिए ही प्रगति करता है। प्रगति का उद्देश्य जीवन होता है। हमारे जीवन का उद्देश्य सुखी आनन्दमय जीवन होता है। जैसे कि एक कंजूस पैसे जोड़ने के लिए ही पैसे जोड़ता है वैसे ही नीत्शे का महामानव भी केवल प्रगति के लिए ही प्रगति करता है। जैसे कंजूस को पैसे के लिए एक प्रकार झूठा मोह होता है वैसे ही नीत्शे को प्रगति का झूठा मोह है, पागलपन है। यह पागलपन व्यावहारिकता से शून्य है। नीत्शे का महामानव सत्ताधारी होकर भी दीन-हीन को दबोचकर रखता है क्योंकि दया को तो वह मानव समाज की एक कमजोरी समझता है। जबकि सन्त दया, सेवा और नम्रता के अवतार रहे हैं। नीत्शे का महामानव जहाँ एक ओर अपने ही से आगे बढ़ने के लिए पैदा हुआ है तो दूसरी ओर कन्फ्यूशस का आदर्श पुरुष अपने से ऊपर उठकर सदैव ही आगे बढ़ने का प्रयास करता है। हर मनुष्य में यह इच्छा होती है कि वह प्रगति करे। साधारण मनुष्य किसी बात का मानदण्ड उससे प्राप्त लाभ ही से लगाता है किन्तु कन्फ्यूशस का आदर्श पुरुष किसी बात का मानदण्ड उस बात के औचित्य के दृष्टिकोण से लगाता है। यह अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ मानवीय गुणों के अतिरिक्त सत्य की ओर भी ध्यान देता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सिख एक विशेष प्रकार के नैतिक गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति है।

सिख, हिन्दू या मुसलमान—भारत के अन्य विभागों के लिए यह एक आश्चर्य का विषय रहा है कि सिख, हिन्दू है या मुसलमान या दोनों धर्मों से पृथक् है अथवा दोनों के बीच में। मध्य युग में भारत के पश्चिमोत्तर भाग को तुर्कों और अफगानों ने रौंद रखा था। अपने ही मूल प्रदेश से भारतीय सभ्यता लुप्त हो रही थी। अन्तर्वेद और पंचनद की सभ्यता मिटती जा रही थी। किसी भी विचारधारा या धर्म का संसार से बिलकुल उन्मूलन नहीं किया जा सकता। काबुल से दिल्ली तक के प्रदेश में बिलकुल विदेशी सभ्यता छा गई थी। किन्तु फिर भी प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के वहाँ से बीज नहीं मिटे थे। उन्हीं नष्टप्राय तन्तुओं को नानक की वाणी से प्रेरणा मिली और गुरु गोविन्दसिंह तक आती-आती विदेशियों द्वारा दबाये जाने के कारण वह एक ज्वालामुखी बनकर विस्फोट कर उठी। एक सफल लोकनायक के रूप में गुरु गोविन्दसिंह ने इन्हीं गिरे हुए लोगों का नेतृत्व किया। उन्हें जमीन से उठाया और उनमें प्राण फूंक दिए। अपने जीवनकाल में तो ये अधिक सफल नहीं हो सके किन्तु जिसे वे अपने जीवनकाल में न देख सके उसी की पूर्णता उनकी मृत्यु के पश्चात् हुई। अपनी निस्स्वार्थ भावना और अपूर्व संगठन की वे ऐसी छाप छोड़ गए कि कालांतर उनके अनुयायियों ने विदेशियों से सफलतापूर्वक बदला लिया। यह भारतीय सभ्यता का ही पुनरुत्थान को जीवित कर इन्हीं सिखों ने सैनिकों का रूप धारण कर पीड़ित लोगों को बचाया। उन्होंने स्पष्ट समझ लिया कि इस अत्याचार का प्रत्युत्तर लोहे और खून से ही देना होगा। लड़ाई वे नहीं चाहते थे, वह तो उन पर लादी गई थी। समय की एक माँग थी।

हिन्दू उस समय अन्धविश्वासों में ही फँसे थे। जिन हिन्दुओं ने अपने को समय का मुकाबिला करने के लिए समयानुकूल बनाया उन्हें सिख कहा गया। सिख सुधारवादी थे। गुरु रामदास तक तो सिख गुरु सादा और अहिंसक जीवन व्यतीत करते थे। पाँचवें गुरु अर्जुनदेव भी इसके अपवाद नहीं थे किन्तु जब उनको निर्दयतापूर्वक मारा गया तो जहाँगीर के न्याय का पर्दाफाश हो गया। वह जहाँगीर के न्याय को और हतवीर्य जाति के पुरुषार्थ को एक खुली चुनौती थी। उन्होंने सिख की संज्ञा प्राप्त की और तलवार की मूंठ पर हाथ रखा। ये हिन्दू ही थे। उनका सुधरा हुआ रूप था जैसे प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक क्रिश्चियन होकर भी नवीन और पुरातन धाराओं को मानते हैं। वैसे ही हिन्दू और सिख है। हिन्दू और सिख एक ही तस्वीर के दो पहलू है। हिन्दू पुरातन विचारधारा को मानते हैं, सिख सुधारवादी हैं। वे सुधरे हुए हिन्दू ही हैं। उनके मुसलमान होने का सवाल ही नहीं उठता। न तो उन्होंने हिन्दुओं से पृथक् कोई धर्म ही स्थापित किया और न ही दोनों के बीच किसी कड़ी का कार्य ही किया। सिखों में भी अधिकतर हिन्दू ही हैं मुसलमान तो नाममात्र को ही परिवर्तित हुए मिलेंगे। इस कारण सिख और हिन्दू दोनों एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं।

हिन्दू धर्म की यह विशेषता रही है कि जब-जब उस पर आपत्ति आई है तो समय-समय पर उसमें अनेक सम्प्रदाय या व्यक्ति उसकी रक्षा के लिए उठ खड़े हुए हैं।

सिख धर्म ऐसी ही एक हिन्दू-धर्म की नवोदित शाखा थी जिसने हिन्दुओं को विदेशियों के अत्याचारों से बचाने के लिए जन्म ग्रहण किया। सिखों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हिन्दुओं से अभिन्न है। यदि आज कुछ साम्प्रदायिक नेता दोनों धर्मों में 'समाज' और 'दल' बनाकर उठ खड़े हुए हैं और दोनों धर्मों को एक दूसरे से पृथक् बताते हैं, तो यह दोनों धर्मों का दुर्भाग्य ही है। ऐसा कर वास्तविकता को दबाया नहीं जा सकता। तथ्य तो तथ्य ही रहेंगे। आज जबकि धर्म और राष्ट्रों की सीमाएँ टूट रही हैं, मनुष्य बन रहा है उस समय दोनों धर्मों के कुछेक साम्प्रदायिक नेता यदि अपना समय रचनात्मक कार्यों में लगाएँ तो दोनों धर्मों का अधिक भला होगा।

सन्तों का रहस्यवाद

सन्त-साहित्य में रहस्यवादी भावना को महनीय स्थान प्राप्त है। प्रायः संसार दुःखों की प्रबलता से घबराकर मनुष्य किसी ऐसी चिर-शान्ति की खोज को उत्सुक होता है, जो असार सुखों तथा पीड़क-दुःखों की सीमा से बाहर हो, मुमुक्षुओं का ऐसा प्रलोक-सम्बल बन सके, कि जिसे पाकर उनकी आत्मा को तोष मिल सके, आनन्द-विह्वलता प्राप्त हो और उनकी हर्ष-शोक की रेखाएँ विलीन हो जाएँ। ऐसा 'अनूप-तत्त्व' मात्र भावनालोक की वस्तु होने के नाते अनुभूति का विषय तो बन सकता है, परन्तु चर्चा के बन्धनों में उसे बाँधना निश्चय ही सन्तों के वश की बात भी न थी। अतः उन्होंने 'हरख-सोक ते अतीता' रहकर उस 'परम-सत्य' की अनुभूति प्राप्त की, परन्तु उसकी व्याख्या शब्दाकार वे भी जन-साधारण तक नहीं पहुँचा सके। कबीर ने 'गूंगे केरी सरकरा, खावे और मुसकाए' कहकर उसके सम्बन्ध में चुप्पी साध ली। परन्तु 'अन्तर्ज्योति' जो मध्य-कालीन सन्तों को प्राप्त हुई थी वह पूर्णतः ढकी भी न रह सकी, और एक रहस्य बन-कर उनकी वाणी के मार्ग से प्रस्फुटित होती रही। उपदेश, काव्य, प्रवचन अथवा कथा-कीर्तन के माध्यम से जब भी उस सत्य का प्रकटीकरण हुआ, वह भाव लोक की वस्तु ही बना रहा। तथ्य के अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया जाता, उसकी प्रशंसा में आकाश-पाताल के कुलाबे मिला दिए जाते, मानव द्वारा उसकी खोज और प्राप्ति की लम्बी-लम्बी योजनाएँ भी प्रस्तुत की जातीं, बड़े-बड़े सांसारिक रूपकों द्वारा आध्यात्मिक-जगत की चर्चा करते हुए जीव-मुक्ति की कथाएं भी कही जातीं; परन्तु वे अनेकानेक संकेत एक प्रश्नवाचक चिह्न बनकर रह जाते, अप्रत्यक्ष होने के नाते जन-साधारण ने उन्हें 'रहस्य' कहा और उक्त संकेतों से सम्बन्धित रचनाएँ रहस्यवादी कहलाईं। इन रच-नाओं की आधार-शिलाएँ होतीं—देश-काल की परिवर्तनशीलता से परे किसी 'अकाल' तत्त्व की खोज, उसके प्रति प्रेमार्पण, आध्यात्मिक-जागृति, सांकेतिक-चित्रण, आत्मा-परमात्मा की तात्त्विक-एकता तथा उसका विग्रहीकरण, विग्रहकर्ता के रूप में माया और अहम्-भाव, माया-बन्धनों का अन्त एवं जीव-ब्रह्म का पुनर्मिलन आदि।

आधुनिक-विचारकों ने मध्यकालीन पंजाबी व हिन्दी सन्तों की रचनाओं के

आधार पर अनेक प्रकार से 'रहस्यवाद' को परिभाषाओं की कड़ियों में सीमित करने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार 'चिन्तन-क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना-क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।' डॉ० रामकुमार वर्मा अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'कबीर का रहस्यवाद' में लिखते हैं 'रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।' इसी प्रकार अंग्रेज लेखकों में मिस अण्डरहिल, निकलसन, ली अथवा आर्थर एडवर्ड वेड सरीखे लेखकों ने रहस्यवाद के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। परन्तु हमारे विश्वासानुसार उनके द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद की व्याख्याएँ भी रहस्य ही हैं। रहस्यवाद को न तो मात्र अद्वैतवाद का भावत्माक रूप माना जा सकता है, और न ही केवल अन्तर्ज्योति का प्रकाशन। वास्तव में साहित्यिक रहस्यवाद और अनुभूतिजन्य-रहस्यवाद में भारी फेर है। कारण स्पष्ट ही साधनों की असमर्थता है। अनुभूति-जगत की भावुकता को जब साहित्यिक-क्षेत्र में उतारा जाता है, तो भाषा की अभिव्यक्ति-असमर्थता के कारण काव्य को अलौकिक-आनन्द का कल्पित रंग नहीं दिया जा सकता और न उससे भावनालोक की मस्ती, जोकि सन्तों ने उस परम-रहस्य की रीढ़ स्वीकार की है, हस्तगत होती है। अस्तु, रहस्यवाद, अतिरिक्त आत्मा-परमात्मा की मिलन-परिपाटी के व्यावहारिक-स्वरूप के और कुछ नहीं हो सकता। उक्त मिलन की प्रेरणा जीव को सांसारिक-दुःखों से प्राप्त हुई हो, धर्म ग्रंथों के अध्ययन से मिली हो, अथवा, किसी महात्मा (गुरु) के उपदेशों से उद्भूत हो; परन्तु है वह उद्बोधन, जिसका परिणाम होता है मानवता का उद्वेलित होना। अनुभूति के क्षेत्र में आत्मा का उद्वेलन ही जब अभिव्यंजना का जामा पहनता है, तो रहस्यवादी-काव्य की रचना होती है। सार यह कि परम-सत्य के प्रति उद्भूत मानवता जब उस तक पहुँचने का प्रयत्न करती है, उसके प्रेम में आत्म-विस्मृत हो 'मेरा-तेरा' के बन्धनों को तोड़कर जीव-ब्रह्म विभेदावरण का भेदन करती है, तो वह अलौकिक-रसपान की अधिकारिणी होती है। इस अनुपम-रस का स्वाद उसके लिए 'अकथ-कहानी' होता है और उस अद्भुत, अद्वितीय का मिलन आत्मा का रहस्य। ऐसी अवस्था में आत्मा अपनी स्थिति का प्रकाशन जिन शब्दों में करती है, वही रहस्यवाद होता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी तो है—माया का झीना पर्दा आखिर कब तक तात्त्विक-अभेद को भेद का रूप-दान दे सकेगा। प्रेम और ज्ञान मिलकर ज्यों ही माया-फन्द काटते हैं, रहस्य प्रकट हो जाता है, आत्मा अपने वास्तविक-रूप अर्थात् परमात्म-रूप को पहचान लेती है। कबीर ने बड़े सुन्दर शब्दों में इस दशा का प्रदर्शन किया है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथो गियानी।

गुरु नानक ने इसी विभेद को और भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

जिनी ग्रातमु चीनिग्रा परमातमु सोई।
एको ग्रंमृत बिरख है फल ग्रंमृत होई॥

राग ग्रासा; म० १, ६: २०; पृ० ४२१।

ग्रावश्यकता तो केवल 'ग्रातम' चीन्हने की है, माया का पर्दा विदीर्ण होते देर नहीं लगती—ग्रौर फिर 'ग्रमृत वृक्ष का ग्रमृत-फल!'

सन्तों के रहस्यवाद पर विभिन्न प्रभाव

सन्तों ने ग्राध्यात्मिक-क्षेत्र में जो कुछ भी प्रदान किया, वह एक लम्बी परम्परा के ग्रनुदान का साकार रूप था। भक्ति के बाज तो ऋग्वेद में ही प्राप्त हो चुके थे, परन्तु पौराणिक युग तक ग्राते-न-ग्राते भक्ति का रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका था ग्रौर भगवद्-पुराण में दिये गए नवधा-भक्ति प्रसंग में समर्पण ग्रौर प्रपत्ति के ग्रंकुर भी फूट चुके थे। श्रीमद्भगवद्गीता ने भक्ति के समर्पणात्मक रूप को बहुत कुछ मांजकर पेश किया था। इसे ज्ञान-कर्म युक्त भक्ति के रूप में मध्यकालीन सन्तों ने ग्रद्भुत ढंग से ग्रपनाया। दक्षिण के सन्त ज्ञानदेव का प्रभाव भी उन पर स्वीकार किया जाता है। बंगाल के ग्राउल-बाउल प्रेम-मार्गियों तथा सिन्धु-प्रदेश के सूफ़ियों का ग्रमिट रंग सन्तों में प्राप्य है। दक्षिणी सन्तों का प्रभाव-दर्शन कराने वाला एक दोहा प्राप्त है—

भक्ति द्रविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
प्रगट किया कबीर ने, सप्तदीप नव खंड॥

परन्तु मध्यकालीन सन्तों पर इन सब प्रभावों से भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव ग्राठवीं शती के महान् विचारक शंकराचार्य का पड़ा। शंकराचार्य भारतीय-संस्कृति के संतोषकों में सम्भवतः प्रथम विचारक थे, जिन्होंने भारतीय-बहुदेववाद को घातक ग्राघात पहुंचाया था। सन्तों ने उस बहुदेववाद को पूर्णतः उखाड़ फेंका ग्रौर साथ-साथ मानववाद की स्थापना भी की। शंकर के ग्रद्वैतवाद से प्रभावित होकर सन्तों ने 'एको ब्रह्मः द्वितीयो नास्ति' को ग्रपनाया ग्रौर उसी के ग्रनुसार ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा की विलगता के भ्रमानुरूप 'माया' ठगिनी का ग्रस्तित्व भी स्वीकार किया। यह बात जुदी है कि जहां शंकर ने मायावरण का ग्रन्त सत्ज्ञान के माध्यम से ही सम्भव माना, वहां विश्वासाधारित सन्तमत ने सूफ़ियों के प्रेम ग्रौर गीता की समर्पणात्मक-भक्ति को भी उच्च-स्थान दिया। इस प्रकार सन्तों की रहस्यात्मक विचारधारा की पृष्ठभूमि पर ग्रन्य ग्रनेक प्रभावों के ग्रतिरिक्त शंकराचार्य के ग्रद्वैतवाद, गीता की प्रपत्ति-भक्ति ग्रौर सूफ़ियों की ग्रनुराग-भावना की ग्रमिट छाप है।

वास्तव में कहा जा सकता है कि ग्रद्वैतवाद रहस्यवाद की ग्रात्मा है। सन्तमत स्वीकार करता है कि ग्रात्मा ग्रौर परमात्का में ग्रभेद है, परन्तु माया के कारण उनमें भेद का भ्रम बना रहता है, माया स्वयं परम चेतन की शक्ति है, परन्तु दुष्टता के दोष से शृंगारित हो, सदैव जीव को भरमाया करती है। जीव को भव-बन्धन में फंसाने

का काम माया का ही है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीनों देवता माया पुत्र है और जीव को जन्म-पोषण-संहार के चक्र में हमेशा फँसाए रखते हैं। गुरु नानक ने लिखा है—

एका माई, जुगतु विआई, तिन चेले परवाणु,
इकु संसारी, इकु भंडारी, इकुलाए दीबाणु। (जपुजी)

जीवों को फंसाने के लिए उसके पास जो सर्वोत्तम हर्बा है, वह उसका आकर्षण, मधुरता और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार सरीखे उसके वफ़ादार चाकर। कबीर लिखते हैं कि माया भयानकछलना है, रजस्, तमस् व सत् गुणों का फन्दा लिए, अपनी मधुरता के आकर्षण में वह संसार को फंसा रही है। उससे बचने का एक ही ढंग है—शंकर के शब्दों में सत्ज्ञान की प्राप्ति। बस सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ कि जीव प्रभु के प्रेम में लीन हो जाता है, उसके नाम में अपने को भुला देता है—

आंधी आई ज्ञान की, ढही भ्रम की भीति।
माया टाटी उड़ गई, लगी नाम से प्रीति॥ (कबीर)

परन्तु नहीं, सन्तों के अनुसार मात्र ज्ञान माया का हनन नहीं कर सकता, उसके लिए प्रेम चाहिए। सन्त मत में प्रेम ज्ञान का और ज्ञान प्रेम का पूरक है। अतः ज्ञान की आंधी के साथ प्रेम के बगूले की आवश्यकता भी उतनी ही है, तभी जीव परमात्मा की निकटता का लाभ पा सकता है—

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनके से मिला, तिनका तिनके पास॥

सन्तों ने माया का अस्तित्व उसी प्रकार स्वीकार किया है, जिस प्रकार ब्रह्म का। वह सत्य की शक्ति है, तो अनस्तित्व तो हो ही नहीं सकती। अतः वह उपेक्षणीय है। पंजाबी सन्तों ने उसे हउमै (अहंभाव) के रूप में भी परखा है, और जीव से अहंत्याग की अपेक्षा रखी है। उनके लिए अहं ही सब बुराइयों की जड़ है जो 'तेरा-मेरा' का प्रश्न पैदा करता है और जिसके कारण जीव अपने को दूसरे से (ब्रह्म से) जुदा अनुभव करने लगता है। यदि अहं का अन्त कर दिया जाए तो फिर जीवात्मा-रूपी सूहट (तोता) अमृत-पान कर सदा के लिए शरीर के पिंजरे से छूटकर सत्पुरुष की गोद में विश्राम करने लगे।

सूहटु पिंजरि प्रेम के बोलै बोलण हार।
सचु चुगै अमृत पीए उडै त एका बार॥ राग मारू, म० १।

प्रेम की भावना सन्तों ने निश्चय ही सूफ़ियों से अपनाई है। सन्तों ने अपनी रहस्य-साधना में प्रेम को अति-उच्च स्थान दिया है। दीवानेपन की सीमा तक प्रेम की अपेक्षा की गई है। 'जिन प्रेम कियो, तिन प्रभु पायो' सन्तों का मूल-मन्त्र रहा है। प्रेम की उत्कटता प्रकट करने के लिए उन्होंने 'जल-मीन' 'शमा-परवाना' 'कामिनी-कामुक' तथा 'पपीहे के स्वाति-आकर्षण' सरीखी अनेक तुलनात्मक उपमाएं प्रस्तुत की हैं। प्रेमी प्रेमिका के रंग में ऐसा रंग जाना चाहिए कि उसे सम्पूर्ण प्रकृति प्रियतम का रूप दिखने

लगे। पीलिया का रोगी जैसे हर चीज में पीलापन देखता है, ठीक वैसे ही सन्तमतानुसार प्रेमी हर चीज में अपने प्रेमिक की झलक पाता है। 'कृष्ण-कृष्ण टेरत राधा कृष्ण भई' की स्थिति में वह अपना आप भी भुला देता है और तब परम का द्वार खुलता है, जीव उसमें विलीन हो जाता है। मसनवी मौलाना रूम में एक सुन्दर खायत उपलब्ध है। लिखा है, 'आशिक़ माशूक़ के द्वार पर जाकर खटखटाता है। अन्दर से प्रश्न आता है कौन ? उत्तर मिलता है, 'मैं हूं प्रिये'। द्वार नहीं खुलता। 'तुम्हारी जरूरत नहीं' कहकर आगन्तुक को लौटा दिया जाता है। दूसरे दिन फिर वह कहता है, 'मैं तुम्हारा ही तो हूं, मेरे प्राण।' द्वार तब भी नहीं खुलता। अब उसे भूल समझ आती है। तीसरी बार द्वार पर दस्तक देता है, और पूछे जाने पर कहता है, "तू ही यहां है, तू ही वहां है—फिर पूछने में भेद कैसा ? द्वार खुलता है और आशिक़-माशूक़ आलिंगन-बद्ध होकर एक हो जाते हैं। यह है प्रेम की उत्कटता, जिसमें सन्तों ने क्षेम अनुभव किया है। इस कथा में सन्तों पर सूफ़ियों के प्रभाव का सही अनुमान लगाया जा सकता है। कबीर ने गुरु द्वारा 'प्रेम का अंक'[1] पढ़कर कुछ शेष स्वीकारा ही नहीं। वही ढाई अक्षर पाण्डित्य का कोष है।[2]

जीव और ब्रह्म : उनका सम्बन्ध

जीव वास्तव में वह अन्तर्ज्योति है, जो परम के तत्त्व-रूप में मानव-शरीर के भीतर निवसित है। यह निश्चय ही ज्योति की नाईं प्रकाशित है, परन्तु माया के आवरणों के नीचे ढक जाने के कारण मनुष्य को इसका ज्योतिज्ञान नहीं हो पाता। गुरु-कृपा (सन्तों ने आध्यात्मिक-मग पर चलने के लिए गुरु का बहुत बखान किया है।) जब माया के पर्दे हट जाते हैं, तो मनुष्य को विस्मय होता है कि उसकी आत्मा परम का ही तत्त्व है और उसी तत्त्व का परम रूप ब्रह्म है। तत्त्व, तत्त्व को पहचानता है, तत्त्व, तत्त्व में लीन हो जाता है। मध्यकालीन सन्तों ने ब्रह्म तक एक निश्चित 'पहुंच' प्राप्त की थी, इसलिए उन्हें 'पहुंचे हुए' सन्त कहा जाता है। वे जानते थे कि परमात्मन तत्त्व ही सर्वाकार और सर्वगुणी है, अतः ब्रह्म को किसी सीमित परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता है। अतः प्रश्न था कि जन-साधारण को कैसे समझाया जाए ? उत्तर रहस्यमय ही रहा। कबीर ने कहा—

जाको मुख-माया नहीं, नहीं रूप अरूप;
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप।

गुरु गोविन्द 'अकाल-उस्तत' में इसी भाव को पेश करते हैं—

---

१. गुरु प्रेम का अंक पढ़ाय दिया, अब पढ़ने को कछु नहीं बाकी।
२. पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोई।
ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पण्डित होई॥

अलख रूप अहै अनभेसा। राग रंग जिह रूप न रेसा।
बरन बिहन सभुहूं ते निआरा। आद पुरख अहै अबिकारा ॥ ३ ॥

तत्त्व अभेद होने के कारण जीव और ब्रह्म में अटूट सम्बन्ध है। क्योंकि ऊपर हम प्रेम की चर्चा कर आए हैं, इसलिए यह कहना भी उचित न होगा कि सन्तों ने जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध बताने के लिए बहुत से सांसारिक रिश्ते-नातों का आश्रय भी लिया। पति-पत्नी का सम्बन्ध सर्वोत्तम और उत्कृट प्रेम से अमर माना गया है। अतः सन्तों ने परमात्मा को पति रूप में स्वीकार कर स्वयं पत्नी का अभिनय किया। ऐसा करने के दो लाभ हुए। एक तो वे जीव और ब्रह्म की अटूट स्थिति दिखा सके, दूसरे उनके बीच उत्तम प्रेम की महनीयता का प्रदर्शन किया गया। पति पत्नी को तभी अपनाता है, जब वह उसके प्रेम के रंग में रंगी जाकर आत्म-समर्पण कर देती है और वही पत्नी पति की चहेती बन पाती है, जो सोलह शृंगार कर अपने पति को आकृष्ट करती एवं उसके मन की इच्छाओं को पहचानती है। पति-पत्नी के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण—दो शरीर और एक प्राण—ही अपनाया गया था। कबीर ने 'हरि मोर पीव, मैं हरि की बहुरिया' वाला पद बड़ी मस्ती में गाया है। गुरु नानक ने लिखा है—

हरि वरु जिनि पाइया धन नारी, हरि सिउ राती सबदु वीचारी।
आपि तरै संगति कुल तारै, सति गुरु सेवि ततु वीचारै॥
३:१४ आसा; पृ० २५३।

हरि रूपी पति को पाकर जीव रूपी पत्नी को उस रंग में रंग जाना चाहिए और उसी की सेवा में लीन होकर परम तत्त्व का विचार करना चाहिए। जब तक पत्नी पति से प्रेम नहीं करती, पति भला क्यों उसकी ओर ध्यान देगा। गुरु नानक लिखते हैं कि यदि पत्नी पति से प्रेम करे, तो पति भी पत्नी पर अपना आप न्योछावर कर देता है और उसे अपना कर सीने से लगाता है। अतः जीव रूपी पत्नी को परमात्मा रूपी प्रियतम के रंग में अपने को भुलाना होगा।[1]

जीव-ब्रह्म मिलन : दशाएं

रहस्यवादी सन्तों ने जो ब्रह्म के मिलन के मार्ग के विकास की ओर भी संकेत किया है। सूफियों ने कहा था कि जब 'मुरीद' 'मुरशिद' का सहारा पाता है, तो 'शरीयत, तरीक़त, हक़ीक़त' की दशाओं से होता हुआ 'मारफ़त' अवस्था में पहुंचता है, तो स्वयं फना होकर 'अन-अलहक' पुकार उठता है। इन्हीं अवस्थाओं को कबीर ने 'जिज्ञासा, पिपासा और मिलन', इन तीनों नामों में बांट लिया है। 'जिज्ञासा' की स्थिति में जीव

---

१. पिर धन भावै तां पिर भावै नारी जीउ।
रंगि प्रीतम रातो गुर कै सबदि वीचारी जीउ॥

संसार की विस्मयजन्य अद्भुतता से पराभूत होकर, धर्म-ग्रंथों से प्रेरित हो, महात्माओं के उपदेशों से सजग होकर उस परम तत्त्व का जिज्ञासु बनता है। 'पिपासा' के अन्तर्गत जीव के वे प्रयत्न आ जाते हैं, जिनके माध्यम से वह अपनी श्रद्धा परम-चरणों में अर्पित करता है। प्रेम, भक्ति, विचारात्मकता, ध्यान, नाम, जाप, समर्पण आदि उपक्रम दूसरी अवस्था के अंग हैं। तृतीय अवस्था 'फना' की है, जिसमें जीव अपना अस्तित्व त्यागकर ब्रह्ममय हो जाता है, उसी में लीन हो जाता है।

गुरु नानक ने इन्हीं अवस्थाओं को पाँच खण्डों में विभाजित किया है। उनका कथन है कि जीव जब पाँचवें खण्ड अर्थात् सचखण्ड में पहुँचता है, तभी वह सतिपुरुष से मिल पाता है। खण्ड इस प्रकार हैं—धरमखण्ड, ज्ञानखण्ड, शरमखण्ड, करमखण्ड तथा सचखण्ड। धरमखण्ड (धर्मखण्ड) वह अवस्था है जिसमें मनुष्य को सत्य आचरण करने की आवश्यकता है। धर्म का अर्थ कर्तव्य लिया गया है। परम के खोजी के लिए पहली अवस्था अपने कर्तव्य-पालन की अवस्था है। कर्तव्य-पालन के बाद ही मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान पाकर जीव शरम (श्रम) की ओर बढ़ता है। वह प्रभु से प्रेम करता है, गुरु के बताए मार्ग पर चलता है, नाम-जाप करता है, यही श्रम की स्थिति है। परन्तु इससे जीव सचखण्ड का अधिकारी नहीं बन जाता। इस पर भी करम (कृपा) की आवश्यकता रहती है। प्रभु की कृपा के बिना कोई जीव परमात्मा से मिल नहीं सकता। श्रम से प्रसन्न होकर परमात्मा जीव पर कृपा करता है और वह उसके लिए सचखण्ड के द्वार खोल देता है। इस खण्ड में प्रवेश ही आत्मा-परमात्मा का मिलन है।

रहस्यवाद की विशेषताएँ

सन्तों के रहस्यवाद की सर्व-प्रमुख विशेषता है प्रेम-योग। जैसा कि पीछे संकेत दिया जा चुका है कि उच्चकोटि का प्रेम ही सन्तों की रहस्य-साधना का विशेष आधार है। सन्त जन आत्मा और परमात्मा के बीच प्रेम-सूत्र की गाँठ लगने पर ही विलीनता की सम्भावना स्वीकार करते थे। अतः वे अपने प्रिय से वरदान भी माँगते हैं, तो केवल प्रेम का ही। नानक लिखते हैं—

> अब तब अवरु न मागउ हरि पहि नामि निरंजन दीजै पिआरि।
> नानक चातृक अंमृत-जलु मागै हरि जसु दीजै किरपा धारि॥
>
> गूजरी, असट पदीआ, ८ : २, म० १, पृ० ५०४।

और जीव ऐसा प्रेम प्राप्त कब करता है ? अहम्-भाव का त्याग करने से। जब तक मन में 'मैं-मेरी' की भावना सजग है, तब तक प्रेम की उत्कटता का प्रश्न ही नहीं उठता। लिखा है—

> जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ, सिर धरि तली गली मेरी आउ।
> इतु मारगि पैर धरीजै। सिर दीजै काणि न कीजै॥ २०॥
>
> सलोक, म० १, पृ० १४१२।

अतः 'सिर' देकर वह प्रेम प्राप्त किया जाता है। कबीर ने भी तो यही कहा है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
शीश उतारि भू धरें, तब पैठे इस माँहि॥

यहाँ निस्सन्देह 'शीश उतारने' का अर्थ अहम्-त्याग ही है। रहस्यवादी कवि के लिए प्रेम की उज्ज्वल धरती तक पहुँचने हेतु स्वतः का त्याग अपेक्षित है। जब तक जीव अपने-आप में है, तब तक उसका प्रेम विनिमय की वस्तु बनी रहेगी। आत्म-विस्मृति और मात्र प्रेम-पात्र की याद ही ऐसे उत्कट प्रेम की जनक है।

रहस्यवादी की दूसरी विशेषता है, प्रभु में अडिग विश्वास। रहस्यवादी जब प्रभु-मिलन की अनुभूति प्राप्त करता है, तो सीधे उससे ऐसा रिश्ता जोड़ लेता है जो उसकी स्थिति के साथ-साथ अन्तरंग भाव से बढ़ता है। कबीर ने तो इसी विश्वास पर आश्रित हो मृत्यु को भी ललकारा है—

हरि मरि हैं तो हम हूँ मरि हैं।
हरि न मरें हम काहे को मरि हैं॥

गुरु अर्जुनदेव का कथन है 'जाके रिदै विस्वास प्रभु आइआ, ततु गिआनु तिसु मनि प्रगटाइआ।'[1] सन्त दादूदास ने प्रभु से विश्वास की जोरदार कामना की है। लिखते हैं—

साईं सत सन्तोष दे, भाव भक्ति विश्वास।
सिदक सबूरी साँच दे, माँगे दादूदास।

प्रभु में विश्वास की पराकाष्ठा गुरु नानक के शब्दों में उभर आई है—

तू ठाकुर, तू साहिबो, तू है मेरा मीरा; तुधु भावै तेरी बंदगी, तू गुणी गहीरा।
आपे हरि इक रंगि है, आपे बहुरंगी। जो तिसु भावै नानका, सोई गल चंगी।[2]

उच्च कोटि का यह विश्वास ही वास्तव में रहस्यवादी सन्तों को प्रभु-नैकट्य का अनुभव देता रहा है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। प्रभु-प्राप्ति कोई तर्क-शास्त्र के वाक्-जाल की वस्तु नहीं, इसके लिए अन्वेषक को उसकी सत्ता में अखण्ड विश्वास होना ही चाहिए। जहाँ भी विश्वास डगमगाया, वहीं प्राप्ति की मंजिलों से जीव को घातक-आघात सहने की स्थिति का उदय हो सकता है। अतः संतमत ने विश्वास को सत्पुरुष-लीनता का एक सोपान स्वीकार कर लिया है।

तीसरी विशेषता है आध्यात्मिक-भावना। जितनी चर्चा अब तक हम ऊपर कर चुके हैं, वह मस्तिष्क की शुष्क धरती की उपज नहीं, उसके लिए हृदय की तरलता एवं आत्मा की पुकार अपेक्षित है। आत्मा की पुकार ही वास्तव में आध्यात्मिक भावना कहलाती है। निश्चय ही जब तक जीव शारीरिक, मानसिक और सात्विक पृष्ठ-

---

१. पद २:१७ गउड़ी सुखमनी, म० ५।
२. पद २१-२२ : २, राग तिलंग, म० १।

भूमि से बाहर आकर आध्यात्मिक धरती पर नहीं खड़ा होता, वह रहस्य का ज्ञाता नहीं बन सकता। अस्तु, आध्यात्मिक-स्तर का रहस्य जानने के लिए आध्यात्मिक-स्तर पर पहुँचना अनिवार्य ही है। इस स्थिति में रहस्यवाद आत्मा के अलौकिक-रस का पान करता है। अपनी सांसारिक पृष्ठ-भूमि को भुला देता है। गुरु तेगबहादुर के शब्दों में[1]—

सुखु दुखु दोनों सम करि जानै अउरु मानु अपमाना।
हरख सोग ते रहै अतीता तिनि जगि ततु पछाना। १।
उसतति निंदा दोऊ तिआगै खोजै पदु निरबाना।
जन नानक इहु खेलु कठिन है किनहू गुरमुखि जाना। १-२।

अर्थात् आध्यात्मिक-भावना का पालन, मान-अपमान, सुख दुःख, हर्ष-शोक, तथा स्तुति-निंदा से ऊपर उठकर निर्वाण-पद को ग्रहण कर लेता है। उसे संसार का प्रशंसा-पात्र बनने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह एक ऐसी उच्च-स्थिति को पा चुका होता है कि नीचे झुककर देखने के लिए वह खाली नहीं।

रहस्यवादी की चौथी विशेषता है—जागरण, उद्बोधन। रहस्यवादी महात्मा जीव की जागृति पर विशेष ध्यान देते आए हैं। उनका विश्वास था कि वास्तव में आत्मा माया के आकर्षणों में पड़कर सुप्तावस्था में पड़ी है। तब तक वह जगती नहीं, जब तक उसे उद्बोधन प्राप्त नहीं होता, तब तक न तो उसमें आध्यात्मिकता के बीज अंकुरित हो सकते हैं और न ही प्रभु के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। अतः रहस्यवादी के लिए (ज्ञान) जागृति आवश्यक है। यह जागृति अस्थायी नहीं होती। जीव एक समय उद्बुद्ध होने के पश्चात् पुनः सुषुप्त नहीं हो जाता। वह चिर-जागृत रहता है। यह उद्बोधन अलौकिक-स्तर की वस्तु होने के नाते जीव के लिए सदैव पथ-प्रदर्शक बना रहता है। उसके आश्रय जीव हमेशा उस परम और दिव्य की शक्ति का अनुभव करता एवं उस अनुपम-ज्योति से प्रकाश लाभ करता है। 'जागत है सो पावत है; सोवत है सो खोवत है' की कहावत रहस्यवादी पर पूरी तरह घटित होती है। रहस्यवादी निरन्तर भाव से सत्गुरु से प्राप्त उद्बोधन का सेवन करता है, अतः सत्य में समा जाता है। नानक लिखते हैं—

घटि घटि बैसि निरंतरि रहीऐ चालहि सतिगुर भाए।
सहजे आए हुकमि सिधाए नानक सदा रजाए।
आसणि बैसणि थिरु नाराइणु ऐसी गुरमति पाए।
गुरमुखि बूझै आपु पछाणै सचे सचि समाए। २।

सिध गोष्ठी, रामकली, म० १।

'समर्पण' रहस्यवाद की पाँचवी विशेषता है। रहस्यवादी विचारक जब एक

---

१. पद १-२:१, राग गउड़ी, म० ९, पृ० २१९।

बार उस परम-तत्त्व को पहचान लेता है, तो फिर उस पर तर्क नहीं जुटाता। अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। तब तो कबीर प्रभु के द्वार का 'कूकर' बनकर रहने में भी आनन्द पाता है। नानक अपने को उस कुल-मालिक के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

जेती है तेती तुधु जाचै, तू सर बलीआं वड आला।
तुम्हारी सरणि परे पति राखहु साधु मिलै गोपाला॥

७ : २ मलार; अस्टपदी, म० १।

लगभग सभी रहस्यवादी सन्तों ने योगसाधना के विरुद्ध सहजयोग का प्रचार करते हुए भी अपनी रचनाओं में योगिक-शब्दावली का प्रयोग किया है। कबीर का इंगला (इड़ा) पिंगला व सुषुम्ना का अपनी दृष्टिकोण से सुष्ठु चित्रण इसका प्रमाण है। पंजाबी सन्त तो इस क्षेत्र में बहुत ही आगे निकल चुके हैं। वे तो योगियों के पहरावे तथा धारण की प्रत्येक वस्तु को पाखण्ड मानते हैं और साथ ही उसकी वास्तविक स्थिति की ओर संकेत भी करते चलते हैं। गुरु नानक ने लिखा है कि योग खिंथा, डण्ड या भस्म रमाने में नहीं; कानों को फड़वाकर मुद्राएँ डाल लेना तथा सींटी बजाने से भी योग प्राप्त नहीं होता। मायावी संसार में रहते हुए भी यदि हम माया-रहित रह सकें तो सच्चे योगी कहलाएँगे।[1] सन्तों के लिए योगियों का प्रत्येक पारिभाषिक शब्द विशेष रहस्यात्मक अर्थ लिये हुए था। योगियों के लिए उनके मन में कोई श्रद्धा न थी वे तो उन्हें यहाँ तक भी कह देते थे—

एहु जोगु न होवै जोगी जि कुटम्ब छोड़ी परं भवणु करहि।
गृह सरीर महि हरि हरि नामु गुर परसादि अपणा हरि प्रभु लहरि॥

१ : ८, रामकली, म० ३।

और मूंड मुंडाए हरि मिलै, सब कोई ले मुंडाय।
बार बार के मूंडने, भेड़ बैकुण्ठ न जाय॥

रहस्यवादी सन्तों ने अपनी रहस्यावस्था का भान कराने के लिए रूपकों का आम प्रयोग किया है। ये रूपक प्रायः सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्धित होते थे और सदैव आध्यात्मिकता की ओर संकेत करते रहते थे। कबीर का एक विवाह-रूपक देखिए—

दुलहिनी गावहु मंगलाचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार।

---

१. जोगु न खिंथा, जोगु न डण्ड जोगु न भसम चढ़ाइऐ।
जोगु न मुंदी मूंडि मुडाइऐ जोगु न सिङी वाइऐ।
अंजन महि निरंजनि रहिऐ, जोगु जुगति इव पाईऐ। ८:१ राग सूही, म० १।

तन रत करि मैं मन रति करि हूँ, पंच तत्त बराती,
रामदेव मोरे पाहुने आए, मैं जोबन में माती।
सरीर सरोवर वेदी करि हूँ, ब्रह्मा वेद उचार,
रामदेव संगि भांवर ले हूँ, धनि धनि भाग हमार।
सुर तेंतीसूं कौतिग आए, मुनिवर सहस अठासी,
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी।

उपर्युक्त पद में कन्या के घर दूल्हे का आना, बारात का आना, दुल्हन का प्रसन्न-चित्त शृंगार करना, वेदी बनाया जाना, उस पर बैठकर भाँवर लिया जाना और कन्या का वधू बनकर दूल्हा के साथ चल देना आदि एक सांसारिक प्रवृत्ति है। परन्तु कबीर ने यहां रूपक के सहारे इस पद को एक सुन्दर रहस्यवादी आध्यात्मिक-पद बना दिया है। यहाँ कन्या है जीव और दूल्हा है स्वयं परमात्मन्। जीव प्रसन्न है कि उसका गठ-बन्ध परम तत्त्व हो रहा है और वह अपनी शरीर-रूपी वेदी पर पाँच-तत्त्व रूपी बारातियों की उपस्थिति में 'रामदेव' दूल्हे से भाँवरें लेती (जीव रूपी कन्या) है। आत्मा उस अविनाशी सत्पुरुष की पत्नी बनकर अपने भाग्य को सराहती है। इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी रहस्यसाधना में रूपकों का खुला प्रयोग किया है।

अन्त में यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि मध्यकालीन सन्तों का रहस्य-वाद सीधे आत्मा के संघर्ष की वस्तु है। आत्मा प्रभु-मिलनार्थ ज्यों-ज्यों संघर्ष करती है, त्यों त्यों अलौकिक अनुभूति का रस-पान करती हुई, उसके अद्भुत आस्वादन में खो जाती है। अपने आनन्द की चर्चा करने में असमर्थ आत्मा जब भाव-प्रवाह में प्रलाप करने लगती है तो रहस्यवादी कविता का जन्म होता है। सन्तों की वाणी इसी का प्रतिरूप है।

एकादश अध्याय

भारतीय सांस्कृतिक अभ्युत्थान में सन्तों का योगदान

संस्कृति क्या है ?—जो वस्तु जितनी ही सरल दिखाई पड़ती है उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन होती है। संस्कृति जैसे आज एक सामान्य-सा शब्द बन गया है वैसे ही वह पकड़ में ठीक-ठीक नहीं आता। संकीर्णतम आदर्शों से लेकर उच्चतम मानवादर्शों तक का इसमें समावेश किया जाता है। संस्कृति, संस्कृत में क्तिन् प्रत्यय लगाने से बनता है जिसका अर्थ होता है सुधरी हुई स्थिति या अच्छी स्थिति। संस्कृति का अर्थ सम्यक् कृति या संभूय कृति भी होता है। "किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे बातें जो उसकी मन-रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती हैं।" यह अंग्रेजी के कल्चर (Culture) शब्द का पर्याय बन गया है। कल्चर का अर्थ अंग्रेजी में होता है "एक प्रकार की सभ्यता या शिष्टता, उन्नति का परिणाम", ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार "एक सिखलाई हुई या सुधरी हुई ज्ञान-शक्ति, रीति-रिवाज तथा रुचि, एक समय या स्थान में इसका प्रचलित रूप।"[1] श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी एक बड़े लेखक का मत देते हुए कहा है कि "संसार में सर्वोत्तम जानी या कही गई बातें, इनसे अपने आपको परिचित कराना।" दूसरी परिभाषा द्वारा उन्होंने यह भी कहा है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास या उससे उत्पन्न अवस्था है।"[2]

संस्कृति किसी जाति या देश की अन्तरात्मा है। इससे उस देश के उन समस्त संस्कारों का बोध होता है जिनके आधार पर वह अपने सामाजिक या सामूहिक आदर्शों का निर्माण करता है। यह विशिष्ट समुदाय, जाति, देश या धर्म की विशिष्टता प्रगट करते हैं। संस्कृति से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र की किन्ही मूलभूत बातों या तत्वों में समानता है अथवा कोई व्यक्ति, समुदाय या राष्ट्र किसी विशेष या किसी

१. संस्कृति के चार अध्याय; पृ० ५ भूमिका (दिनकर द्वारा उद्धृत)।
२. वही।

विशेष आचार-विचार, व्यवहार को अपना कर अथवा उन्हीं आचार-विचार या व्यवहारों को करते रहते हैं, तो उन्ही आचार-विचार और व्यवहारों या कर्मों को करते-करते आत्मा पर जो संस्कार पड़ जाते हैं उसे उस राष्ट्र की संस्कृति कहा जाता है। ये संस्कार जब बाहर प्रगट होते हैं तो व्यक्तिगत, सामाजिक या राष्ट्रीय कहे जाते हैं। जब कोई राष्ट्र उन्हीं संस्कारों के आधीन होकर कार्य करता है तो उन संस्कारों को उस राष्ट्र की संस्कृति कही जाती है। अनेक बाह्यगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी जो एक आन्तरिक एकता रहती है वही राष्ट्र की सांस्कृतिक देन है। हर एक राष्ट्र अपने मौलिक गुण विकसित कर लेता है और वही उसका विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। वही उसकी सांस्कृतिक विशेषता होती है।

समस्त देशों की संस्कृति के मूलाधार एक ही होते हैं। उनमें बाहरी विभिन्नता के बावजूद भी आन्तरिक एकता रहती है। सब देशों की संस्कृति में आचार-विचार, देश-काल आदि के कारण विभिन्नता का पाया जाना स्वाभाविक ही है। संस्कृति मिटती नहीं। उसमें परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं। मनुष्य जीवन के दो भाग होते हैं। एक वैयक्तिक दूसरा सामाजिक। संस्कार-सम्पन्नता का विकास दोनों के समन्वय से होता है। मानवी संस्कृति का यही चरम लक्ष्य है।

संस्कृति और सभ्यता—दो अलग-अलग एक ही लेकिन वस्तु के दो आन्तरिक एवं बाहरी पहलू हैं। शरीर और आत्मा की भांति ये दोनों जीवन के दो रूपों को स्पष्ट करते हैं। सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे से अभिन्न हैं। संस्कृति आत्मिक और सभ्यता बाह्य सम्बन्ध रखती है। इसी कारण संस्कृति कुछ रहस्यमय-सी है। विकास और परिवर्तन के साथ सभ्यता में भी विकास और परिवर्तन होते हैं। संस्कृति और सभ्यता का आधार समाज ही हुआ करता है। सभ्यता के विकास के साथ लौकिक उपादान के क्षेत्रों और साधनों की भांति उसकी मान्यताएं और स्थापनाएं भी विकसित होती जाती हैं। कई कारणों से आचार-विचार और व्यवहार में नये तत्व प्रवेश पाते जाते हैं। सभ्यता को संस्कृति का पर्याय मानना भारी भूल करना है। संस्कृति का विचार साहित्य, कला, समाजशास्त्र, विज्ञान, नैतिकता आदि के ही रूप में किया जा सकता है। सभ्यता शब्द सभाकृति से बना है जिसका अर्थ है सभा में बैठना या सभा में बैठने की योग्यता। इसी कारण सभ्यता सामाजिक आचार, विचार, व्यवहार और सामाजिक कर्तव्यों पर जोर देती है। इसमें सामाजिक उत्तरदायित्व, सामाजिक बन्धन या सामाजिक निर्देश भी रहता है। इसका सम्बन्ध नागरिकता से भी है। सभ्यता का अर्थ होता है विशिष्ट प्रकार का बौद्धिक विकास, उच्च नैतिक विचार या भौतिक सभ्यता। इसमें भौतिक उन्नति, व्यापारिक और औद्योगिक विकास, सामाजिक स्वतन्त्रता, राजनैतिक प्रगति का समावेश होता है। संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची है और सभ्यता भौतिक विकास का। सभ्यता बाहरी क्रियात्मक स्वरूप है। संस्कृति एक अन्तर् की वस्तु है जिसका सम्बन्ध मूल से होता है। दोनों ही व्यष्टि और

समष्टि में परिवर्तनशील है। सभ्यता और संस्कृति विभिन्न देशों और कालों में विभिन्न होते हैं। भारत की खोज में श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा है कि "समृद्ध सभ्यता में संस्कृति का विकास होता है और उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित विकसित होते हैं।"

भारतीय संस्कृति—श्री सातवलेकर के मतानुसार "भारतीय संस्कृति का उच्चारण करने से भारत देश की संस्कृति ऐसा भाव सबके मन में पैदा होता है। इसका कारण है कि आज हम स्थान की मर्यादा से ही सोचते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति का आशय प्रकाश के मार्ग से अनुष्ठान करने से प्राप्त होने वाली संस्कार-सम्पन्नता है। भा+रत, 'भा' अर्थात् प्रकाश में, प्रकाश के मार्ग में 'रत' अर्थात् दत्तचित्त होकर अनुष्ठान करने से जो संस्कार-सम्पन्नता मनुष्य में पड़ती है वह भारतीय संस्कृति है।"[1]

भारतीय संस्कृति से आशय भारत की राष्ट्रगत संस्कृति से ही है। इसका आशय ऐसी संस्कृति से है जो जाति या धर्म के घेरे से परे है। भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही आचरण प्रधान रही है। उसमें अन्तःप्रवृत्तियों के उत्कर्ष पर जोर दिया गया है। वह प्रारम्भ से ही आदर्श प्रधान रही है। वह जीवन के अन्तरिक्ष को भेदकर जीवन के आन्तरिक रहस्यों का पता लगाने में प्रयत्नशील रही है। वह अन्तस्थ है, आत्मस्थ है। सभ्यता के रूपों में, शासन व्यवस्था में अनेक राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं किन्तु भारतीय संस्कृति के मूल को विदेशी कभी भी नहीं बदल सके। उसमें विदेशी तत्त्व किसी-न-किसी रूप में बराबर आते हैं। आमूल परिवर्तन उसमें नहीं हो सका। भारतीय संस्कृति के पोषण में लोक-संस्कृति का काफी हाथ रहा है। यह जन-जन में समाई रही है।

उसका उद्देश्य रहा है "जिओ और जीने दो।" उसकी प्राचीनता निर्विवाद है। उसका मुख्याधार था समन्वय की भावना। जितने भी विदेशी बाहर से आए वे यहां आत्मसात कर लिये गए। इसका पहली बार इतिहास में समन्वय तुर्कों और अफगानों से न हो सका क्योंकि विदेशी आक्रमणकारियों का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण था। वैदिक युग से ही भारत में विभिन्न संस्कृतियों का समागम प्रारम्भ हो जाता है। आरम्भ से ही यहां के निवासियों ने विदेशों में जाकर और विदेशियों ने यहां आकर संस्कृतियों का आदान-प्रदान किया है। इसमें कई परिवर्तन और हुए किन्तु यह विनष्ट या विलुप्त नहीं हुई। विदेशियों के लिए यह एक आश्चर्य रहा कि जो देश सदियों से गुलाम रहा है फिर भी वह सारा-का-सारा इस्लाम धर्म में परिवर्तित क्यों नहीं हो गया। रोम ने ग्रीस को जीत तो लिया था किन्तु ग्रीस की सभ्यता कहीं बढ़ी-चढ़ी थी। विदेशियों ने भारत पर राजनैतिक विजय तो कर ली किन्तु इसकी सभ्यता और संस्कृति पर वे पूर्णतः विजय नहीं प्राप्त कर सके।

---

१. सातवलेकर; सम्मेलन पत्रिका, संस्कृति विशेषांक।

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसकी उदारता रही है। वह दूसरों के देवालयों पर हाथ नहीं डालती। वह वहाँ धनिकों और शासन से सम्बद्ध व्यक्तियों की अपेक्षा विद्वानों और ज्ञानियों को अधिक आदर प्रदान करती आई है। समन्वय, व्यापकता और उदारता उसके गुण रहे हैं।

सातवीं सदी तक वह क्रम भारत में एक निरन्तर क्रम से चलता रहा। उसके पश्चात् भारतीय इतिहास का पतन युग प्रारम्भ हो जाता है। इससे पहले कि हम मध्य-युग में इसके अभ्युत्थान पर विचार करें, उसके पहले हम भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि और ऐतिहासिक क्रम पर विचार करेंगे।

नीग्रो—ऐतिहासिक आधार पर नीग्रो जाति का भारत में आगमन के विषय में कुछ भी पता नहीं लगता। अनुमान किया जाता है कि भारत में सर्वप्रथम इसी जाति का आगमन हुआ था। यह जाति सम्भवतः अफ्रीका से ही आई थी। इसकी एक शाखा आस्ट्रेलिया तक चली गई। वहाँ इनके वंशज अभी तक वर्तमान हैं। इस जाति का काल ईसा से ६ से १० हजार वर्ष पूर्व तक माना जाता है। आर्यों के समय में यह जाति विनष्ट हो चुकी थी। इतिहासकार इस जाति को प्राचीन प्रस्तर लोगों में गिनते हैं। उनका यह अनुमान है कि नीग्रो केवल खाद्यसामग्रियों का संचय मात्र करते थे। ये हल का उपयोग नहीं जानते थे। उनकी भाषा का नमूना अंडमान में पाया जाता है। आर्य-सभ्यता पर नीग्रो जाति का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। इस बात का पता लगाना कठिन है क्योंकि नीग्रो और आर्यों के आगमन के भीतर काफी समय का अन्तर पड़ता है। ये असभ्य होते हुए भी साहसी थे। नावों के सहारे ही ये भारत आए थे।

आस्ट्रिक—इस जाति के लोग मैडागास्कर द्वीप, विन्ध्य श्रेणी और प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक फैले हैं। ये लोग भारत में पूर्व और पश्चिम से कई बार गुजरे थे। इसलिए यह माना जाता है कि नीग्रो और मंगोलों से इनके वैवाहिक सम्बन्ध भी रहे होंगे। भारत के कोल और मुंडा जाति के लोग इन्हीं की सन्तान हैं। कई विद्वान आस्ट्रिकों को स्वतन्त्र जाति मानते हैं और कई इसे द्राविड़ों की शाखा भी मानते हैं।

भारत में कोल और मुंडा आस्ट्रिक परिवार की ही भाषाएँ हैं। आर्यों से पहले इस देश में आस्ट्रिक परिवार की ही भाषा फैली थी। कालान्तर इस भाषा के शब्दों ने आर्य भाषाओं में भी प्रवेश पाया। आर्यों के आने पर ये सिन्धु की तराई में वर्तमान थे। इनका रंग काला और नाक चपटी होती थी। ईसा से १५०० वर्ष पूर्व तक बहुत से आस्ट्रिक आर्यों से ही मिल गए थे। आर्यों के आगमन पर आस्ट्रिकी और द्राविड़ पड़ोसियों की तरह रहते थे। ये कई बातों में आर्यों से भी आगे बढ़े हुए थे।

द्राविड़—यह एक विवादास्पद विषय है कि द्राविड़ इसी देश के निवासी हैं या बाहर से आये हैं। आर्य और द्राविड़ दोनों ही इस देश में अनन्त काल से रहते आए हैं। इस बात के प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होते कि दोनों जातियों में लड़ाइयाँ भी हुई।

असुर, यक्ष, दासों से आर्यों के संघर्ष का उल्लेख अवश्य मिलता है। आर्यों और द्राविड़ों की जाति के आधार को लेकर कोई ऐसी विभिन्नता नहीं प्रतीत होती। बाद को इनका इतना समन्वय हो गया कि बौद्ध, जैन, शाक्त आदि में यह पहिचानना मुश्किल हो गया कि कौन द्राविड़ है और कौन आर्य है। आर्यों ने द्राविड़ों से बहुत कुछ ग्रहण किया।

मोंहजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता—आर्यों से पहले भारत में द्राविड़ बसे हुए थे। आर्य गौर वर्ण के थे। दोनों में ही सांस्कृतिक मिश्रण काफी मात्रा में हुआ था। हड़प्पा और मोंहजोदड़ो की सभ्यता का ठीक-ठीक पता नहीं लगता कि वह आर्य सभ्यता थी या द्राविड़ सभ्यता। विद्वानों का अनुमान है कि यह सभ्यता आर्यों से पहले की थी। दूसरा अनुमान इसी के आधार पर किया जाता है कि आर्यपूर्व होने के कारण यह उसी में असुर एवं अन्य जातियाँ भी रही होंगी। सिन्धु घाटी के अवशेष एक ओर अम्बाला, दूसरी ओर काठियावाड़ तक फैले हुए हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि यह सभ्यता गंगा के कछार तक फैली होगी। यह सभ्यता काफी उन्नतिशील थी। वहाँ तक पहुँचने में उसे काफी वर्ष लगे होंगे। उसका सम्बन्ध सुमेर-सभ्यता से भी था। सुमेर-सभ्यता और सिन्धु-सभ्यता में साम्यता होने के कारण विद्वानों का यह भी अनुमान है कि द्राविड़ों के वंशज इस देश में पश्चिम एशिया से आए होंगे। उसका पुष्ट प्रमाण यह भी है कि बिलोचिस्तान में द्राविड़ भाषा बोली जाती है जो कि द्राविड़ परिवार की भाषा है। मोंहजोदड़ो हड़प्पा और में मिट्टी के घर होते थे। यह सभ्यता मिश्र, ईरान और मेसोपोटोमिया की सभ्यता से भी सम्बन्धित थी। कई बातों में उनसे यह श्रेष्ठ थी। इस सभ्यता के अनेक वर्षों पश्चात तक का इतिहास उपलब्ध नहीं होता। यह एक आश्चर्य का विषय है कि इतनी उन्नतिशाली सभ्यता का अन्त एकदम कैसे हो गया?

आर्यों का आगमन—श्री कोसाम्बी के मतानुसार आर्य का अर्थ होता है मुसाफिर। आर्यों की सभ्यता द्राविड़ों से उन्नतिशील नहीं थी किन्तु ये युद्ध कला में निपुण थे, इसके कारण द्राविड़ों और आस्ट्रिकों पर इन्होंने विजय प्राप्त की थी। मोंहजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता भारतीय थी। यद्यपि इस सभ्यता का आर्यों की सभ्यता से गहरा सम्बन्ध है किन्तु आर्य सभ्यता और इस सभ्यता में काफी वर्षों का अन्तर है। ऐसा विश्वास है कि आर्यों का आगमन इस सभ्यता के एक हज़ार वर्षों बाद हुआ होगा। समय-समय पर भारत के पश्चिमोत्तर भाग से ये भारत में आते रहे होंगे। द्राविड़ों पर इन्होंने विजय तो प्राप्त की किन्तु उनसे प्रभावित भी हुए। द्राविड़ों और आर्यों का सम्मिलन भारतीय संस्कृति के समन्वय का प्रतीक है। दोनों ही मोंहजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के प्रतिनिधि थे। भारतीय संस्कृति का इतिहास इन्हीं के मिलन से प्रारम्भ होता है। भारतीय संस्कृति में विदेशियों को आत्मसात करने की प्रक्रिया का प्रारम्भ यहीं से देखा जा सकता है। इसी समन्वय से भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद शक, हूण और यूनानी आए और यहाँ आत्मसात कर लिए

गए। समय के अनुसार अपने आप को योग्य एवं परिवर्तनशील बनाने की प्रक्रिया उसमें बराबर जारी रही।

भारत का प्राचीनतम धर्म आर्यधर्म ही था। उस समय धर्म का आशय आज के धार्मिक अर्थ के संकुचित अर्थ से कुछ ऊपर था। उसमें वैदिक और अवैदिक दोनों ही धर्म शामिल थे। जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार बुद्ध ने अपने धर्म को सदैव ही आर्य कहा है।[1]

किरात—चीन और तिब्बत के देश को किरात की संज्ञा प्रदान की गई है। किरात मुख्यतः आसाम, बंगाल और नेपाल ही में बसे थे। ये आर्यों से डेढ़-दो-हज़ार वर्ष पहले आए थे। अह्वावेद, अथर्ववेद में इस बात का प्रमाण मिलता है कि ये लोग कन्दराओं में रहा करते थे।

वेद और उनका रचनाकाल—विद्वानों ने वेदों का रचना काल २००० से ३००० ई० पू० माना है। ऋग्वेद की ऋचाओं का समय लगभग ईसा से १५०० वर्ष पूर्व माना गया है। ऋग्वेद संसार की प्राचीनतम पुस्तक मानी जाती। यूनान इस्राइल की सभ्यताओं में भी इतनी प्राचीन कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है। आवेस्ता की ही विचारधारा को आर्य भारत में लाए थे और इन्हीं से वेदों की रचना हुई। आवेस्ता की भाषा और ऋग्वेद की भाषा में बहुत ही साम्य है। ऋग्वेद की भाषा आधुनिक संस्कृत से पृथक्-सी है। वेद अपने समय के प्रचलित आर्य विचारों के समूह मात्र थे। इसी कारण उनमें सब बातों का उल्लेख मिलता है। वे निवृत्तिमार्ग के पालक नहीं थे। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोणप्रवृत्ति मूलक था। आत्मा और परमात्मा के विषय में तो विचार वाद को पैदा होने लगे थे। ऋग्वेद की अवस्था तक आर्य इस देश में बस गए थे और मध्य एशिया की बातों को भूल गए थे। कई लोगों का अनुमान है कि आर्य बाहर से नहीं आए थे किन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उन लोगों का कथन है कि वेदों में किसी ऐसी बात का उल्लेख नहीं है जिसका सम्बन्ध मध्य एशिया से हो। परन्तु यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाए तो इस बात की आपत्ति रहेगी कि यदि आर्य वहीं के निवासी थे तो उनकी रचनाओं से यह क्यों स्पष्ट होता है कि सप्तसिन्धु के किनारे उन्हें निषादों और दस्युओं से लड़ना पड़ा। फारस और यूरोप के शब्दों में संस्कृत के शब्दों की जो भरमार है उसका कारण? ऋग्वेद में हाथी और सिंह का उल्लेख नहीं है जो कि भारत में प्रमुख पशु हैं।

प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की अवस्था तक वे सप्तसिन्धु को ही अपना देश मानने लगे थे। सबसे प्राचीन रचना ऋग्वेद की ही है। भारत में लेखन कला का प्रारम्भ ईसा से १८०० वर्ष पूर्व माना जाता है। महाभारत का युद्ध ईसा से १४०० वर्ष पूर्व हुआ था। सिन्धु घाटी की सभ्यता में लेखन कला का विकास हो चुका था

---

१. डिसकवरी ऑफ इण्डिया; जवाहरलाल नेहरू; तृ० सं० सन् १९५१; पृ० १५८।

किन्तु मोंहजोदड़ो और हड़प्पा में पाई जाने वाली लिपि को आज-तक नहीं पढ़ा जा सका है।

पारसी—जाति इस बात का प्रमाण है कि भारतीय कभी फारस में भी थे। फारस से आने के कारण ही इनका यह नाम पड़ा है। आर्यों की शाखा भारत आते समय ईरान में ही रह गई थी। ये लोग भारतीय आर्यों के समान ही थे।

मिश्रण—ईसा से हजारों वर्ष पूर्व में जातियाँ भारत में एक साथ मिलकर रहने लगीं। इनका इस प्रकार मिश्रण हो गया कि हरएक ने अपना अलग-अलग अस्तित्व खो दिया। इन जातियों में कम-से-कम सांस्कृतिक भेद नहीं रह गया। इन सबमें समानता की मात्रा बढ़ती ही गई और सब जातियों का मिश्रण प्रारम्भ होकर समानता का उनमें विकास होने लगा।

हिन्दू—यह विदेशी शब्द है। प्राचीन साहित्य में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इसका पहला उल्लेख ईसा के पश्चात् लिखे गए एक तन्त्र ग्रन्थ में है।[1] वहाँ उस शब्द का प्रयोग एक जाति के रूप में किया गया है। इसका प्राचीनतम उल्लेख आवेस्ता और डोरियस के शिलालेखों में प्राप्त होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति सिन्धु शब्द से हुई है।

ईरान के आसपास के लोग 'स' का ठीक प्रयोग न करने के कारण उसे 'ह' से ही उच्चरित करने लगे। सिन्धु से वह हिन्दु हो गया। यूनानी 'स' और 'ह' का उच्चारण न कर सकने के कारण उसे इ कहने लगे और उससे हिन्दु का इन्दु हो गया। इसलिए आर्य-संस्कृति या भारतीय-संस्कृति को हिन्दु संस्कृति तो नहीं कहा जा सकता। बौद्ध और जैन शत-प्रतिशत आर्य विचारधाराएँ होती हुई भी भारतीय थीं, आर्य नहीं, न ही वह वैदिक धर्म ही था।

आस्ट्रिकों की सभ्यता वन सभ्यता ही थी। मोंहजोदड़ो की सभ्यता नगर-सभ्यता थी। द्राविड़ों ने पहले-पहल आकर नगर और ग्राम बसाने प्रारम्भ किए। यह तो प्रमाणित सत्य है कि द्राविड़ों ने ही भारत में नगर-सभ्यता को जन्म दिया था। आर्यों से द्राविड़ हार तो गए किन्तु सभ्यता की कई बातें आर्यों ने द्राविड़ों से ही सीखीं। द्राविड़ों का धर्म, सदाचार, पूजा-पाठ, देवी-देवताओं की कल्पना न जाने कितनी ही बातें आगे चलकर आर्य-सभ्यता में विलीन हो गईं।

आर्यों के बाद भी विदेशी इस देश में आते रहे। ईसा से एक सौ वर्ष बाद यूची और शक लोग इस देश में आए। आर्यों के पतन के पश्चात यूनानियों के कई दल भारत में बसे। ईसा से ४०० वर्ष बाद हूणों का आक्रमण हुआ। हूण भी यहाँ आकर बस गए। इस तरह यहाँ सब मिलकर रहने लगे।

भारतीय संस्कृति की पाचन शक्ति का यह एक जीवित उदाहरण था जब कि

---

१. डिसकवरी ऑफ इण्डिया; जवाहरलाल नेहरू, ० ५८;।

इतनी विदेशी जातियाँ एक साथ मिलकर रहने लग पड़ी थीं। इसी कारण नीग्रो, हूण तक इस सभ्यता में विलीन हो गए। प्रारम्भ से ही इस देश की संस्कृति ऐसी रही है कि वह नई संस्कृति से निपटकर उसे अपनी बना लेती रही है। दिनकर ने इसे सामाजिक संस्कृति कहा है। एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने इसकी उपमा महासमुद्र से दी है। सम्मिलन की यह प्रक्रिया आर्यों और द्रविड़ों के समन्वय से ही प्रारम्भ होती है। इससे एक प्रकार विश्व-बन्धुत्व की भावना का उदय हुआ। हिन्दू जाति की रचना ईसा पूर्व १५०० से १०० वर्ष तक हुई प्रतीत होती है।

जातिप्रथा का अन्त—आर्यों के यहाँ आगमन पर चतुर्वर्णों की व्यवस्था हो चुकी थी। प्रतीत होता है कि भारत आने से पूर्व आर्यों के तीन वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य निर्मित हो चुके थे। भारतीय आर्यों के बाहर से आने के कारण उन पर भारत की बातों का प्रभाव पड़ा। जो कुछ भी भली बुरी बातें उन्होंने सीखीं उनमें जाति-भेद भी एक था। भारत में इस समय सभ्य, अर्घ सभ्य, द्राविड़, आभीर, धनी और गरीब कई प्रकार के लोगों की भरमार थी। उन्हें जब एक समाज में समेटने की प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ उस समय जातिप्रथा का जन्म हुआ। जातिप्रथा के इतिहास के प्रारम्भ का निश्चित पता नहीं लगता।

जातियाँ सिर्फ पेशों और व्यवसायों पर नहीं बनी थीं। जाति के कारण हर कोई अपनी-अपनी सभ्यता और जातिगत संस्कृति सुरक्षित रख सकता था। उस समय जाति के बंधन दृढ़ नहीं हुए थे। लोग एक जाति से हैसियत बढ़ाकर किसी दूसरी जाति में भी जा सकते थे। जाति परिवर्तन पर उस समय कड़ी रोक तो थी नहीं किन्तु पुरोहित की स्वीकृति के बिना जाति परिवर्तन कठिन कार्य ही था। विदेशी इन्हीं विभिन्न जातियों में आकर ही भारत में समाते चले गए। वैयक्तिक एवं पारिवारिक स्थिति के कारण हर एक आदमी को अपना-अपना स्थान मिल जाता था। यह जाति प्रथा भले ही आज बिगड़ गई हो किन्तु उस समय भारतीय संस्कृति इन्हीं विभिन्न जातियों में बसती थी। यह जातिप्रथा पाश्चात्य की दास प्रथा से लाख दर्जे अच्छी थी, पाश्चात्य संस्कृति में दासों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। दासों के परिवारों के सदस्यों को बेच दिया जाता था।

अन्तर्जातीय विवाह—उस समय अन्तर्जातीय विवाह होते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों के विषय में शास्त्रों में बराबर विचार मिलते हैं। महाभारत के समय में तो विवाहों में और भी स्वतन्त्रता बरती जाती थी। कृष्ण की माता देवकी असुर कुल की थी। वह कंस की बहिन थीं। कृष्ण द्वैपायन व्यास का जन्म सत्यवती या मत्स्यगंधा से हुआ था। यह दास जाति की कन्या थी। भीम ने हिडम्बा नामक राक्षसी से विवाह किया था। अर्जुन का विवाह उलूपी से हुआ जो नाग जाति की कन्या थी। श्रुतश्रवा ऋषि के पुत्र सोमश्रवा नागकन्या से ही उत्पन्न हुए थे। बुद्ध के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि उनके वंश में आर्य और मंगोल जाति का

मिश्रण था। किन्तु इन विवाहों को देखने से पता चलता है कि आर्यों ने दूसरी जाति की कन्याओं को स्वीकार तो किया किन्तु अपनी कन्याओं को दूसरी जातियों में नहीं दिया। दिया भी हो तो ऐसे उदाहरण अपवाद ही मिलेंगे। आर्य और आर्येतर जाति का अन्तर्विवाहों द्वारा काफी रक्त मिश्रण हुआ। इससे आर्यों और द्राविड़ों के मूल भेद मिटते गए। उनकी भाषा में विभिन्नता अवश्य थी किन्तु संस्कृत के व्यापक प्रचार के कारण साहित्य और कला में यह पृथकता न रह सकी।

समन्वय की प्रक्रिया—जातिप्रथा को स्वीकार करना और हिन्दू होते चले जाना सांस्कृतिक समन्वय का प्रथम चरण था। इस मिश्रण से एक दूसरे के रस्म-रिवाज आदि भी मिलने लगे। जिन बातों में आर्यों का विश्वास था वे बातें तो पोथियों तक ही रह गईं, आम जनता ने तो वे ही रीति-रिवाज ग्रहण किए जो द्राविड़ों और आर्येतर जातियों में विद्यमान थे। कई ऐसी जातियाँ हैं जिनका कि पता वेदों में नहीं मिलता। वेदों में भारतीय संस्कृति के तो केवल बीज मात्र ही मिलते हैं। आर्यों के प्रधान देवता इन्द्र, वरुण, अग्नि, उषा, पर्जन्य आदि ही थे। वेदों के इन देवताओं की पूजा ने तो गौण रूप धारण कर लिया और हिन्दुओं के प्रमुख देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश हो गए। उनके नेतृत्व में ३३ करोड़ देवता आ गए। साथ ही अनेक व्रत, अनुष्ठान आदि चल निकले। उसके बाद ही पौराणिक कहानियों का विकास हुआ। अन्तर्जातीय विवाहों से आर्येतर स्त्रियाँ आर्य घरों में आ गईं। उनके साथ ही उनके आचार-विचार विरासत के रूप में ही आए। आर्यों ने और द्राविड़ों ने एक दूसरे से सांस्कृतिक आदान-प्रदान किए। दोनों ही हिन्दू के नाम से बाद को विख्यात हुए। वेद तो केवल आर्यों का ही ग्रन्थ था। किन्तु उपनिषदों, पुराणों और दर्शनों का जो निर्माण हुआ उसके पीछे द्राविड़-संस्कृति का प्रभाव भी था। शंकराचार्य के पश्चात हिन्दू धर्म के नेता दक्षिण में पैदा होते रहे हैं।

भौगोलिक एकता—संस्कृत के अध्ययन से भाषागत एकता के साथ ही धर्मगत एकता का उदय हुआ। इससे तीर्थस्थान किसी एक स्थान पर न होकर सारे भारत में होने लगे। पंचवटी, रामेश्वर, द्वारका, पुरी, विष्णु कांची का भ्रमण करने से लोगों में भौगोलिक एकता का भाव उत्पन्न हुआ। वायुपुराण के इस कथन से भारत की भौगोलिक एकता स्पष्ट होती है—

उत्तरे यात्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भातम् नाम भारती यत्र सोन्तत।

वायु पुराण

गंगा, गोदावरी, नर्मदा, सरस्वती और कावेरी आरम्भ से ही पवित्र नदियाँ मानी गई हैं। इस सांस्कृतिक एकता के कारण लोग या तो तीर्थों का भ्रमण करते या विद्वान शास्त्रार्थ करते हुए घूमते थे।

संस्कृति में समन्वय के कुछ तत्व—हमने पहले ही कह दिया है कि भारतीय संस्कृति में आर्यों की अपेक्षा द्राविड़ों का काफी भाग आया है। पहला तत्त्व है शैव धर्म। यह द्राविड़ संस्कृति की देन है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त शिव की मूर्तियों से यह अनुमान लगाया जाता है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ही इस देश में शिव की पूजा प्रचलित थी। अन्तर्जातीय विवाहों के साथ तो शिव की भावना द्राविड़ स्त्रियों के साथ आर्य घरों में आई। शिव की भावना आस्ट्रिक और नीग्रो जातियों की भी देन कही जाती है। लिंग पूजा भी इस देश में आर्यों के आगमन से पहले ही प्रचलित थी। गणेश की कल्पना का प्रारम्भ विघ्नेश के रूप में ही हुआ। विद्वानों ने गणेश को अवैदिक माना है। शिव के द्राविड़ और आर्य नाम दोनों ही प्रचलित हैं। शैव धर्म के भीतर द्राविड़ संस्कृति के बीज तो पूर्ण रूप से विद्यमान हैं।

वैष्णव धर्म के भीतर इतने प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। विष्णु की कल्पना आर्येतर न होती तो भला आर्य विष्णु के काले रूप की कल्पना क्यों करते? विष्णु की कल्पना का विकास आभीर और द्राविड़ जातियों से ही विकसित हुई है। इसके पश्चात कृष्ण का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप आता है। कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष थे इसमें कोई संदेह नहीं है। अवतार के रूप में भी कृष्ण की कल्पना बहुत समय से चली आ रही है। प्राचीन भारतीय साहित्य और शिल्प में कृष्ण के शृंगार और लीलाओं का उल्लेख या चित्रण नहीं मिलता। वैष्णवों के प्रसिद्ध पुराण हरिवंश, विष्णुपुराण और भागवत हैं। कृष्ण के ही साथ राधा की भी कल्पना आई।

बुद्ध के समय में जनता में रामकथा का पूर्ण प्रचलन था। जैन ग्रंथ के ६३ महापुरुषों में राम और लक्ष्मण की भी गिनती होती है। वेद में रामकथा के अनेक पात्रों का उल्लेख आता है। रामकथा ऐतिहासिक घटनाओं पर ही आधारित है। बाल्मीकि रामायण में अयोध्याकांड से युद्धकांड तक की ही कथा थी। बालकांड और उत्तरकांड बाद के कवियों की रचना है। रामायण बुद्ध के बाद ही लिखी गई है, ऐसा कई विद्वानों का कथन है। रामायण महाभारत से पहले लिखी गई है और भगवान बुद्ध के समय तक तो यह जन-जन में प्रचलित हो चुकी थी। रामकथा के लोकप्रिय होते होते उसमें नई कथाएँ आकर जुड़ने लगीं। रामकथा का जो स्वरूप बौद्धधर्म के साथ बाहर पहुँचा उसमें बौद्ध राम के अवतार नहीं थे। रामकथा में अलौकिकता का प्रवेश होने लगा था। भारतीय संस्कृति की समन्वय प्रक्रिया में रामकथा ने अद्भुत समन्वय का कार्य किया है। अयोध्या, किष्किंधा, लंका को एक सूत्र में बाँधने पर भारत की भौगोलिक एकता का भी उससे बोध होता है। अन्य रामकथाओं पर बाल्मीकि रामायण का प्रभाव तो पड़ा ही है। इससे शैवों और वैष्णवों के सम्मिलन में काफी सहायता भी मिली। राम कथा शिव से अलग नहीं है। उसमें शिवजी के कई प्रसंग आते हैं। रामायण और महाभारत ऐसे महाकाव्य हैं कि जिन्होंने भारत में चलने वाली संस्कृति की समन्वयात्मक प्रक्रिया को पुरस्सर किया है। वैष्णव मत में राम भक्ति की प्रधानता

द्राविड़ों की ही देन है।

आर्यों ने जो बातें वहाँ से लीं उनकी ठीक-ठीक गिनती तो नहीं की जा सकती। बाहर से आर्य तो थोड़ी संख्या में ही आए होंगे। बाद को यहीं के लोगों का आर्यीकरण हो गया होगा। हिन्दू-संस्कृति में आर्य और आर्येतर संस्कृति का ही सम्मिलन है। देवी पूजा, भूत-प्रेत, तन्त्र-मन्त्र आदि बाहर से ही आए। वृक्षों, नदियों की पूजा सब बाहरी उपकरण ही हैं। पीपल, बेल आदि उसी आधार पर पवित्र माने जाते हैं। गंगा में अस्थियों आदि का फेंकना तो वेदों में नहीं है। होली और वसंतोत्सव आर्येतर जातियों की ही देन है। होली में मदिरा, नशा, अपशब्द व्यवहार, अश्लील शब्दों का प्रयोग इस बात का साफ प्रमाण है कि यह निम्न जातियों से ही आर्यों में आई।

विद्रोह—धीरे-धीरे यह संस्कृति कई विदेशी तत्त्वों को स्वीकार कर लचीली तो बनती गई किन्तु उसमें कई बुराईयाँ भी आती गईं। कर्मकाण्ड इतना बढ़ गया कि उसके विरुद्ध यह जिज्ञासा उठी कि वास्तविक धर्म क्या है? धर्म में स्थूलता का विकास हो गया। यज्ञों में बलि आदि को देखकर सूक्ष्म चिन्तन की आवश्यकता जान पड़ी। इस नये चिन्तन से नया साहित्य पैदा हुआ उसे उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषदों की रचना पहले मौखिक हो चुकी थी। उपनिषद् का अर्थ कोई पास बैठना लगाते हैं (उप=निकट, निषद्=बैठना) शिष्य गुरु के पास बैठकर जो तत्त्व समझते, उससे जो ज्ञान निकलता वह वह उपनिषदों में संचित है। वेदों के विकास की परम्परा में ही उपनिषदों ने साथ दिया है। योरोपीय विद्वानों ने वेदों की अपेक्षा उपनिषदों पर ही अधिक लिखा है।

जब कोई क्रान्ति होती है तो वह पहले कई वर्षों तक अर्धजाग्रत अवस्था में ही रहती है। कई तत्त्व होते हैं जो धीरे-धीरे पूर्णता प्राप्त कर क्रान्ति का रूप धारण करते हैं। वेदों की निन्दा उपनिषदों ने तो नहीं की किन्तु उनकी आलोचना अवश्य की। यज्ञों की प्रधानता के कारण ब्राह्मणों का स्थान समाज में प्रधान हो गया था। ब्राह्मणों ने इतना प्रभुत्व स्थापित कर लिया कि बौद्ध और जैन विचारधाराओं के रूप में विद्रोह हुआ।

ई० पू० छठी सदी का समय बौद्धिक हलचल का था। उपनिषदों ने सूक्ष्म चिंतन कर कई प्रश्न लोगों के समक्ष रख दिए। मनीषी तरह तरह के प्रश्नों पर विचार करने लगे थे। अनेक मत-मतान्तर और सम्प्रदाय बढ़ गए थे। कोई वेद को प्रमाणित मानता था, कोई नहीं। ब्राह्मणवाद के संकीर्ण घेरे से सर्वप्रथम बुद्ध ने ही बाहर निकलने का प्रयास किया। जो लोग ब्राह्मणत्व से दूर थे वे लोग बौद्ध धर्म की ओर झुके। बुद्ध ने मनुष्य का महत्त्व उसके ज्ञान की अपेक्षा कर्म में बताया। ज्ञान के अद्भुत प्रेमी होने के कारण उन्होंने स्वाधीन चिंतन किया। विवेक और बुद्धि का आधार लेकर उन्होंने अपना मार्ग प्रशस्त किया। ब्राह्मणों और बौद्धों का सिद्धान्त रूप से ऐसा कोई विरोध नहीं था। परन्तु बौद्धधर्म के प्रचलन से जब ब्राह्मणों की रोटी खतरे में आने लगी

उस समय ये उबल पड़े। बौद्धों के संघर्षों के कारण ब्राह्मणवाद ने पुनः जोर पकड़ा! और बाद को बौद्धधर्म के पतन पर अपनी नींव को खड़ा किया। ब्राह्मणवाद के पुनः प्रस्थापन से यह भी हुआ कि धर्म की अपेक्षा उनकी रूढ़ियाँ ही प्रधान हो गईं। जैसे-जैसे ब्राह्मणत्व की पवित्रता बढ़ती गई वैसे-वैसे निम्न जातियों पर उनके अत्याचार भी बढ़ते गए। जब बौद्धधर्म और जैन धर्म का उदय हुआ, वह समय मानसिक कोलाहल का था। अनेक प्रश्न जो वेदों ने छोड़ दिए थे उन पर आगे विचार हो रहा था। कई प्रकार के मत-मतान्तर उस समय प्रचलित थे। कोई मानता कि मृत्यु ही अन्त है कोई यह मानता कि जीवन उसके बाद भी है। उपनिषदों में ही परस्पर विरोधी बातें पाई जाती हैं। अद्वैतवाद, द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद अपना उद्गम उपनिषदों में ही मानता है। वेदों की निन्दा बुद्ध से भी पहले प्रारम्भ हो गई थी। वेदों का कर्म-कांड ऋषियों को स्थूल प्रतीत हुआ। बृहस्पति और चार्वाक वेदों के तो भयंकर निंदक थे।

बुद्ध और महावीर की यह विशेषता थी कि ब्राह्मणों के ऊँचे पद को जन्म के आधार पर उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया। दूसरे वे मनुष्य मात्र को बराबर मानते थे। उस समय धर्म को साधन बनाकर पुरोहित वर्ग अपनी रोटी कमा रहा था। बुद्ध और महावीर के पहले अहिंसा का पालन इतने सक्रिय रूप से नहीं किया जाता था। ऋषि मुनि स्वयं ही मांस-भक्षी थे। यज्ञों में बलि होती थी। अश्वमेध नाम ही इस बात का सूचक है कि उसमें अश्व का वध किया जाता था। बुद्ध ने पहले-पहल कहा कि इन निरीह पशुओं की निर्मम हत्या से भला क्या लाभ? उन्होंने कहा कि जब शाक-पात ही से काम चल सकता है तो भला निरीह पशुओं को मारने से कोई लाभ नहीं है। बौद्ध-धर्म के साथ ही अहिंसा का सिद्धान्त फैला। बाद को भारत से बुद्ध धर्म तो चला गया किन्तु अहिंसा तत्त्व जन-जन में समा गया। कालान्तर जैनधर्म का विकास तो हिन्दू धर्म के घेरे के अन्दर ही हुआ किन्तु बौद्ध धर्म का विकास उसके घेरे के बाहर ही हुआ। बुद्ध प्रचलित परम्पराओं के विरोधी नहीं किन्तु सुधारक थे।

बौद्धधर्म बाद को हीनयान और महायान में परिवर्तित हो गया। नाथपंथियों और योगियों की परम्परा का विकास इन्हीं से हुआ। हर्षवर्धन के पश्चात भारतीय संस्कृति की उन्नति की प्रक्रिया में अवरोध आ जाता है। उस समय से १९वीं सदी के प्रारम्भ तक भारतीय इतिहास का समय अधिकतर गुलामी का ही समय था। भारतीय संस्कृति के गतिशील तत्त्वों में भी पूरी तरह से अवरोध आ चुका था।

इस्लाम का प्रादुर्भाव—भारत में इस्लाम का प्रादुर्भाव तुर्क और अफगान आक्रमणकारियों के ही पहले होने लगा था। उन आक्रमणों को केवल तुर्क, अफगान या मुगल आक्रमण ही कहा जा सकता है। उसे मुसलमानी आक्रमण कहना उसी प्रकार होगा जैसे कि अंग्रेजों के आक्रमण को क्रिश्चियन आक्रमण कहना।[1] मुसलमान तो

१. डिसकवरी ऑफ इण्डिया; जवाहरलाल नेहरू।

पहले ही सौदागरों के रूप में भारत आने लगे। सूफ़ियों के रूप में भी इस देश में तुर्क और अफगान आक्रमणकारियों से पहले भारत में इस्लाम का प्रादुर्भाव हो चुका था।

इस्लाम से पहले आने वाले समस्त धर्म भारत में आत्मसात् कर लिए गये थे। किन्तु इस्लाम का स्वरूप भारत के लिए नया था। भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता इन मुगल, तुर्क और अफगानों की आंधी के समक्ष जाती रही। इस्लाम की कट्टरता और उसके एकेश्वरवाद को यहां आत्मसात नहीं किया जा सका। इसके पहले भारत में जो जातियां आई थीं उनका दृष्टिकोण व्यापक था। उनमें काफी उदारता थी। इस्लाम अपने सिवाय दूसरे मजहब की कल्पना भी व्यर्थ समझता था। वह किसी भी व्यक्ति को अपने मजहब में लेने को तैयार था किन्तु केवल इस्लाम में आने के बाद ही। इस्लाम के सिवाय अन्य धर्मावलम्बियों को मुसलमानों ने काफिर करार दिया था। हिन्दुओं की इस्लाम से घृणा दोनों धर्मों के किसी मौलिक अन्तर के कारण नहीं हुई। दोनों धर्मों में ऐसा कोई मौलिक भेद नहीं था। विदेशियों ने इस्लाम के नाम पर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जो अमानुषिक अत्याचार किए उनसे जनता सिहर उठी। इस्लाम को तुर्क और अफगानों ने अपनी स्वार्थ-वृत्ति का साधन बनाया। उनकी ही संकीर्ण और कट्टर मनोवृत्ति के कारण यह धर्म हिन्दुओं से अलग रहा। दुर्भाग्यवश किसी मुसलमान लेखक ने भी इन विदेशियों के अत्याचारों पर खेद व्यक्त नहीं किया। उनका मौन भी संदेहास्पद ही है।

महमूद गोरी और बाबर भारत में इस्लाम के सच्चे प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। इनके हाथों तो भारत में इस्लाम ने अपना आदर ही खो दिया। इस्लाम भारत में पहले-पहल दक्षिण में व्यापारियों के साथ आया। उस समय के मुसलमान उदार थे। बर्बरता का प्रवेश तो इस्लाम में तब हुआ जब कि तातारों ने इस्लाम को स्वीकार किया। गंगा सिन्धु के मैदानों में झण्डा गाढ़ने वालों में अली और अबुबक्र की पवित्रता नहीं थी। साम्राज्य और विजय के मद में इस्लाम तो उनकी स्वार्थपूर्ति का साधन-मात्र था। इस्लाम की सेवा जिहाद, मूर्तिपूजा का खण्डन ताहीद आदि का प्रचार तो अपने लोभ को छिपाने मात्र के लिए था। गजनी और गोरी के साथ तो भारत में इस्लाम का घृणित रूप ही आया।

इस्लाम को भारत में फैलते देर न लगी थी। पंजाब, बंगाल और काश्मीर में तो गाँव-के-गाँव मुसलमान हो गए। निम्नजातियां पशु से भी हीन समझी जाती थीं। वे नगरों से बाहर निवास करती थीं। कितनी तो ऐसी ही जातियां थीं कि उनकी गणना किसी धर्म में नहीं होती थी। इस्लाम उन्हें बिलकुल अपने अनुकूल ही जान पड़ा। मुसलमानों के आने के पहले भारत में लाखों की संख्या में ऐसे लोग थे जिनकी गणना न तो हिन्दुओं में ही होती थी और न ही उनका हिन्दू आचार-विचारों से कोई सम्बन्ध ही था। शास्त्रों और ब्राह्मणों के अत्याचारों के कारण ये लोग हिन्दुओं से विमुख थे।

मध्ययुग तक आते-आते इनमें बाह्याचार और ढोंग बढ़ गया था। नमाज-रोजा, जकात, हज और जिहाद इस्लाम के मूल माने जाते थे। विदेशियों के सिद्धान्तों और व्यवहारों में कोई मेल नहीं था।

जिहाद का सामान्य अर्थ होता है धर्मयुद्ध किन्तु इस शब्द ने इन तुर्कों और अफगानों द्वारा भीषण अर्थ ग्रहण कर लिया। हर एक युद्ध को जो हिन्दुओं से हो उसे मुसलमान जिहाद के नाम से पुकारने लगे। इस शब्द का प्रयोग इस्लाम के प्रसार के लिए की गई किसी भी लड़ाई के लिए नहीं है। काजियों ने युद्ध को जिहाद में बदल दिया। जिसका नाम सुनकर या उससे होने वाले अत्याचारों का नाम सुनकर ही दूसरे काँप उठते थे।

नबी ने जिजिया ईसाई, यहूदी, पारसी एवं गैर अरबी शत्रुओं से युद्ध के बाद वसूल किया था। वह सन्धि की शर्तों के अनुसार था। हजरत उमर के समय में यह एक वैयक्तिक कर ही था। किन्तु भारत में अलाउद्दीन और विशेषकर औरंगजेब की कृपा से यह घृणित रूप धारण कर चुका था। अकबर ने इसे हटा दिया था।

दुनिया भर के पाप कर एक मुसलमान मक्का और मदीना की यात्रा कर हाजी हो जाता था। उसके पाप मिट जाते थे। हज तीर्थ का ही दूसरा रूप था। मुसलमान मूर्ति तो पूजते नहीं थे किन्तु फकीरों की दरगाहों को सिर नवाते, फूल चढ़ाते और सजाकर रखते थे। यह कार्य किसी मूर्तिपूजा से कम नहीं था। दरगाहों पर सिर झुकाना हजरत मुहम्मद के मौलिक सिद्धान्तों का ही विरोध करना है। मुसलमान एकता का दावा तो करते थे किन्तु वे भी कई भागों में बँटे हुए थे। शिया सुन्नी के रूप में उनके दो प्रमुख सम्प्रदाय थे जो आगे न जाने कितने ही भागों में बँटे हुए थे। दोनों ही एक दूसरे को नीची निगाह से देखते थे। अत्याचारियों के हाथ में पड़कर शान्तिप्रिय इस्लाम अत्याचार और प्रताड़न का ही प्रतीक बन गया। एक काफिर की हत्या करने पर गाजी की पदवी मिल जाती थी। गैर मुसलमानों की हत्या कर न जाने कितने ही गाजी हुए।

इस्लाम की प्रगति इतनी शीघ्र तो हुई किन्तु इसमें दर्शन नामक कोई वस्तु नहीं थी। इस धर्म की बातें स्थूल ही थीं, इसलिए संसारी भी। इस कारण इस्लाम में बौद्धों की तरह न तो उच्च कोटि का चिन्तन ही हुआ और न किसी दर्शन का विकास ही। मुसलमानों का अल्लाह एक शक्ति-सम्पन्न पुरुष था। इस्लाम ने ईश्वर के उन रूपों की अधिक कल्पना की है जहाँ प्रेम की अपेक्षा भय को अधिक स्थान है। ईसाइयों के प्रभु का आधार प्रेम है, मुसलमानों का खुदा भय का भगवान है। खुदा और उसके बन्दे में आतंक का सम्बन्ध है। किन्तु मनुष्य प्रेम का भूखा होता है।

जिन प्रदेशों में मुसलमानी विचारधारा का प्रचार हुआ वे क्षेत्र पहले बौद्ध और वेदान्त की विचारधाराओं से प्रभावित थे। अरब की गरम रेत से पैदा होने वाली विचारधारा पर इसका प्रभाव पड़ा और सूफियों की उत्पत्ति हुई। सूफी फकीरों ने काफी भ्रमण किया, वे भारत भी आए। सूफियों के रूप में इस्लाम का भारत में आदर ही हुआ था। परन्तु भारत राजनैतिक दृष्टिकोण से कमजोर हो चुका था। दो राज्य ही

एक दूसरे को सहायता नहीं देते थे। सारे देश में सत्ता विकेन्द्रित थी। ऐसी कोई भी सत्ता नहीं थी जो भारत की सांस्कृतिक रक्षा कर सकती थी। इस्लाम ही भारतीय इतिहास में ऐसा पहला धर्म था जिसका कि भारतीय संस्कृति के साथ-साथ ठीक-ठीक समन्वय नहीं बैठ सका। इस्लाम अपने मजहब के अन्दर किसी भी तत्त्व को स्वीकार कर सकता था। उसे कोई आपत्ति नहीं थी किन्तु इस्लाम के बाहर किसी चीज की कल्पना मात्र से इस्लाम की कट्टरता की प्रतिष्ठा में दाग लगता था। इसलिए मुसलमानों ने भारतीय इतिहास में हर जगह अपने आपको पृथक् रखने का ही प्रयत्न किया है। पाकिस्तान की रचना भी इसी भावना पर हुई। वे सारे भारत को इस्लाम धर्मावलम्बी के रूप में देखना चाहते थे। किन्तु भारतीय संस्कृति की ठोस शक्ति के समक्ष यह उनका स्वप्न मात्र ही रहा।

हिन्दुओं की परिस्थिति—यह तो हो गई उस समय के इस्लाम धर्मावलंबियों की दशा। हिन्दुओं की दशा तो और भी गई-बीती थी। पिछले अध्यायों में इस बात की चर्चा की गई है कि कैसे उनमें भी बाह्याचार और ढोंग चरमावस्था पर पहुँच चुका था। जब विदेशियों ने भारत पर विजय प्राप्त की उस समय उसका यह आशय नहीं था कि केवल विदेशियों की सैनिक शक्ति ही यहाँ के निवासियों से बढ़ी हुई थी। उसका आशय यह भी था कि उनकी तत्कालीन संस्कृति हमारी तत्कालीन संस्कृति से अधिक गतिशील थी। अंग्रेजों ने जब भारत पर विजय प्राप्त की उस समय उनकी सैनिक शक्ति ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक ढाँचा ही हमसे उन्नतिशाली था। हिन्दू और मुसलमान दोनों से ही अंग्रेजों की तत्कालीन संस्कृति गतिशील थी।

निर्गुण सन्तों की परम्परा—भारतीय संस्कृति में हर्षवर्धन के पश्चात जो एक अवरोध आ चुका था उसका अभ्युत्थान भक्ति आन्दोलन के रूप में मध्ययुग में हुआ। राजनैतिकरूप से देश गुलाम तो हो चुका था किन्तु उसकी आत्मा मरी नहीं थी। निर्गुण सन्तों की यह परम्परा भक्ति आन्दोलन का ही एक भाग था। एक ओर वह विदेशियों को आत्मसात करने की शक्ति रखती थी तो दूसरी ओर भारतीय तत्त्वों को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने का उसका दावा था। ये समाज के निचले-से-निचले वर्ग से उठे और अपनी साधना, योग्यता और तपस्या से सबका आदर प्राप्त कर इन्होंने यह बता दिया कि ये किसी उच्च जाति के लोगों से पीछे नहीं हैं। भारतीय संस्कृति ने एक बार पुनः इन निर्गुण सन्तों के रूप में अपने आपको समयानुकूल बनाकर अपनी गतिशीलता का परिचय दिया। इसे भले कट्टर मुसलमानों या उच्चवर्णीय हिन्दुओं ने न स्वीकार किया हो किन्तु इन सन्तों को उसकी लेशमात्र चिन्ता भी नहीं रही।

भारत का अहित उस समय गलत किस्म की धार्मिकता से हुआ। यह धर्म सिर्फ बाह्याचारों तक ही सीमित होकर रह गया था। वे चाहे हिन्दू हों या मुसलमान दोनों की एक-सी ही दशा थी। हिन्दुओं में छुआछूत की बीमारी बढ़ गई। स्पर्श मात्र से ही मनुष्य अशुद्ध घोषित कर दिया जाता था। विदेश यात्रा पाप मानी जाने लगी। इनके

अतिरिक्त कितने ही तरह के बाह्याचार प्रचलित हो उठे। यह भारत के घोर पतन का युग था।

इस्लाम के आने के पूर्व भारतीय संस्कृति की यह विशेषता थी कि बाहर से आने वाले अनेकों विदेशी तत्त्वों को इसने आत्मसात कर लिया। कई विदेशी संस्कृतियों को मिलाकर अपने आपको उसने समयानुकूल रखा। हिन्दू कहलाने वाली ही जाति में नीग्रो, द्राविड़, आस्ट्रिक, आर्य, शक, हूण आदि का मिश्रण था। वह किसी एक पैगम्बर या धर्माचार्य का धर्म नहीं था। इसके सिद्धान्तों की एकता में भी विभिन्नता थी और विभिन्नता में भी एकता। इस्लाम और हिन्दुओं में स्थित गहरी खाई को पाटने का प्रयास इन सन्तों ने किया।

इन सन्तों ने चाहा कि जनता अन्ध विश्वासों से बचे और धर्म के नाम बाह्याचारों में न फँसे। परोक्ष तत्त्व से भले ही हिन्दू निराकारवादी रहे हों किन्तु उनकी उपासना पद्धति तो सदैव ही साकार रही है। अनेक प्रकार के निराकार दर्शनों के बावजूद भी इन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि परमात्मा का प्रतीक साकार ही है। अपनी कमजोरी के कारण ही मनुष्य साकार प्रतीक ढूंढ़ता है। साकारवादियों की संख्या निराकारवादियों से अधिक है।

इन सन्तों में दुराग्रह का अभाव था। धर्म के ऐसे व्यावहारिक नेता भारतीय इतिहास में बिरले ही हैं। वे सहजमार्गी थे। धर्म की कोरी बातों के उपदेश देते रहना उनका कार्य नहीं था। उन्होंने सरल और व्यावहारिक बातों को ही लोगों के समक्ष रखा। धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वासों को पुरस्सर करना उनकी परम्परा में नहीं था। धर्म से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह उसकी आचार और नीति के कारण ही होता है। इस कारण इन्होंने अपना जोर आचार और नीति पर ही दिया।

पण्डित और मुल्लाओं का मार्ग उन्होंने नहीं पकड़ा। वेदों, ब्राह्मणों और मुल्लाओं की निन्दा उनका कोई लक्ष्य नहीं था। वे साधुता के जीते-जागते प्रतीक थे। यह तो उस समय की बात है जबकि उच्चवर्णीय जातियों ने शूद्रों और निम्नवर्ण को अपनी स्वेच्छापूर्ति का साधना बना रखा था। वे वाणी के अडिग और संकल्प के पक्के थे। वाणी और आचरण से वे अत्यन्त कोमल थे। उनकी वाणी और व्यावहारिक आचरण में एकता थी। अन्य पुरोहित और मुल्लाओं की तरह उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। यदि ऐसा न होता तो उस घोर पतन के समय में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही से उन्हें आदर प्राप्त न होता। उनकी स्पष्टता में सत्य का प्रतिनिधित्व था, घमण्ड या अहंकार का नहीं। वह तो ऊंची जातियों के अभिमान का प्रत्युत्तर भाव था। निन्दा, कुत्सा और विरोध का भी उन्हें सामना करना पड़ा किन्तु विरोधों का मुकाबला भी किया।

निवृत्ति मार्ग और सन्त—यह बात उपनिषदों में ही जन्म ले चुकी थी कि "जन्म लेना ही बुरा है और हम ऐसी कोशिश करें कि जन्म लेना ही न पड़े।" ऐसे

उपदेशों में दार्शनिक रूप से चाहे जितनी भी गहराई क्यों न रही हो किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से तो यह पतन ही था। ऐसे विचारों ने पलायन वृत्ति को ही पुरस्सर किया। उसके कारण जीवन हमारे लिए घृणा की मूल वस्तु बन गया। जो जाति जीवन से ही घृणा करती है भला वह जीवन पर विजय क्या प्राप्त करेगी ?

बौद्धों और जैनों का और बुरा प्रभाव यह भी पड़ा कि इस निवृत्तिमार्गी भावना का विकास ही हुआ। इतिहास का यह भी व्यंग्य है कि जिन देशों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया वे भारत से अधिक ही प्रवृत्ति मार्गी हैं और जहाँ बुद्ध धर्म अहिंसा पर जोर देता है तो वे पशु क्या कीड़े-मकोड़ों तक के भक्षक हैं।

भारत से यद्यपि बौद्धधर्म जा चुका था किन्तु फिर भी भारत बौद्ध देशों की अपेक्षा अधिक निवृत्तिमूलक और अहिंसक रहा है। मध्ययुग में एक तो राजनैतिक गुलामी और ऊपर से यह वैराग्य की भावना। इससे लोगों की रही-सही चेतना भी जाती रही। उनमें स्वतन्त्र विचारों का अभाव ही हो गया। नीत्शे ने तो बौद्धधर्म को निवृत्ति का ही प्रचारक माना है। इसी कारण निराशा के अंधकार में जीने का हमारा स्वभाव ही हो गया। सन्तों में भी प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति की भावना किसी-न-किसी रूप में पाई ही जाती है। फिर भी उन्होंने गृहस्थ-जीवन की महिमा बताई है। भारत को पुरातन-काल में जितनी भी धार्मिक विचारधाराएँ मिली हैं उनमें निवृत्ति को किसी-न-किसी प्रकार स्थान मिला ही है। सन्तों का मार्ग मध्यम, विशेषकर सहज था। सिख गुरुओं ने तो गृहस्थ धर्म की ही महिमा पर अत्यधिक जोर दिया। उन्होंने साफ कहा कि "काहे रे बन खोजन जाई।" यह वह धर्म नहीं था जहाँ पर कि मुक्ति केवल संन्यास से ही प्राप्त होती थी। इसके लिए उन्होने राजा जनक का उदाहरण सामने रखा। संसार में ही रहकर संसार से अलिप्त रहना ही कठिन है। गृहस्थ जीवन का यह आदर्श मध्यकालीन संस्कृति की एक देन कही जा सकती है।

जातिप्रथा को चुनौती—जिस जातिप्रथा को चुनौती देकर भगवान बुद्ध ने एक महान आन्दोलन का श्रीगणेश किया, सन्तों ने उसे चरम सीमा पर पहुँचा दिया। उन्होंने कहा कि सिर्फ ब्राह्मण कुल में ही जन्म लेने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। उन्होंने मनुष्य की मर्यादा को पूरा-पूरा ऊपर उठाया। महानता का ठेका ब्राह्मणों ने ही नहीं उठा रखा है। कोई न केवल ब्राह्मणत्व के कारण और न ही शूद्रत्व के कारण महान या नीचा हो सकता है। हिन्दुओं में कई जातियाँ और उपजातियाँ तो थीं ही किन्तु मुसलमान भी इस दोष से बचे नहीं थे। शिया और सुन्नी मुसलमान होकर भी एक-दूसरे को नीची निगाह से देखते थे। "अगर बुद्ध नहीं हुए होते तो इस देश में दादू और कबीर और नानक और हरिदास निरंजनी कोई भी नहीं हुआ होता।"[1] ऐसा तो खैर कहा नहीं जा सकता क्योंकि यह तो अतिशयोक्ति पूर्ण कथन ही है। हाँ यह हो सकता

---

१. संस्कृति के चार अध्याय; दिनकर।

था कि शायद इन सन्तों द्वारा जाति प्रथा या बाह्याचारों पर ऐसे गहरे प्रहार न होते। सन्तों ने एकता के व्यावहारिक पक्ष का जोर-शोर से समर्थन किया।

सन्तों की देन—सन्त विचारधारा भारत के लिए कोई नवीन वस्तु तो थी नहीं किन्तु उसकी विशेषता तो उस दिन से ही प्रतीत होने लग गई थी जिस दिन से निम्न जातियों को उच्च जातियों के अमानुषिक अत्याचारों का सामना करना पड़ा था। सन्तों को मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं से इसलिए बल प्राप्त हुआ क्योंकि मुसलमानों की अपेक्षा वे अधिक उदार थे। बुद्ध का विरोध इस्लाम की पूर्ववर्ती घटना है। किन्तु सन्तों द्वारा जातिप्रथा का विरोध तो इस्लाम की परवर्ती घटना ही है। हिन्दुओं पर सन्तों का व्यापक प्रभाव तो नहीं पड़ सका लेकिन लोगों के सामूहिक जीवन पर उसका काफी असर पड़ा। निम्न जातियों के लिए यह विचारधारा तो एक प्रकार से वरदान ही थी।

निचली जातियों पर इन सन्तों ने जो उपकार किए उनको निचली जातियाँ तो कभी भुला ही नहीं सकतीं। समाज के निचले धरातल से उठकर उन्होंने यह बता दिया कि अपनी अनवरत तपस्या और साधना से वे उच्च जातियों से कहीं आगे बढ़ सकते हैं। निम्न जातियों को उन्होंने उच्च वर्ण की जातियों के अत्याचारों से रोका। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें इस्लाम की ओर प्रवृत्त होने से बचा लिया। इन्हीं निम्न जातियों को इन सन्तों ने भारत के महान सांस्कृतिक गौरव का परिचय इसी रूप में करवाया। नीति के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शों का पालन उन्होंने स्वयं पूर्ण कर उसका आदर्श लोगों के समक्ष रखा।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी तक इस्लाम भारत का एक अंग-सा बन गया था। ऐसे समय में सन्तों ने स्पष्ट महसूस किया कि उनसे भारत से बाहर चले जाने की बात कहना व्यर्थ था। उनकी यहाँ कई पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। यहाँ की मिट्टी का पानी उनमें खून बनकर समा चुका था। सन्तों ने इसी बात पर जोर दिया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने वैमनस्य को छोड़कर अपने स्नेह सम्बन्धों को प्रतिष्ठित करें। इस धार्मिक वैमनस्य से सामाजिक अस्थिरता ही बढ़ रही थी। उन्होंने मनुष्यता की वाणी में राम रहीम का भेद नहीं रखा। इनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियों के सन्त थे। ये अपनी महानता के कारण ही ऊपर उठे थे। भारतीय इतिहास के बौद्धकाल में जो श्रेय बौद्ध पण्डितों को है इतिहास के इस युग में वही श्रेय इन सन्तों को है। भारत के हर भाग में इनकी वाणी का प्रसार हुआ। जनता की वाणी में ही इन्होंने अपना संदेश पहुँचाया। समस्त सन्तों ने हिन्दी में पदरचना अवश्य की। हिन्दी सन्तों की वाणी तो हिन्दी भाषा में थी ही किन्तु महाराष्ट्र, पंजाब, बंगाल तक के भक्तों ने हिन्दी में भी पद रचना की। हिन्दी भाषा को फैलाने में इन सन्तों ने काफी योगदान दिया। हिन्दी का आज जो स्वरूप दिखाई पड़ता है उसे सन्तों का ऋण स्वीकार करना ही पड़ता है। भाषा की इस एकता ने राष्ट्र के बड़े भाग में एकता का पुनः प्रयास किया। हिन्दी

को जन-जन में फैलाकर उन्होंने उसे जनता की भाषा बनाया। इतिहास में वह समय भी रहा है जबकि फारसी राजभाषा रही है; इतिहास में वह समय भी रहा है जब कि अंग्रेजी भी राजभाषा रही है। हिन्दी को किसी राज्य ने प्रश्रय नहीं दिया। यह जन-जन में ही समाई रही। इतिहास में वह समय भी आया जब राष्ट्रभाषा के रूप में उसे आदर मिला। इसकी पृष्ठभूमि के प्रणेता किसी हद तक ये सन्त ही थे। व्याकरण के नियमों से और काव्य के शास्त्रीय नियमों से ये अनभिज्ञ थे। ये केवल एक बात जानते थे कि अपनी बात को सहजभाव से सहज भाषा में लोगों के सामने कैसे रखना।

तुर्क और अफगान बादशाहों ने इस्लाम को अपने स्वार्थ का साधन बनाया। कुरान के नाम पर अपने धर्मावलंबियों को उभाड़कर उन्होंने ऐसे अमानुषिक अत्याचार किए जिन्हें कि भारतीय इतिहास तो कभी भी नहीं भुला सकता। भारत में प्रारम्भ में इस्लाम का जितना गौरवमय स्वरूप था अब उतना ही उसका पतन हो चुका था। फिर भी उनका सामाजिक गठन हिन्दुओं से सुदृढ़ था। अस्पृश्यता, ऊँच-नीच आदि कई बातें उनमें नहीं थीं। इस्लाम में निम्न जातियों को त्राण मिला था। इसी कारण इस्लाम भारत में काफी जोर से फैला। भारत में इस्लाम के फैलने का कारण इस्लाम की विशेषता नहीं थी। वह इस कारण नहीं फैला कि उसमें कोई विशेष गुण थे। उसके फैलने का कारण हिन्दुओं का पतन और उच्च वर्णीय जातियों का मिथ्याभिमान ही था।

इन सन्तों में बाहरी विभिन्नता के रहते हुए भी इनकी मूल विचार-धारा में विश्रृंखलता नहीं आने पाई। उनके द्वारा प्रस्तुत मत केवल दार्शनिकों का नहीं था, वह सर्वसाधारण का था। मध्ययुग में भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान में यह एक अद्भुत योगदान है। बौद्धयुग में दर्शन का हद दर्जे तक विकास हुआ। गहराई भी उसमें थी किन्तु सर्वसाधारण से उसका तादात्म्य न बैठ सका। एक समय भारत में बौद्धधर्म का बोलबाला था किन्तु वह जनता तक नहीं पहुँच सका था। वह मठों और विहारों में ही समाकर रह गया। हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का झोंका वह नहीं सह सका अतएव भारत से उन मठों और विहारों के नष्ट होते ही वह भी नष्ट हो गया।

अपनी वाणी पर अडिग रहने के लिए इन सन्तों को बलिदान तक देने पड़े। विशेषकर सिख गुरुओं ने इसके ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किए। गुरु अर्जुनदेव और गुरु तेगबहादुर के बलिदान इस बात की साक्षी हैं। उन गुरुओं की परम्परा तो मिट गई किन्तु उनके पश्चात् उनकी वाणी को अमरता प्रदान करने के लिए गुरु ग्रन्थ साहिब का रूप रह गया। उनकी वाणी गुरु ग्रन्थ साहिब के रूप में सुरक्षित रह गई। दस गुरुओं की यह क्रमिक परम्परा भारत के धार्मिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। उस युग में जब एक योग्य गुरु को योग्य शिष्य नहीं प्राप्त होता था उस समय सिख गुरुओं में एक के पश्चात् एक दस योग्य गुरु होते गए। वे अपनी जिम्मेदारी के योग्य अधिकारी थे। कबीर और दादू की शिष्य-परम्परा में एक भी ऐसा शिष्य नहीं हुआ जो कि उनकी बराबरी करता। सिख गुरु हर प्रकार से कष्ट सहकर भी अपने

मार्ग से विचलित नहीं हुए। समन्वय का सिद्धान्त लेकर उन्होंने एक ऐसा धर्म तैयार किया जिसके मतावलम्बियों ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों की पुनः स्थापना की। पंजाब प्राचीन समय का पंचनद, विदेशियों द्वारा बिल्कुल रौंद डाला गया था। वह विदेशियों का गढ़ बन चुका था। पंचनद की आर्य-संस्कृति तुर्क और अफगानों के नीचे अपने आपको मिटा चुकी थी। इसकी पुनः स्थापना का श्रेय सिखों को ही है। यह भारतीय संस्कृति का इस प्रदेश में पुनरुत्थान था। भारत का यह भूभाग अन्त समय तक स्वतन्त्र रहा। मुगल राज्य के पतन का कारण फारस के आक्रमणकारी थे। उन विदेशी आक्रमणकारियों ने मुगल सल्तनत की जड़ें हिला दी थीं और सिखों ने पंजाब मुगलों से नहीं बल्कि इन्हीं फारसी आक्रमणकारियों से लिया था। जिनको मुगलों ने हराया उन्हें ही सिखों ने हराया। विदेशियों ने पश्चिमोत्तर भाग से प्रवेश कर भारत पर आक्रमण किया और सिखों ने भारत के उसी पश्चिमोत्तर भाग पर आक्रमण कर विदेशियों को एक बार भारतीय संस्कृति की ताकत अपने लोहे से बता दी। रणजीतसिंह की सेना ने सफलता पूर्वक भारत के इस पश्चिमोत्तर भाग को रौंद डाला था। यह पंजाबी सन्तों की वाणी का ही प्रभाव था। उनकी वाणी में कृत्रिमता होती तो इतने सिख भक्त कभी बलिदान न देते। सिखों के रूप में भारत के पश्चिमोत्तर भाग में भारतीय संस्कृति ने अपने को समयानुकूल बनाकर विदेशियों का सफलता पूर्वक सामना किया। वैदिक और बौद्धयुग के पश्चात् भारत के पश्चिमोत्तर भाग में नवीन रूप में भारतीय संस्कृति का यह नवीन उत्थान था। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय इतिहास में वैदिक युग की रूढ़िवादिता और उच्च वर्ण की जातियों के विरुद्ध बौद्ध-धर्म ने पहले-पहल स्वर उठाए थे किन्तु इस परम्परा के वास्तविक अधिकारी सन्त ही थे। सिख गुरुओं की विचारधारा ने परिस्थिति विशेष के कारण ही एक विशेष धर्म का स्वरूप लिया। ये परिस्थितियाँ हिन्दी सन्तों की परिस्थितियों से भिन्न थीं। हिन्दी सन्तों की अपेक्षा पंजाबी सन्तों को अमानुषिक अत्याचारों का अधिक सामना करना पड़ा।

हिन्दू मुस्लिम ऐक्य का प्रयास—सूफ़ियों ने कहीं भी हिन्दु मुस्लिम एकता पर जोर नहीं दिया। वह एक प्रकार से इस्लाम का ही एक उपसम्प्रदाय था या "इस्लाम की ही प्रेम पूर्ण व्याख्या" थी। सूफ़ियों के प्रेमाख्यानक काव्यों का सामाजिक उपयोग कुछ नहीं था। इधर सूर, तुलसी आदि से भी ऐसा कुछ प्राप्त नहीं हो सका जो कि इन दो जातियों में एकता के प्रयास के लिए सहायक हो सकता। वे केवल हिन्दुत्व के मूल रूप को भक्ति के प्रसंग में ही लाते रहे। मुसलमानों की ओर उनका ऐसा ही रुख था जैसा कि सूफ़ी कवियों का हिन्दुओं की ओर था। जायसी ने पद्मावत में पाहन पूजा के विरोध में तो कहा है किन्तु इस्लाम की एक भी बुराई को नहीं लिया। इन दो धाराओं के बीच सन्तों की धारा थी। उनकी विचारधारा सहज और स्वाभाविक थी। "दार्शनिकों, पण्डितों और धर्माचार्यों के धरातल के नीचे, जनता के स्वर पर मुस्लिम काल में जो चेतना उठी, जो हृदयमन्थन हुआ उसका सबसे सुन्दर निष्कर्ष

यह था कि इस्लाम और हिन्दुत्व दोनों को किसी-न-किसी प्रकार का एक समन्वित रूप ले लेना चाहिए। जाति और धर्म अनेकता के कारण होते हैं। वह अनेकता यहाँ संस्कृति के अनुशासन के नीचे भली-भाँति दब चुकी थी। अब जो नया धर्म और नई जाति भारत पहुँची थी उसे भी भारत एक संस्कृति के अनुशासन में बाँधने का प्रयास कर रहा था। किन्तु इस बार एक संस्कृति के अनुशासन को अपना कार्य पूर्ण करने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि बाधा डालने वाले लोग दोनों धर्मों में ही मौजूद थे।"[1]

भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान में इन सन्तों का योगदान समाज, साहित्य और धर्म में सबसे बड़ा था। समाज, साहित्य और धर्म के दृष्टिकोण से यदि इनके कार्यों को देखें तो उनके कार्य की गम्भीरता हमारी समझ में आ सकती है। बाह्याचार, छूआछूत आदि के विरोध में अपने विचारों को प्रगटकर भारतीय समाज में एक क्रांति को इन्होंने जन्म दिया। इतना ही नहीं बल्कि निचली जातियों की सामाजिक मर्यादा को उनकी तत्कालीन अवस्था से इन्होंने कहीं ऊँचा उठाया। अवतारवाद, मूर्तिपूजा आदि विरोध के माध्यम से धर्म से इन्होंने अन्ध-विश्वास दूर करने का प्रयास किया। साहित्य पर इनका जो उपकार है उसे तो खैर बताने के लिए शब्द ही नहीं हैं। पंजाबी और हिन्दी भाषा से इन सन्तों की वाणी को यदि निकाल दिया जाए तो दोनों भाषाओं के साहित्य में से अमूल्य निधि का अभाव हो जाएगा।

इनकी वाणी में कड़ुवापन है किन्तु औषधि का घूंट कड़ुवा ही होता है। भारतीय मध्यकालीन संस्कृति की एकता को बनाए रखने का प्रयास इन्हीं सन्तों ने किया। इनकी विचारधारा किसी विशिष्ट जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, हिन्दू या मुसलमानों के लिए न होकर भारतीयों के लिए थी। उन्होंने लोगों को हिन्दू और मुसलमानों के रूप में नहीं बल्कि एक मनुष्य के रूप में देखा। हिन्दी में भारतीय संस्कृति पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं किन्तु उनमें सन्तों की सांस्कृतिक देन के विषय में एक भी शब्द नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति पर लिखी गई कोई भी पुस्तक इन सन्तों के उल्लेख के बिना अधूरी ही रहेगी। कबीर, दादू और नानक ने जो भी कहा वह लोगों के दिल की सच्ची आवाज थी। इसे न तो कट्टर ब्राह्मण ही खंडन कर सकते हैं और न ही कट्टर मुसलमान। ये सन्त अपने समय से काफी आगे दौड़ रहे थे। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् हम जिन आदर्शों को स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं उनका प्रारम्भिक स्वरूप इन सन्तों की वाणी में सहर्ष देखा जा सकता है। निस्संदेह हिन्दी और पंजाबी सन्तों ने मध्ययुग में भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान में अमूल्य योगदान दिया है।

१. संस्कृति के चार अध्याय; दिनकर।

परिशिष्ट

कबीर, दादू, सुन्दरदास, रज्जब, गुरु गोविंदसिंह, भाई गुरदास के मुद्रित एवं अमुद्रित पद

कबीरजी के पद

साखी

बिरहा को अंग

कबिरा रास्यूँ कूनी बिरहनी, ज्यों बेचा की कुंज।
कबीर अंतरि पर जल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज॥ १॥

कबीर कुंजां सब कर लियां, गरज भरे सब ताल।
जिनिथैं गोब्यंद बीछटैं, तिनके कौए हवाल॥ २॥

कबीर चकवी बीछटी रैंन की, आई मिली परभाति।
जे जन बीछटे राम सुं, ते दिन मिले न राति॥ ३॥

बासुरि सुख न रैंनि सुख, न सुख सुपनै माहि।
कबिरा बीछुल्या राम थे, न सुख धूप न छाहि॥ ४॥

कबीर बिरहिन उभी पथ सिरी, पंथीवू के धाइ।
एक सबद कह पीव का, कबहूँ मिलिहिगे आइ॥ ५॥

कबीर बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन को, मन नाहि बिश्राम॥ ६॥

कबीर बिरहिन स्यूँ आ पड़े, दरसनि कारन राम।
मूवा पीछे देहुगे, सो दरसन किस काम॥ ७॥

मूवा पीछे जिनि मिले, कहै कबीरा राम।
पायछगि लोह सब, तब पारस कौने काम॥ ८॥

कबीर बिरहा बुरहा जिनि करो, बिरहा है सुलतान।
जिस घट बिरहा न संचरै, सो घट सदा मसान ॥ ९ ॥

कबीर इस तन का दीवा करो, बाती में घरू जीव।
लोहो सींचूं तेल ज्यूं, कब मुख देखों पीव ॥ १० ॥

कबीर ग्राखड़यां प्रेम का साइयां, लोग जाने दुखड़ियां।
सांई ग्रापणां कारणों, रोई-रोई रातिड़यां ॥ ११ ॥

कबीर सोई ग्रासूं सजणा, सोई लोग बिड़ाह।
जे लोइण लोही चवै, तो जाणों हेत हियांह ॥ १२ ॥

कबीर हंसना दूरि करि, रोवण सों करि चित।
बिन रुंना का पाइए, प्रेम पियारा मित ॥ १३ ॥

कबीर हम तो दुख नहीं बीसरो, रोउत बल घटि जाइ।
सूं मन माहि विसूरणां, ज्यूं घुण कागहि खाइ ॥ १४ ॥

कबीर हंसि हंसि पीव न पाइया, जिनि पाइया तिनि रोइ।
जो हासो ही हरि मिलै, तो नहिं दुहागणि कोई ॥ १५ ॥

कबीर हांसी खेलो हरि मिलै, तो कोन सहे खुरसाण।
काम क्रोध त्रिष्नां तजै, ताहि मिले भगवान ॥ १६ ॥

कबीर पूत पियारे पिता के, गौ हन लागा धाइ।
लोभि न गई हाथ दे, ग्रापण गया भुलाइ ॥ १७ ॥

कबीर मारी साम पटकि करि, ग्रन्तरि रोस नु पाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिण पियारे जाइ ॥ १८ ॥

कबीर कहे नैना ग्रन्तरि ग्राव तू, निसि दिन राखो तोहि।
कब हरि देउंगे, सो दिन ग्रावे मोहि ॥ १९ ॥

कबीर देखत दिन गया, निसि भी निखरत जाई।
बिरहनि पीव पी नहि, जियरा तलपै माई ॥ २० ॥

कबीर कै विरह कौं मींच दे, कै आया दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सहा न जाइ॥ २१॥

परचा को अंग

कबीर तेज अनंत का, मानूं ऊगी सूरजि सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीवा तेणि॥ १॥

कबीर कौतिग दीवा देह विण, रवि ससि बिन उजास।
साहिब सेवा माहि है, बेपरवाही दास॥ २॥

कबीर पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहि, देखे ही परवान॥ ३॥

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोत।
जहाँ कबीरा बन्दगी, तहाँ पाप पुनि नहीं छोति॥ ४॥

कबीर हद छाड़िके बेहद गया, दुखी निरन्तर बास।
कवल फूल्या फूल बिन, को निरखै निज दास॥ ५॥

कबीर मन मधकर भया, रह्या निरन्तर वास।
कवल ज फूल्या जलहि बिन, को देखै निज दास॥ ६॥

कबीर अन्तरि कंवल प्रकासिया, ब्रह्म वास यें होइ।
मन भौरा जहां लुबिधिया, जाणौंगा जन होइ॥ ७॥

कबीर सा दूर नाहि सीस बिन, स्वाति बूंद परणि नांहि।
कबीर मोती नीपजै, सुनि सखिर गट मांहि॥ ८॥

घट मांहि औघट लह्या औघट मांहे घाट।
कहै कबीर प्रचा भया, गुरु दिखाई बाट॥ ९॥

कामी नर को अंग

कबीर कांमणि काली नागणी, तीन्यूं लोक मझारि।
राम सनेही ऊबरे, बिखई खाये कारि॥ १॥

कबीर कामणि मीनी खाण की, जे छेड़ै तो खाइ।
जे हरि चरणां राचिया, तिनको निकट न जाइ॥ २ ॥

कबीर प्रनारी राता फिरै, चोरी बिठते माहि।
दिवस चारि सरसार है, अंति समूला जाहि॥ ३ ॥

कबीर प्रनारी प्रसुन्दरी विरला बंधै कोइ।
खाता पीवी खाम सी, अंति कालि बिख होइ॥ ४ ॥

जहाँ जलाइ सुन्दरी, वहाँ तू जिनि जाह कबीर।
भसमी ह्वै करि जालसी, सोनै सवां सरीरा॥ ५ ॥

कबीर नारी नांही नाहरी, करै नैनै की चोट।
कोई एक हरिजन ऊबरै, पारब्रह्म की ओट॥ ६ ॥

कबीर नर नारी सब नरक है, जब लग देह स काम।
कहे कबीर ते राम का, जे सुमिरैं निहि काम॥ ७ ॥

कबीर नारी सेती नेह बुधि बिवेक सब ही हरै।
काइ गन्द बैदेह, कारिज कोइ न सरै॥ ८ ॥

कबीर नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
वेगि छाणि पछितांहिगे, ह्वै है मूरति भंग॥ ९ ॥

कबीर नारी नसावै तीन सुख, जा नर पासै होइ।
भगति, मुकति निज ज्ञान में, पैठि न सकई कोई॥ १० ॥

कबीर एक कनक अरु कामिनी, विषफल को ये उपाइ।
देखे ही थे विख चढ़े, खाये सो मरि जाइ॥ ११ ॥

कबीर एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगिनि की झाल।
देख्यां ही तन प्रजलै, प्रस्यांह वपै माल॥ १२ ॥

कबीर ज्ञानी मूल गँवाइया, आपण भये करता।
तार्में संसारी भला, मन में रहे डरता॥ १३ ॥

कबीर काम काम सब कोइ कहैं, काम न चीन्हैं कोइ।
जेती मन में कामना, काम कहीजे सोइ ॥ १४ ॥

अष्टपदी रमैणी राग सूही

केन केऊ तीरथ व्रत लपटाना।
केऊ सेऊ केवल राम न जाना।
अजय अम्र एक अस्थाना।
ताका मरम काह विरले जाना।
अवरन जोते सकल उजियारा।
द्रिष्टि समान दास निस्तारा।
जे नहीं उपज्या धरनि शरीर।
ताके पंथ न सीच्या नीर ॥ १ ॥

दादूदयाल के पद

गुरुदेव को अंग

दादू नमो नमो निरंजन नमसकार गुरदेवत:,
वंदनं श्रवसाध्वा, प्रणामं परंपरागत:।

दादू गैबा महि गुरदेव मिल्या, पाया हम प्रसाद।
मस्तिक मेरे कर धरया, दया अगम अगाध ॥ १ ॥

दादू सतगुर सहजे में, कीया बहु उपगार।
निरधन धनवंत कर लीया, गुरु मिलिया दातार ॥ २ ॥

दादू सतगुर सौं सहजे मिल्या, लीया कंठि लगाई।
दया भरी दयाल की, तब दीपक दिया जगाइ ॥ ३ ॥

दादू देख दयाल की, गुरु दिखाई बाट।
ताला कूंची लाइ करि, खोली सबै कपाट ॥ ४ ॥

सतगुरु सब्रद्धता को अंग

सतगुर अंजन आंजिकरि, नैन पटल सब खोले।
बहरे काणों सुनने लागे, गूंगे मुख सूं बोले ॥ १ ॥

सतगुर दाता जीव का, स्त्रवन सस कर नैनं।
तन मन सौं जख वारि सब, मुख रसना अरु बैनं ॥ २ ॥

सतगुर कीया फेरि करि, मन का औरे रूप।
दादू पक्षू पलटि करि, कैसे भये अनूप ॥ ३ ॥

साचा सतगुरु जे मिले, सब साज संवारे।
दादू नांद चढ़ाई कर लै पार उतारे॥ ४॥

सतगुर सु माणुस केरे, जहाँ राम तहाँ जाइ।

शब्द अंग

साचा सहजे ले मिले, सबद गुरु का ज्ञान।
दादू हम के ले चल्या, जहाँ जीत्य का प्रस्थान॥ १॥

दादू शब्द ओचार करि, लागि रहे मन लाइ।
ज्ञान गहे गुरदेव का, दादू सहजि समाइ॥ २॥

दयाबीनती

दादू कहै सतगुर शब्द सुणाइ करि, भावैं जीवज गाइ।
नावै अन्तरि आप कहि, अपणा अंग लगाइ॥ १॥

सतगुर शबद बाण

दादू बाहरि आणि देखिये, नात रे कीया पूर।
सतगुर सब हुंसा दिया, जाइया नया पंदूर॥ १॥

दादू सतगुरि मारे सबद सूं, निरषि निरषि निज गौर।
राम अकेला रहि गया, चीति न आवे और॥ २॥

दादू हमको सुख भया, साध सबद गुर ज्ञान।
सुधि बुधि सोधीस मलकरि, पाया पद निरवाण॥ ३॥

दादू सबद बाण गुर साध के, दूरि दिसन्त रिजाइ।
जिहि लागे सो ऊबरे, सूते लिए जगाइ॥ ४॥

सतगुरु सबद मुख सो कह्या, क्या नेड़े क्या दूरि।
दादू सिख श्रवनऊं सुण्यां, सुमिरण लागा सूरि॥ ५॥

कथनी बिना करनी

सबद दूध घृत रामरस, मथि करि काढ़े कोइ।
दादू गुरु गो बाट बिन, घटि घटि समझि न होइ॥ १॥

सब दूध घृत रामरस, कोई साध विलोवन हार।
दादू अमृत काढ़ ले गुरमुख गहे विचार ॥ २ ॥

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सबहिं ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़े तो और ॥ ३ ॥

कामधेन घट घीव है, दिन दिन परबल होइ।
गोरू ग्यान न ऊपजै, मथि नहीं खाया सोइ ॥ ४ ॥

साचा समरथ गुर मिल्या, तिन तत दिया बताइ।
दादू मोटा महाबली, घटि घृत मथि करि खाइ ॥ ५ ॥

मथि करि दीपक कीजिए, सब घट भया प्रकाश।
दादू दीवा हाथि करि, गया निरंजन पास ॥ ६ ॥

दीवै दीवा कीजिए, गुरमुख मारग जाइ।
दादू अपने पीव का, दरसन देखे आखे आइ ॥ ७ ॥

परमारथी अंग

दादू दीवा है भला, दीवा करो सबके कोइ।
घर में धस्या (अँधेरा) न पाइउ, जे करि दीवा न होइ ॥ १ ॥

दादू दीया का गुण तेल है, दीया मोटी बात।
दीया जग में चाँदिणां, दीया जले साथ ॥ २ ॥

निरमल गुरु का ग्यान गहि, निरमल जगति विचार।
निरमल पाया प्रेम रस, छूटे सकल विकार ॥ ३ ॥

निरमल तन मन आतमा, निरमल मनसा सार।
निर्मल प्राणीपक्ष कर, दादू लांघे पार ॥ ४ ॥

पराय री आसै रहे, कोई न जाणै ताहि।
सतगुरु दीया दिखाइ करि, दादू रहा ल्यो लाइ ॥ ५ ॥

शिक्षरण ज्ञासी

जिनि हम सिरजे सो कहाँ, सतगुरु देऊ दिखाइ।
दादू दिल अरवाह का तहाँ, मालिके ल्यो लाइ॥ १ ॥

मुझ ही मैं मे राघरणी, पड़दा खोलि दिखाइ।
आतमा सो पड़आतमा, प्रगट आनि मिलाइ॥ २ ॥

भरि भरि प्याला प्रेम रस, अपणे हामदपिलाई।
सदगुरु के सदके कीया, दादू बलि बलि जाइ॥ ३ ॥

सरवर भरिया दह देसा, पंखी प्यासा जाइ।
दादू गुर प्रसाद बिन, काजल पीवे आइ॥ ४ ॥

बेपरवाही

मानसरोवर माँहि जल, प्यासा पीवै आई।
दादू दोस न दीजिये, घरि घरि कहन न जाइ॥ १ ॥

दादू गुर गरवा मिल्या, ताथे सब गमि होइ।
लोहा पारस परसता, सहज समाना सोइ॥ २ ॥

दीन गरीब गहि रहा, गरवा गुरु गंभीर।
सूखिम सीतल सुरति मति, सहजि दया गुरु बीर॥ ३ ॥

दादू सतगुर ऐसा कीजिए, राम रस समाता।
पार उतारे पलक में, दरसन का दाता॥ ४ ॥

देवे किरका दरद का, जोड़े टूटा तार।
दादू सावे सुरत को, सो गुर पीर हमार॥ ५ ॥

दादू घाइल हो रहे, सतगुरु के मारे।
दादू अंगि लगाइ करि, भौ सागर तारे॥ ६ ॥

उपजिनि

दादू साचा गुर मिल्या, साचा दिया दिखाई।
साचे कूँ साचा मिल्या, साचा रहा समाई॥ १ ॥

साचा सतगुर सोध ले, साचे लीजी साध।
साचा साहिब सोधि करि, दादू भगत अगाधि ॥ २ ॥

सनमुख सतगुरु साध सो, सांई सूं राता।
दादू प्याला प्रेम का, महारस माता ॥ ३ ॥

सतगुर मिलै त पाइएँ, भक्ति मुक्ति भण्डार।
दादू सहजे देखिये, साहिब का दीदार ॥ ४ ॥

साखी अथ सुमिरण कै अंग

दादू नमो नमो निरंजन, निमसकार गुरुदेवतः।
बनं सर्व साधवा, प्रांणामं या रंगतः ॥ १ ॥

एकै आखर पीव का, सोई संति करि जाणि।
रामनाम सतगुरे कह्या, दादू सो परिवाणि ॥ २ ॥

पहली श्रवणह तीरसन, तृतिये हिरदै गाइ।
चतुरदसी चेतन भया, तब रोम रोम ल्यै लाई ॥ ३ ॥

दादू नीका नाव है, तीन लोक तत सार।
राति दिवस रहि बोकरी, रे मन इहै बिचार ॥ ४ ॥

दादू नीका नाव है, हरि हिर दैव बिसारि।
मूरत मन माहे बसे, सांसे सांस संभारि ॥ ५ ॥

सांसे सांस सँभालता, इक दिन मिलि है आई।
सुमिरण पैंडा साहब का, सतिगुरि दिया बताइ ॥ ६ ॥

दादू नीका नाव है, सोनूं हिरदै राख।
पाखण्ड परपंचि दूर करि, सुणि साधु जनि की साखि ॥ ७ ॥

दादू नीका नाव है, आप कहे समझाइ।
और आरंभ सब छाड़ि दे, राम नाम ल्यौ लाइ ॥ ८ ॥

राम भजन का सोच क्या, करता होई सु होइ।
दादू राम सँभालिये, फिरि बुझिये न कोई॥ ६॥

सुमिरण नाम चिन्तामणि

राम तुम्हारे नांउ बिन, जे मुख निकसे और।
तो इस अपराधी जीव को, तीन लोक कत गैर॥ १॥

छिन छिन राम सँभालता, जे जीव जइत जाइ।
आतम के आधार को, न ही आन उपाइ॥ २॥

महिमा महात्म

एक महूरत मन रहै, नांव निरंजन पास।
दादू तबही देखता, सकल कर्म का नास॥ १॥

सहजै ही सब होइगा, गुण इंद्री का नास।
दादू राम सँभालता, कटे करम के पास॥ २॥

नाम चिन्तामणि

एक राम के नांउ बिन, जीव की जलणि न जाइ।
दादू केते पचि मुये, करि बऊत उपाइ॥ १॥

दादू एक राम की टेक गहि, दूजा सहजि सुभाइ।
राम नाम छाडै नहीं, दूजा आवै जाइ॥ २॥

दादू राम अगाध है, परमिति नांही पार।
अवरण वरण न जाणिये, दादू नांइ आधार॥ ३॥

दादू राम अगाध है, अविगत लखै न कोइ।
निर्गुण सर्गुण काछ है, नांउ बिलंब न होइ॥ ४॥

दादू राम अगाध है, बेहद लखा न जाइ।
आदि अन्त नहीं जाणिये, नांउ निरन्तर गाइ॥ ५॥

दादू राम अगाध है, अकल अगोचर एक।
दादू नांइ बिलंबिये, साधू कहैं अनेक॥ ६॥

दादू एके अण राम है, संप्रय सोई सोइ।
मैदे के पकवान सब खातां होइ सु होइ॥ ७ ॥

सु० अगाधता अंग

सगुण निर्गुण ह्वै रहै, जैसा है तैसा लीन।
हरि सुमिरण ल्यौं लाइयै का जाणे का कीन्ह॥ १ ॥

दादू सिरजनहार के केते नाऊ अनंत।
चिति आवे सो लीजिये, यों साधू सुमिरै संत॥ २ ॥

दादू प्राण जिन प्राण पिंड हमको दीया, अंतर सेवै ताहि।
आवै ओसंण सिरी, सोई नाम संबाहि॥ ३ ॥

दादू ऐसा कौन अभागिया, कछु पिठावै और।
नाऊँ बिन पग धरण को, कहो कहाँ है गैर॥ ४ ॥

दादू निरमता तर न्यारा, अंतरि थे उरमान।
कोटि पतित पावन भये, केवल कहतां राम॥ ५ ॥

दादू जेते अब जाण मंही, राम नाम निडा सार।
फिरि पीछे पछिताइगा, रे मन मूढ़ गंवार॥ ६ ॥

दादू राम संभालि ले, जब लग सुखी सरीर।
फिरि पीछे पछताइगा, जब तन मन धरै न धीर॥ ७ ॥

दुख दरिया संसार है, तामें सुख का सागर राम।
सुख सागर चलि जाइये, दादू ताज बेकाम॥ ८ ॥

दादू कर बिसा, सर बिण मारै खैल कसीस।
लागी चोट सरीर में, नखसिख साले सीस॥ ९ ॥

दादू मलका मारै भेद सूं, साले मंधि पराण।
मारणहारा जाणहि है, कै जिह लागै बाण॥ १० ॥

दादू सो सर हम कूं मारिले, जिहि सिर मिलिये जाइ।
निसि दिन मारग देखिये, कबहूं लागे आइ॥ ११॥

दादू मारे प्रेम सूं, बेधे साध सुजाण।
मारण हारे को मिले, दादू बिरही बाण॥ १२॥

जिहि लागी सो जागि है, बेध्या करे पुकार।
दादू पुंजरि पीड़ है, साले बारम्बार॥ १३॥

दादू बिरही ससके पीड़ सूं, ज्यूं घाइल रिण मांहि।
प्रीतम मारे बाणि भरि, दादू जीवे नांहि॥ १४॥

दादू बिरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारे पीव॥ १५॥

सहजहि मनसा मन साधे, सहजे पवना सोइ।
सहजैं पंचूं थिर भया, जे चोट बिरह की होइ॥ १६॥

मारणहारा रहि गया, जिहि लागी सो नांहि।
कबहूं सो दिन होइगा, यहु मेरे मन मांहि॥ १७॥

प्रीतम मारे प्रेम सो, तिन को क्या मोरे।
दादू जारे बिरह के, तिनाकौं क्यों जारे॥ १८॥

छिन बिछोह

दादू पड़ता पलक का, एता अन्तर होइ।
दादू बिरही राम बिन, क्यूं करि जीवे सोइ॥ १॥

बिरही बिरह का लक्षणम्

काया माहै क्यों रह्या, बिन देखे दीदार।
दादू बिरही बावरा, मरे नहिं तिहि बार॥ १॥

बिन देखे जीवै नहीं, बिरहे का सहि सहि बाण।
दादू जीवै जब लगे, तब लग बिरह न जाण॥ २॥

रोम रोम रस प्यास है, दादू करहि पुकार।
राम घटा दल उमगि करि, बिरह मिरजन हार ॥ ३ ॥

प्रीति जु मेरे पीव की, पैगी पंजर मांहि।
रोम रोम पीव पीव करे, दादू दूसरि नांहि ॥ ४ ॥

सब घट श्रावना सुरति सौं, सब घटना रसना बैन।
सब घटन ते रहे, बिरहा श्रोन ॥ ५ ॥

राति दिवस का रोवणा, या हर पल का नाहि।
रोवत रोवत मिल गया, दादू साहिब मांहि ॥ ६ ॥

दादू नैन हमारे बावरे, रोवै नहीं दिन रात।
साँइ सँग न जाग ही, पीव क्यूं पूछै बात ॥ ७ ॥

नैनन नीर न आईया, क्या जणे ऐ रोइ।
तैसे ही करि रोइये, साहब नैनह जोइ ॥ ८ ॥

दादू नैन हमारे ढोठ हैं, नाले नीर न जाहि।
सू के सरां सहत वै, करां भये गल मांहि ॥ ९ ॥

सुन्दरदास (छोटे) की वाणी

ज्ञान समुद्र

प्रथमें बंदि पर ब्रह्म परमं आनन्द।
सरूपं तिय वंदं गुरदेव दियो जिहि ज्ञान अनूपं।

छप्पय

सुत कलित्र निज देह आपको बंधन जानत।
छूटो कौन उपाइ यहै उर अंतरि आनत।
जनम मरन की संका रहे निसि दिन मन माँहि।
तत्व उसी के दुख नहीं कछु बरने जांही।
इहि भाति रहे सोचत सदा संतनि कूं पूछत फिरे।
को है ऐसो समुद जो मेरो कारज करे॥ १॥

गुरदेव बिना नहीं मारग सूझै गुर भक्ति न जानय।
गुरदेव बिना न हिय संसय।
तागम गुर बिना नहि कारज होइ।
लोक वेद यों गावें।
गुरदेव बिना नहीं नहि समुति कोई।
गुर गोविंद बतावें॥ २॥

सवैया

मौज करि गुरदेव दया करि, सबद सुनाई कहेंगे हरि नेरो।
ज्यों रवि के प्रगटे निस जात, सुदूर कीयो भ्रम भाति अंधेरो।
काइक बाइक मां निस्व, फूक रिहे गुरदेवहिं बन्द न मेरो।
सुन्दरदास कहे कर जोरि जा दादूदयाल को हौं नित चेरो॥ १॥

पूरण ब्रह्म विचार निरंतर, काम न क्रोध न लोभ न मोहे।
श्रवनु रसना अरु घ्राण, सु देखि कछु कहूं नैन न मोहे।
गयान स्वरूप अनूप निरूपण, जासु गिरा सुनि मोह न मोहे।
सुन्दरदास कहै कर जोरि जु दादूदयाल हि मोरन मोहे॥ २॥

धीरजवंत अडिग जितेन्द्रय, निरमल ग्यान द्रढ आदू।
सील सन्तोस सदा जिनि के घटि, लागि रह्यौस अनहद नादू॥ ३॥

सुन्दर लोग कुटुम्ब सब, रहते सदा हजूर।
प्रान गये लागे कहन, काढो घर ते दूर॥ ४॥

देह सुगन्धी तब लगै, जब लग प्रान समीप।
जीव जोति जाती रही, सुन्दर बिदरंग दीप॥ ५॥

चमक दमक सब मिटि गई, जीव गयो जब आप।
सुन्दर लाली कंचकी, नीकसि भागो साप॥ ६॥

कवन नैन मुख नासिका, ज्यों के त्यों सब द्वार।
सुन्दर सो नहि देखिये, अचल चलावन हार॥ ७॥

हसौं न बोलो नै कहूँ, खाइ न पीय देह।
सुन्दर अनसन ले रही, जीय गयो तजि नेह॥ ८॥

पाथर ते भारी भई, कौन चलावै जाहि।
सुन्दर जो कतहूं गयो, जीयो फिरत हो याहि॥ ९॥

सुन्दर पानी सींचतो, क्यारी करण के हेत।
चेतन माली चलि गयो, सूको काया खेत॥ १०॥

ज्यों को त्यों ही देखिये, सकल देह को घाट।
सुन्दर को जाणे नहीं, जीव गयो कि हवाट॥ ११॥

सुन्दर देह ले चले, चेतन के संजोग।
चेतन सत्ता चलि गई, कौन करै रस भोग॥ १२॥

हलन चलन सब देह को, चेतन सत्ता होइ।
चेतन सत्ता बाहरी, सुन्दर रह्या न कोई॥ १४॥

सुन्दर देह हलै चलै, जब लगि चेतन लाल।
चेतन कीयो प्रयान जब, रुलि रहै ततकाल॥ १५॥

चंबक शक्ति करि जमा, लोहा निरत पकराय।
सुन्दर चंबक दूरि है, चंचलता मिटि जाय॥ १६॥

नख सिख देह लगी भली, सुन्दर प्रत्यक स्वरूप।
देनहारा चलि गयो, भयो अंधेरा कूप॥ १७॥

सुन्दर देह सुहावनी, जब लग चेतन मांहि।
कोइ निकट न आवई, जब यह चेतन नांहि॥ १८॥

चेतन के संजोग तै, होइ देह को तोल।
चेतन न्यारो हो गयो, लहै न कोड़ी मोल॥ १९॥

चेतनि मित्री देह तृण, तुलत जग देह दाम।
सुन्दर दोऊ जुदे भये, तन तृण कौने काम॥ २०॥

चेतन ते चेतन भई, अति गति सोभित देह।
सुन्दर चेतन निकस तै, भई खेह की खेह॥ २१॥

चेतन ही लीये फिरो, तन को सहज सुभाइ।
सुन्दर चेतन बाहरी, मैल मैल मो जाहि॥ २२॥

देह जीव यों मिलि रहे, ज्यों पानी अरु लौन।
बार न लाई बिछुरते, सुन्दर कीयो गौन॥ २३॥

सुन्दर आय सरीर में, जीव के ये उत्पात।
निकसि गये या देह को, फेरी न बूझी बात॥ २४॥

सुन्दर आयो कौन दिस गयो कौन सी ओर।
यों किन्हूं जान्यो नहीं, भयो जगत में सोर॥ २५॥

नाम अष्टक मोहनी छन्द

आदि तू अन्त तू मध्य तू व्योम व्रत।
वायू तू तेज तू नीर तू भोमि तत।
पंचहूं तत तू देह ते ही केरे।
हे हरे हे हरे हे हरे हे हरे।
च्यारिह सांनिके जीव तेही सिजे।
जोति ही जोति के घर आये अजे।१।

सिजदा सिरजनहार को,
मुरसद को तालीम।
सुन्दर तालिब करत है,
बन्दों को तसलीम।
सुन्दर इस मौजूद में,
अजब चीज है बाद।
सब पावै ईस भेद को,
पूछ मिले उसताद।

गीतक छन्द

उस्ताद सिर पर चुस्त दम करि,
इसक अल्ला हुलाइये।
गुजरान उसकी बन्दगी,
को इसक बिना क्यों पाइये।
वह दिल फकीरी दस्त गीरी,
गस्त गुंजसि न लहै।
यों कहत सुन्दर कब जहन्दर,
अजब ऐसा ख्याल है।

राग गोड़ी

देह कहे सुन प्रानिया, काहे होत उदास वे।
परस परस हम तुम मिले, ज्यों पहुप अरु बास वे।
इक पहुप अरु बास मिलाप जैसे, दूध घृत मिलवे।
कष्ट में ज्यों अगिन व्यापक, तिलनि में ज्यों तेल वे।
जैसे उदक अरु नवना, येक मेक बखानियां।
सुन्दरदास उदास करि, देह कहे सुन प्रानियां॥ १॥

हम निर्गुन तुम सगुन भई, कैसे रहत्त संजोग वे।
संजोग कैसे रहत्त तोसो, हों अमर अविनास वे।
एक श्वास ताकी कहा करिये, नास होवे तिहि तनों।
सुन्दरदास उदास याते, जीव कहे काया सुनों॥ २॥

देह कहै सुन प्रानयां, तोहि जानत कोइ वे।
इक होइ बिनि छितवनी, कबहु भोग बहु विधि ठे कियो।
सबद सपरस रूप रस पुनि, गंध नीके कर लिये।

रज्जब जी के पद

होइ सुखुपति अवसथा जबहि।
इछा निक नहीं होवे तब ही।
सुख सरूप परमातम सारा।
हम तब लख मण लेहिनि हारा। १।

अनादि आदि दया युधि उपजाइ।
उतपति बिबतिह भीतर भाई।
वहसु जगत में जीव उवारे।
सुख दुख बहु पाइ सुभारे। २।

आतम सुप अहे इह जोइ।
सायी बुध पछाने सोइ।
अहि परा तम पूरण जोइ।
धूपिप्रछिन भये पुनि सोइ। ३।

चिति प्रतिबिंब साखी मति जोइ।
जब य हती न इक उसु होइ।
अगिन तपत जग लोह समाना।
अंत यो मन अपयास पछाना। ४।

दोहरा

जड़ चेतनता भरम जे, चित अरु आतम केरा।
अंस हाहि जन लोक में, उलटे दोनों हेरा॥ १॥

गुर ते वेद सुवाक सुनि, केर विचार बहु भाँति।
विदया अनुभव होहि जन, आतम पिखे इकांति ॥ २ ॥

निरउपाधि विख आतम; मात जो सुनि खल विकार।
आतम गोचर जन जितो, देवे दूरि निवार ॥ ३ ॥

परकास रूप में अज अविनासी, अभ्रे निरमल मरज प्रकासी।
विलुंसा गियान घन निरभय रूपा, पूरब के ऊ आनंद भूपा ॥ ४ ॥

सदा मुकत में जगत वरारी, अहे अचिंततु सकति हमारी।
अति दे गियान अविक्रे रूपा, अनत पार चित घनह अनूपा ॥ ५ ॥

वेद वादी जग भीतर जेई, निस दिन भजे सुमऊर तेई।
या विस आतम करे विचारा, अहे अखंड त सूस उदारा ॥ ६ ॥

विदया ताको होइ ऊदारे, कारक सहित अविदया मारे।
रसाइन जिऊ तम को खावे, निरवल रोग पुनि वहो मिटावे ॥ ७ ॥

बैठइ कुंत सुइदीण जीता, जिनेनि जा तमनि निरमत चीता।
या विमा तम मन में परे, बाहर साधन सब परहरे ॥ ८ ॥

नींव सीविन सुनि पग सियो सकती असथाना।
रजब मुकता मिति विना होरि हुए हैराना ॥ ९ ॥

सुनि सरुपी सांई यार जब आभा माहि।
प्रगट गुपत वह दिसि फिरया रसु पावे नाहि ॥ १० ॥

अकल न आवे अकल में, सकल न सबहि समाइ।
ज्यूं जब कुंभि कुंभार के सुणि जल लीया न जाइ ॥ ११ ॥

गइक माह अक सुने के आदि, अंति मधि नाहि।
सोधन हारे सब थके, जन रज बता माहि ॥ १२ ॥

अंत न लहे अनंत का आतम आवे जनहि।
ज्यूं रजब मुख मुकर में पाणा पावे नाहि ॥ १३ ॥

पंच तत में पिंड किर प्राण बणायां माहि।
ज्यूं रजब मुख मुकर में पाणी पावै नाहि ॥ १४ ॥

पंच तत में पिंड करि, महि समोयां प्राना।
रजब रचना राम की लिय साथ कहे राना ॥ १५ ॥

रजब रचना राम की ति अनन्त अपार।
जारबाण जांण जाणो नहीं मन मति है विचार ॥ १६ ॥

कहीं बहु भांति यहु कुछ कीया, सो कोई न जाने जाना।
रजब रहि गए देखि करि, हरिहि कुमति हैराना ॥ १७ ॥

अनजाने जाने कहे जानं मुकाम जाना।
रजब वेद सबे हुए है हैराना ॥ १८ ॥

अमिख वाणी बहुत निगम कहत ममझोला।
तैर जब को कहे गरब सरी सोला ॥ १९ ॥

चमन भावै धूप में, वरनि जाये न न जाइ।
गियान गिरा गहले हुए ठग के लाधु खाइ ॥ २० ॥

भिन जिन जाणयां जगतपति, सो जाणि रभ ए अजाणं।
रजब दीप उदीप कथा जब प्रगटा या निज माणं ॥ २१ ॥

कायां ऊपजी करम करि, बुध वेद बखानो।
पैऊभरी ऊतपति को जीव जावण जाणो ॥ २२ ॥

जीव किया कि सब सत कासो जीवन जानो।
सब हरे सम है, नहीं करतारे जानो ॥ २३ ॥

ब जड भाखा भेद न जानो, काहे कीना अकारा।
रजब अगम अतमो, आगे यहु जाने करतार क शाग ॥ २४ ॥

जीव जाने जीव कहे कांहू कीना।
तीर जबइ सबु सिवो ब्रह्म कौन विधि चीना ॥ २५ ॥

जीवहि पूछै ब्रह्म गति, बहु अचरज हैराना।
जो आपहि जानो नहीं तिन, अवगति क्यूं जाणा ॥ २६ ॥

जब लग जान यां कहै, तब लग कछु न जानां।
ज नर जब जानयां, तबै जानिर भए अजानां ॥ २७ ॥

जे तहु जानयां जगत, जगत गुर ते सब भये अजानां।
रजब देखहु देख भों, वेद हुं नेत बखाना ॥ २८ ॥

रजब तब सब जाणियां, जाणिर भए अजाणम।
नमा वाचा क्रम नां गुण गोविन्द की आणा ॥ २९ ॥

अकसि अनन्तर है देमेला, ताम मसि सिम्हि निरमेला।
रजब अजब कहीए याहि, साध वेद बोले ओगाहि ॥ ३० ॥

गुरु गोविंदसिंह जी के पद

ऊ देखी धत इत ऊत,
होइ है इ मेटत-परसपर विरहि अवेल के।
खोइ खोइ खोजी होइ,
खोजत चतुर बुद प्रियपद, जुगति न जानत प्रदेश के।
गुर सिख संधि अंतिरजामी,
स्वामी सेव सेवक निरन्तर अदेस है ।। १ ।।

दीपक पतंग सम प्रीति इक,
भंगी होइ चन्द्रमा चकोर घन चातिक नहात है।
चकइ अरु सूरज मिलि न जिऊ,
कमल अलि कासट अगनि, म्रिगनाद कोऊ देत है।
पितु सुति हितु अरु भामिनी भतार गति,
माइआ तऊ संसार मिटत न छोति है।
गुर सिख संगति मिलाप को,
प्रतापु सांचे लोक परलोक सुखदाइ ऊतियोति है ।। २ ।।

लोगन में लोगाचार,
अनिक प्रकार विचारि मिला न बिउहार दुखदाई पहिचानिए।
बेद मिरजादा में कहत,
है कथा अनेक सुनीजै, तैसी प्रीति मन में न मानिए।
गियान ऊनमान में अगत,
भगत विखे राग नाद बाद आदि अन्त हूं न जानिए।
गुरु सिख संगत मिलाप को प्रतापु,
जैसे जैसो तैसो
मढि लोक विसे मऊर उर मानिए ।। ३ ।।

गिग्रा गुरनिंदा,
गुरदासन के नाम गुरदास है।
महुरा कहावे मीठा गई सो कहावे,
माईर ठीक न कहत टूटी रीत रूप राखु है।
बांझ कहावं सपूतो दुहागिन,
सुहागनि कुरीत सुरीति कमटऊ नगटा को नामु है।
बावरो कहावं मेरो,
ग्रांधरे कहे सु आखें चंदन समीर जैसे बांसु नाम बांस है ॥ ४ ॥

गुर सिख एक मेक है,
न पूजसि कोटि है भजगि भोगनई ए वेद पूजा चार है।
जोग धियान गिम्रान,
प्रीतम रिधि सिधि निम जप तप संजमादि ग्रनिक प्रकार है।
म्रित पुरान वेद सासन,
गऊपां ग्रं गीत सुरसर देव सबल मांहि ग्रविसया रहे।
कोटिन कोटिन सिख संगत,
ग्रसंख जाके श्री गुर चरन नेत नेत नमसकार है ॥ ५ ॥

चरन कमल गुर सिख रज मांगे,
लागीया छत सकल गुरसिख पग रैन है।
कोटन कोटानि कोटि कमलाक,
गणपतर पारस ग्रंम्रत चिंता मानि कामधेन है।
सुरनर नाथ मुनि,
त्रिभवन ग्रऊ त्रिकाल लोग वेद गिम्रान ऊनमान जंन कंन है।
कोटनि कोटनि सिख संगति,
ग्रसंख जाके नमो नमो गुर मुखि सुख फलदेन है ॥ ६ ॥

जऊ जाने ग्रनूप रूप द्रिग,
कोन देखो ग्रत लोचन ग्रछत ग्रंध काहे तेन पेख ही।
जऊ जाने सब दरसु रसना,
बसाग्रनि तजि हवा गछत कतरी रान सरेख ही।
जऊपं जाने राग,
नाद मुनि ग्रतमू धन के सहत किऊ वहरो विसेख ही।
नैन जिह्म सवन कंन कछु,
कै वसाइ समदि सुरति से ग्रलख ग्रलेख ही ॥ ७ ॥

जननी जतन करि,
जुगवे जठर राखे ताते पिंड पूरन हुइ सुत धन मत है।
बहुरि ऊखादिखादि संजम
महत रहे ताही तपै पीऊत अरोग पनपत है।
मल मूत्र पार कोधि धारन,
विचारे रे प्रतिपल बाल तनगत है।
तैसे अरमक रूप सिख
है संसार मथि स्री दह अलकी दइग्रा के मनगत है॥ ८॥

दसां पतिसाहिग्रां के ऊसतित कर सलोक

सच खंडि सतिगुर बसै सुध सांति के देसा।
वे जमपुर है नाम नगर, तहीं तिऊ परवेसु॥ १॥

तिह पुर के बासी वे, सहजि सरूपी संत।
इकरस होकर आतमा, चालहि एक मतंत॥ २॥

जैसे चंदा एक है, घटि प्रतिबिम्ब अनेक।
तैसे सभना में बसे, सतगुरु एक विवेक॥ ३॥

आसा ऊदमु कुछ नहीं, करहि सहजि सुभाइ।
हरखि सोगु नहि विआपइ, इह करमो निज थाइ॥ ४॥

गुरू नानक देव गुबिंद गुरु पूरन ब्रह्म निवास।
जगत उधारन कारने, गुरु अंगद को प्रकास॥ ५॥

गुरु अंगद अमरु निवाजिआ, सेवा ते सुख कीना।
जिऊ दीपक दीप प्रकासिइ जे, दोनों समतरि कीन॥ ६॥

गुरू अमरदास रामदास महि पाइअ अपना भेद।

उपरोक्त भाग पोथी का प्रथम पृष्ठ था वह फट चुका था अतएव हाथ से लिख-कर चिपकाया गया था। पोथी में निम्न पद क्रम से प्रारंभ होते हैं। निम्न पद उप-रोक्त अंश का ही क्रमिक रूप है।

गुरमति सिख अथाह, गुरु अटल अखंड अछेद॥ ७॥

गुरु रामदास भयोसु पसंन, अरजुन पलटिऊ रूप।
निरंकार बपु धारिऊ, प्रगटो जोति अनूप ॥ ८ ॥

गुरू अरजुन हरिगोबिंद परि हुए परम क्रिपाला।
कारन करनसु सिमर गुर परम बिरद प्रतिपाला ॥ ९ ॥

गुरु हरगोबिंद हरि राइ को, जोति जोति कीआ भरपूर।
जीवन मुकति पद बससिआ, जोति हु गु ते दूई ॥ १० ॥

गुर हरिराइ हरि क्रिसन परिकीनो असो अपारा।
तत सयो तत मिलाय, मक लक लानि धारा ॥ ११ ॥

गुरु हरिक्रिसन बहालिया, अपने आसन मान।
गुर तेगबहादुर नाम जिह, पूरन पुरख पुरान ॥ १३ ॥

गुर तेगबहादुर पलिटिआ, अपनी जोति अथाह।
गुरु गोविंदसिंघ नाम जिह दसवा पातिसाह ॥ १४ ॥

रामकली पातिसाही १०

रि मन इह बिधि जोगु कमाऊ।
सिंघी साच अकपट कंठ लायिआ नयि भूत चडाऊ। रहाऊ ॥
ताती गहु आतमु बसिकर।
की भिछा नाम अधारि।
बाजे परम तार तत हरि के उपजै राग रसार।
ऊ घटै तानतरं गरं गिआन गीत बयान।
चकि चकि रहि देव दानव।
मुनि छकि छकि बियोम बिवनी।
आतम उपदेसु भेस संजम को जाप सु अजपा जापे।
सदा रहे कंचन सी काया कलुन कबहुं बिआपै।

पानी परम पुरख पग लागै,
सेवत कहा मोह निद्रा में कबहु ता चित हूं जागै ॥ रहाऊ ॥
औरनं कहां ऊपदेस तहै, पसु तोहिप बोप न लागै।
सिचंत कहा परे बिखियन कह कबहु बिखै रस तियागो।

केवल करम भरम सोची, नहु धरम करम इनु रागे।
सिग्रह करै सदा सिमरिन कै परम पाप तज भागे।
राजा ते दुख पाप नहीं मेटे काल जालु ते तागो।
जो सुख चहि सदा, समन को तेह कि के रस पागे॥
काम क्रोध हंकोर लोभ, हठ मोहन मसोल यावै।
तब ही आतम तत क्रोध से, परम पूरव कह पावै॥

राग देवगंधारी पातसाही १०

बिनु हरि नाम न आय न पेहै, चौदह लोक जाहि वसि कीने ताते कहा पलैहै।
राम रहीम ऊबारि न सकि है।
जाकरि नाम रटै है।
ब्रमहा विसनु रुद्र, सुरजस सिते बसि काला सबै है।
बेद पुरान कुरान सबै मत,
जाकर नेत कहे है।
इन्द्र फनिंद्र मुनिंद्र कलप बहु,
धियावत धियान न जैहै,
जाकर रूप रंग नहीं जनीयत,
सोकि मसि यामक है है।
छुटि है काल जाल ते तबही गहो चरनल पदै है॥

१ ओंकार सतगुर प्रसादि रामकली पातिसाही १०

रि मन ऐसो करि सनिग्रासा
बनसे सदन सबै करि समझहु,
मन ही माहि उदासा॥ १॥ रहाऊ
जत की जटा जोग मंजनु, नेम के नथ नव फाऊ
गिग्रान गुरु ग्रामत ऊपदेसुहु,
नाम बिभु तत गावहु॥
अलप अहार सुलपसी निद्रा,
कयाधि मात न प्रीत।
सील संभो खस दानि रब, हि थो ह्वै ओहि गुण अतीत॥

१ ओंकार सतिगुर परसादि रहितनामा प्रसंन करना बाकु गुर, गोविंद सिंघजी के पातिसाही १०

दरबाई ऊदासं अथाइषा

दोहरा

अविचल नगर बैठे गुरु मन माहि कीआ विचारा ।
वेलि आपु रासति गुरु मूरति सिरी करतार ।।

चौपई

हुकुम है आपहि लाहि सिखविय जातिहि सराइ ।
निकट बोलिआ गुरु जी सीने कंठ लगाइ ।
पंथ चलाइ जगत में गुरु नानक प्रसादि ।
रहित बताई खालसे सुन भाई पहिलाद ।

होइ सिख सिर टोपी धरे,
सात जनम होइ कुसटी मरे ।
जो सिख गल में तागा मेले,
जऊ पडया जोगन का तेले ।

जनम सु आन पावेगो कोटि,
बीजै हाथ बुरा ऊस खोट,
पगऊ ता रूप साहिजै पावै,
सो सिख कभी अकसि पावै ।

दोहरा

मीणा आदि मसंदिआ मोना कुडी जैमाइ ।
होइ सिख वरतण करे अंतक रागा सुआउ ।

वाहिगुरु के मंत्र बिन जपै अरु कोई जाप ।
सो साकत सिख भूल नही वावत सिरी मू आप ।

मेरो हुकम माने नहीं करे सिख सेवा ।
सो बीरज मलेछ के प्रगट पछाते भेऊ ।

चौपई

हुकमु देखकर नहीं राखे,
गोलिपाइ गोप मंत्रिआ मुख भाखे ।

कर भेंट सुख मनत चुरावै,
ऐसा सिख गुरु नहीं भावै ॥

टूटि पडेंऊ माइआ की फसी,
भ्रमता फिरे लाख चरासी।
सो बीरज मलेछ के जान,
सुण भाई पहिवादि सुजान।

तिन सो देख दुरे सिख कोई,
तिनकी मुकति भूल न होई।
जो थापे तिनको करे पूजा,
मान भ्रम काटे दूजा।

दोहरा

काठ भेट सुख मानत करीजै, सिख चित भरमाई।
सो पापी साकत सदा विरट रूप होइ जाइ।

कुडीमार समंद कामीणेका प्रसादि,
लहिजे इनके हाथ का जनम गवावै वादि।
छाड सिखन के चरण कऊ,
सहे पंथ जो होर।

मढी गोर देवल जो मानेपलं,
परं पंथं कऊ ऊच बखाने।
सो साकत सिख गुर का नाही,
फास परिऊ जम कंक फाहि।

टोपी देख नवावे सीस,
सु सिख नरको विसै श्रोस।
अकाल पुरख की सेवा करे,
सु सिख सजन अंस लै तरे।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

१. हिन्दी में निर्गुण सम्प्रदाय —पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अनु० परशुराम चतुर्वेदी
२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा —परशुराम चतुर्वेदी
३. कुरआन शरीफ —अहमद बशीर
४. कुरआन और धार्मिक मतभेद —सैयद जहरुल हाशिमी
५. तसव्वुफ व सूफ़ी मत —चन्द्रबली पाँडेय
६. रामचरित मानस —गीता प्रेस, गोरखपुर
७. हिन्दी साहित्य का इतिहास —रामचन्द्र शुक्ल
८. हिन्दी साहित्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —डॉ० रामकुमार वर्मा
१०. हिन्दी साहित्य —श्यामसुन्दर दास
११. कविता कौमुदी, भाग १ —रामनरेश त्रिपाठी
१२. गुरु गोविन्दसिंह —वेणी प्रसाद
१३. भारत का धार्मिक इतिहास —शिवशंकर मिश्र
१४. पंजाबी और हिन्दी का भाषाविज्ञान —दुनीचन्द्र
१५. कबीर —हजारी प्रसाद द्विवेदी
१६. कबीर कसौटी —लहनासिंह
१७. कबीर वचनावली —अयोध्यासिंह उपाध्याय
१८. कबीर ग्रन्थावली —श्यामसुन्दर दास
१९. कबीर शब्दावली —वेलवे डियर प्रेस, प्रयाग
२०. कबीर साहब की साखी —विचारदास
२१. कबीर सागर —युगलानन्द
२२. बीजक —स० हनूमान प्रसाद
२३. सत्य कबीर की साखी —युगलानन्द
२४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल —हजारी प्रसाद द्विवेदी

२५. निर्गुण काव्य-दर्शन —सिद्धिनाथ तिवारी
२६. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन —विनयमोहन शर्मा
२७. मध्यकालीन रहस्यसाधना —हजारी प्रसाद द्विवेदी
२८. संस्कृति के चार अध्याय —दिनकर
२९. महात्माओं की बानी —भुरकुड़ गाजीपुरी
३०. छन्दोग्य उपनिषद्,
३१. कठोपनिषद्
३२. पाहुड़ दोहा —डॉ० हीरालाल जैन
३३. गोरखबानी —पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
३४. सन्त कबीर —रामकुमार वर्मा
३५. जायसी ग्रन्थावली —रामचन्द्र शुक्ल
३६. हिन्दी व्याकरण —कामता प्रसाद गुरु
३७. भारतीय भाषा और हिन्दी —सुनीति कुमार चटर्जी
३८. प्राचीन लिपि माला —गौरीशंकर हीरानन्द ओझा
३९. भाषा विज्ञान —श्यामसुन्दर दास
४०. नाथ सम्प्रदाय —हजारी प्रसाद द्विवेदी
४१. धनी धरमदास की शब्दावली —वे० प्रे० प्रयाग
४२. सुन्दर ग्रन्थावली भाग १, २ —पुरोहित हरनारायण
४३. सुन्दर विलास —वे० प्रे० प्रयाग
४४. दादूदयाल की बानी साखी ,,
४५. दादूदयाल की बानी भाग दो शबद ,,
४६. जगजीवन साहब की बानी पहला और दूसरा भाग ,,
४७. दूलनदास की बानी ,,
४८. चरनदास की बानी भाग १, २ ,,
४९. गरीबदास की बानी ,,
५०. रैदास की बानी ,,
५१. दरिया साहब बिहार वाले का दरिया सागर ,,
५२. दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी ,,
५३. भीखा साहब की शब्दावली ,,
५४. गुलाल साहब की बानी ,,
५५. बाबा मलूकदास की बानी ,,
५६. यारी साहब की रत्नावली ,,
५७. बुल्ला साहब का शब्दसागर ,,
५८. धरनीदासजी की बानी ,,

५९. सहजोबाई का सहज प्रकाश —बेलवे डियर प्रेस, प्रयाग
६०. दयाबाई की बानी ,,
६१. सन्त बानी संग्रह भाग १, २ ,,
६२. श्रीमद्भागवत
६३. अनुराग सागर
६४. कबीर साहब की शब्दावली भाग १, २, ३, ४
६५. कबीर साहित्य की परख —परशुराम चतुर्वेदी
६६. सन्त सुधासार —वियोगी हरि
६७. मिश्र बन्धु विनोद —मिश्र बन्धु
६८. दरिया साहब —बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
६९. गरीबदासजी की बानी —स्वामी मंगलदास
७०. लिंगविस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया भाग ९ —ग्रियर्सन

पंजाबी

७१. गुरु ग्रन्थ साहिब
७२. भाई गुरदास दी वार, प्रथम एवं द्वितीय
७३. दशम ग्रन्थ —गुरु गोविन्द सिंह
७४. पंजाबी सहित दा इतिहास —गोपाल सिंह
७५. शब्दार्थ श्री ग्रन्थ साहिब —तेजासिंह
७६. गुरु ग्रन्थ साहिब दी साहितक विशेषता —गोपालसिंह
७७. पंजाबी साहित —हरदयालसिंह
७८. गुरमत निरणे —भाई जोधासिंह
७९. प्रसिद्ध पंजाबी कवि —संतसिंह
८०. पंजाबी बोली दा इतिहास —पिआरा सिंह पदम
८१. साहित संदेश —पिआरा सिंह
८२. जितिन्दर साहित सरोवर —डॉ मोहन सिंह
८३. गुरबाणी विआकरण —साहिब सिंघ
८४. पंजाबी भाखा मे छंदा बंदी —डॉ० मोहन सिंह
८५. सूफियाँ दे कलाम —डॉ० मोहन सिंह
८६. गुर छन्द दिवाकर —काहन सिंह
८७. गुर शबद रतनाकर महान कोश —काहन सिंह
८८. गुर शबद अलंकार —काहन सिंह
८९. पंजाब दे हीरे —मौला बख्श कुश्ता

मराठी

९०. श्री नामदेव महाराज —आजगांवकर
९१. पंजाबातील नामदेव —श० प्र० जोशी
९२. नामदेवांची आणि त्यांचे कुटुम्बातील व समकालीन साधूंच्या अभंगाचा गाथा —तुकाराम तात्या
९३. पाँच सन्त कवी —डॉ० तुलपुले
९४. ज्ञानेश्वरी —ज्ञानदेव
९५. अमृतानुभव —ज्ञानदेव
९६. संतगाथा —इन्दिरा प्रेस पूना

ENGLISH

97 Discovery of India —Jawahar Lal Nehru
98 Glimpses of the world History —Jawahar Lal Nehru
99 The History of Punjab —Latif
100 Gorakh Nath and Medieveal Mysticism —Mohan Singh
101 History of Sufism —Chatter Ji
102 History of India —V.A. Smith
103 Alberunis India —Sachau(Editor)
104 Kashmir Shavism —Catter Ji
105 History of Bengal —Mazumdar
106 Religious Sects of Hindus —H. H. Wilson
107 Medieveal Mysticism of India —S.Sen
108 Mysticism of Maharastra —Dr. Ranade
119 Outline of the Religious Literature —Ferquher
110 Sikh Religion vol. 1 to 6 —M. A. Macauliff
111 The Adi Granth —A. D. Trumpp
112 The Sikhs and their Books —C.H Licholin
113 The History of Punjabi Literature —Dr. Mohan Singh
114 The History of Sikhs —Cunningham
115 Holy Bible
116 Encyclopedia of Religion and Ethics vol. 2
117 Mysticism, Ascetics and Saints of India —Fisher
118 Japji Saheb —Teja Singh
129 Gospel of Shri Guru Granth Saheb —Duncan Greenles
120 Sikhism A Lecture —Annie Basant
121 Something about Sikhism —Dorothy Field
122 Sketches of the Sikhs —Molcolm

123 The paslm of peace —Teja Singh
124 Guru Nanak's Religion in his own words —Teja Singh
125 Influence of Islam and Hindus —Tara Chand
126 Hundred poems of Kabir --R. Tagor
127 Ideals of Indian Art —Havell
128 Annals of Rajasthan —Tod
129 Islamic Civilization —Khuda Baksh
130 Tabakat-I-Naseri —Reventy, London
131 Vaishnavism, Shavism and other minor Sects —R. G. Bhanderk
132 Modern Vernaculer Literature of Hindustan —Grierson
133 Sufism —Maulana Jami
134 The Holy Life of Alvars —A. Govindacharya
135 Sufism its Saints and Shrines —J. A. Subhan
136 Muslim Neology —D. B. Macdonald
137 Gorakhnath and Kanfata Jogis —W. Briggs
138 Hyms of Advars —J. S. Cooper
139 A Punjabi Phonetic Reader —Graham Baily
140 Punjab —Hobson Jhonsn
141 Indian Antiquri —H. A. Rose
142 Vernacular Literature and folk lose of Punjabi Vol. 17 —H. T. Thornon
143 Romantic tales from Punjab —C. Suynnerton, London
144 Phonology of Punjabi —Banarsi Das Jain
145 A Guide to the Colloquil punjabi —Cannigham & Graham baily
146 A Dictionary of Linguistcs —Pei Cayner
147 Hindustani phonetics —Mohiuddin qadri
148 Religious Systems of the World —Edward H. Brown
149 Namm Advars —Natesan Hadus
150 Life and Teachings of Madhvacharya —C. M. Padnabham Char
151 The Divine Wisdom of Dravidian Saints —Govindacharya
152 The Sadha —Wilson
153 Kabir & His biography —Dr. Mohan Singh
154 Linguistic Survey of India Vol. 9 —Grierson
155 A New English Dictionary —Oxford
156 Tadh Kirtu-I-Awalia —Nichloson
157 The Dictionary of Islam --Frediric Pincott

पत्रपत्रिकाएँ

१५८ सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक, सं० २०१०

१५९ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, अंक १, सं० १९३७
१६०. कल्याण, संत अंक
१६१. सन्त—जयपुर, चैत्र १९९९
१६२. कल्याण, मानवता अंक

अप्रकाशित हस्तलिखित पोथियाँ

जनम साखी—व्यक्तिगत प्रति—सं० १५८२

अनेक हस्तलिखित पोथियाँ

सार्वजनिक लाइब्रेरी पटियाला एवं दरबार साहिब अमृतसर संग्रहालय से प्राप्त अनेक हस्तलिखित पोथियाँ—गुरुमुखी एवं नागरी लिपि में। कबीर, दादू। गुरु गोविन्दसिंह आदि के मुद्रित अमुद्रित पद इन्हीं स्थानों से प्राप्त हुए हैं।